भोट-भारतीय ग्रन्थमाला - ५२

आचार्यनागार्जुनविरचितः

सुहृल्लेखः

आचार्यमहामतिविरचिता

व्यक्तपदाटीका च

༄༅། །སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛད་པའི་བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག་དང་།
སློབ་དཔོན་བློ་གྲོས་ཆེན་པོས་མཛད་པའི་
དེའི་རྒྱ་ཆེར་བཤད་པ་ཚིག་གསལ་བཞུགས་སོ།།

पुनरुद्धारकर्ता सम्पादकश्च
डॉ० पेमा तेनजिन

पर्यवेक्षकः
प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द : २५४६ खीस्ताब्द : २००२

भोट-भारतीय ग्रन्थमाला - ५२

आचार्यनागार्जुनविरचितः

सुहृल्लेखः

आचार्यमहामतिविरचिता

व्यक्तपदाटीका च

༄༅། །སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛད་པའི་བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག་དང་། སློབ་དཔོན་བློ་གྲོས་ཆེན་པོས་མཛད་པའི་ དེའི་རྒྱ་ཆེར་བཤད་པ་ཚིག་གསལ་བཞུགས་སོ།།

पुनरुद्धारकर्ता सम्पादकश्च

डॉ० पेमा तेनजिन

पर्यवेक्षकः

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द : २५४६ खीस्ताब्द : २००२

बौद्धदर्शन ५५९

R

बौद्ध दर्शन ५५९

सुहृल्लेखः
व्यक्तपदा-टीका च

བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག་དང་།
དེའི་རྒྱ་ཆེར་བཤད་པ་ཚིག་གསལ།

बौद्ध-५५९

BIBLIOTHECA INDO-TIBETICA SERIES - 52

Suhṛllekha
of Ācārya Nāgārjuna
and
Vyaktapadāṭīkā
of Ācārya Mahāmati

(Sanskrit Restoration and critically edited Tibetan Text)

Restored and critically edited by
Dr. Pema Tenzin

Supervisor
Prof. R. S. Tripahti

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES
SARNATH, VARANASI

B.E. 2546 C.E. 2002

BIBLIOTHECA INDO-TIBETICA SERIES - 52

Chief Editor: *Prof. Geshe Ngawang Samten*
Publication Incharge: *Samten Chhosphel*

First Edition: 550 copies, 2002

Price: Hardback: Rs. 320.00
Paperback: Rs.220.00

© 2002 Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath -221007
Varanasi (U.P.) India. All rights reserved.

Publisher:
Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221007, India.

Printed at Surabhi Printers, Maldahiya, Varanasi

बौद्ध ६·४५८

भोट-भारतीय ग्रन्थमाला - ५२

आचार्यनागार्जुनविरचितः
सुहृल्लेखः
आचार्यमहामतिविरचिता
व्यक्तपदाटीका च

༄༅། །སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛད་པའི་བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག་དང་།
སློབ་དཔོན་བློ་གྲོས་ཆེན་པོས་མཛད་པའི་
དེའི་རྒྱ་ཆེར་བཤད་པ་ཚིག་གསལ་བཞུགས་སོ།།

भोट विद्या संस्थानम्

पुनरुद्धारकर्ता सम्पादकश्च
डॉ० पेमा तेनजिन

पर्यवेक्षकः
प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द : २५४६ खीस्ताब्द : २००२

भोट-भारतीय ग्रन्थमाला - ५२

प्रधान सम्पादक : प्रो० गेशे ङवङ् समतेन

प्रकाशन प्रभारी : श्री समतेन छोस्फेल

प्रथम संस्करण : ५५० प्रतियाँ, २००२

मूल्य : सजिल्द : ३२०·००
अजिल्द : २२०·००

१
ACC. २८७५२ / 28962

© २००२ केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी - २२१००७,
प्रकाशक सम्बन्धी सभी अधिकार सुरक्षित ।

पुस्तकालय

प्रकाशक :
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१००७

मुद्रक : सुरभि प्रिन्टर्स, मलदहिया, वाराणसी ।

དཔར་བསྐྲུན་ཆེད་བརྗོད།

༄༅། །རྒྱལ་བ་ཉིད་ཀྱི་ལུང་གིས་ཟིན་པའི་དཔལ་མགོན་འཕགས་པ་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་སྟོན་པ་འཛིག་རྟེན་དུ་སྣར་ཕྱོན་པ་དང་མཚུངས་པར་རྒྱ་གར་གྱི་ཡུལ་དབུས་དང་ལྷོ་ཕྱོགས་ཀྱི་ཁུལ་དུ་རྒྱལ་བསྟན་སྤྱི་དང་ལྷག་པར་ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་མདོ་སྔགས་ཀྱི་བསྟན་པ་ཡོངས་སུ་དར་བར་མཛད། ཤིན་ཏུ་ཟབ་པ་རྒྱལ་བའི་གསུང་རབ་ཀྱི་དྲང་བ་དང་ངེས་པའི་དོན་རྣམ་པར་འབྱེད་པའི་བསྟན་བཅོས་རིགས་ཚོགས་དྲུག་གཙོ་བོར་གྱུར་པའི་མདོ་དང་རྒྱུད། བཟོ་དང་གསོ་བ་བཅས་ཀྱི་བསྟན་བཅོས་བོད་འགྱུར་དུ་བཞུགས་པ་བརྒྱ་ཕྲག་གཅིག་དང་བཅུ་ཕྲག་གཉིས་ལ་ཉེ་བ་ཡོད་པའི་ཁོངས་བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག་འདི་ནི་ལྷོ་ཕྱོགས་ཀྱི་རྒྱལ་པོ་གཽཏམཱིཔུཏྲ་ཤཱཏཀརྞི་ལ་བསྐྱལ་བ་སྡེབས་སྦྱོར་འཕགས་མའི་དབྱངས་ཀྱིས་བཅིངས་པའི་ཤློག་བརྒྱ་དང་ཉེར་གསུམ་གྱི་བདག་ཉིད་སྤྲིང་ཡིག་གི་རྣམ་པ་ཅན་ལ་བརྗོད་བྱ་ཐེག་པ་ཆུང་ངུ་ནས་རིམ་པར་ཐེག་པ་ཆེན་པོ་ལ་དགྲིས་ཏེ་འགྲོ་བ་མཐའ་དག་ལ་ཕན་པ་ཐར་ཐུག་པའི་རྒྱལ་བའི་གོ་འཕང་བླང་དགོས་པའི་བླང་དོར་ཀྱི་གནད་བསྟན་པའི་བསྟན་བཅོས་རྨད་དུ་བྱུང་བ་འདི་བོད་ལ་ཕྱི་ལོ་བརྒྱ་ཕྲག་བརྒྱད་པའི་ནང་རྒྱ་གར་གྱི་སློབ་དཔོན་སརྦཛྙདེབ་དང་། བོད་ཀྱི་ལོ་ཙཱ་བ་དཔལ་བརྩེགས་རཀྵིཏ་གཉིས་ཀྱིས་བསྒྱུར་བ་ནས་ཟུང་བོད་ལ་འགྲོ་དོན་རླབས་པོ་ཆེ་བྱུང་སྟེ། སེར་སྐྱ་གཉིས་ཀས་སློབ་གཉེར་བྱ་བའི་གཞུང་ཞིག་ཏུ་གྱུར། བསྟན་བཅོས་འདི་ལ་བོད་ཀྱི་མཁས་པས་འགྲེལ་བ་ཉི་ཤུ་ལྷག་མཛད་ཡོད།

ད་ལམ་འདི་ག་ཉམས་ཞིབ་སྡེ་མཚན་གྱི་ཧོཀླར་པདྨ་བསྟན་འཛིན་གྱིས་ཕ་ཧ་ལེགས་སྦྱར་གཙུག་ལག་སློབ་གཉེར་ཁང་དུ་རིག་པའི་ཆུ་གཏེར་གྱི་གོ་གནས་ཆེད་དེབ་སྐྱེལ་བྱས་པའི་ལས་གཞིར་བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག་དང་དེའི་རྒྱ་འགྲེལ་བོད་སྐད་དུ་ཡོད་པ་གཅིག་པོ་དེ་ཉིད་ཀྱི་ལེགས་སྦྱར་སྐད་དུ་སྒྱུར་གསོ་བྱ། དེ་བཞིན་རྩ་འགྲེལ་གྱི་བོད་དཔེའི་དཔར་མ་ཁག་ལ་ཞིབ་སྡུར། འགྲེལ་ཡོད་གཞུང་ཚན་ཁག་ལས་བཏུས་པའི་གཤམ་མཚན་དང་ལྷན་ཐབས་ཁག་གླེང་བརྗོད་

བཅས་ཀྱིས་བརྒྱན་པ་སྒྱུར་བར་ཊོཀྚར་པདྨ་བསྟན་འཛིན་ལ་བསྔགས་བརྗོད་དང་། དེ་བཞིན་མཁས་དབང་སློབ་དཔོན་རཱམ་ཤངྐར་ཏྲིཔཱཋཱི་མཆོག་གིས་གཙོས་པའི་མཐུན་འགྱུར་གནང་མཁན་རྣམས་ལ་ཐུགས་རྗེ་ཆེ་ཞུ་རྒྱུ་ཡིན། བསྟན་ཅོས་འདི་སྐད་གཞན་དུ་ས་གནས་གཞན་ནས་ཐོན་ཡོད་། དེ་སྔ་འདི་ནས་བསྟན་བཅོས་འདི་དང་རྗེ་བཙུན་རེད་མདའ་བས་མཛད་པའི་འགྲེལ་པ་བཅས་ཀྱི་ཧིནྡིའི་འགྱུར་དཔར་བསྐྲུན་ཟིན་ཅིང་། ད་རེས་ལེགས་སྦྱར་སྐད་དུ་རྩ་འགྲེལ་གཉིས་ཀ་དཔར་བསྐྲུན་ཞུས་པ་འདིས་རྒྱ་གར་འཕགས་པའི་ཡུལ་དུ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་བསྟན་པ་སླར་དར་བའི་རྒྱུར་འགྱུར་བ་དང་དོན་གཉེར་ཅན་རྣམས་ལ་ཕན་ཐོག་ཅི་ཆེ་འབྱུང་བའི་སྨོན་ལམ་བཅས་ཝ་ཎ་བོད་ཀྱི་ཆེས་མཐོའི་གཙུག་ལག་སློབ་གཉེར་ཁང་གི་ངེས་སྟོན་པ་དགེ་བཤེས་ངག་དབང་བསམ་གཏན་གྱིས་ཕྱི་ལོ་ ༢༠༠༢ ཟླ་ ༨ ཚེས་ ༡༩ ལ་དགེ་བར་སྦྱར།། །།

प्रकाशकीय

भगवान् तथागत द्वारा व्याकृत आचार्य नागार्जुन ने लोक में बुद्ध के पुनः आगमन की भाँति भारत के मध्यदेश एवं दक्षिण प्रदेश में बुद्धशासन का प्रचार-प्रसार और विशेषकर महायान के सूत्र एवं तन्त्र शासन का सम्पूर्ण विकास किया। भगवान् बुद्ध के सूत्रों के गूढ अर्थों के नेयार्थ-नीतार्थ को प्रकाशित करने हेतु आचार्य नागार्जुन ने मूलमाध्यमिककारिका आदि (षट्युक्ति-संग्रह) शास्त्रों की रचना की। इसके अतिरिक्त सूत्र, तन्त्र, शिल्प तथा चिकित्सा-विद्या से सम्बन्धित विपुल शास्त्र-राशि भी आचार्य नागार्जुन की रचना के रूप में उपलब्ध होते हैं। भोटभाषा में अनूदित आचार्य के लगभग १२० ग्रन्थ भोट तनग्युर संग्रह में उपलब्ध हैं। उनमें सुहृल्लेख भी एक है, जिसे आचार्य ने अपने मित्र दक्षिण भारत के सातवाहन राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी को पत्र के रूप में लिखा। यह आर्यागीति छन्द में निबद्ध १२३ श्लोकों का एक लघु ग्रन्थ है। इस लघु ग्रन्थ में श्रावकयान एवं बोधिसत्त्वयान को क्रमशः प्रस्तुत करते हुए प्राणिमात्र के लिए बुद्धत्व प्राप्ति की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है।

इस अद्भुत ग्रन्थ का भोटभाषा में अनुवाद आठवीं शताब्दी में भारतीय आचार्य सर्वज्ञदेव तथा भोट लोचावा पलचेग रक्षित ने सम्पन्न किया। तब से लेकर तिब्बत में भिक्षुओं एवं गृहस्थों में इस ग्रन्थ की लोकप्रियता बढती गयी और वहाँ इसका अध्ययन-अध्यापन बहुत व्यापक रूप से होने लगा, जिसकी परम्परा आज तक अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है। इस ग्रन्थ पर भोट विद्वानों द्वारा रचित भोटभाषा में उपलब्ध इसकी बीस से भी अधिक टीकाएं इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

संस्थान के शोध विभाग में कार्यरत डॉ० पेमा तेनजिन ने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से विद्या-वारिधि (Ph.D.) उपाधि हेतु प्रस्तुत अपने शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत संस्कृत मूल में अप्राप्त सुहृल्लेख एवं उसकी एकमात्र भारतीय टीका का तिब्बती से संस्कृत में पुनरुद्धार किया तथा मूल एवं टीका के भोट-पाठ का भी अन्य संस्करणों से मिलान कर सम्पादन किया। इसके साथ ही, सम्बन्धित ग्रन्थों से पाद-टिप्पणी, परिशिष्ट एवं विस्तृत हिन्दी भूमिका सहित ग्रन्थ की अधिक उपयोगिता हेतु आंग्लभाषा में भी एक संक्षिप्त

भूमिका दी है। इसके लिए डॉ० पेमा तेनजिन के कार्य की प्रशंसा करता हूँ तथा इस कार्य में प्रधान रूप से सहयोगी विद्वान् आचार्य रामशंकर त्रिपाठी और उनके अतिरिक्त अन्य सभी को भी धन्यवाद देता हूँ।

इस सुहृल्लेख ग्रन्थ का अन्य भाषाओं में भी अनुवाद किया जा चुका है। संस्थान से ही इसके पूर्व सन् १९९६ में, डॉ० पेमा तेनजिन द्वारा इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन भोट आचार्य विख्यात विद्वान् भट्टारक रेन्दावा की टीका सहित किया जा चुका है। सम्प्रति मूल एवं टीका के संस्कृत भाषा में प्रकाशन से आर्यावर्त भारतदेश में बुद्धशासन के पुनर्जागरण की दिशा में निसंदेह एक महत्त्वपूर्ण योगदान होगा, ऐसा विश्वास और कामना करता हूँ।

दिनांक १४.८.२००२

निदेशक
प्रो० गेशे ङवङ् समतेन

PREFACE

The text Suhṛllekha includes the basic fundamental features of Buddhism for the beginners and advanced students as well as for both the lay person and monks. However, it gained much popularity in Tibet especially among the lay people and high administrative authorities which can be seen through the numbers of commentaries written by Tibetan scholars. There are more than twenty commentaries written by Tibetan scholars alone that I've come across. But there is only one Indian commentary. It seems that the text might have not been very famous in India. Another reason could be that since it was written for a king it could not reach masses for a long time.

After the Chinese occupation over Tibet in 1959, a large number of Tibetan people with His Holiness the XIV Dalai Lama entered into India. And I feel, in a sense, Buddhism was re-established in the land of its origin through various Tibetan Buddhist establishments alongwith their monasteries, schools and other religious organisations.

After that Suhṛllekha has once again become popular and it is being taught in various Central School for Tibetans as well as in the Central Institute of Buddhist Studies, Leh and other Indian Institutions.

Many years ago when I was a student in Central Institute of Higher Tibetan studies, Sarnath, I read the English translation of this text and its most popular commentary of Sakya scholar Rendawa done by Geshe Lobsang Tharchin and Artemus B. Engle, published in 1979 by the Library of Tibetan works and Archives, Dharamsala. I was deeply impressed by it. Thereafter being a Hindi speaking Buddhist of northern Himalayan region, I decided to translate it into Hindi language to make the text accessable for Himalayan Hindi speaking Buddhist in general and the younger generation of these areas in particular.

When I joined three years Sanskrit Rigorous-Training Course in my Institute, althought this project was already in my mind I could not meterialise it since I was engaged with two other projects for restoration and translation. In 1989 when I was appointed as an Assistant Editor in the Translation Unit I started to work on it along with other major projects. I am happy that eventually the Hindi translation got published in the year 1996.

While working on this text, I found more and more references and informations. I found more than twenty Tibetan commentaries and the only Indian commentary by Acharya Mahāmati. I tried to trace in Indian Buddhist history to get materials about Acharya Mahāmati but in vain. The Tibetan translation was done by the Indian Acharya Sarvajñadeva alongwith the Tibetan translator Kava Paltseg in eighth century A.D. during the reign of Tibetan King Thrisong Deutsen (742-796). This work is available in the Tangyur collection in volume 'ne' of Dege edition.

Both of the texts—Suhṛllekha and it's commentary by Acharya Mahāmati are not available in their original Sanskrit language. The Suhṛllekha has 123 stanzas that are in Āryāgīti metre. I have restored into the same Sanskrit metre and have also restored its commentary into Sanskrit. I have provided many textual references in the foonotes.

Acharya Mahāmati has not quoted the whole text in his commentary. Hence, I have incorporated the full root text in the commentary in it's Sanskrit restoration.

I have also given the root Tibetan text seperately before the commentary, which is based on 'Dege' edition and have collated with many other editions: Narthang, Serdri, Cone, Darjeeling edition (by Rangwang publication, the first edition of Suhṛllekha with Rendawa's commentary in India) and Mirig Petun edition from Tibet.

I have based the Tibetan commentary mainly on Dege edition and collated it with Narthang, Peking and Serdri edition. An extensive introduction is given in the beginning which reflects the major deeds of Buddha and explains three turnings of Dharma wheel, three precepts, dependent origination and discusses the time of Acharya Nāgārjuna and his philosophy. Further it includes a brief analysis of Nāgārjuna's social approach, wisdom and means and higher state (Abhyudaya) and supreme beatitude (Niḥśreyasa) according to the text. The introduction also contains a concise biography of Nāgārjun and his work, a note on Indian commentator of text and his work and a brief introduction of some of the prominant Tibetan commentators. A shorter version of the introduction is given in English language as well. Several useful appendices are given at the end of the text. A detailed content of the Tibetan text 'according to Rendawa's commentary' is given at the end of appendices for reader's convenience.

It is my great pleasure to acknowledge the substantial help given by Professor Ram Shanker Tripathi, a renowned Buddhist scholar of both traditions, Mahayana and Thervada. In fact, he inspired me to do doctor of philosophy (Ph.D.) on Suhṛllekha. On his advice I instantly applied for Ph.D. registration in the Buddhist Philosophy Department, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi.

It took years to finalise the root text in its poetic metrical arrangement as I sought help from a Sanskrit scholar. Once, the root text had been completed, I started working on the commentary, which was in fact, not too difficult but without the root text it was impossible to begin work on the commentary as it refers words from root text. Finally in year 2000, I submitted my thesis and I was awarded Ph.D. degree.

Thereafter, I submitted my thesis for publication to CIHTS and it was approved with the condition that I should also provide a brief English introduction to the work.

Today, I am extremely happy that after a long time this book is finally being published. I hope it will be useful for scholars and students of Buddhist studies.

I would like to thank my respected Professor Ram Shanker Tripathi for his overall guidance and constant help, without which it would not have been possible to bring this work to completion. I seek his blessings for more work in future. To err is human, therefore there may have remained some mistakes. I would seek indulgence of scholars for lapses. I shall be too happy to receive suggestions for improvement from the readers.

I would like to thank Dr. D. D. Caturvedi, lecturer in Sanskrit, CIHTS for his help to correct the Sankrit metre of the text.

My thanks are also due to Dr. Ramesh Dwivedi, Head, Dept. of Buddhist philosophy, Sampurnananda Sanskrit University, Varanasi for his kind help to sort out many problems.

I would like to record my thanks to my senior Ven. L. N. Shastri, Editor, Translation Unit, Research Dept. for his kind support for English introduction and preface.

I also appreciate the help of Prof. A. Rottman and students of Exchange group of year 2002 from five colleges of Massachusset, USA and Mr. Mattia Salvin, Italy, a research student of Vivekananda college, Channai in improving the language of my English introduction.

Here, I would like to express my especial gratitude to our most respected Venerable Prof. S. Rinpoche, Ex-Director of this Institute who very kindly helped in various ways and also provided me computer facilities.

It would be unfair if I ignore to pay my heartly thanks to my beloved wife Gonpo Chokey for her constant support and I appreciate her great patience for allowing me to concentrate on my work at home.

I would also like to thank our respected Director Prof. Geshe N. Samten for his kind advices and support for the work. I also thank Prof. N. H. Samtani, former Director, Nagarjuna University, A.P. for his kind help to improve my preface language.

Finally, I would like thank to Publication Incharge Mr. Samten Choephel and to all my well wishers, who directly or indirectly, have been helpful in bringing this text to see the daylight. I hope the restoration of these priceless works in bringing them back into their original language will enhance the development and revival of Buddhism in India and will also contribute to preserve, disseminate and enrich the Indian cultural heritage.

By the merit accumulated through working on this precious Buddhist text, I be born again as a human being in the next life and cultivate wisdom and bodhicitta to free sentient beings from sufferings and bring peace on earth.

May all living beings in this universe be happy and peaceful.

July, 2002
CIHTS, Sarnath

Pema Tenzin

विषयानुक्रमणी

सम्पूर्ण-पृष्ठानि 592

प्रकाशकीयः- तिब्बती-भाषायाम् v
हिन्दी-भाषायाम् vii
प्राक्कथनम्- आंग्ल-भाषायाम् ix
विषय-सूची xiii
शब्द-संकेतसूची xvii

भूमिका : 1-158

अंग्रेजी-भाषायाम् 1-26
हिन्दी-भाषायाम् : 27-158

चित्त की प्रधानता-27, कर्मफल-32, विशुद्धधर्म-35, कुशल-अकुशल कर्म-37, बुद्ध की जीवनी-45, त्रिविध धर्मचक्र प्रवर्तन-48, १२ प्रवचन-अंग-50, त्रिपिटक-52, शिक्षात्रय-54, मनुष्य जीवन की दुर्लभता-56, स्वयं के द्वारा दुःख की निवृत्ति-58, चार आर्यसत्य-62, अष्टाङ्गिक मार्ग-67, प्रतीत्यसमुत्पाद-73, महायान का उद्भव एवं विकास-83, सुहृल्लेख एवं व्यक्तपदा-टीका-87, ग्रन्थ एवं टीका का काल-85, आचार्य नागार्जुन का काल-निर्णय-91, नागार्जुन का दर्शन-93, प्रस्तुत ग्रन्थ में नागार्जुन का प्रज्ञा एवं उपाय पक्ष-98, नागार्जुन का व्यावहारिक पक्ष-102, नागार्जुन का अभ्युदय एवं निःश्रेयस पक्ष-108, आचार्य नागार्जुन-पाद का संक्षिप्त अवदान-114, आचार्य की कृतियाँ-126, टीकाकार आचार्य महामति की जीवनी एवं कृतियाँ-129, अनुवादक कावा-पलचेग-131, भोट टीकाकारों का संक्षिप्त-परिचय-132, ग्रन्थ की विषय-वस्तु-142, प्रथम अध्याय-144, द्वितीय अध्याय-145, तृतीय अध्याय-150, चतुर्थ अध्याय-154, पंचम अध्याय-155।

मुख्यग्रन्थः (संस्कृतभाषायाम्) **1-154**

साक्षादुपदेशः (त्रयो भेदाः)

(क) सामान्यकुशलसाधना-शिक्षा

(ख) सांसारिकदोषेभ्यः खिन्नता

(ग) निर्वाणलाभाय मार्गप्रतिपत्तेः शिक्षा

(क) सामान्यकुशलसाधना-शिक्षाया अपि त्रयो भेदाः

१. गृहस्थप्रव्रजितोभयपक्षयोरुपदेशः, (अस्य त्रयो भेदाः)

१. षडनुस्मृतिभिः श्रद्धायां स्थितिः 3

२. कुशलकर्मपथि स्थितेः सामान्योपदेशः 15

३. षट्पारमितायां स्थितेरुपदेशः 28

२. प्रधानतः गृहस्थानां कृते शिक्षाया नव भेदाः

१. मातापितरौ आदरः 31

२. व्रते स्थितिः 32

३. विपरीतचिन्तन-प्रहाणम् 35

४. अप्रमादः 38

५. क्षान्तेः स्थितिः 41

६. द्वारत्रयहीनचर्याणां प्रहाणम् 44

७. सहयोगिनां लक्षणज्ञानम् 46

८. परस्त्रीं प्रति राग-प्रहाणम् 46

९. स्वपत्नीगुणदोषान् ज्ञात्वा सेवनम् 61

३. प्रव्रजितगृहस्थयोः पक्षे अभ्युदय-निःश्रेयसधर्मप्रतिपादनार्थोपदेशस्य त्रयो भेदाः

अ. साधारणधर्म-प्रतिपत्तेः षड् भेदाः

१. भोजनस्य निश्चितमात्रा 62

२. रात्रेः प्रथमे एवं अन्तिमे यामे अशयनम् 63

३. चतुरप्रमेयानां भावना 65

४. चतुर्ध्यानानां भावना 67
५. गुरुलघुकर्मभेदेन शुभाशुभयोर्हेयोपादेयतां कथं जानीयात्? 69
६. पञ्चनीवरणानां प्रहाणम् 70

ब. विशेषतः निःश्रेयसधर्म-प्रतिपत्तेः त्रयो भेदाः

१. प्रयोगमार्गीय पञ्चेन्द्रियाणां पञ्चबलानाञ्च भावना 71
२. तेषां विरोधिप्रत्ययगर्वस्य प्रहाणम् 73

३. अनुकूलप्रत्ययसम्यग्दृष्टेर्भावना - तच्च प्रकारद्वयम्

१. संक्षिप्त-व्याख्या 73

२. विस्तृत-व्याख्यायाः पञ्चभेदाः

१. चतुःस्मृत्युपस्थानानां भावना 74
२. विशेषरूपेण धर्मस्मृत्युपस्थानस्य भावना 75
३. विरोधिप्रत्ययस्वभावानां संयोजनत्रयाणां प्रहाणम् 79
४. अनुकूलप्रत्ययशिक्षात्रयस्याभ्यासः 81
५. तेषां हेतुभूतकायगतस्मृतेः रक्षणम् 85

स. प्राप्ताधारमनुष्यशरीरस्य सार्थकत्वम् तस्य च त्रयो भेदाः

१. कायं अनित्यं सारहीनं च ज्ञात्वा तं प्रति अनासक्तिः 85
२. क्षणसंपदं दुर्लभं मत्वा सार्थकत्वम् 90
३. विशेषरूपेण विशिष्टाधारप्राप्तेन राज्ञा तत्र प्रयत्नोपदेशः 92

(ख) सांसारिकदोषेभ्यः खिन्नतायाः तस्य च त्रयो भेदाः

१. संक्षिप्तदेशना 96

२. विस्तृत-देशनायाः सप्तभेदाः

१. अनियतदोषः 97
२. अतृप्तिदोषः 97
३. शरीरस्य वारम्वारं परित्यागदोषः 97
४. पुनः पुनः प्रतिसन्धिदोषः 97
५. पुनः पुनः उन्नत्यवनतिदोषः 98
६. असंगतिदोषः 104

७. पञ्चगतीनां नियतदुःखानुभवदोषः 105

३. संक्षिप्तार्थः 124

(ग) निर्वाणलाभाय मार्गप्रतिपंत्तेः शिक्षायाः भेदद्वयं च

१. साधारणयानम्, द्वौ भेदौ

१. प्राप्यानुशंसायुक्तनिर्वाणम् 124

२. तस्य हेतुसमूहस्य प्रतिपत्त्युपदेशः तस्य च सप्तभेदाः

१. सप्तबोध्यङ्गानि 126

२. शमथ-विपश्यनयोः युगनद्धता 128

३. प्रतीत्यसमुत्पादस्यावबोधः 131

४. आर्याष्टाङ्गिकमार्ग-भावना 143

५. आर्यसत्यानां देशना 146

६. सत्यदर्शनस्य पुरुषयत्नाश्रयत्वादनुत्साहाभावः 149

७. संक्षिप्ताववादः 151

२. फलेन सह महायानमार्गस्य प्रतिपत्त्युपदेशः 153

भोट-पाठः (दे.गे. संस्करणम्, भोटभाषायाम्)

१. मूलभोट-पाठः **155-198**

२. व्यक्तपदा-टीका (भोटपाठः) **199-322**

परिशिष्टानि : **323-414**

१. सहायकग्रन्थानां सूची 325-328

२. ग्रन्थागतश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणी 329-334

३. भोट-भाषायां श्लोकानुक्रमणी 335-343

३. ग्रन्थगतपारिभाषिकशब्दसंग्रहः 344-348

४. विशिष्टसंस्कृत-भोटशब्दानुक्रमणी 349-364

५. ग्रन्थगतोद्धृतग्रन्थानां सूची 365-407

६. भोटपाठस्य विषयानुक्रमणी 408-413

*****

शब्दसंकेत-सूची

པེ།	པེ་ཅིང་དཔར་མ།
སྣ།	སྣར་ཐང་དཔར་མ།
ཅོ།	ཅོ་ནེ་དཔར་མ།
གསེར།	གསེར་བྲིས་དཔར་མ།
མི་རིགས།	མི་རིགས་དཔེ་སྐྲུན་ཁང་གི་དཔར་མ།
རྡོར་གླིང་།	རྡོ་རྗེ་གླིང་རང་དབང་དཔར་མ།

अ.क. = नामसंगीति अमृतकणिकाटीका
अ.वि.सू. = अर्थविनिश्चयसूत्रम्
अ.वि.सू.नि. = अर्थविनिश्चयसूत्रनिबन्धनम्
आलोक = अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितालोक-टीका
अ.प्र.सू. = अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र
अ.श. = अवदानशतकम्
अट्‌ठ. = अट्ठशालिनीकथा
अ.अ.स्फु. = अभिसमयालंकारस्फुटार्था
अभि.को. = अभिधर्मकोश
अभि.को.स्फु. = अभधर्मकोशस्फुटार्था
अभि.दी. = अभिधर्मदीप
अभि.समु. = अभिधर्मसमुच्चय
अक्षय.सू. = अक्षयमतिसूत्रम्
अभि.संग. = अभिधम्मत्यसंगहो
आर्य कु.सं.सू. = आर्यकुसुमसञ्चय नाम महायानसूत्रम्

आर्य नि.भ.वै.सू. = आर्यनिष्ठागतभगवज्ज्ञान-वैपुल्यसूत्ररत्नानन्त नाम महायानसूत्रम्
आर्य बो.स.पि.सू. = आर्यबोधसत्त्वपिटक नाम महायानसूत्रम्
ग.व्यू.सू. = गण्डव्यूहसूत्रम्
चतु.श. = चतुःशतकम्
चतु.श.वृ. = चतुःशतकवृत्तिः
जा.मा. = जातकमाला
त.सं.पं. = तत्त्वसंग्रहपञ्जिका
त्रिं.वि.मा.सि. = त्रिंशिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धि(विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि)
द.भू.सू. = दशभूमिसूत्रम्
ध.धा.द.गी. = धर्मधातुदर्शगीति(पुनरुद्धार)
ध.प. = धर्मपर्याय
ध.सं. = (महायानसूत्रसंग्रह, भाग-१)
धम्म. = धम्मपद
धम्म.सं. = धम्मसंगिणी
दे.क. = देगे कग्युर संग्रह
दे.तन. = देगे तनग्युर संग्रह
न.प्र.सू. = नन्दप्रव्रजितसूत्रम्
नैरा.परि.महा.सू. = नैरात्म्यपरिपृच्छा नाम महायानसूत्रम्
पाति. = पातिमोक्खसुत्त
प्र.पि. = प्रज्ञापारमितापिण्डार्थ (अ.प्र.)
प्र.वा. = प्रमाणवार्तिकम्
प्र.वा.वृ. = प्रमाणवार्तिकवृत्तिः
प्रती.समु.वि.नि.सू. = प्रतीत्यसमुत्पादविभङ्गंनिर्देशसूत्रम्(म.सू.सं.)
प्र.समु.सू. = प्रतीत्यसमुत्पादो नाम महायानसूत्रम्, (म.सू.सं. भाग-१)
प्र.समु.हृ. = प्रतीत्यसमुत्पादहृदयकारिका

प्र.मो.सू. = प्रतिमोक्षसूत्रम्
बु.अव.सू. = बुद्धावतंसक नाम महायानसूत्रम्
बु.स्तो.पं. = बुद्धस्तोत्रपञ्चशत्कः
बो.च. = बोधिचर्यावतार
बो.स.म. = बोधिसत्त्वमण्यावलि(पुनरुद्धार)
बौ.द.मी. = बौद्ध दर्शन मीमांसा
बौ.सि.सा.= बौद्धसिद्धान्तसार(हिन्दी)
म.अ. = मध्यमकावतार
म.उ.तं. = महायानोत्तरतन्त्र
महा.क.वि.सू. = महाकर्मविभङ्गसूत्रम्(म.सू.सं. भाग-१)
म.वि.भा. = मध्यान्तविभङ्गभाष्यम्
महा.व्यु. = महाव्युत्पत्ति (भोट संस्करण)
म.शा. = मध्यमकशास्त्रकारिका
म.शा.वृ. = मध्यमकशास्त्रवृत्तिः
म.सू. = महायानसूत्रालंकार
महा.परि.सू. = महापरित्राणसूत्रं
मा.भा.भू.इति. = माध्यमिक भारतभूमि का इतिहास
महा.वग्ग. = महावग्ग, (पालि)
मञ्जु.मू.तं. = महायानसूत्रसंग्रह, भाग-२
मु.पं.हे.तं.टी. = मुक्तावलि पञ्जिका, हेवज्रतन्त्रटीका
मु.ल.अ. = मुक्तालतावदानम्
यो.भू. = योगाचारभूमि
ल.वि. = ललितविस्तर
लं.अ.सू. = लंकावतारसूत्र
रत्ना. = रत्नावलि (पुनरुद्धार)

रा.परि.सू. = राष्ट्रपालपरिपृच्छा नाम महायानसूत्रम्(म.सू.सं. भाग-१)
वज्र.टी. = वज्रच्छेदिकाया विस्तृता टीका (पुनरुद्धार)
वज्र.सू. = वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमितासूत्र
व.बु.स्तो. = वर्णनार्हवर्णे बुद्धस्य स्तोत्रः (धीः २५ अंकः)
वि.मग्ग. = विसुद्धिमग्ग, भाग-१
वि.मा.सि. = विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि
श.प्र.सू. = शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्रम्
शालि.सू. = शालिस्तम्बसूत्रम् (म.सू.सं.)
शि.समु. = शिक्षासमुच्चय
समाधि.सू. = समाधिराजसूत्रम्
सु.ले.टी. = सुहृल्लेखटीका(हिन्दी)
सु.ले. = सुहृल्लेख(हिन्दी)
सौ.न. = सौन्दरनन्द-महाकाव्य

*****

Introduction

The original Sanskrit versions of Āchārya Nāgārjuna's Suhṛllekha and its commentary by Āchārya Mahāmati are not available till now. The Turks, who invaded India in 11 and 12 centuries, not only burnt the biggest library at Nālandā University but also destroyed most of Buddhist literatures. Fortunately, these two texts had been translated into Tibetan language in Tibet during the 8th century where they became very popular and famous. Particularly, Suhṛllekha was highly popular among householders and Government officials who were not well versed in deep philosophical studies. Therefore, all the Tibetan scholars from various traditional orders have written many commentaries and notes on this text. Only one Indian commentary by Āchārya Mahāmati is available in Tibetan translation.

The Manuscript and various works of the text:

As mentioned above, the original Sanskrit of both the root and its commentary are not available at present but the Tibetan translations of both texts are found in the Tibetan Tangyur collection under letter-section i.e. Toh. 4182 & 4190 in 'nge' volume. The famous Indian Āchārya Sarvajñadeva and the great translator Kava Paltseg have translated this text with its commentary during the 8th century when Buddhism flourished in Tibet during the reign of the great king Thrisong Deutsen (742-796).[1] We can't substantiate much infomation about the Indian Pandita but one thing we can say definitely that he had been invited from India by the king Thrisong Deutsen during the 8th century and collaborated with the Tibetan translator Kava Paltseg.

---

[1] Tibetan-Chinese Dictionary, V0l.-III, p. 323; Tun-hang Ms. PT 1286; Cronology of Tsetan Shyabdrung.

There are more than twenty commentaries and notes by various scholars of all four traditions of Tibetan Buddhism on this text in Tibet alone, which shows the popularity of the text. After the flight of His Holiness the XIV Dalai Lama with his tens and thousands of followers in 1959 in India, in all the centres of learning this text is being taught: Central School for Tibetans, Kendriya Bauddha Vidya Sansthan, Leh, Ladakh, and Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath etc. Due to the heavy flood of Buddhist studies in International Institutions in the mid of twentieth century, this text has been translated into many other languages such as: English, German, French etc. Since then this text has become a milestone for those who are interested in Buddhist religion and philosophy. Two Chinese translations of this text are available, done in the fifth century by Gunavarmana and Sanghvarmana.

In order to-fullfil the need of a Hindi translation I've published this text in Hindi with it's Tibetan commentary by Sakya scholar Rendawa (1349-1412) in 1996 from Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, Varanasi; which is well received by scholars and Hindi readers.[2]

The only Indian commentary of this text by Āchārya Mahāmati, which was translated into Tibetan and preseved in Tangyur collection, has many editions such as: Dege, Coni, Peking, Narthang, Serdri etc. I have based my work on Dege edition and comparing it with other editions I've edited the Tibetan version. Root text Suhṛllekha has 123 stanzas that are in Āryāgīti metre. I've restored into the same Sanskrit metre and restored its commentary with lots of references trying to make it more research oriented. As this text has been restored and retranslated back into its original language, this will be helpful in the development and revival of Buddhism, and also will contribute to the preservation and dissemination of Indian culture and traditions, through restoration of lost cultural heritage. An extensive introduction has been given in the beginning that elaborates the time of the Āchārya, his social approach, wisdom and skillful means, higher realm and supreme beatitude (liberation), his life story and also an analysis of all the topics that occurred in the text with the fundamental principles of Buddhism.

---

[2] Suhrillekha with Rendawa's commentary, Hindi Translation, Dr. Pema tenzin, 1996, CIHTS, Sarnath.

Revival of Buddhism in India in 20th century:

As Buddhism diminished from its place of birth, slowly all the original Buddhist Sanskrit texts also have either disappeared or they have been destroyed. For many centuries Buddhism could not be restored or revived in India. This was the main reason that except in some parts of Himalayan regions it had almost lost its teaching and practice from the plains of India. During the twentieth century the great indologist Rāhul Sāmskṛtyāyana travelled to Tibet three times and brought thousands of Sanskrit and Tibetan palmleaf manuscripts to India and collected them at the Bihar Research Society and at K.P.Jayaswal Research Institute in Bihar. Some of these rare Buddhist Sanskrit manuscripts have been published by Mithila Institute, Darbhanga. Besides, some Indian scholars such as: Dr. Vidushekhar Bhattacarya, Shri B.M.Barua, Dr. Sarat Chandra Das, Dr. R.L.Mitra, Prof. Vagchi, Prof. P.L.Vaidya, Asiatic society Bengal, Prof. D. Kausambi, Āchārya Narendra Dev etc. have also done commendable works in this direction.

Teachings of Buddha:

Skillful means is also one of the extraordinary quality of Buddha, because, knowing the intention of different kind of disciples, he puts them on the right path through various congenial means. He used to teach according to the interest, intention, nature, capacity and situation of the disciples. He proclaimed—

"Tathāgata is merely a path expounder,

> the practitioner himself has to accomplish his actions".[3]

It is also said in this Suhṛllekha by Nāgārjuna himself:

> "Liberation depends on oneself therefore,
> One doesn't get help from others.
> Thus exert yourself in the practice of the Four Truths,
> through listening, morality and dhyana."[4]

Whatever teachings Buddha gave to disciples at different places in different times, their purpose and recipient were distinct. In that case also, the final goal of his teachings was to take all sentient beings from suffering to liberation. Nirvāṇa or liberation is the only essence of his entire teaching. He had turned the first wheel of dharma concerning the Four Noble truths on the basis of 'self characterised and external existence' of phenomena at Rshipatana Mrigdava, Sarnath near Varanasi, which was mainly for beings of lesser intellect like Hearers (Listeners) and Solitary Realisers. In their view this teaching is the definitive one.

The second wheel of dharma had been turned at Vulture Peak near Rājagṛha on emptiness (Selflessness) of all Dharmas, which was mainly for Mahāyāna beings of sharp intellect. He expounded that all things are emptiness, unborn, non cessation and signlessness. By this teaching all the Dharmas have been expounded as empty of own nature. Vijñānavādī accept this teaching as an interpretative teaching. There are different views between the followers of Svātantrika Mādhyamika and the followers of Prāsangika Mādhyamika schools whether this teaching is definitive or interpretative one.

---

[3] तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता । -धम्मपद २०/४
देशितो वै मया मार्गतृष्णाशल्यस्य कर्त्तनः ।
युष्माभिरेव कर्त्तव्यमाख्यातारस्तथागतः ॥ --हेवज्रपञ्जिका मुक्तावली., पृ. ९१, ति.सं.

[4] आत्मोपेक्षो मोक्षः परस्मान्न लभ्यते किमपि साहाय्यम् ।
चत्वार्यार्यसत्यानि वृत्तस्थः श्रुतचिन्ताभिरभ्यस्येच्च ॥
--Suhrllekha, 52

According to Svātantrika Mādhyamika Ārya Śatasāhsrikā Prajñāpārmitā etc. and some other sutras are definitive teaching. These sutras explain the ultimate selflessness of all Dharmas. Even though the Heart sutra etc. and some other sutras are also included in the second wheel of dharma, they are not considered definitive teaching, because the way in which the emptiness of all dharmas is expounded is not accepted by the Svātantrika Mādhyamika. According to Svātantrika Mādhyamika it is necessary to have the adjective "ultimately" clearly mentioned in oder to categorize it in the definitive sense; this is not clearly mentioned in the sutra. Nonetheless, the purport of the sutra in ultimate sense is the emptiness. Thus, in according to them Ārya Śatasāhsrikā Prajñāpārmitā etc. are definitive teachings and Heart Sutra etc. and some other sutras are interpretative teaching. Whereas, Prāsanghika Mādhyamika accepts that the second wheel of Dharma teachings are all definitive teaching. They assert that the sutra which ellucidates emptiness is the definitive teaching and sutra that interprets relative truth is the interpretative teaching. Therefore, they accept the Heart sutra also as a definitive teaching and according to their view it is not necessary to add the adjective "ultimately". But there isn't any difference in the ultimate view of 'emptiness' of these two Mādhyamika schools.

The third wheel of Dharma, which was turned at Vaishali, was mainly for Mahāyāna beings of middle faculty. For Vijñānavādī it is definitive teaching and emptiness, not-born, non-cessation etc. are it's main theme. Though emptiness is expounded in both the second and third wheel of Dharma, in the second wheel of Dharma the empty nature of all dharmas is explained equally. Whereas, during the third turning of the wheel of Dharma, all phenomena are distinctively explained: some dharmas are said to be inherently exist, whereas some are not inherently exist. they accept three types of emptiness on the base of three characteristics--imputed phenomena, dependent phenomena and thoroughly established phenomena. On this foundation the philosophy of Vijñānavāda is established. Therefore, Vijñānavādī doesn't accept the theory of emptiness of all Dharmas to the same extent as the second turning of the wheel of Dharma does. Therefore, they (Vijñānavadî) don't accept the turning of second wheel of Dharma that interprets the emptiness of all dharma equally. According to their view those sutras that make a distinction between emptiness and non-emptiness of Dharmas are called definitive teachings, and Ārya Saṃdhinirmocana Sutra is one of the main sutras to prove their position. In the above sutra the occurrence of the three turnings of wheel of Dharma by Buddha is also mentioned.[5]

From beginningless time, all sentient beings have been powerless or helpless, wandering in this uninterrupted repetition of birth and death and experiencing enormous sufferings in this cyclic existence. The causes of this constant flow of suffering are the desire and other defilements that exist in the sentient beings. Unless one eliminates all these defilements from their root, the complete eradication of this continuous suffering is impossible. This is the only means to abandon all the defilements that abide in our mind and attain complete liberation from suffering, the blissful Nirvāṇa. In order to abandon these defilements Buddha expounded 84,000 Dharma Skandhas or heaps of teaching. However Kashmir Vaibhāṣika accepts only 80,000 heaps of teachings, as explained by Āchārya Vasubandhu in the Abhidharma Kośa.[6]

whereas the central and western followers of Vaibhāṣika and Sautrāntika accept 84,000 heaps of teachings. The Mahāyāna accepts countless heaps of teachings because Buddha's teachings are beyond our comprehension. In general, both accept 84,000 heaps of teachings taught by Buddha. These teachings are meant to four types of beings with 21000 teachings:

---

[5] (ल्ह०क०-ग्रन्थ, "च" पृ. ३८(६ठा पंक्ति) सूत्र खण्ड; नेय-नीतार्थविभङ्गशास्त्र सुभाषितसार, पृ. २३, ति.सं. १९९८ ।)

[6] धर्मस्कन्धसहस्राणि यान्यशीतिं जगौ मुनिः ।
तानि वाङ्नाम वेत्येषां रूपसंस्कारसंग्रहः ।। --अभिधर्मकोश. 1:25

a. Person with excessive desire;
b. person with excessive hatred
c. Person with excessive nescience and
d. mixture of all these three.

Therefore, Buddha expounded 21,000 heaps of teachings as an antidote for each of these temperament of persons.[7]

Prediction about Āchārya:

In the meantime, as per Buddha's prophecy a remarkable child was born to a high Brahman family in south India.[8] Later, this boy became famous as Āchārya Nāgārjuna. He became a distinguished scholar on both Buddhist philosophy and tantra, and considered the founder of the Mādhyamika school of philosophy. Āchārya travelled widely helping to desseminate the Dharma. Through this effort, Buddhist doctrines and philosophy reached one of the highest points in Buddhist history.

The philosophy of Nāgārjuna:

The Prajñāpāramitā Sūtra that vanished from Jambudvīpa did not disappear entirely, but continued to exist in the Nāga realm. Āchārya travelled to the Nāga realm and retrieved these sutras. To validate these sutras as Buddha's teaching, he composed the Mūlamadhyamaka Kārikā, Vigrahavyāvartanī, Śunyatāsaptatiḥ. These texts he substantiated with logical touch-stone, undaunted intelligence and extraordinary scholarship. Here he proves all the wrong notions of the world as baseless and rootless. His disciple, Āchārya Āryadeva composed the important text entitled Catuḥśataka (Four-hundred Stanza), reaffirmed the principle of emptiness and elucidated with clarity the thought of his teacher and in a later period, Āchārya Chandrakīrti composed several commentaries on both these texts. He led this doctrine to its peak and gave prominence to Mādhyamika Philosophy. While there is little doubt that emptiness is an old doctrine, propounded in such sutras such as Prajñāpāramitā and Ratnakaraṇḍa sūtra etc. but the credit of proving the doctrine of emptiness goes to Āchārya Nāgārjuna. Āchārya expounded upon emptiness, which is argued to be the object or ultimate theme of the whole of Buddha's teachings. In Prajñāpāramitā Sūtras, emptiness is expounded directly, while in other sutras it is presented as an ultimate, through indirect purport. Nāgārjuna was the first scholar who differentiated the sutras into definitive and interpretative teachings. The purpose of expounding such a variety of sutras is to help the disciples understand emptiness.

---

[7] शास्त्रप्रमाण इत्येके स्कन्धादीनां कथैकशः ।
चरितप्रतिपक्षस्तु धर्मस्कन्धोऽनुवर्णितः ।। --अभिधर्मकोश. 1:26
अशीतिश्चरितसहस्राणि सत्त्वानां रागद्वेषमोहमानादिचरितभेदेन तेषां प्रतिपक्षेण भगवताऽशीति-धर्मस्कन्धसहस्राण्युक्तानि । --अभिधर्मकोश भाष्य, पृ. 71, बौ.भा.प्र. 1987 ।

[8] लंकाअवतारसूत्र 10:164-66, पृ. 118, मि.सं.; मञ्जुश्री मूलकल्पनाम महायानसूत्र, (महायानसूत्र संग्रह, भाग-2) 440-451, मिथिला संस्करण, दरभंगा, 1964 ।)

The skillful Buddha expounded other sutras for disciples who were not right vessels to receive the emptiness teaching. This prevented the disciples from getting frightened and dismayed by the difficult doctrine.

Buddhists propound the philosophy of selflessness. Using this philosophy Nāgārjuna brilliantly established all the worldly and spiritual orders of bondage and liberation, cyclic existence and peace, path and result etc. The pinnacle of the philosophy of selflessness is Nāgārjuna's Mādhyamika philosophy. In addition, Āchārya's subtle, profound and extraordinary interpretation on 'existence' which no way depends on the valid cognitions of Sutra and Shastra, till today is unequalled in the world of philosophy. It also compelled all other philosophers to think from a new stand point. The Āchārya's presentation of such doctrine was a great contribution to the development of Indian philosophy.

In order to have perfect knowledge of Nāgārjuna's Mādhyamika philosophy, it is necessary to know the doctrine of emptiness and dependent origination. These doctrines are two different aspects of the philosophy: Emptiness, the negation and dependent origination, the affirmative. The Mādhyamika is a systematic explanation of all phenomena based on dependent origination. The Mādhyamika presentation of Emptiness and the presentation of Dependent Orgination are mutually entailing.[9]

Even though there are certainly some differences between Svātantrika Mādhyamika and Prāsangika Mādhyamika, both schools accept the theories of Emptiness and Dependent Origination.

Āchārya says that someone who understands Emptiness will understand Dependent Origination. And someone who understands Dependent Origination can understand the Four Noble Truths. Having understood the four noble truths it is possible to attain liberation, i.e. Nirvāṇa.[10]

Someone who understands Dependent Origination will understand dharma, including its cause and effect, and will also understand the cause, effect, and entity of that which is not dharma. someone who has knowledge of the higher and lower rebirths will also understand the methods to get free from cyclic existence.

---

[9] सदसत्सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते ।
उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते ॥ -चतु:शतक. 16:25 ;

यदि काचन प्रतिज्ञा स्यान्मे तत एव मे भवेद्दोषः ।
नास्ति च मम प्रतिज्ञा तस्मान्नैवास्ति मे दोषः ॥
यदि किञ्चिदुपलभेयं प्रवर्तयेयं निवर्तयेयं वा ।
प्रत्यक्षादिभिरर्थैस्तदभावान्मेऽनुपालम्भः ॥ --विग्रह व्यावर्त्तनी 21-30 का०

[10] इह हि यः प्रतीत्य भावानां भावः सा शून्यता । कस्मात्? निःस्वभावत्वात् । ये हि प्रतीत्यसमुत्पन्ना भावास्ते सस्वभावा भवन्ति स्वभावाभावात् । कस्माद्? हेतुप्रत्ययापेक्षत्वात् । यदि हि स्वभावतो भावा भवेयुः । प्रत्याख्यायापि हेतुप्रत्ययं भवेयुः ।
--विग्रह व्यावर्त्तनी, पृ. 22 ।;

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यातां तां प्रचक्ष्महे। --मध्यमकशास्त्रकारिका, 24:18, मिथिला संस्करण, दरभंगा;

यो भिक्षवः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति, स धर्मं पश्यति। यो धर्मं पश्यति, स बुद्धं पश्यति इति। --शालिस्तम्बसूत्र, (महायानसूत्र संग्रह भाग-2), मिथिला संस्करण, दरभंगा, 1961।

An eminent scholar and the founder of the Mādhyamika philosophy, Āchārya Nāgārjuna not only expounded extensive and profound treatises but also gave concise Dharma teachings to King Gautamiputra. Even though this is a short essay in subject matter and profundity, it is a very important text. This is the result of both the scholarship and the skillful means of the Āchārya: he discussed all of the intricacies of Buddhist doctrine in this small work.

Suhṛllekha:

In this text there are 123 stanzas in *āryāgīti* metre, which had been written in the form of a letter to a south Indian King of the Sātavāhana dynasty named Gautamiputra. In ancient time, profound dialogues among teachers, disciples or friends use to be carried out in letters. The Suhṛllekha text itself is the living example of such letters. Many letters are found in the Tibetan Tangyur collection. [11] These letters are different from usual letters. These are based on important religious and philosophical dialogues.

In the begining of the text Āchārya explains the cause for the teaching in the form of a letter to the King. He states that the King has to look after his subjects and kingdom and his enormous work-load would make it impossible to receive many teachings. Therefore, in order to avoid being too verbose, he writes in a condensed verse form. As it is says in the text itself:

> "Virtuous One, worthy by nature of the good,
> I have composed these Āryā Gīti (poems) with the

---

[11] There are 45 texts that included in spring-yig section (Toh: 4158-4202) of Tan-gyur catalogue and among them 14 texts are clearly mentioned as a letter written by many great scholars--Nagārjuna, Chandragomin, Vasubandhu, Maticitra, Sura etc. published by tohoku Imperial University, Japan, 1934.

Intention of merit that derives from Sugatas' teachings.
It is a short piece, which you should heed."[12]

Āchārya Nāgārjuna has briefly given the whole doctrine of Buddhism through this text. He also advised the King that the possibility of an unmistaken method of attaining the higher realm and supreme beatitude, other than the teaching of Buddha, does not exist.

In the beginning of the text, it outlines general advice concerning virtuous practices. It is further divided into three chapters. The first chapter contains general advice for householders as well as celibates who have renounced household life (verses 1-8). The second chapter consists of instructions for householders (verses 9-37). The third chapter contains general advice for householders as well as celibates on attaining higher states and supreme beatitude (verses 38-64). The fourth chapter focuses on developing an aversion to cyclic existence through contemplating its defects (verses 65-103). The final chapter provides instruction for achieving the path through contemplating the virtues of Nirvāṇa (verses 104-123). Thus the text has been divided into five chapters.

Time of Āchārya and his present text:

Sources indicates that the text was composed in the later part of his life. Although there is scholarly disagreement on which Tibetan scholars assert that it was Sātavāhana King Gautamiputra. According to historical facts there were many kings in the Satvahana dynasty. Certainly, it is difficult to say who was the friend of Āchārya, first, second or third etc. All the scholars have mentioned either Sātavāhana King or Sātavāhana King Gautamiputra as a friend of Āchārya. But all the Tibetan historians accept that the first King of Satvahana dynasty was the friend of Āchārya.

---

[12] प्रकृतिसुकृतार्हगुणाढ्य सुगतवचोभ्य : समुदानीताश्च मया ।
शुभमालक्ष्य कृता वै काश्चिदार्यगीतयस्त्वया च श्रव्याः ॥
-सु.ले. 1का. (पुनरुद्धार)

In that sense, it may be accepted the date of composition of this text either in 2nd B.C or beginning of 1st B.C. But it doesn't appear appropriate, because during later part of Āchārya life while travelling from south to Kuru region, he met the boy to whom he made prophecy of becoming the King of Sātavāhana. After spending twelve years in Kuru region and thereafter; returning back to south, he had composed this text. Because this text had been composed during the later part of his life and according to Buddha's prophecy he appears in this Jambudvīpa after four hundred years of Buddha's parinirvāṇa. This view does not hold any ground for determining the date.

From historical prospectives, the Sātavāhana kingdom gained prominence from second century B.C and after two centuries i.e. during the 1st A.D. it had nearly became powerless. Thereafer it no longer left a power at all, not even as a King to gain respect from the subjects. In the beginning of 2nd AD Sātavāhana Gautamiputra emerged as an able and brave commander. He consolidated his kingdom by increasing strength and security on the borders. He won the land lost by his predecessors and expanded his kingdom from the east to the western ocean. He became famous as a Sātavāhana King, the Gautamiputra, who was the most powerful King of this dynasty. It is said that during his rule his horses had drunk water of three oceans. He was more inclined towards Buddhism. From the archaeological records of Nasik too, it had been known that this King had donated lands for Buddhist monks. According to history he ruled from 106 AD to 130 AD.[13] Āchārya Nāgārjuna appeared after four hundred years of Buddha's prinirvāṇa and is beleived to have lived for three hundred years. All these accounts indicate that Āchārya's later part of life coincides with the beginning of second century A.D. This seems the most appropriate date according to belief and evidences, and also helps us to arrange the date of present text. Thus, with all these accounts we are much sure to say that Āchārya had written this text in the beginning of 2nd century A.D.

---

[13] सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों के अभिलेख --डॉ0 वा0 पी0 मिराशी, पृ0 25; द्र0- माध्यमिक भारत भूमि का इतिहास, पृ0 116 ।

Apart from this Āchārya Nāgājuna also composed another text entitled Ratnāvali addressed to King Gautamiputra. Between these two texts, which one had been composed earlier is not known. Even though it may be apprehended that he composed first the concise Suhṛllekha and later the elaborate Ratnāvali. There is no fault in this idea, because we find similarity in the subject matter of both texts. The subject matter that has been explained briefly in Suhṛllekha has been explained in detail in Ratnāvali. The only Indian commentary on Suhṛllekha is written by Āchārya Mahāmati. But we don't find any information about the author either in the History of Buddhism or any other History of Indian Literature. Therefore, it is impossible to say much about Āchārya Mahāmati's date, life and and his other works. There are three other small texts are entilled in Tan-Gyur collection by his name. In this commentary we find some quotations of Buddha but no quotation of any other renowned Buddhist scholars. Whereas the Tibetan commentators profusely quote from other Indian texts viz., Bodhicaryāvatāra, Śikṣāsamuccaya, Madhyamakāvatāra, Dhammapada and so forth. Therefore, it seems that even if he was not a contemporary to Āchārya Nāgārjuna, he was not too late to reckon. In these circumstances, it is difficult to determine the date of the author of the commentary. It needs more research work, so as to bring to light authentic evidences.

Subjects of Suhṛllekha in brief:

In this small treatise, Āchārya Nāgārjuna has explained means and wisdom in a scientific and practical way. While explaining means or methods he deals with the three refuges, six rememberances, six perfections, sufferings of the six realms and so on. While explaining wisdom part, he deals with the eightfold noble paths, seven limbs of Enlightenment, four noble truths, benifits of Nirvana and so on. Thus the importance of this small text is not limited to just a King: it is also beneficial to householders, celibate, monks and nuns. Through listening, contemplating and practicing of this text even a householder can attain Buddhahood.

In the beginning of Suhṛllekha Āchārya Nāgārjuna had briefly illustrated all the practical sides: to abandon ten unwholesome deeds and practice ten wholesome deeds. Society becomes polluted by unwholesome deeds, but through the practice of wholesome deeds, changes occur not only in human attitude but also in one's natural surroundings. Achievement of higher states creates a clean and peaceful atmosphere, which helps to built a good society.

It is necessary to attain a higher state before one attains the supreme beatitude. Having taken birth as a being in a higher realm, one can enter into the path of liberation. In the realm of hell and hungry ghosts, one receives no opportunity to contemplate the path of liberation due to abundant physical and mental sufferings. Though worldy miseries also pervade the human and god realms, still there is an opportunity for listening and contemplation about the perfect objects. Therefore, one can gradually enter into the supreme beatitude after attaining the higher states.

In this small text whatever such subjects as the three refuges, six rememberances, six perfections, morality, ten virtuous deeds, observance of celibacy etc. have been explained in brief as the causes to attain higher states of rebirth. One who observes these eight precepts, emulating the moral practice of former Arhats for the period of one full day which is called "poṣadha" will definitely attain the body of one of the six categories of desire realms.

Āchārya Nāgārjuna has explained how the seven limbs of enlightenment, the union of calm-abiding and Special-insight, understanding of dependent origination, eightfold noble paths, four noble truths etc. are the causes for the attainment of supreme beatitude. Due to lack of wisdom that gives the perfect knowlegde of particularity and generality of Dharmas, concentration doesn't arise, because wisdom eliminates the doubt in the objective knowledge and helps to concentrate the mind on the object. Again due to the lack of concentration, complete and perfect wisdom doesn't arise. Wisdom arises only when the mind is in a state of concentration. Therefore, the union of calm-abiding and Special-insight is necessary. As it is said in Dhammapada:[14]

> "There is no concentration for him who lacks wisdom,
> nor is there any wisdom for him who lacks concentration.
> The one, who has both concentration and wisdom, is
> indeed close to Nirvana."

Contents of the text:

We can divide the text into five small sections: General Advice concerning virtuous practices. It has three subdivisions:

1. General advice for both householders and those who have renounced the household life (verses 1-8).
2. Instruction mainly to householders (verses 9-37).
3. General advice for both householders and those who have renounced the household life to attain the higher states and supreme beatitude (verses 38-64).

---

[14] नत्थि झानं अपञ्ञस्स, पञ्ञा नत्थि अझायतो ।
यम्हि झानं च पञ्ञा च, स वे निब्बानसन्तिके ॥
-- Dhammapada 25/13 ;
प्रज्ञाभावे ध्यानं ध्यानाभावेऽपि न जायते सा प्रज्ञा।
यत्रोभे विद्येते ज्ञेयस्तस्य भवसागरो गोष्पदवत् ॥
--सुहल्लेख, 107 ;
द्र0- अभिधर्मसमुच्चय, पृ0 75, विश्वभारती प्रकाशन, 1950 ;
महायानसूत्रालंकार, 18:66-68, पृ0 140 मिथिला संस्करण, दरभंगा;
बोधिचर्यावतारपंजिका, 8:4, पृ0 137, मिथिला संस्करण।

4. Aversion towards cyclic existence through contemplating its defects (verses 65-103).
5. Instruction on the path having contemplated upon the virtues of Nirvana. (verses 104-123)

Ist Chapter

For householders and monks Āchārya gave spiritual instructions on the principles of Buddhist doctrine describing the greatness and qualities of six rememberances--Buddha, Dharma, Sangha, Generosity, Morality and the qualities of the Devas. He gave teachings on the six rememberances first because the six rememberances make the mind pure and act as a source of great merit. As he said:[15]

> "The Jina proclaimed the six Rememberances-- Buddha,
> Dharma, Sangha, Generosity, Morality and the gods.
> Recall each of their several virtues."

After possessing an attitude of sincere faith towards these six objects one should exert oneself through performance of virtues. One must abstain from the ten non-virtuous actions of body, speech and mind and excel in virtuous deeds. One should purify the actions of the three doors (body, speech and mind) and should observe generosity of wealth and property, which will bring great fruits in future life. He told that one should recognize the wealth as ephemeral and insubstantial, and through this ideal one should exert oneself properly in generosity etc. towards monks, brahmins, poor and friends: as for the future there is no better a friend than giving. Morality must be practised together with generosity. Therefore, he advises to observe perfect morality and explains morality as the foundation of all qualities.

---

[15] जिनैर्बुद्धधर्मसंघशीलत्यागदेवादिषडनुस्मृतयः ।
प्रदर्शितास्तु तद्गुणसम्भारैः पृथगनुस्मरणीयाश्च ॥ --सुहृल्लेख, 4

After the initial purification oneself through practicing the ten virtuous deeds, generosity and morality, one begins training oneself in the six perfections of the Mahāyāna path. The first three perfections constitute the merit-accumulation. This provides the Bodhisattvas with the material necessities for the sentient beings, while remaining in the cyclic existence. After attaining Buddhahood, they cause for the Buddha's "Form Body". Meditation and wisdom perfections constitute wisdom-accumulation. While Bodhisattvas remain in cyclic existence, it is a cause for being untainted by the impurities of cyclic existence, and it becomes a cause of his giving aid to others. Upon the achievement of Buddhahood, it serves as the cause for the "Dharma Body" of the Buddha. This body constitutes the fullfilment of one's own concerns. The perfection of effort is a cause for both accumulations.

These two accumulations produce all the well-being of Bodhisattvas, both during their presence in cyclic existence as well as in their attainment of Nirvāṇa. It is thus determined that the entire Mahāyāna path is contained in these six perfections.

2nd Chapter

Section two has nine sub-divisions, mainly instructions for householders. In any family, reverence to father and mother will be attended by Brahman, and reverence to spiritual teachers will receive blessings from the gods, and thereby they will be benefitted by good reputation. It will enable them to attain higher states of rebirth in future. Thereafter he explains the benefit of observing *upoṣadha*, eschewing wrong attitudes, practicing mindfulness, practicing patience, eschewing indecent conduct, finding proper associates, eschewing desire for another's wife and taking a proper wife.

The observance of eight precepts, emulating the moral practice of former Arhatas for the period of one full day is called "Poṣadha". The fruit of observing these is that, in future life, one is provided with the appealing body of one of the six types of desire realm deity.

Through attachment householders give rise to a large number of wrong attitudes such as greed, cunning, deceit, attachment, idleness, haughtiness, lust and hatred. Since these attitudes cause one to take rebirth in the lower states of cyclic existence, it has been said by the Āchārya that one should consider them as the real enemy and eliminate them from the root.

Mindfulness is the root of all virtuous deeds. Therefore the Muni (Buddha) declared that mindfulness is the way out of immortality as it leads the mind to virtuous deeds and guards it from impurities. And heedlessness is the way of death, which leads to experiencing the misery of birth and death in cyclic existence.

When many undesirable things befall on householders, they often get angry; to detach them from such reaction, the Āchārya says:[16]

> "There is no austerity like patience. So do not give way to anger. By overcoming anger, the Buddha has acknowledged that one will attain the stage of Non-returning."

It is also said in Bodhicaryāvatāra-

> "In short, no one of an angry nature can enjoy well-being,"[17] and "He who with perseverance overcomes anger will be happy in this life, and in others."[18]

---

[16] क्षान्तिसमं नैव तपस्ततस्त्वया न क्रोधायावसरो देयः ।
बुद्धेनानुमतं वै पदमवैवर्तिकं क्रोधप्रहाणेन ॥ --सुहृल्लेख, 15

[17] संक्षेपान्नास्ति तत्किञ्चित् क्रोधनो येन सुस्थितः । --बोधिचर्यावतार, 6: 5

[18] यः क्रोधं हन्ति निर्बन्धात् स सुखीह परत्र च । --बोधिचर्यावतार, 6: 6

Since the ordinary person usually gives rise to the above virtuous and non-virtuous attitudes indiscriminately, therefore, it has been said that one has to strengthen the meritorious mind and diminish the non-meritorious mind. Āchārya explains this matter with an example of three figures (drawn upon water, on the earth and etched on stone), three types of beings and their speeches (pleasing and agreeable, the truth and improper speech) and four types of conducts of beings (from light to light, darkness to darkness, from light to darkness and from darkness to light). And Āchārya says that one should be firm like a figure etched in stone, one should practice the first two figures and one should be like the first type, who go from light to light.

A householder must associate with many persons, and Āchārya has explained that peolpe like a mango fruit, are of four types, so once one has learned what the different qualities are, one will follow the proper course of action.

Sexual misconduct is something to which householders are particularly susceptible and it has two sections-

a) Just to suppress the desire temporarily and

b) eschewal of the desire with their seed. It has three parts:

a) It is said not to gaze upon another's wife. Nonetheless if you still take notice, formulate a conception of a mother, a daughter or a sister according to her age. If still you become lustful, you should contemplate the impure state of her body.

b) The mind, which moves restless from one object to another, should always be guarded from those objects that favour the rise of the mental afflictions.

The Jinendra (Victorious One, Buddha) declared them (desires) to be like Kimpāka[19] fruit and to be abandoned because they are the shakles which bind all the world tightly in the prison of cyclic existence.

c) Contemplating the defects of desire and its object, Āchārya has particularly emphasized on how the young maiden body is filled with manifold impurities—excrement, urine and other substances. It is similar to a container of every filth. If one still lusts after the maiden's body because it is adorned with perfumes and ornaments, one must view separately the body and its attributes. Then the lust will not arise.

The second part has six divisions: It deals with the method involving the total elimination of desire together with its seeds.

a) The first division addresses itself to the actual method. The practice of meditating upon the body's impurity and so forth, as described above, serves only to suppress desire temporarily; but it does not eradicate it. Since one wishes to remove it along with its seeds in order to see the highest meaning, one must exercise proper attention towards all inner and outer dharmas and meditate upon them. Because there is no other Dharma in the entire world that has such a quality of being able to destroy the mental afflictions and give rise to their antidotes. It is the "suchness" constituting the true nature of all dharmas which is called the "highest meaning".

As it said in the Mūlamadhyamaka karika:

> "Not ascertainable from others, quiescent,
> Beyond description through verbal expression,
> A non-conceptual and undifferentiated,
> Is the definition of tattva." [20]

---

[19] Indrāyaṇī or Indrāṇī, a fruit which looks so nice but it has a bad taste.

[20] अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् ।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ॥ --मूलमध्यमककारिका, 18: 9

b) Thereafter it explains about the praise of wisdom.

c) abandonment of eight worldly dharmas.

d) to acquire the seven riches, the qualities possessed by noble aryas.

e) eschewing six hindrances to the riches of the Āryas.

f) and abiding in the state of satisfaction accordingly.

Lastly, Āchārya advises us how to get a proper wife with three qalities such as-- one who is compliant as a sister who accords with her brother and is not contemptuous of his word; like a mother wishing to help her son by freeing him from all physical and mental sufferings, and a wife who is obedient, just as a servant. Such wife will preserve one's family lineage intact and should be treated with honour, in the same manner as a family goddess.

3rd chapter

In the third chapter instruction has been given to both householders and those departed from a home life, concerning the persuance of higher states and supreme beatitude.

Chapter third has three sections, dealing with the following subjects:

a) the practice of dharma common to both goals

b) the practice of the dharma devoted to supreme beatitude in particular and

c) the advisability of making full use of the human body.

Among these, the first section has six categories--two points are of crucial importance for the practice of meditation: regulating the amount of food one eats and avoiding excessive sleep. The Sutra also reiterates:

> "Bhagavan also during the first period of the night, while engaged in walking, sitting etc. four īryāpathas, purifies his mind of those dharmas which are obscurations. In the middle period of the night, having finished this practice, washes his feet outside the

monastery building. Having entered into the monastery, lies down on his right side, placing one leg upon the other, and reclines with recollection and conscience in the sleeping-lion pose. In the final period of the night, rises promptly and purifies his mind from obscurations through four īryāpathas."

When the pliancy (karmaṇya) of body and mind has been developed through these practices, one should then practice meditation upon the Four Immeasurables--loving-kindness, compassion, joyfulness and equanimity as further preparation for the attainment of the state of concentration (dhyana). Practice of these four immeasurables enable one to attain the four concentrations that enable one to attain the same fortune as Brahma, Ābhāsvara, Subha-kṛtsna and Vṛhat-phala deities. Next is the manner of adopting virtue and rejecting evil through understanding several types of heavy karma. One should understand that, even minor evil karma can yield results if one's rudiments of virtue are light. If these rudiments are large and numerous, however, it is unable to do so. Therefore, strive continuously for virtue of great force.

One should endeavour to eschew the five dharmas of "excitement, regret, malice, languor & sleep, sense-desires and doubt" because they are obstacles to the attainment of concentration and liberation.

Second the pursuance of supreme beatitude also has three sections where the Five Powers and the Five Strengths--faith, vigour, recollection, single-pointed concentration and wisdom are said to be practiced continuously. Next is the eschewal of conceit and then right view.

The right view has two parts: a brief presentation and an expanded explanation of right view. Here reference is made to two right views: one having the ordinary world as its object and other having the ultimate as its object. The first is the belief in the relationship between karma and its future results, and the second is the wisdom which realizes the true nature of all phenomenas.

The first view is the cause which enables one to take birth in the higher states of existence, while the second view enables one to attain liberation.

The expanded explanation has five sub divisions--meditating upon the four well-established recollections, recollecting selflessness, eschewing the three bonds (misunderstanding of ascetic practices=śīlavrataparāmarśa, view of perishable assemblage=mithyādṛṣṭi, and doubt), practicing the three trainings (superior morality, concentration and wisdom) and recollection of bodily cirumstances are explained. In the sutra states:

> "Monks the path which purifies all beings, delivers them from misery and sadness, produces the realization of correct dharma and bring forth Liberation is the recollection of bodily circumstances."

Since the recollection of bodily circumstances is of such great importance, one should apply himself and observe it with earnest. If the loss of this recollection destroys every other virtuous dharmas, what need is there to speak of the attainment of Liberation?

Third section, making full use of the human body has three points—abandon attachment for the body through contemplating its impermanence and lack of essence, put this human life of leisure and endowment to full use after having contemplated the difficulty of finding it, and finally, the King in particular is advised to exert himself because he possesses an exceptional human form with the following four great wheels—dwelling in a region that favours the noble path's arising, relying upon spiritual friends, the faults diminish and increase virtuous actions: being of a prayerful nature, and being mature in mental continuum through having previously performed meritorious deeds. So being endowed with the above qualities enables a follower of the path to reach liberation with amicable facility. Endowed with the four great wheels, the King, who possess all the conditions necessary for the pursuit of the path, has been therefore urged to exert himself in that endeavour.

There are eight non-conducive factors of birth explained in the text. Three of them are to be born in the lower states of existence—as (1) animal being, (2) hungry ghost, or (3) hell being. Four cases apply to a human birth; (4) to be born in a region where the word of the Jina (Buddha) is not present; or even if he has appeared, (5) to take birth as a barbarian in a remote area where his word is not heard; or (6) even if born in a central land, to be born as an imbecile or idiot; or (7) birth as one who adheres to the false view which discredits the law of karma and its result, Nirvana, and the path leading to it. The last inopportune form is (8) a birth as a deity of long life, such as those called the "being without conception" (asañjñi deva). Taking birth in any of these eight forms is said to be a state of innopportunity for such a one has no occasion for pursuing liberation.

4th Chapter

In this fourth chapter Āchārya has explained the defects of saṁsāra in order to develop aversion for them. He advised not to be attached with saṁsāra. Saṁsāra is the source of all sufferings—the lack of material goods, ultimately death, occasional occurences of illness, aging and such forms of misery as grief and outcries of anguish—one must develop aversion for saṁsāra. Dealing with various types of sufferings of saṁsāra, it explains the sufferings of hell, animal, hungry ghost (pretas), gods and demigods in detail. Because saṁsāra is comprised of many sufferings, there is no birth among any type of beings—whether gods or human which is favourable. Birth should be understood as the vessel, or basis, of many types of harm—such as the "harm of close relatives" and so forth.

5th chapter

In the fifth chapter, having contemplated the virtues of Liberation in order to accomplish the path, the Āchārya explains seven limbs of bodhi, union of calm abiding and insight, realization of dependent origination, practice of the eightfold noble paths, practice of four noble truths etc. These are the virtuous merits to attain nirvana, therefore, one has to practice all these in order to attain Liberation.

Even such layman as king Bimbisāra, saw the truth and crossed the river of mental afflictions by means of right view. Even though, many Āryas have crossed the cyclic existence, not anyone of them has been so from the beginning. They neither fell from sky nor rose up from the ground like crops, but were formerly, ordinary beings just like us, dominated by mental afflictions. Later, through a spiritual teacher, they were able to pursue the path and become Āryas. Buddha has also declared that

> "the world is produced by mind—
> it is brought into being by the mind.
> All things follow from the
> influence of a single thing: mind."[21]

In addition,

> "It is good to subdue one's mind.
> Through subduing the mind one attains happiness."[22]

Furthermore, it is said that it would be difficult to accomplish all these teachings indeed even for a fully ordained monk, who engages exclusively in virtuous activities. Needless to say, a layman—diverted by many responsibilities—would find it so. Nevertheless, whichever of these instructions you make the essence of your practice, bring meaning to your life, habituating yourself to the eschewal of non-virtue and the cultivation of virtue. In doing so, you abide in the teaching of the Buddha and gradually come to acquire all other virtues as well.

---

[21] चित्तेन नीयते लोकः चित्तेन परिकृष्यते ।
एकधर्मस्य चित्तस्य सर्वधर्मा वशानुगाः ॥
--अभिधर्मकोश स्फुटार्था (सं.नि. 1.2.7)पृ0 138, बौ.भा.प्र. 1987 ।

[22] चित्तस्य दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं ॥ --धम्मपद, 3: 3

Lastly, having satisfied the presentation of dharma in the foregoing chapters, the Āchārya pursues the King with an intention to enter him in the Mahāyāna path together with its result. One should rejoice: "Just as the Buddha and Bodhisattvas rejoice at all virtues—both the contaminated and uncontеminated virtues of ordinary beings and the noble Āryas—so too I rejoice." Dedicate as well all your three types of good deeds—those of body, speech and mind to the attainment of buddhahood and dedicate in this manner: "By this virtue may I become a guardian for those beings who have no guardian, a saviour for those who have no saviour." Accumulating a mass of virtue from rejoicing and dedication, generate a lifetime of infinite length through remaining the guardian of the world until cyclic existence is emptied. Thereafter, after attaining Buddhahood and acting appropriately on behalf of sentient beings, one should attain Liberation (without remainder).

Sarnath
6th July, 2002

Dr. Pema Tenzin

भूमिका

सत्त्वों को अनेक प्रकार के दुःखों से मुक्त करने हेतु उपाय खोजना मानव जीवन का लक्ष्य है, क्योंकि सभी प्राणी सुख की अभिलाषा करते हैं, दुःख की नहीं। दुःख का परिहार पुरुषार्थ से ही सम्भव हो सकता है। जीवन में बडी-बडी आशाएं करना और उनके पूर्ण होने की प्रतीक्षा करना उचित नहीं है। वास्तव में, आलस्य से न तो दुःख दूर किया जा सकता है और न ही सुख प्राप्त किया जा सकता है। दुःख के कुछ कारण होते हैं। हमें उनको जानकर उन कारणों को समाप्त करना है। तभी हम सुखी हो सकते हैं तथा एक सम्पन्न समाज का निर्माण भी कर सकते हैं। धर्म ही एकमात्र उपाय है जो सम्यग् लक्ष्य प्रशस्त करता है। धर्म स्वयं सुखपूर्वक जीने तथा दूसरों को भी सुखपूर्वक जीने देने की एक पद्धति है। सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं। परन्तु जबतक हम यह नहीं जान लेते कि वास्तविक सुख क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है, तबतक हम राग, द्वेष एवं मोह के वशीभूत होकर कदापि खत्म न होने वाले सांसारिक दुःख को सुख समझकर उस मिथ्या-सुख के पीछे पागलों की तरह दौडते रहेंगे और वास्तविक सुख से कोशों दूर रहकर यों ही अत्यधिक दुःख भोगते रहेंगे। साथ ही, न केवल स्वयं का, अपितु अन्य प्राणियों के भी दुःख का कारण भी बनते रहेंगे।

चित्त की प्रधानता :

वास्तविक सुख आन्तरिक शान्ति में है और वह चित्त की विकारविहीनता में है, चित्त की निर्मलता में है और यही चित्त का प्रभास्वर स्वरूप है। अतः जो चित्त को वश में करके जीवन यापन करता है अर्थात् जो जितना अधिक राग, द्वेष आदि क्लेशों से मुक्त रहता है, वह उतना ही सुख भोगता है। चित्त का दमन करना ही वास्तविक धर्म है। बोधिचर्यावतार पञ्जिका में आचार्य प्रज्ञाकरमति ने कहा है-

निवृत्तपापचित्तस्य नास्ति लोके भयं द्विषः।
सुखहानिर्न तस्यास्ति यस्य चित्तं वशे स्थितम्।।

अत इदमुक्तम्-

चित्तस्य दमनं साधु चित्तं दान्तं सुखावहम्। इति।[1]

तत्त्ववादी भगवान् वस्तुतत्त्वकथनशीलत्वात्। तेनेदं तत्त्वं कथितं प्रकाशितम्- सर्वं चित्तप्रसूतमिति। अतः सर्वत्र चित्तमेव प्रधानम्।[2]

ननु बहवश्च मृगव्यालादयोऽप्युपद्रवकारिणः सन्ति, तेभ्यः कथं चित्तस्य वशीकरणाद् भयं न भविष्यतीत्याह-

व्याघ्राः सिंहा गजा ऋक्षाः सर्पाः सर्वे च शत्रवः।
सर्वे नरकपालाश्च डाकिन्यो राक्षसास्तथा।।
सर्वे बद्धा भवन्त्येते चित्तस्यैकस्य बन्धनात्।
चित्तस्यैकस्य दमनात् सर्वे दान्ता भवन्ति च।।

सुबोधम्। कुतः पुनरेवमित्याह-

यस्माद्भयानि सर्वाणि दुःखान्यप्रमितानि च।
चित्तादेव भवन्तीति कथितं तत्त्ववादिना।।

सर्वे ह्येते कर्माक्षेपवशादनिष्टदायका भवन्ति। कर्म च चित्तमेव। चेतना कर्मेति वचनात्।[3] वाक्कायकर्मणोरपि चित्तमेव समुत्थापकम्। तदन्तरेण तयोरनुत्पत्तेः। चेतयित्वा कर्मेति वचनात्।[4] तस्मात् सर्वमिह कर्मनिर्मितमेव। तच्च चित्तान्नान्यत्।[5] तदाह-

कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत्।
चेतना मानसं कर्म तज्जं वाक्कायकर्मणी।।[6]

---

[१] धम्मपद - ३/३

[२] बो.च.पं., पृ. ५१, मिथिला संस्करण, १९६० ।

[३] चेतनाहं भिक्खवे, कम्मं वदामि- अंगुत्तर निका., भाग-३, पृ. १२०।

[४] सूत्र उक्तम्- द्वे कर्मणी चेतना कर्म चेतयित्वा च इति।
-अभि.को.भा., ४/१, पृ. ५६७, बौ.भा.प्र. १९८७।

[५] बो.च.पं., ५/४-६, पृ. ५१, मिथिला संस्करण, १९६० ।

[६] अभि.को. ४/१

यथोक्तं भगवता-

मनःपूर्वंगमा धर्मा मनःश्रेष्ठा मनोजवाः।
मनसा चेत्प्रदुष्टेन भाषते वा करोति वा।
ततस्तं दुःखमन्वेति चक्रं वा वहतः पदम्।। १३।।
मनःपूर्वंगमा धर्मा मनःश्रेष्ठा मनोजवाः।
मनसा चेत्प्रसन्नेन भाषते वा करोति वा।
ततस्तं सुखमन्वेति छाया वा अनुयायिनी।।१४।।[1]

जब-जब हमारा चित्त द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, दौर्मनस्य आदि से आक्रान्त हो उठता है, तब-तब हम व्याकुल हो जाते हैं। दुःखसंतप्त होकर सुख से वंचित हो जाते हैं। जब हमारा चित्त ऐसे विकारों से विकृत नहीं रहता, तब हम व्याकुलता से मुक्त एवं दुःख से तापित होने से बचे रहते हैं।

राग आदि क्लेशों से मुक्त रहना ही विशुद्ध धर्म है। विशुद्ध धर्म का स्वरूप निर्मल तथा आदि, मध्य एवं पर्यवसान में कल्याणकारी है। हम जब भी विकार मुक्त होकर निर्मल चित्त से आचरण करते हैं, तब स्वयं तो वास्तविक सुख शान्ति भोगते ही हैं, दूसरों के सुख शान्ति का भी कारण बनते हैं। अतएव भगवान् बुद्ध ने वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमितासूत्र में सुभूति को अरणाविहारियों में अग्रणी कहा है। अरणाविहारी का अर्थ है ऐसा व्यक्ति, जो क्लेशों से युक्त होकर विचरण नहीं करता है अर्थात् जिसने क्लेशों का प्रहाण कर दिया है और जिसके संसर्ग से किसी अन्य में क्लेश का उत्पाद नहीं होता है।

---

[1] महाकर्मविभंग, म.सू.सं., पृ. १८८, मि.सं., १९६१ ;

तुलनीयम्-

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कं व वहतो पदं।। १/१
मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेव, भासति वा करोति वा।
ततो नं सुक्खमन्वेति, छाया व अनपायिनी।। १/२ ---धम्मपद।

तद्यथा भगवानाह- तत्किं मन्यसे सुभूते, अपि नु अर्हत एवं भवति- मया अर्हत्त्वं प्राप्तमिति? सुभूतिराह- नो हीदं भगवन्। नार्हत एवं भवति- मया अर्हत्त्वं प्राप्तमिति। तत्कस्य हेतोः? न हि स भगवन् कश्चिद्धर्मो योऽर्हन्नाम। तेनोच्यते अर्हन्निति। सचेद् भगवन् अर्हत एवं भवेत्- मया अर्हत्त्वं प्राप्तमिति, स एव तस्यात्मग्राहो भवेत्, सत्त्वग्राहो जीवग्राहः पुद्गलग्राहो भवेत्। तत्कस्य हेतोः? अहमस्मि भगवंस्तथागतेनार्हता सम्यक्सम्बुद्धेन अरणाविहारिणामग्र्यो निर्दिष्टः। अहमस्मि भगवन् अर्हन् वीतरागः। न च मे भगवन्नेवं भवति- अर्हन्नस्म्यहं वीतराग इति।

आचार्य कमलशील ने भी वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमितासूत्र की विस्तृत टीका में कहा है- अरणा इति समाधिविशेषः, अत्र चोभतोभागविमुक्तत्वमर्हत्त्वमालम्ब्य तदितरेषु रणा नोत्पाद्यन्त इति विचिन्त्य योगः समापद्यते। ततो व्युत्थाय तमालम्ब्य तदितरेषु नोपजायन्ते रणाः। यस्तया अरणया विहरणशीलः स एवमुच्यते।[१]

आलोक टीका में भी कहा गया है- अरणा इति यस्य समाधेः प्रमाणात् परेषां सन्ताने स्वपरव्यवधानार्थेन रणयन्तीति रणाः क्लेशा न जायन्ते, स अरणासमाधिः, तद्विहारिणा मध्ये अग्रतायां निर्दिष्टः सन् निर्दिष्टस्य अचित्ततामिति विभक्तपरिणामेन योज्यम्।[२]

अभिधर्मकोश में भी कहा गया है- रणा हि क्लेशा आत्मपरव्याबाधनादिति। ये ह्यात्मानं परांश्च व्याबाधन्ते ते रणाः, युद्धानीत्यर्थः। तथैव च क्लेशा रणा उच्यन्ते। तदनुशयितत्वादिति। तैरनुशयिता उपसेविता इत्यर्थः। अथ वा- अनुशयिनः कृतास्तैरनुशयिताः, तद्भावस्तदनुशयितत्वम्, तस्मात्उ तदनुशयिथ्त्वात्। अथ वा- तेषामनुशयिथ्त्वम्, तस्मात्। सरणाः सास्रववत्।[३]

मनुष्य का व्यक्तित्व काय और चित्त से बनता है। इन दोनों में भी चित्त प्रधान है। एक प्रकार से चित्त शरीर का स्वामी है। इसलिए शारीरिक सुख-दुःख का भोग बहुत कुछ चित्त के ऊपर ही निर्भर करता है। मध्यमकावतार में भी कहा गया है-

सत्त्वलोकमथ भाजनलोकं चित्तमेव रचयत्यतिचित्रम्।

---

[१] वज्र.टीका, पृ. १५०, ति.सं.सं., १९९४ ।

[२] आलोकटीका, पृ. २९३, मि.सं.

[३] अभि.को.भा., १/८, पृ. २९, बौ.भा.प्र. ।

कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं कर्म चित्तमवधूय च नास्ति।।[1]

तस्माच्चित्तमेवात्र कारणं नान्यदित्यत आह-

पापचित्तसमुद्भूतं तत्तत्सर्वं जगौ मुनिः ।
तस्मान्न कश्चित् त्रैलोक्ये चित्तादन्यो भयानकः।।[2]

पापकर्मोपस्कृतं चित्तमेव तेषां कारणं भगवान् कथितवान्। नापरं किंचित् यत एवम्, तस्मान्न त्रिजगति पापचित्तादपरः कश्चिद् भयहेतुरस्ति। तस्माच्चित्तमेव वशीकर्तव्यम्। यदुक्तमार्यरत्नमेघे- चित्तपूर्वंगमाः सर्वधर्माः। चित्ते परिज्ञाते सर्वधर्माः परिज्ञाता भवन्ति।। अपि च-

चित्तेन नीयते लोकश्चित्तं चित्तं न पश्यति।
चित्तेन चीयते कर्म शुभं वा यदि वाशुभम्।।

चित्तं भ्रमते अलातवत्। चित्तं विभ्रमते तरंगवत्। चित्त दहते दवाग्निवत्। चित्तं रोहयते (हरते) महाम्बुवत्। इति च।। एवं व्युपपरीक्षमाणश्चित्ते सूपस्थितस्मृतिर्विहरति, न च चित्तस्य वशं गच्छति। अपि तु चित्तमेवास्य वशं गच्छति। चित्तेनास्य वशीभूतेन सर्वे धर्मा वशीभवन्तीति।।[3]

इसी प्रकार विकारग्रस्त होकर मलिन चित्तजन्य आचरण के द्वारा न केवल स्वयं संतप्त होते हैं, बल्कि दूसरों को भी संतप्त करते हैं तथा उनके संताप का कारण भी बनते हैं।

इसीलिए आचार्य प्रज्ञाकरमति कहते हैं कि अन्यत्र आसक्त मन्द बुद्धि के द्वारा बहुत कालपर्यन्त किये गये सारे जप, तप आदि व्यर्थ हैं- ऐसा सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध ने कहा है। जिन्होंने धर्म के निदानभूत गुह्यचित्त की भावना नहीं की, वे दुःख के नाश और सुख की प्राप्ति के लिए व्यर्थ संसार में भ्रमण करते रहते हैं। इसलिए चित्त की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि चित्तरक्षा ही सबसे महान् व्रत है। इस व्रत को छोडकर अन्य अनेकों व्रतों के सेवन से कोई लाभ नहीं है।[4]

---

[1] म.अ. ६/८९

[2] बो.च. ५/८

[3] बो.च.पं., पृ. ५२, मि.सं. १९६० ।

[4] जपास्तपांसि सर्वाणि दीर्घकालकृतान्यपि।
अन्यचित्तेन मन्देन वृथैवेत्याह सर्ववित्।।

धर्म का किसी भी सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। शुद्धधर्म में अभ्यासरत व्यक्ति जब धर्म का पालन करता है तो वह किसी सम्प्रदाय विशेष या किसी रीति-रिवाज की पूर्ति के लिए ग्रन्थ विशेष या किसी रूढीवादी परम्परा का अनुसरण करने के लिए नहीं, बल्कि अपने जीवन और समाज को सुखी एवं स्वस्थ बनाने हेतु करता है। धार्मिक जीवन जीने हेतु वह धर्म को भली-भाँति समझकर उसे आत्मकल्याण तथा परकल्याण का कारण मानकर ही उसका पालन करता है। धर्म का पालन केवल अपने हित के लिए ही नहीं, अपितु बहुजन के हित-सुख, मंगल, कल्याण एवं बहुजन की मुक्ति के लिए करता है। ऐसे व्यक्तियों का चरित्र एवं जीवन का उद्देश्य महान् होता है, उनका चित्त उदार होता है और उनके लिए समस्त सत्त्व समान होते हैं।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैवकुटुम्बकम् ।।[१]

कर्मफल :

धर्म का मर्म यही है कि वह व्यक्ति या समाज को सूचित कर सके कि उस पर आई हुई विपत्तियों के कारण क्या हैं और उनसे मुक्ति पाने का क्या उपाय है। सच्चा धार्मिक व्यक्ति स्वीकार करता है कि मनुष्यों के सुख-दुःख के भोगों का कारण स्वयं है। अपने किये कर्मों का ही फल मनुष्य प्राप्त करता है। उसके पाप-कर्मों का फल दुःख एवं कुशल कर्मों का फल सुख है। जैसे-
मुक्तालता में भी कविवर क्षेमेन्द्र ने कहा है-

जन्मभूमौ जनेनाप्तं यद्यत्कर्म शुभाशुभम्।
तस्य तस्य स तद्रूपं भुङ्क्ते परिणतं फलम्।।[२]

दुखं हन्तुं सुखं प्राप्तुं ते भ्रमन्ति मुधाम्बरे।
यैरेतद्धर्मसर्वस्वं चित्तं गुह्यं न भावितम् ।।बो.च. ५/१

[१] हितोपदेश,

[२] मुक्तालता, ८५ का., ति.सं.सं., १९८९

पुनः कहा गया है- अनेनैव कृतं कर्म, कोऽन्यः प्रत्यनुभविष्यति? न हि भिक्षवः कृतोपचितानि कर्माणि पृथिवीधातौ विपच्यन्ते नाब्धातौ न तेजोधातौ न वायुधातौ। उपात्तेष्वेव स्कन्धधात्वायतनेषु ....इति विस्तरः।[१] उक्तं च-

न हि प्रणश्यन्ति कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि।
सामग्रीं प्राप्यकालं च फलन्ति खलु देहिनाम्।।[२]

सामान्यतया कर्म का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है- दृष्टधर्मवेदनीयकर्म, उपपद्यवेदनीयकर्म तथा अपरपर्यायवेदनीयकर्म। कृत कर्म कभी-कभी उसी जन्म में फलित होता है, इसे दृष्टधर्मनेदनीय कर्म कहते हैं। द्रष्टव्य- ऋच्छ तथा रुरुमृग जातक।[३] अनन्तर जन्म में फलित होने वाले कर्म उपपद्यवेदनीयकर्म कहलाते हैं। जैसे- पाँच आनन्तर्य कर्मों के फलस्परूप होने वाले विपाक फल। जैसे कहा गया है-

आनन्तर्याणि कर्माणि तीव्रक्लेशोऽथ दुर्गतिः।
कौरवासंज्ञिसत्त्वाश्च मतमावरणत्रयम् ।।

पञ्चानन्तर्याणि कर्मावरणम्। तद्यथा- मातृवधः, पितृवधः, अर्हद्वधः, सङ्घभेदः, तथागतशरीरे दुष्टचित्तरुधिरोत्पादनम्।[४]

तीसरे अपरपर्यायवेदनीयकर्म का फल दूसरे जन्म के अनन्तर अनेकों जन्मान्तरों में फलित होता है। जैसे अभिधर्मकोशभाष्य में कहा गया है-

.................नियतं त्रिविधं पुनः।

---

[१] बो.च.पं., ९/७१, पृ. २२०

[२] अ.श., १३/२

[३] द्रष्टव्य- जातकमाला

[४] अभि.को.भा., ४/९६, पृ. ७२२, बौ.भा.प्र., १९८७;

द्र०- सभागानि आनन्तर्यकर्माणि-

दूषणं मातुरर्हन्त्या नियतिस्थस्य मारणम्।
बोधिसत्त्वस्य शैक्षस्य सङ्घायद्वारहारिका।।
आनन्तर्यसभागानि पञ्चमं स्तूपभेदनम्।

एतानि पञ्च पञ्चानामानन्तर्याणां यथाक्रमं सभागानि- १. यदि मातरमर्हन्तीं दूषयत्यब्रह्मचर्यकरणात्, २. नियतिपतितं बोधिसत्त्व मारयति, ३. शैक्षं मारयति, ४. संघस्य सुखायद्वारिकं हरति, ५. स्तूपभेदं करोति। --अभि.को.भा., ४/१०६-१०७, पृ. ७३४, बौ.भा.प्र., १९८७ ।

दृष्टधर्मादिवेद्यत्वात् ....।।

दृष्टधर्मवेदनीयम्, उपपद्यवेदनीयम्, अपरपर्यायवेदनीयं च इत्येतत् त्रिविधं कर्म नियतमिति। .....तत्र दृष्टधर्मवेदनीयम्- यत्र जन्मनि कृतं तत्रैव विपच्यते। उपपद्यवेदनीयम्- द्वितीये जन्मनि। अपरपर्यायवेदनीयम्- तस्मात् परेण।[१]

पुनरभिधर्मसमुच्चये चोक्तम्- कर्मप्रभेदः पुनस्त्रिविधः। दृष्टधर्मवेदनीयं कर्म उपपद्यवेदनीयं कर्म अपरपर्यायवेदनीयं कर्म च। दृष्टधर्मवेदनीयं कर्म कतमत्। तत्कर्म दृष्टे धर्मे यस्य विपाको विपच्यते। तच्च मैत्रीसमापत्तेरुच्चलितस्य परिहाणिं वृद्धिं वा कुर्वतः दृष्टे धर्मे विपाको लभ्यते। यथा मैत्रीसमापत्तेरुच्चलितस्य तथा अरणसमापत्तेरुच्चलितस्य निरोधसमापत्तेः उच्चलितस्य स्रोतापत्तिफलादुच्चलितस्य अर्हत्त्वफलादुच्चलितस्य च। बुद्धप्रमुखे संघे कुशलमकुशलं च कुर्वतः दृष्टे धर्मे विपाको लभ्यते। अन्येषां तीव्राशयप्रयोगेण कुशलाकुशलकर्मप्रतिपन्नानामपि दृष्टे धर्मे विपाको लभ्यते।। उपपद्यवेदनीयं कर्म कतमत्। तत्कर्म अनन्तरे जन्मनि यस्य विपाको विपच्यते। तद्यथा पञ्चानन्तर्यकर्माणि। अपि च यान्यन्यानि कुशलाकुशलानि कर्माणि येषामनन्तरे जन्मनि विपाको तत्सर्वमुच्यते उपपद्यवेदनीयं कर्म।। अपरपर्यायवेदनीयं कर्म कतमत्। तत्कर्म यस्यानन्तरजन्मनोऽपरपर्यायेषु विपाको विपच्यते। तदुच्यतेऽपरपर्यायवेदनीयं कर्म।।

पुनश्च कर्मप्रभेदश्चतुर्विधः। कृष्णं कृष्णविपाकं कर्म, शुक्लं शुक्लविपाकं कर्म, कृष्णशुक्लं कृष्णशुक्लविपाकं कर्म, अकृष्णशुक्लविपाकं व्यामिश्रं कर्म।। कृष्णं कृष्णविपाकं कर्म कतमत्। अकुशलं कर्म। शुक्लं शुक्लविपाकं कर्म कतमत्। त्रैधातुकं कुशलं कर्म। कृष्णशुक्लं कृष्णशुक्लविपाकं कर्म कतमत्। कामप्रतिसंयुक्तं कर्म यत् कर्म वा आशयतः प्रयोगतो वा शुक्लं यत् कर्म वा प्रयोगतः कृष्णमाशयतः शुक्लम्।। अकृष्णशुक्लविपाकं व्यामिश्रं कर्म कतमत्। प्रयोगान्तर्यमार्गेऽनास्रवं कर्म अविशेषेण च सर्वस्यानास्रवकर्मणः परिपन्थमानुकूल्यस्वभावमधिकृत्य वंकदोषकषायाणां शौचेयानां मौनेयानां च कर्मणां यथाक्रमं व्यवस्थानं वेदितव्यम्।।[२]

---

[१] अभि.को.भा., ४/५०, पृ. ६५७, बौ.भा.प्र. १९८७ ।

[२] अभि.समु., पृ. ५२, वि.भा.प्र. १९५०

पुनः यदुक्तं सूत्रे- त्रिविधं कर्म पुण्यकर्म अपुण्यकर्म आनिंज्यकर्म च। पुण्यकर्म कतमत्। कामप्रतिसंयुक्तं कुशलं कर्म। अपुण्यकर्म कतमत्। अकुशलं कर्म। आनिंज्यकर्म कतमत्। रूपारूप्यप्रतिसंयुक्तं कुशलं कर्म।। यदुक्तं सूत्रे अविद्यालम्बनाः संस्काराः पुण्यानिंज्या अपुण्यानिंज्याश्चेति। कतमे पुण्यानिंज्या अविद्यालम्बनाः संस्काराः उत्पद्यन्ते। द्विविधः संमूढः। फलविपाकसंमूढः तत्त्वार्थसंमूढश्च। फलविपाकसंमूढस्यापुण्याः संस्काराः। तत्त्वार्थसंमूढस्य पुण्यानिंज्याः संस्काराः।[१]

विशुद्ध-धर्म :

धर्म तभी तक शुद्ध है जब तक सार्वजनिक, सार्वदेशिक, सार्वकालिक है, तबतक सबके लिए एक जैसा कल्याणकारी, मंगलकारी, हितकारी एवं सुखकारी होता है और ऐसे गुणों से युक्त धर्म की शरण में जाना ही तथागत ने सर्वथा उपकारी कहा है। जैसे भगवान् ने अर्थविनिश्चयसूत्र में कहा है-

धर्मेऽवेत्य प्रसादेन समन्वागतो भवति- स्वाख्यातो भगवता धर्मः सांदृष्टिको निर्ज्वर आकालिक औपनायिक ऐहिपश्यिकः प्रत्यात्मवेद्यो विज्ञैः यदुत- मदनिर्मदनः, पिपासाप्रतिविनयः, आलयसमुद्घातः, धर्मोपच्छेदः, शून्यतोपलम्भः, तृष्णाक्षयः, विरागः, निरोधः, निर्वाणम्।[२]

पालिपरित्राणसूत्र में भी धर्म के गुणों का वर्णन करते हुए धर्म की शरण में जाना निर्वाण प्राप्ति का उत्तम मार्ग कहा गया है- स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चतं वेदितब्बो विञ्ञूही'ति। धम्मं जीवितपरियन्तं सरणं गच्छामि। धार्मिक गुणों का उल्लेख करते हुए आगे कहा गया है-

ये च धम्मा अतीता च ये च धम्मा अनागता।
पच्चुपन्ना च ये धम्मा, अहं वन्दामि सब्बदा।।
नत्थि मे सरणं अञ्ञं, धम्मो मे सरणं वरं।
एतेन सच्चवज्जेन, होतु मे जयमङ्गलं।।

---

[१] अभि.समु.स पृ. ५४, वि.भा.प्र., १९५० ।

[२] अ.वि.सू., पृ. ४५

यं किञ्चि रतनं लोके, विज्जति विविधा पुथु।
रतनं धम्मसमं नत्थि, तस्मा सोत्थि भवन्तु मे।।[1]

आचार्य असंग ने भी महायानोत्तरतन्त्र में इस प्रकार वर्णन किया है-

यो नासन्न च सन्न चापि सदसन्नान्यः सतो नासतो-
ऽशक्यस्तर्कयितुं निरुक्त्यपगतः प्रत्यात्मवेद्यः शिवः।
तस्मै धर्मदिवाकराय विमलज्ञानावभासत्विषे
सर्वालम्बन-रागद्वेषतिमिर-व्याघातकर्त्रे नमः।।[2]

शुद्ध वायुमण्डल में रहना, स्वच्छ हवा का सेवन करना, शरीर स्वस्थ्य रखना, सात्त्विक भोजन करना आदि इसलिए आवश्यक है क्योंकि यह हम सबके लिए हितकर है। यह केवल अपने लिए ही नहीं, किसी जाति विशेष, वर्ग विशेष या सम्प्रदाय विशेष के लिए ही नहीं, बल्कि सबके लिए समान रूप से कल्याणकर है। केवल मैं ही नहीं, कोई भी व्यक्ति यदि अशुद्ध, अस्वस्थ वातावरण में रहता है, गन्दी विषैली वायु का सेवन करता है, अस्वच्छ एवं दूषित भोजन करता है तो वह अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है और रोगग्रस्त होकर दुःखी होता है। यह नियम सब पर समान रूप से लागू होता है। ठीक इसी प्रकार जब कोई अपने मन को विकारों से विकृत करता है, तो उसके वात, पित्त, कफ में विषमता पैदा होती है। वह रोगग्रस्त होता है। स्वास्थ्य विज्ञान के सामान्य नियम सभी के शरीर पर समान रूप से लागू होते हैं। प्रकृति यह नहीं देखती कि इन नियमों का उल्लंघन करने वाला कौन है। किस जाति या सम्प्रदाय का है। प्रकृति किसी सम्प्रदाय विशेष के व्यक्ति पर कृपा नहीं करती, और न किसी अन्य पर क्रोध ही करती है। बीमारी-बीमारी ही है। अतः क्लेशों से मुक्त होना ही स्वयं धर्म का पालन करना है।

धर्म पालन का मुख्य उद्देश्य है हम वास्तव में मनुष्य बनें। अच्छा मनुष्य बनें। अच्छा इन्सान बनने पर एक अच्छा बौद्ध अथवा हिन्दू भी बन जाएंगे। अन्यथा मात्र

---

[1] परित्राणसूत्र, पृ. ३२-३४, भदन्त धर्मकीर्ति महाथेरो, भारतीय बुद्ध धम्म ज्ञान शिक्षण विद्यालय, नागपुर, १९८७

[2] महायानोत्तरतंत्र १/९

बौद्ध बने रहने से भी क्या लाभ? हिन्दू, मुस्लिम, जैन, ईसाई आदि बने रहने से भी क्या लाभ?

धर्म स्वयं साक्षात्कार एवं स्वयं अनुभव करने के लिए होता है। धर्म यहीं, इसी जीवन में लाभ देने वाला होता है। धर्म का जितना पालन किया जाय, उतना ही उससे लाभ प्राप्त होता है। धर्म आदि, मध्य एवं पर्यवसान सभी अवस्थाओं में कल्याणकारी होता है। धर्म सर्वसाधारण के लिए समान रूप से ग्रहण करने योग्य होता है।

वाणी के कर्म, शरीर के कर्म, आजीविका, मानसिक स्वस्थता का अभ्यास, जागरूकता का अभ्यास, एकाग्रता का अभ्यास आदि शुद्ध हो, मानसिक चिन्तन एवं संसार के प्रति दृष्टिकोण भी शुद्ध हो। यही वास्तविक धर्म है।

सामान्य तौर पर दान, शील, समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास सबके लिए आवश्यक है। साम्प्रदायिकता से रहित है, सर्वजनहिताय है, सर्वग्राह्य है, इसलिए वास्तविक धर्म है। आत्महित एवं परहित के लिए विशुद्ध धार्मिक जीवन जीना अनिवार्य है, जिसके लिए धर्म की शुद्धता को जानना आवश्यक है।

कुशल-अकुशल कर्म :

कर्मों की उत्पत्ति के कारण को कर्मद्वार कहते हैं। अकुशल कर्म कर्मद्वार से सम्बन्ध होने पर तीन प्रकार के होते हैं, यथा- कायकर्म, वाक्कर्म तथा मनस्कर्म।

उनमें से प्राणातिपात, अदत्तादान एवं काममिथ्याचार- इन तीनों कर्मों को कायकर्म कहते हैं। किसी अन्य सत्त्व अथवा प्राणी की हत्या करना अथवा किसी शस्त्र आदि द्वारा अतिक्रमण करके जीवितेन्द्रिय के निपात करने की चेतना को प्राणातिपात कहते हैं। प्राण, प्राण की संज्ञा, चित्त, प्रयोग एवं निष्ठा (कार्य की पूर्णता) इन अंगों के साथ सत्त्व को मारने पर यदि वह सत्त्व मर जाता है तो प्राणातिपात कर्मपथ पूर्ण हो जाता है।

दूसरों के द्वारा परिगृहीत वस्तु को ग्रहण करने का प्रयोग अथवा ग्रहण करने रूपी चेतना अदत्तादान है। दूसरों की परिगृहीत वस्तु को वैसा जानकर उसे ग्रहण करने के आशय से स्वयं या दूसरों के द्वारा वस्तु का अपहरण कर लिए जाने पर अदत्तादान कर्मपथ पूर्ण हो जाता है।

काम सम्बन्धी पापाचार करना ही काममिथ्याचार है। परस्त्री, काम के अयोग्य स्त्री अथवा काम के योग्य होने पर अनङ्ग में, अस्थान में एवं असमय में उसके साथ अमर्यादित एवं अनुचित कार्य करना काममिथ्याचार है। अन्य सभी पुरुष एवं नपुंसक इसके वस्तु हैं। इन्हें भली-भाँति जानकर काम में प्रवृत्त होने के आशय से यदि कोई प्रवृत्त होकर काम करता है तो काममिथ्याचार कर्मपथ होता है।

चार वाचिक कर्म होते हैं- मृषावाद, पैशुन्यवचन, परुषवचन तथा सम्भिन्नप्रलाप। अभूत (अविद्यमान) को जिसके द्वारा सत्य की भाँति कहा जाता है, वह मृषावाद है। जैसे- किसी के द्वारा पूछे जाने पर जानते हुए भी सही उत्तर न दिया जाना मृषावाद है। मृषावाद में वस्तु को विपरीत संज्ञा में परिवर्तित करके भी कहा जाता है। जब कोई अन्य उसके झूठे वचन पर विश्वास कर लेता है, तो कार्य की निष्पत्ति हो जाती है, तब यह मृषावाद कर्मपथ होता है।

समग्रभाव (एकता) को जो पीसती है अर्थात् सञ्चूर्ण करती है वह पैशुन्य है। अर्थात् जो दो व्यक्तियों की परस्पर मित्रता को नष्ट करती है वह पैशुन्य है। पैशुन्य की वस्तु तो अनुकूल या प्रतिकूल सत्त्व हैं। उसे भली-भाँति जानकर भेद या मेल न होने देने के आशय से भेदपूर्ण वाणी के प्रयोग का पूर्ण हो जाना पैशुन्यवचन कर्मपथ की पूर्णता है।

कठोर को परुष कहते हैं। आरी की तरह कठोर वाक् को परुषवचन कहते हैं। चित्त के आश्रयभूत सत्त्व के इस रूप को अच्छी तरह जानकर उसे दुःख पहुँचाने की इच्छा से दूसरों को कठोर वचन के द्वारा मर्मान्तक पीडा पहुँचाना परुषवचन कर्मपथ की पूर्णता है।

सम्भिन्नप्रलाप तो निरर्थक कथन है अर्थात् जिस चेतना द्वारा हित, सुख का नाश करने वाली वाणी का कथन होता है, उस चेतना को सम्भिन्नप्रलाप कहते हैं। निरर्थक कथन को अच्छी तरह जानकर उसे बोलने की इच्छा से वैसा कथन करना ही सम्भिन्नप्रलाप कर्मपथ की पूर्णता है।

अभिध्या, व्यापाद एवं मिथ्यादृष्टि, ये तीन अकुशल-कर्म कायविज्ञप्ति एवं वाग्विज्ञप्ति के बिना भी मनोद्वार में ही बहुलतया प्रवृत्त होने से मनस्कर्म कहे जाते हैं। इनमें दूसरों की सम्पत्ति को अभिमुख करके लोभचित्त से चिन्ता करना अभिध्या है। दूसरों की सम्पत्ति को देखकर यह मेरी हो जाए- इस प्रकार अभिमुख करने वाला

लोभ ही अभिध्या है। परधन एवं परसामग्री अभिध्या की वस्तु है। उसे अच्छी तरह जानकर वैसे चित्ताशय से उन वस्तुओं को निश्चित रूप से आधिपत्य में लेना ही अभिध्या कर्मपथ की पूर्णता है।

जिस द्वेष के कारण पुरुष दूसरे सत्त्वों के हित, सुख को उनके अहित की कामना से नष्ट करने में प्रवृत्त होता है, वह द्वेष ही व्यापाद है। यहाँ द्वेषमात्र कर्मपथ नहीं होता, अपितु दूसरे सुखी सत्त्वों को देखकर यह सब विनष्ट हो जाए तो अच्छा हो, यह कब विनष्ट होगा, इसके लिए मैं क्या करूँ- इत्यादि प्रकार से उनका विनाश चाहने वाला विशेष प्रकार का द्वेष ही व्यापाद कर्मपथ होता है। व्यापादचित्त की वस्तु एवं संज्ञा तो परुषवचन की भाँति होता है। प्रहार एवं हानि पहुँचाने की इच्छा से निश्चित रूप से आघात एवं क्षति होना ही व्यापाद कर्मपथ की पूर्णता है।

मिथ्या अर्थात् जो विपरीत रूप से देखती है वह मिथ्यादृष्टि है। श्रेष्ठ आर्य पुद्गलों द्वारा उपदिष्ट धर्मों को न मानकर उन्हें विपरीत रूप में देखने वाले दृष्टिचैतसिक को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मिथ्यादृष्टि की वस्तु कार्यकारण भाव एवं चार आर्य सत्य हैं। सत्य का अपलाप या मिथ्या को सत्य समझकर उस प्रकार से अभिनिवेश से विपरीततया प्रवृत्त होना मिथ्यादृष्टि कर्मपथ की पूर्णता है।

मिथ्यादृष्टि भी पाँच प्रकार की होती हैं- सत्कायदृष्टि, अन्तग्राहदृष्टि, मिथ्यादृष्टि, दृष्टिपरामर्श एवं शीलव्रतपरामर्श।[1] पाँच उपादान स्कन्धों को आत्मा या आत्मीय रूप

---

[1] आत्मात्मीयध्रुवोच्छेदनास्तिहीनाग्रहदृष्टयः ।
अहेत्वमार्गे तद्दृष्टिरेतास्ता पञ्च दृष्टयः ।।
ईश्वरादिषु नित्यात्मविपर्यासात् प्रवर्तते ।
कारणाभिनिवेशोऽतो दुःखदृग्घेय एव सा ।।
अभि.को. ५/७ । अभि.दी. १६९-१७१ का., पृ. २२९-२३२ ।

तुलनीय-

अहं ममेति या दृष्टिरसौ सत्कायदृक् स्मृता ।
तदुच्छेदध्रुवग्राहौ यौ सान्तर्ग्राहदृङ् मता ।।
फलहेत्वपवादो यः सा मिथ्यादृष्टिरुच्यते ।
ज्ञेयो दृष्टिपरामर्शः हीनवस्तूत्तमग्रहः ।।
अहेतावपथे चैव तद्धि शीलव्रताह्वयः ।
दुःखभ्रान्त्यपथादानात्तद्दृष्ट्युत्सार्य एव सः ।। -अभि. दी., पृ. २२९-२३२ ।

में देखना सत्कायदृष्टि है। विद्यमान पाँच उपादान स्कन्धों का समूह सत्काय है। उसमें आत्म-आत्मीय दृष्टि होना सत्कायदृष्टि है। इसे पुद्गलात्मदृष्टि भी कहते हैं। उपर्युक्त पाँच उपादान स्कन्धों को आत्म-आत्मीय रूप में मान लेने के बाद उसे शाश्वत समझना अन्तग्राहदृष्टि है। इससे पूर्व सत्कायदृष्टि का होना आवश्यक है। उच्छेदान्तवादी चार्वाक् एवं शाश्वतान्तवादी तैर्थिक दोनों को ग्रहण करने वाली दृष्टि अन्तग्राहदृष्टि कहलाती है। दुश्चर्या का अनिष्ट फल, सुचर्या का इष्ट फल, पूर्वापर जन्म, माता-पिता एवं गुरु आदि पूज्य जनों की सेवा का उत्तम फल एवं मार्गाभ्यास से अर्हत्त्व की प्राप्ति आदि वस्तुस्थिति है। मिथ्यादृष्टि से प्रभावित व्यक्ति इन सभी वस्तुस्थितियों का निषेध करता है। वह समझता है कि कुशल, अकुशल आदि कर्मों के इष्ट-अनिष्ट आदि फल नहीं होते, पुनर्जन्म नहीं होता- इत्यादि। यद्यपि सभी दृष्टियाँ पापात्मिका हैं, किन्तु यह मिथ्यादृष्टि उन सबमें गुरुतर है। इतना ही नहीं, यह सम्पूर्ण अकुशल कर्मों में सबसे गुरुतर है। पाँच स्कन्धों को अग्र, श्रेष्ठ, विशिष्ट, उत्तम और निर्मल देखना दृष्टिपरामर्श है। यह विपरीत दृष्टि है, क्योंकि पाँच उपादान स्कन्ध वस्तुतः दुःखात्मक हैं, सास्रव होने से अत्यन्त अशुद्ध हैं, किन्तु दृष्टिपरामर्श से प्रभावित व्यक्ति उन्हें यथार्थ नहीं समझता।

पाँच उपादान स्कन्धों के प्रति शुद्धि की, मुक्ति की एवं उनसे निर्वाण प्राप्ति की दृष्टि रखना शीलव्रतपरामर्श है।

जैसे त्रिंशिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में कहा गया है- तत्र सत्कायदृष्टिर्यत्पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वात्मात्मीय-दर्शनम्। अन्तग्राहदृष्टिस्तेष्वेव पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वात्मात्मीयत्वेन गृहीतेषु यदुच्छेदतः शाश्वततो वा दर्शनम्। मिथ्यादृष्टिः- यया मिथ्यादृष्ट्या हेतुं वाऽपवदति फलं क्रियां वा सद् वा वस्तु नाशयति, सा सर्वदर्शनपापत्वात् मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते। दृष्टिपरामर्शः पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वग्रतो विशिष्टतः श्रेष्ठतः परमतश्च यद् दर्शनम्। शीलव्रतपरामर्शः पञ्चसूपादानस्कन्धेषु शुद्धितो मुक्तितो नैर्याणिकतश्च यद् दर्शनम्।[१]

अभिधर्मकोशभाष्य में भी कहा गया है- आत्मदृष्टिरात्मीयदृष्टिर्वा सत्कायदृष्टिः। सीदतीति सत्। चयः कायः संघात इत्यर्थः। सच्चायं कायश्चेति सत्कायः

---

[१] त्रिंशिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पृ. २११, स.सं.वि., १९७२ ।

पञ्चोपादानस्कन्धाः। ...सत्काये दृष्टिः सत्कायदृष्टिः। सर्वैव सास्रवालम्बना दृष्टिः सत्काये। आत्मात्मीयदृष्टिरेव तु सत्कायदृष्टिरुक्ता। यथोक्तम्- 'ये केचिद् भिक्षवः श्रमणा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति, सर्वे त इमानेव पञ्चोपादानस्कन्धानि'ति। तस्यैवात्माभिमतस्य वस्तुनो ध्रुवदृष्टिरुच्छेददृष्टिर्वाऽन्तग्राहदृष्टिः, शाश्वतोच्छेदान्तग्रहणात्। सति दुःखादिसत्ये नास्तीति दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिः। सर्वैव हि विपरीतस्वभावप्रवृत्ता दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिः एकैव तूक्ता, अतिशयवत्त्वात् दुर्गन्धक्षतवत्। एषा ह्यपवादिका अन्यास्तु समारोपिकाः। हीने अग्रदृष्टिर्दृष्टिपरामर्शः। किं हीनम्? सर्वं सास्रवम्, आर्यैः प्रहीणत्वात्। तस्याग्रतो ग्रहणं दृष्टिपरामर्शः। ...अहेतौ हेतुदृष्टिरमार्गे मार्गदृष्टिः शीलव्रतपरामर्शः, तद्यथा- महेश्वरो न हतुर्लोकानाम्, तं च हेतुं पश्यति, प्रजापतिमन्यं वा। अग्निजलप्रवेशादयश्च न हेतुः स्वर्गस्य, तांश्च हेतुं पश्यति। शीलव्रतमात्रकं सांख्ययोगज्ञानादयश्च न मार्गो मोक्षस्य तांश्च मार्गं पश्यति। ...इत्येतास्ता पञ्च दृष्टयो वेदितव्याः।[१]

पुनः अभिधर्मसमुच्चय में भी कहा गया है- सत्कायदृष्टिः कतमा। पञ्चोपादानस्कन्धानात्मतः आत्मीयतो वा समनुपश्यतो या क्षान्ती रुचिर्मतिः प्रेक्षा दृष्टिः। सर्वदृष्टिगतसन्निश्रयदानकर्मिका। अन्तग्राहदृष्टिः कतमा। पञ्चोपादानस्कन्धान् शाश्वततो वा उच्छेदतो वा समनुपश्यतः या क्षान्ती रुचिर्मतिः प्रेक्षा दृष्टिः। मध्यमाप्रतिपन्निर्याणपरिपन्थकर्मिका। दृष्टिपरामर्शः कतमः। दृष्टिं दृष्ट्याश्रयांश्च पञ्चोपादानस्कन्धानग्रतः श्रेष्ठतो विशिष्टतः परमतश्च समनुपश्यतो या क्षान्ती रुचिर्मतिः प्रेक्षा दृष्टिः। असद्दृष्ट्यभिनिवेश- सन्निश्रयदानकर्मकः। शीलव्रतपरामर्शः कतमः। शीलं व्रतं शीलव्रता(श्रयां)श्च पञ्चोपादानस्कन्धान् शुद्धितो मुक्तितो नैर्याणिकतश्च समनुपश्यतो या क्षान्ती रुचिर्मतिः प्रेक्षा दृष्टिः। श्रमवैफल्यसन्निश्रयदानकर्मकः। मिथ्यादृष्टिः कतमा। हेतुं वाऽपवदतः फलं वा क्रियां वा सद्वा वस्तु नाशयतः मिथ्या च विकल्पयतो या क्षान्ती रुचिर्मतिः प्रेक्षा दृष्टिः। कुशलमूलसमुच्छेदकर्मिका, अकुशलमूलदृढता-सन्निश्रयदानकर्मिका। अकुशले प्रवृत्तिकर्मिका कुशले चाप्रवृत्तिकर्मिका वा।[२]

---

[१] अभि.को.भा., पृ. २८१-२८२, बौ.बा.सं., १९८७ ।

[२] अभिधर्मसमुच्चय, पृ. ७, वि.भा.प्र., १९५० ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हमारे तात्कालिक वर्तमान जीवन के लिए तथा आगामी जन्मों के लिए धर्म की सतत आवश्यकता बनी रहती है। जिस प्रकार संसार में एक विशेष बीमारी का विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों द्वारा इलाज किया जाता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य आदि जीवों को सुख प्राप्त कराने के लिए अनेक धर्मों का उल्लेख मिलता है। भिन्न-भिन्न व्याख्याओं द्वारा, भिन्न-भिन्न समयों पर पृथग्-पृथग् सिद्धान्त चलाए गए हैं। वे सभी काय, वाक् एवं चित्त की क्रियाओं को नैतिकता के अनुकूल ढालने में, मौलिक रूप से एक ही श्रेष्ठ उद्देश्य की ओर लक्ष्य करते हैं। वे सब हमें प्राणातिपातविरति, अदत्तादान आदि कायिक कुशल कर्म, मृषावादविरति, पिशुनवचनविरति आदि वाचिक कुशलकर्म एवं मानसिक कुशलकर्मों को सिखाते हैं। इन अकुशल कर्मों को अभिधर्मकोशभाष्य में विस्तारपूर्वक इस प्रकार कहा गया है-

अशुभं कायकर्मादि मतं दुश्चरितत्रयम्। अकुशलं कायवाङ्मनस्कर्म, यथाक्रमं कायवाङ्मनोदुश्चरितम्। **अकर्मापि त्वभिध्यादि मनोदुश्चरितं त्रिधा।। ६५।।** अकर्मस्वभावमप्यस्ति त्रिविधं मनोदुश्चरितं चेतनार्थान्तरभूतम्- अभिध्या, व्यापादः, मिथ्यादृष्टिश्च। **विपर्ययात् सुचरितम्, तदौदारिकसंग्रहात्।** इष्टं कुशलं कायवाङ्मनस्कर्म-अनभिध्याऽव्यापादसम्यग्दृष्टयश्च। **दश कर्मपथा उक्ता यथायोगं शुभाशुभाः।।६६।।** तेषामेव सुचरितदुश्चरितानां चौदारिकसंग्रहेण दश कर्मपथाः सूत्र उक्ताः यथायोगम्- कुशलाः सुचरितेभ्यः, अकुशला दुश्चरितेभ्यश्च।

प्राणातिपातः सञ्चिन्त्य परस्याभ्रान्तिमारणम्। यदि मारयिष्याम्येनम् इति संज्ञाय परं मारयति, तमेव च मारयति नान्यं भ्रमित्वा- इयता प्राणातिपातो भवति। यस्तर्हि सन्दिग्धो मारयति- किमयं प्राणी न प्राणीति, स एवान्यो वेति, सोऽप्यवश्यमेतं निश्चयं लब्ध्वा तत्र प्रहरति। योऽस्तु सोऽस्त्विति कृतमेवानेन त्यागचित्तं भवति। **अदत्तादानमन्यस्वस्वीक्रिया बलचौर्यतः।।७३।।** अभ्रान्त्या इति वर्तते। यदि बलाद् वा चौर्येण वा परस्व स्वीकरोति यत्रैव च बलचौर्याभिप्रायेणान्यत्र संज्ञाविभ्रमात्, इयताऽदत्तादानं भवति। **अगम्यगमनं काममिथ्याचारश्चतुर्विधः।** चतुष्प्रकारमगम्यगमनं काममिथ्याचारः १. अगम्यां गच्छति परपरिगृहीतां वा मातरं दुहितरं वा मातृपितृसम्बन्धीर्नी वा, २. अनङ्गे वा गच्छति स्वामपि भार्याम् अपाने मुखे वा, ३. अदेशे वा गच्छति प्रकाशे चैत्यविहारे वा, ४. अकाले वा गच्छति।

अन्यसंज्ञोदितं वाक्यमर्थाभिज्ञे मृषावचः।।७४।। यदि यमर्थं ब्रवीति तस्मिन्नन्यथासंज्ञी भवति, यं चाधिकृत्य ब्रवीति स तस्य वाक्यस्यार्थाभिज्ञो भवति, तद्वाक्यं मृषावादः। अनभिज्ञे किं स्यात्? सम्भिन्नप्रलापः स्यात्। **पैशुन्यं क्लिष्टचित्तस्य वचनं परभेदने।** यत् क्लिष्टचित्तस्य परेषां भेदाय वचनमप्रीतये तत् पैशुन्यम्। अर्थाभिज्ञे इति वर्तते, अभ्रान्त्या इति च। **पारुष्यमप्रियम् सर्वं क्लिष्टं भिन्नप्रलापिता।।७६।।** वचनम्। क्लिष्टचित्तस्य इति वर्तते। अर्थाभिज्ञे, अभ्रान्त्या इति च। यत् क्लिष्टचित्तस्य परेषामप्रियवचनमर्थाभिज्ञे तत्रैव च यद् विवक्षितं तत् पारुष्यम्। वाक्यम्, इत्यधिकारो वर्तते। सर्वं क्लिष्टं वचनं सम्भिन्नप्रलापः। सैव च सम्भिन्नप्रलापिता। तद्योगेन हि सम्भिन्नप्रलापी भवति।

अभिध्या तु परस्वविषमस्पृहा।।७७।। अहो बत यत् परेषां तन्मम स्यात्, इति परस्वेभ्यो या विषमेणान्यायेन स्पृहा स्वीकरणेच्छा बलाद्वा चोपायाद्वा, साऽभिध्याकर्मपथः। **व्यापादः सत्त्वविद्वेषः,......** सत्त्वेषु विद्वेषो व्यापादः परपीडाकारप्रवृत्तः। **......नास्तिदृष्टिः शुभाशुभे। मिथ्यादृष्टिः,....** शुभे चाशुभे च कर्मणि या नास्तीति दृष्टिः सा मिथ्यादृष्टिः। तद्यथा- 'नास्ति दत्तम्, नास्तीष्टम्, नास्ति हुतम्, नास्ति सुचरितम्, नास्ति दुश्चरितमित्येवमादि यावन्न सन्ति लोकेऽर्हन्तः' इति। सैषा साकल्येन कर्मफलार्यापवादिका मिथ्यादृष्टिर्भवति।[१]

महायानसूत्रसंग्रह में महाकर्मविभङ्ग में दस अकुशल कर्मों के द्वारा प्राप्त होने वाले विपाक फलों का वर्णन इस प्रकार किया गया है- दशाकुशलाः कर्मपथाः। कतमे दश? त्रिविधं कायकर्म। चतुर्विधं वाक्कर्म। त्रिविधं मनस्कर्म। एषां दशानामकुशलानां कर्मपथानां विपाकेन दशानां बाह्यानां भावानामभिवृद्धिर्भवति।।

प्राणातिपातस्याकुशलकर्मपथस्य विपाकेन पृथिव्या ओजश्च तेजश्चान्तर्धीयते। तस्यैव च कर्मणो विपाकेनाल्पायुर्भवति।। अदत्तादानस्याकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन पृथिव्यामशनिशुकशलभमूषिककीटप्रभृतयः(सस्यघातका) उत्पद्यन्ते। तस्यैव कर्मणो विपाकेन भोगव्यसनमधिगच्छति।। काममिथ्याचारस्याकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन पृथिव्यां तृणदर्भादीनि दुर्गन्धीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्यैव कर्मणो विपाकेन सम्पन्नगृहावासं

---

[१] अभि.को.भा., ४/६५-७८, पृ. ६७४, बौ.भा.प्र.

प्रविशन्ति। अत्रावदानं श्वभ्रपदस्य सुसुधी दारिका काशिराज्ञः पत्नी। देवावतरणे कालोदयिनः पूर्वजन्मन्यवदानं वक्तव्यम्।।

मृषावादस्याकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन मुखरोगदन्तरोगगलरोग-मुखदौर्गन्ध्यादीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्यैव कर्मणो विपाकेनाभूताख्यानं प्रतिलभते।। पिशुनवचनस्याकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन पृथिव्यां शर्करकठल्यादीनि दुःखसंस्पर्शादीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्यैव कर्मणो विपाकेन जातिव्यसना मित्रव्यसना भवन्ति, भेद्यः परिवारश्च भवति।। परुषवचसोऽकुशलकर्मपथस्य विपाकेन पांशुरजोधूलिवातवृष्ट्यादीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्यैव कर्मणो विपाकेनामनोज्ञशब्द-श्रवणदर्शनान्यनुभवन्ति।। संभिन्नप्रलापस्याकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन ....कंदरश्वभ्रादीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्यैव कर्मणो विपाकेनानादेयवचना भवन्ति।।

अभिध्याया अकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन ब्रीहियवगोधूमादीनां सस्यानां तुषपलालादीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्यैव कर्मणो विपाकेन परप्रार्थनीयभोगा भवन्ति।। व्यापादस्याकुशलकर्मपथस्य विपाकेन प्रभूते उप्ते निष्फलं सस्यं भवति। तस्यैव कर्मणो विपाकेन प्रतिकूलदर्शनो भवति।। मिथ्यादृष्टेरकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन तिक्तकटुकभावान्यपि पिचुमन्दकोषातकीविषतिक्तालाबु-प्रभृतीनि फलानि प्रादुर्भवन्ति। मिथ्यादृष्टेरकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन नास्तिक्यवादी भवति, उच्छेददृष्टिः।[१]

स्वयं आचार्य नागार्जुन ने सुहल्लेख में कहा है कि दस कुशल कर्मपथों का सदैव काय, वाक् एवं चित्त द्वारा अभ्यास करना चाहिए। अनेक अभीष्ट फलों को देने वाला और कुशल स्वभाव वाला होने के कारण कर्म एवं सुगति को निष्पन्न करने वाला मार्ग होने से यह कर्मपथ कहलाता है।

भगवान् बुद्ध ने मनुष्यों के हित में धर्मों के मूलमन्त्र को इस प्रकार बताया- सभी पापों को न करना, पुण्य का सम्पादन करना और अपने चित्त को नियंत्रण में रखना, यही बुद्ध का धर्म है। जैसे धम्मपद में कहा गया है-

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान-सासनं।।[२]

---

[१] महाकर्मविभंग (म.सू.सं.) पृ. २०१, मि.सं. १९६१ ।

[२] धम्मपद, १४/५

भारत के इतिहास में भगवान् बुद्ध आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व मनुष्य रूप में इस भूलोक में अवतरित हुए और उन्होंने जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद एवं लोगों द्वारा पशुबलि की मान्यताओं के खिलाफ सामाजिक स्तर पर बौद्ध धर्म एवं दर्शन की नींव रखी। धर्म का अन्तिम उद्देश्य संसार की धारा का उन्मूलन करके सर्वज्ञ पद प्राप्त करना है। इस उद्देश्य को एक ही जन्म में प्राप्त कर लेना सभी लोगों के लिए सम्भव नहीं है। इसीलिए अनेकानेक जन्म पर्यन्त साधना द्वारा चित्त का विकास किया जाता है, किन्तु दृष्ट जन्म के अतिरिक्त अन्य जन्मों के बारे में लोगों को अनेक प्रकार के सन्देह हैं। इस संदेहं की निवृति के लिए बौद्ध आचार्यों के अपने ग्रन्थों में पुष्कल युक्तियाँ दी हैं, जिनके द्वारा पुर्नजन्म सिद्ध होता है। महायान बौद्धधर्म के अनुसार समस्त जीवों में बुद्धत्व का बीज निहित है और सभी को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है तथा सभी जीव बुद्ध हो सकते हैं।

बुद्ध की जीवनी :

लोक में बुद्ध का उत्पाद अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा महापुरुष कभी-कभी ही इहलोक में अवतीर्ण होता है। उनके उत्पाद ने निश्चय ही मानवजाति के गौरव की अभिवृद्धि की है। साधारण मनुष्य के रूप में उत्पन्न होकर, समान्य मानवीय समस्याओं से जूझते हुए, अपने ही प्रयासों से बुद्ध के रूप में उनके आविर्भाव से चारों ओर के जाति, जरा, व्याधि, मरण आदि दुःखों से ग्रस्त मानवजाति को एक संबल प्राप्त हुआ, एक आश्वासन प्राप्त हुआ और बुद्धत्व के रूप में एक आदर्श भी प्राप्त हुआ। यही कारण था कि उनका धर्म उनके जीवन काल में ही अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। धर्मों के विकास के इतिहास में बौद्ध धर्म का प्रसार एवं विस्तार एक अभूतपूर्व घटना है।

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व ईसा की छठी शताब्दी में वैशाख पूर्णिमा के दिन कपिलवस्तु राज्य में राजा शुद्धोदन एवं रानी महामाया के पुत्र के रूप में लुम्बिनी में एक साल वृक्ष के नीचे राजकुमार सिद्धार्थ का जन्म हुआ। जन्म के पाँचवे दिन उनका नाम सिद्धर्थ रखा गया। जन्म के सातवें दिन उनकी जननी रानी महामाया का देहान्त हो गया तथा उनकी मौसी प्रजापति गौतमी ने माता की तरह उनका पालन-पोषण किया।

बाल्यावस्था से ही उन्हें युद्ध कला की शिक्षा दी गई किन्तु वे कतिपय मानवीय समस्याओं से बेहद परेशान थे। वे अत्यन्त संवेदनशील एवं गम्भीर प्रकृति के थे। उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि जाति, जरा, व्याधि एवं मरण प्रधान अनेक प्रकार की विपत्तियों का जगत् में साम्राज्य व्याप्त होने पर भी व्यक्ति चिन्तित क्यों नहीं है? वे विविध मनोरंजनों में संलग्न और जागतिक क्षणिक सुख के व्यामोह में बेसुध क्यों हैं? सोलह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह देवदह के राजा कोलीय की अनुपम रूपवती एवं आकर्षक राजकुमारी यशोधरा से किया गया और उन्हें राहुल नाम का एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ।

विवाह एवं पुत्र का बन्धन भी उनकी सांसारिक दुःखों को दूर करने के उपायों की खोज के सोच को परिवर्तित नहीं कर सका। अपने चित्त में तूफान की भाँति उठ रही इन समस्याओं के प्रति वे और भी अधिक गम्भीर हो गये। तत्कालीन समाज से निराश होकर उन्होंने संकल्प लिया कि- ''मैं ही इन समस्याओं का कारण और उनके निराकरण का उपाय खोजूँगा।'' इसी चिन्ता में २९ वर्ष की अवस्था में अपने पुत्र, पत्नी एवं माता-पिता सहित सारे राजकीय वैभव को छोडकर, गृह त्याग कर वे प्रव्रजित हो गए। इसी को भगवान् का महाभिनिष्क्रमण भी कहा जाता है। वे तत्कालीन उन सभी महापुरुषों से मिले, जिनके बारे में प्रसिद्धि थी कि वे तत्त्व के ज्ञाता हैं। अनेक वर्षों तक वे कौशल एवं मगध के वनों में किसी उपयुक्त गुरु की खोज में भ्रमण करते रहे। यहीं उन्हें आराडकलाम नामक गुरु से साक्षात्कार हुआ, जिनकी आध्यात्मिक शिक्षा सांख्य सिद्धान्त के अनुकूल थी। उनके साथ उन्होंने विचार-विमर्श किया, उनके द्वारा उपदिष्ट साधना विधि का अभ्यास किया, किन्तु इसके परिणाम से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। दुःख की जो समस्याएं उनके मन में घर किए हुए थीं और जिनके समाधान की खोज में वे घर से बाहर हो प्रव्रजित हुए थे, उनके समाधान की दिशा में उनसे उन्हें कुछ भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं हुई। उन्होंने कठोर तपश्चर्याएं की। छह वर्ष तक कठोर तपस्या कर अपने शरीर के सुखाकर काँटा कर दिया, परन्तु सम्बोधि की प्राप्ति नहीं हुई।

अन्ततोगत्वा उन्होंने अपने ही रास्ते पर चलने का निश्चय किया और वैशाख पूर्णिमा को बोधगया में बोधिवृक्ष के नीचे वज्रासन पर उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। उस समय सिद्धर्थ केवल ३५ वर्ष के थे। ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर सात सप्ताह पर्यन्त वे

बोधिवृक्ष के आस-पास भिन्न-भिन्न स्थानों पर ध्यान में बैठे रहे। सभी प्रकार के जागतिक दुःखों के उत्पाद का सार्वभौम नियम और उनके निराकरण का ज्ञान हो जाने पर, उसके आधार पर जब उन्होंने अपने दुःखों का प्रहाण कर लिया तब उन्होंने घोषणा की, कि मैं बुद्ध हो गया।

जिस मार्ग से उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया था, उसी मार्ग का उन्होंने करुणापूर्वक दुःख से पीडित लोक को जीवन पर्यन्त उपदेश किया। उन्होंने जो ज्ञान प्राप्त किया और जिस विधि से प्राप्त किया था, उसे बिना भेद-भाव के लोगों के समक्ष रखा। उनके उपदेश में किसी तरह की आचार्यमुष्टि नहीं थी। इसे ही धर्मचक्रप्रवर्तन कहते हैं।

बुद्ध ने अपने पूर्ववर्ती लोगों द्वारा या परम्परा द्वारा प्रतिपादित सत्य को नकार दिया और स्वयं नये सिरे से उसकी खोज की। बुद्ध स्वयं कहीं प्रतिबद्ध नहीं हुए और न ही अपने शिष्यों को उन्होंने कहीं बाँधा। उन्होंने कहा कि मेरी बात को भी इसलिए चुपचाप ग्रहण न करो कि उसे बुद्ध ने कहा है। उसकी भी विविध परीक्षणों द्वारा परीक्षा करो। जीवन की कसौटी पर उन्हें परखो, अपने अनुभवों से मिलान करो, यदि तुम्हें सही जान पडे तो स्वीकार करो, अन्यथा उसका परित्याग कर दो।

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।।[१]

यही कारण था कि उनका धर्म रहस्यों एवं आडम्बरों से मुक्त, मानवीय संवेदनाओं से ओत-प्रोत एवं हृदय को सीधे स्पर्श करता था। बुद्ध ने जनसाधारण के हृदय तक पहुँचने के लिए उपदेशार्थ उस समय की लोक-भाषा का आश्रय लिया। धर्म के व्याख्यान में भी उन्होंने तत्त्वों को समझाने के लिए कथा कहानियों तथा रोचक दृष्टान्तों की परिपाटी को स्वीकार किया। फलतः इनके जीवनकाल में ही इनका धर्म चारों ओर फैल गया। अन्ततः ८०वर्ष की आयु में कुशीमगर में वैशाख पूर्णिमा के दिन दो साल वृक्षों के बीच भगवान् बुद्ध परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। इस प्रकार बौद्धधर्म के इतिहास में वैशाखी पूर्णिमा की तिथि बडी पवित्र मानी जाती है,

---

[१] श्रीमहाबालतन्त्रराज, देगे कग्युर, तन्त्रवर्ग, 'ग' पुट, पृ. २१६ ।

क्योंकि इसी तिथि को भगवान् बुद्ध के जीवन की तीन घटनाएं- जन्म, सम्बोधि तथा परिनिर्वाण सम्पन्न हुईं।

त्रिविध धर्मचक्रप्रवर्तन :

भगवान् बुद्ध का एक विशिष्ट गुण उपायकौशल भी है, क्योंकि वे विविध प्रकार के विनेय जनों को नाना प्रकार वे उपायों से सन्मार्ग पर आरूढ कराने में अत्यन्त कुशल थे। वे विनेय जनों के विचार, रुचि, अध्याशय, स्वभाव, क्षमता एवं परिस्थिति के अनुरूप उपदेश किया करते थे। उनका कहना था कि- तथागत तो मात्र उपदेष्टा हैं, कृत्यसम्पादन तो स्वयं साधक व्यक्ति को ही करना है।

भगवान् ने भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न स्थानों में विनेय जनों को जितने उपदेश दिये, उन सबके प्रयोजन और पात्र भिन्न-भिन्न थे। ऐसा होने पर भी समस्त उपदेशों का अन्तिम लक्ष्य एक ही था और वह था विनेय जनों को दुःखों से मुक्ति की ओर ले जाना। मोक्ष या निर्वाण ही उनके समस्त उपदेशों का एक मात्र रस है।

स्वलक्षण एवं बाह्यसत्ता के आधार पर चार आर्यसत्य विषयक प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन वाराणसी के समीप सारनाथ में ऋषिपतन मृगदाव में किया गया था, जो मुख्यतः श्रावकगोत्रीय विनेयजनों के लिए था। उनकी दृष्टि से यह नीतार्थ देशना है।

निःस्वभाव विषयक धर्मचक्रप्रर्तन गृध्रकूट पर्वत पर किया गया था, जो मुख्यतः तीक्ष्णेन्द्रिय महायान गोत्रीय विनेय जनों के लिए था। शून्यता, अनिमित्तता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि उसके प्रतिपाद्य विषय हैं। इस देशना के द्वारा समस्त धर्म निःस्वभाव प्रतिपादित किए गये हैं। विज्ञानवादी इसे नेयार्थ देशना मानते हैं। आचार्य भावविवेक, ज्ञानगर्भ, शानतरक्षित, कमलशील आदि स्वातान्त्रिक माध्यमिकों का इस देशना की नेयार्थता और नीतार्थता के बारे में प्रासङ्गिक माध्यमिकों से मतभेद है। उनके अनुसार आर्य शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि कुछ सूत्र नीतार्थ हैं, क्योंकि इनमें समस्त धर्मों की परमार्थतः निःस्वभावता निर्दिष्ट है। भगवती प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र आदि कुछ सूत्र यद्यपि द्वितीय धर्मचक्र के अन्तर्गत संगृहीत हैं, तथापि वे नीतार्थ नहीं माने जाते, क्योंकि इनके द्वारा जिस प्रकार की सर्वधर्मनिःस्वभावता प्रतिपादित की गई है, उस प्रकार की निःस्वभावता स्वातान्त्रिक माध्यमिकों को मान्य नहीं है। यद्यपि

इन सूत्रों का अभिप्राय भी परमार्थतः निःस्वभावता है, तथापि उनमें 'परमार्थतः' यह विशेषण स्पष्टतया उल्लिखित नहीं है, जो कि उनके मतानुसार नीतार्थ सूत्रं होने के लिए परम आवश्यक है। कहने का आशय यह है कि आर्य शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता आदि उनके अनुसार नीतार्थ हैं तथा भगवती प्रज्ञापारमिताहृदय आदि कुछ सूत्र नेयार्थ हैं। प्रासङ्गिक माध्यमिको के अनुसार द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन सर्वथा नीतार्थ देशना है। उनके मत में जिस सूत्र का विषय शून्यता है, वह सूत्र नीतार्थ है तथा जिसका मुख्य प्रतिपाद्य संवृतिसत्य है, वह सूत्र नेयार्थ है। अतः इनके मत में भगवती प्रज्ञापारमिताहृदय आदि सूत्र भी नीतार्थ ही हैं तथा इनके मत में 'परमार्थतः' यह विशेषण अनावश्यक है।

तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन वैशाली में किया गया, जो मुख्यतः मध्येन्द्रिय महायानगोत्रीय विनेयजनों के लिए था। विज्ञानवादियों के अनुसार यह नीतार्थ देशना है। शून्यता, अनुत्पाद, अनिरोध आदि इसके विषयवस्तु हैं। यद्यपि द्वितीय और तृतीय धर्मचक्रप्रवर्तन में शून्यता प्रतिपादित की गई है, तथापि द्वितीय धर्मचक्र में समस्त धर्मों को समान रूप से निःस्वभाव कहा गया है, जबकि इस तृतीय धर्मचक्र में यह भेद किया गया है कि अमुक धर्म अमुक दृष्टि से निःस्वभाव है और अमुक धर्म निःस्वभाव नहीं है, अपितु सस्वभाव है। इसी के आधार पर विज्ञानवादी दर्शन प्रतिष्ठित है। इसी कारण विज्ञानवादी समस्त धर्मों को समानरूप से निःस्वभाव नहीं मानते। उनके अनुसार धर्मों को तीन स्वभावों में विभाजित किया गया है- परिकल्पित, परतंत्र एवं परिनिष्पन्न। इन तीनों स्वभावों के आधार पर तीन प्रकार की निःस्वभावताएं भी कही गयी हैं-लक्षण-निःस्वभावता, उत्पत्ति-निःस्वभावता एवं परमार्थ-निःस्वभावता। अतः वे समान रूप से सर्वधर्म-निःस्वभावता प्रतिपादक द्वितीय धर्मचक्र को नहीं मानते। उनके मतानुसार जो सूत्र धर्मों की निःस्वभावता और सस्वभावता का सम्यग् विभाजन करते हैं, वे ही नीतार्थ माने जाते हैं। इनमें आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र प्रमुख है।

इस प्रकार भगवान् ने विनेय जनों के आशय एवं बुद्धि के अनुरूप तीन बार धर्मचक्रप्रवर्तन किया। इतना ही नहीं, अपितु स्वयं वज्रधर के रूप में प्रकट होकर तांत्रिक धर्मचक्रप्रवर्तन भी दक्षिण के श्रीधान्यकटक में किया।

मनुष्य आनादिकाल से जन्म-मरण की दुःख परम्परा में अवश अर्थात् असहाय हो घूम रहा है और नानाविध दुःखों का अनुभव कर रहा है। सतत प्रवर्तमान उसके इस दुःख चक्र का कारण उसकी सन्तान में विद्यमान राग आदि क्लेश ही हैं। जब तक इन क्लेशों का समूल उच्छेद नहीं किया जाता, तब तक उसकी दुःख परम्परा का उन्मूलन असम्भव है। दुःखों से आत्यन्तिक विमुक्ति एवं सुखस्थान मोक्ष की प्राप्ति के लिए अपनी सन्तान में विद्यमान क्लेशों का सम्यग् प्रहाण करना ही एकमात्र उपाय है।

भगवान् बुद्ध ने उन क्लेशों का प्रहाण करने के लिए ८४००० धर्मस्कन्धों का उपदेश किया है। काश्मीर वैभाषिकों के अनुसार भगवान् बुद्ध ने ८०,००० धर्मस्कन्धों का उपदेश किया जैसा कि अभिधर्मकोश में आचार्य वसुबन्धु ने कहा है।[१] किन्तु मध्य एवं पश्चिमी वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक ८४,००० धर्मस्कन्धों की देशना मानते हैं। महायानियों के अनुसार भगवान् ने असंख्य धर्मस्कन्धों की देशना की है। चूँकि उनकी देशनाएं हमारी कल्पना से परे हैं अतः एक निश्चित संख्या तय करना उचित प्रतीत नहीं होता है। फिर भी, सामान्य तौर पर ८४,००० धर्मस्कन्धों की मान्यता वे भी स्वीकार करते हैं। मुख्यतया चार प्रकार के सत्त्वों के लिए इन धर्मस्कन्धों की देशना की गई है-

१. अत्यधिक रागवान्, २. अत्यधिक द्वेषवान्, ३. अत्यधिक मोहवान् तथा ४. तीनों विषों से युक्त। इसलिए भगवान् ने प्रत्येक प्रकार के व्यक्तियों के लिए उनके प्रतिपक्ष के रूप में २१,०००-२१००० धर्मस्कन्धों की देशना की।

१२ प्रवचन अंग :

इन धर्मस्कन्धों के अनुसार आचरण करने से समस्त क्लेशों से मुक्ति सम्भव हो जाती है। इन धर्म स्कन्धों का यदि संक्षेप किया जाय तो वे १२ प्रवचन अंगों में विभक्त हो जाते हैं। उन्हें ही द्वादशाङ्ग प्रवचन भी कहते हैं, जो अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता आलोकटीका में इस प्रकार कहे गये हैं-

सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम्।

---

[१] धर्मस्कन्धसहस्राणि यान्यशीतिं जगौ मुनिः । -अभि.को. १/२५

इतिवृत्तकं निदानं वैपुल्यं च सजातकम्।।
उपदेशाद्भुतौ धर्मौ द्वादशाङ्गमिदं वचः।[1]

आचार्य असंग कृत अभिधर्मसमुच्चय में इनका वर्णन इस प्रकार किया गया है- धर्मविनिश्चयः कतमः। आर्यशासनं द्वादशाङ्गधर्मः। कतमानि द्वादशाङ्गानि। सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथा उदानं निदानम् अवदानम् इतिवृत्तकं जातकं वैपुल्यम् अद्भुतधर्मः उपदेशश्च।

सूत्रं कतमत्। यदभिप्रेतार्थं सूचनाकारेण गद्यभाषितम्। दशानुशंसान् संपश्यन् तथागतः सूचनाकारेण धर्मं देशयति सुखं व्यवस्थापयति सुखं देशयति। श्रोतापि सुखमुद्गृह्णाति धर्मगौरवतया क्षिप्रं बोधिसंभारान् परिपूरयति आशु धर्मतां प्रतिविध्यति। बुद्धेऽवेत्यप्रसादं लभते, धर्मे संघे चावेत्य प्रसादं लभते। परमदृष्टधर्मसुखविहारं स्पृशति। सांकथ्यविनिश्चयेन सतां चित्तमाराधयति। पण्डितः पण्डित इति संख्यां गच्छति।

गेयं कतमत्। सूत्राणां मध्ये वा अन्ते वा गाथया यद् गीयते। सूत्रेषु अनिरूपितोऽर्थो वा यद् व्याख्यायते। अतो गेयमित्युच्यते। व्याकरणं कतमत्। तत् स्थानेषु समतिक्रान्तानामतीतानामार्यश्रावकाणां प्राप्त्युत्पत्तिप्रभेदव्याकरणम्। अपि च सूत्रेषु निरूपितार्थस्य स्फुटीकरणम्। विवृत्याभिसन्धिव्याकरणात्। गाथा कतमत्। सूत्रेषु पादयोगेन देश्यते। द्विपदी त्रिपदी चतुष्पदी पंचपदी षट्पदी वा।

उदानं कतमत्। सूत्रेषु कदाचित् तथागतेन आत्तमनस्केन यदुदाहृतम्। निदानं कतमत्। पृष्टेन यद् भाषितम्। सोत्पत्तिकं शिक्षाप्रज्ञप्तिकं वा। अतोऽपि निदानम्। अवदानं कतमत्। सूत्रेषु सदृष्टान्तकं भाषितम्। इतिवृत्तकं कतमत्। यदार्यश्रावकाणां पूर्वलौकिकं वृत्तं देशयति। जातकं कतमत्। यत् बोधिसत्त्वचरितपिटकसंप्रयुक्तं वृत्तं देशयति।

वैपुल्यं कतमत्। बोधिसत्त्वपिटकसंप्रयुक्तं भाषितम्। यदुच्यते वैपुल्यं तद् वैदल्यमप्युच्यते। किमर्थं वैपुल्यमुच्यते। सर्वसत्वानां हितसुखाधिष्ठानतः उदारगम्भीरधर्मदेशनातश्च। किमर्थमुच्यते वैदल्यम्। सर्वावरणविदलनतः। किमर्थमुच्यते वैतुल्यम्। उपमानधर्माणां तुलनाऽभावतः। अद्भुतधर्मः कतमः। यत्र

---

[१] सरोत्तमा (आलोकटीका), पृ. २८६, मि.सं., १९६० ।

श्रावकबोधिसत्त्वतथागतानां परमाद्भुताश्चर्यधर्माणां देशना। उपदेशः कतमः। सर्वगम्भीरगूढधर्मलक्षणानामविपरीतं व्याख्यानम्।[1]

त्रिपिटक :

इन बारह प्रवचन अंगों को भी विषय की दृष्टि से तीन पिटकों में संगृहीत किया जाता है- बुद्धवचनों का विभाजन करते समय संग्रहकारों द्वारा उनकी संख्या तीन ही रखने के बारे में अनेक हेतु हैं, उनमें ९ मुख्य हेतु हैं। इन ९ हेतुओं में से ३ हेतु हेय की दृष्टि से, ३ हेतु शिक्षा की दृष्टि से तथा ३ हेतु ज्ञेय (विषय) की दृष्टि से हैं। इनका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

हेय की दृष्टि से तीन हेतु- तीन उपक्लेश हैं, जो चित्त को क्लिष्ट करते हैं तथा मार्ग के प्रतिबन्धक हैं। मोक्ष के अभिलाषी पुद्गलों द्वारा इनका प्रहाण करना अत्यावश्यक है। इनमें से प्रथम उपक्लेश है **विचिकित्सा**। यह प्रतीत्यसमुत्पाद, आर्य सत्य आदि के प्रति संशय करने वाली बुद्धि है। सूत्रपिटक के चिन्तन-मनन से इस विचिकित्सा का प्रहाण होता है, इस प्रकार सूत्रपिटक विचिकित्सा का प्रतिपक्ष है।

अत्यधिक भोगविलास में डूबे रहना अथवा मोक्षप्राप्ति या चित्तशुद्धि के लिए अत्यधिक पीडादायक व्रतों का आचरण करना- ये दो अन्त हैं, जो सर्वथा प्रहेय हैं। इन दोनों अन्तों को छोडकर तथागत ने मध्यम मार्ग की देशना की है। इन दोनों अन्तों में आबद्ध करने वाला **अन्तद्वयानुयोजक** दूसरा उपक्लेश है। विनयपिटक के चिन्तन, मनन से इसका प्रहाण होता है। इस प्रकार विनयपिटक दो अन्तों में आबद्ध करने वाले इस उपक्लेश का प्रतिपक्ष है।

अपने द्वारा गृहीत मिथ्यादृष्टि के प्रति यही सत्य है अन्य मिथ्या हैं- इस प्रकार आग्रह करने वाली बुद्धि **इदंसत्याभिनिवेश** नामक तीसरा उपक्लेश है। अभिधर्मपिटक के अनुशीलन से इस प्रकार के मिथ्याभिनिवेश का प्रहाण होता है, इस प्रकार अभिधर्मपिटक इस इदंसत्याभिनिवेश नामक उपक्लेश का प्रतिपक्ष है।

शिक्षा की दृष्टि से तीन हेतु- भगवान् बुद्ध के समस्त उपदेशों का सार तीन शिक्षाएँ हैं- शीलशिक्षा, समाधिशिक्षा एवं प्रज्ञाशिक्षा। सामान्यतः तीनों प्रकार की

---

[1] अभि.समु., पृ. ७८, वि.भा.प्र. १९५० ।

शिक्षाओं के लिए सूत्रपिटक, शील एवं समाधि- इन दो शिक्षाओं के लिए विनयपिटक तथा प्रज्ञाशिक्षा के लिए अभिधर्मपिटक कहा गया है।

महायान एवं हीनयान दोनों में तीन पिटक हैं, तीन शिक्षाएं हैं, किन्तु दोनों यानों के उद्देश्यों में मौलिक भेद होने से तीन पिटकों द्वारा कही गई तीन शिक्षाओं में भी भेद हो जाता है। हीनयान की दृष्टि से सूत्रपिटक द्वारा प्रतिमोक्षसंवर, आचार-गोचरविशुद्धि, विधिविशुद्धि, थोडे पाप में भी भय देखना आदि शीलशिक्षा, ध्यानसमापत्ति एवं अरूपसमापत्ति आदि समाधिशिक्षा तथा चार आर्य सत्यों को यथार्थ जानने वाली विपश्यना प्रज्ञाशिक्षा कही गयी है।

महायान की दृष्टि से सूत्रपिटक द्वारा दुश्चरितमात्र का निरोध आदि शीलशिक्षा, गगनगञ्ज, शूरङ्गम आदि समाधिशिक्षा तथा परमार्थ सत्य को जानने वाला निर्विकल्पक ज्ञान प्रज्ञाशिक्षा कही गयी है। इस प्रकार सूत्रपिटक हीनयान एवं महायान की तीनों शिक्षाओं का स्वरूप प्रकट करता है।

विनयपिटक इस बात का अविपरीत ज्ञान कराता है कि कौन विषय हेय हैं और कौन उपादेय तथा किन विषयों में प्रवृत्त होना चाहिए और किन विषयों से निवृत्त होना चाहिए। इस प्रकार यह पिटक साक्षात् रूप से शील को विशुद्ध करता है। शील के विशुद्ध हो जाने से चित्त में अशान्ति, ताप या पश्चाताप(कौकृत्य) आदि के उत्पन्न होने का अवसर नहीं रहता। चित्त में अशान्ति के न रहने से शरीर में भी लघुता, मृदुता, शान्ति(प्रस्रब्धि) आदि अनुभूत होते हैं तथा ऐसे पुद्गल का चित्त प्रीति एवं सुख से भर जाता है। चित्त की इस अवस्था में उसमें एकाग्रता(समाधि) प्रतिष्ठित हो जाती है। इस प्रकार विनयपिटक शीलशिक्षा एवं समाधिशिक्षा का उपदेश करता है।

अभिधर्मपिटक समस्त धर्मों के लक्षणों(स्वभावों) का सम्यक् विभाजन करता है और उनके यथार्थ स्वरूप का निर्णय करता है। इस कारण अभिधर्मपिटक के श्रवण, मनन एवं चिन्तन से सभी धर्मों के लक्षणों को अभ्रान्त रूप से जानने वाली प्रज्ञा का उदय होता है। इस प्रकार अभिधर्मपिटक प्रज्ञाशिक्षा को सम्पन्न करता है।

ज्ञेय की दृष्टि से तीन हेतु- सूत्रपिटक धर्म एवं उनके अभिधेयों का सम्यग् व्याख्यान करता है, विनयपिटक धर्म और उसके अभिधेयों को सिद्ध करता है तथा

अभिधर्मपिटक धर्म एवं उसके अभिधेयों के यथार्थ स्वरूप के अवबोध के लिए होने वाले वार्तालाप में मनुष्य की बुद्धि को सक्षम बनाता है।[१]

अभिधर्मसमुच्चय में भी इस प्रकार कहा गया है- एवं सूत्रादीनि द्वादशाङ्गान्यार्यशासनानि त्रिषु पिटकेषु संगृहीतानि भवन्ति। कतमानि त्रीणि। सूत्रपिटकं विनयपिटकम् अभिधर्मपिटकं च। तानि पुनर्द्विविधानि। श्रावकपिटकं बोधिसत्त्वपिटकं च। सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथा उदानं चैतानि पञ्च श्रावकाणां पिटकस्य सूत्रपिटके संगृहीतानि भवन्ति। निदानमवदानमितिवृत्तकं जातकं चैतानि चत्वारि द्वयोः पिटकयोः सपरिवारे विनयपिटके संगृहीतानि भवन्ति। वैपुल्यमद्भुतधर्मश्च एते द्वे बोधिसत्त्वपिटकस्य सूत्रपिटके संगृहीते भवतः। उपदेश एकः श्रावकबोधिसत्त्वपिटकयोः अभिधर्मपिटके संगृहीतो भवति।

किमुपादाय तथागतस्य पिटकत्रयव्यवस्थानम्। विचिकित्सोपक्लेशप्रतिपक्ष-कामतामुपादाय सूत्रपिटकव्यवस्थानम्। अन्तद्वयानुयोगोपक्लेशप्रतिपक्ष-कामतामुपादाय विनयपिटकव्यवस्थानम्। स्वयंदृष्टिपरामर्शग्रहोपक्लेशप्रतिपक्ष-कामतामुपादाय अभिधर्मपिटकव्यवस्थानम्।

पुनः शिक्षात्रयव्युत्पत्तिकामतामुपादाय सूत्रपिटकव्यवस्थानम्। अधिशीलाधिचित्तशिक्षानिष्पादनकामतामुपादाय विनयपिटकव्यवस्थानम्। अधिप्रज्ञशिक्षानिष्पादनकामतामुपादाय अभिधर्मपिटकव्यवस्थानम्।

पुनः सम्यग् धर्मार्थव्युत्पत्तिकामतामुपादाय सूत्रपिटकव्यवस्थानम्। धर्मार्थसाक्षात्क्रियापदस्थानप्रभावितामुपादाय विनयपिटकव्यवस्थानम्। ज्ञानिनां सांकथ्यविनिश्चयधर्मसंभोगसुखविहाराश्रयतामुपादाय अभिधर्मपिटकव्यवस्थानम्।।[२]

शिक्षात्रय :

भगवान् बुद्ध के समस्त उपदेशों का सार तीन शिक्षाएं हैं- अधिशील-शिक्षा, अधिसमाधि-शिक्षा एवं अधिप्रज्ञ-शिक्षा। त्रिपिटक के सारे तत्त्व इन्हीं तीन शिक्षाओं में साक्षात् या परम्परया समाविष्ट हो जाते हैं। अधिशील आदि में अधि उपसर्ग अतिरेक

---

[१] द्रष्टव्य- बौ.सि.सा., पृ. २०, द्वितीय संस्करण, ति.सं., १९९७ ।

[२] अभि.समु., पृ. ७९, वि.भा.प्र. १९५० ।

या उत्कृष्ट अर्थ में है। अतः अधिशील शब्द का अर्थ होता है विशिष्टशील या उत्कृष्टशील। यह विशिष्टशील इसलिए कहलाता है, क्योंकि·यह इसके पालन करने वाले का तथा दूसरों का हित साक्षात् रूप से या परम्परा से भली-भाँति सिद्ध करता है। बौद्धों से भिन्न मतावलम्बियों के शील उस कोटि के नहीं है। उनके पञ्चाग्नि-तपना आदि शील साक्षात् या परम्परया न तो पालन करने वाले का ही हित साधन करते हैं और न दूसरों का ही हित सिद्ध करते हैं, अपितु इसके विपरीत वे उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं। अतः भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट शील उत्कृष्ट शील कहलाता है। उनके द्वारा उपदिष्ट समाधि भी चित्त के क्लेशों एवं उसके विकल्पों की साक्षात् विरोधी होती है, अतः उसका फल इस जन्म में सुखमात्र नहीं होता, अपितु अगले जन्मों में भी सुख देना होता है। अन्ततः वह मोक्षसुख को प्राप्त कराने में भी सहायक होती है। इसलिए इसे सामान्य समाधि न कहकर अधिसमाधि कहते हैं। अन्य तैर्थिक आदि मतावलम्बियों की समाधि बाह्य आलम्बनों में चित्त के विक्षेपमात्र को शान्त कर सकती है और ऐहिक सुखमात्र को प्रदान कर सकती है। अधिक से अधिक वह रूपी या अरूपी देवभूमियों में उत्पाद कर सकती है। चित्त के क्लेशों या उसके विकल्पों की तो किसी भी तरह प्रतिपक्ष नहीं हो सकती, अतः वह उत्कृष्ट समाधि नहीं कही जा सकती।

दो आत्मदृष्टियाँ होती हैं- पुद्गल-आत्मदृष्टि एवं धर्मात्मदृष्टि। दो आवरण होते हैं- क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण। इनमें से क्लेशावरण का पुद्गलात्मदृष्टि से तथा ज्ञेयावरण का धर्मात्मदृष्टि से सम्बन्ध होता है। इन दृष्टियों एवं आवरणों के कारण पुद्गल न तो आसक्तियों से सर्वथा मुक्त हो पाता है और न उसके क्लेश और अज्ञान का ही सर्वथा विनाश सम्भव है। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट प्रज्ञा उपर्युक्त दोनों प्रकार की दृष्टियों एवं आवरणों का सर्वथा प्रहाण करने में सक्षम होती है। फलतः इस प्रकार की प्रज्ञा के परिपूर्ण होने पर पुद्गल की समस्त आसक्तियाँ उच्छिन्न हो जाती हैं, सम्पूर्ण क्लेश विनष्ट हो जाते हैं, ज्ञान आवरण रहित हो जाता है, वह परमार्थ सत्य(तत्त्व) का साक्षात् द्रष्टा हो जाता है और वह सम्यक् सम्बुद्ध एवं सर्वज्ञ हो जाता है। इस प्रकार की प्रज्ञा सामान्य प्रज्ञा नहीं है, अतः उसे अधिप्रज्ञा कहा जाता है। अन्य मतवालों की प्रज्ञा इस प्रकार की उत्कृष्ट प्रज्ञा नहीं होती है। उसके द्वारा वस्तुस्थिति (परमार्थ सत्य) का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, इस कारण वह

संसार के मूल का समूल उच्छेद करने में सर्वथा सक्षम नहीं होती है। इसलिए वह सामान्य प्रज्ञामात्र है, उसे उत्कृष्ट प्रज्ञा नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अधिशील शिक्षा, अधिसमाधि और अधिप्रज्ञ शिक्षा विशिष्ट एवं उत्कृष्ट होने के कारण त्र्यधिशिक्षा कहलाती हैं।

मनुष्य जीवन की दुर्लभता :

भगवान् ने मनुष्य जीवन को समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ माना तथा इसे दुर्लभ माना। जैसे सूत्र में कहा गया है- ''भिक्षुओं ! संसार रूपी सागर के भीतर एक अंधा दीर्घायु कच्छप रहता है। वह प्रत्येक सौ साल पश्चात् एक बार जल के ऊपरी सतह पर पहुँचता है। उस महासागर में एक छिद्र वाला एक युग (जुआठा) होता है, जो पूर्वी हवा के वेग से पश्चिम की ओर बहता है और पश्चिमी हवा के वेग से पूर्व की ओर बहता है- इत्यादि। भिक्षुओं, एक समय आता है जब अंधा कच्छप जल की ऊपरी सतह पर आता है तब उसकी गर्दन उस युग के छिद्र में प्रविष्ट हो जाती है। अर्थात् युग में फँस जाती है। भिक्षुओं, किन्तु मैं कहता हूँ कि मनुष्य जन्म प्राप्त करना उससे भी अधिक दुर्लभ है।''[1]

सुहल्लेख में भी आचार्य नागार्जुन ने इसे इस प्रकार कहा है-

महार्णवयुगच्छिद्रे हि कूर्मग्रीवार्पणाच्च मानुषं जन्म।
तिर्यगादिसुदुर्लभं सफलीकुरु सद्धर्माभ्यासान्नरेन्द्र ।।[2]

बोधिचर्यावतार में भी कहा गया है-

क्षणसंपदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी ।
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः।।[3]

अष्टाक्षणविनिर्मुक्तस्य क्षणस्य संपत्तिः समग्रता। इयं सुदुर्लभा सुष्ठु दुःखेन लभ्यत इति कथंचित्प्राप्या।

अत एवाह भगवान् मानुष्यमतिदुर्लभम्।

---

[1] दे.क. २२६ आर्यकुसुमसंचयनाममहायानसूत्रम्, 'ह' पुट, पृ. ३०२, भो.सं. । दे.क. ५६ आर्यबोधिसत्त्वपिटकनाममहायानसूत्रम्, 'ग' पुट, पृ. ७०, भो.सं. ।

[2] सुहल्लेख, ५९ कारिका ।

[3] बो.च. १/४

महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमम् ।।

प्रतिलब्धा प्राप्ता, सा च पुरुषार्थसाधनी। पुरुषस्य अर्थः अभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणः, तस्य साधनी निष्पादनी। तदङ्गत्वात् तत्र समर्थेति यावत्। यदि च एवंभूतायामपि अस्यां न हितं विचिन्त्यते, स्वपरसुखहेतुः स्वर्गापवर्गसाधनं नोपादीयते, तदा पुनरपि भूयोऽपि एष तथागतोत्पादः अष्टाक्षणविमुक्तो मनुष्यभावः इत्ययं समागमः समावेशो मिलनमिति यावत्। कुतः कथम्? न कथंचिद् भविष्यति सुदुर्लभत्वात्। अक्षणावस्थायां धर्मप्रविचयस्य कर्तुमशक्यत्वात्, इत्यभिप्रायः। यथोक्तमार्यगण्डव्यूहसूत्रे आर्यजयोष्मायतन-विमोक्षे- (पृ. ११६)

दुर्लभा अष्टाक्षणविनिवृत्तिः। दुर्लभो मनुष्यभावप्रतिलम्भः। दुर्लभा क्षणसंपद्विशुद्धिः। दुर्लभो बुद्धोत्पादः। दुर्लभा अविकलेन्द्रियता। दुर्लभो बुद्धधर्मश्रवणः। दुर्लभं सत्पुरुषसमवधानम्। दुर्लभानि भूतकल्याणमित्राणि। दुर्लभो भूतनयानुशासन्युपसंहारः। दुर्लभं सम्यग्जीवितं मनुष्यलोके इति। इदमेवाभिसंधायोक्तम्-

मानुष्यं दुर्लभं लोके बुद्धोत्पादोऽतिदुर्लभः।
ततोऽपि श्रद्धाप्रव्रज्याप्रतिपत्तिः सुदुर्लभा।।
बोधौ चित्तं दृढं सर्वसत्त्वानामनुकम्पया।
सर्वदुःखप्रशान्त्यर्थं दुर्लभानां परम्परा।।

अक्षणाः पुनरिमे-

नरकप्रेततिर्यञ्चो म्लेच्छा दीर्घायुषोऽमराः।
मिथ्यादृग्बुद्धकान्तारौ मूकताष्टाविहाक्षणाः।। इति।।[1]

सामान्य तौर पर आठ अक्षणों में उत्पन्न न होने के कारण सद्धर्म साधना हेतु अवसर प्राप्त होना क्षण है। आठ अक्षण स्थान जैसे ऊपर कहा गया है- नरक, प्रेत, तिर्यग्, म्लेच्छ, दीर्घायु देव, मिथ्यादृष्टि, बुद्धानुत्पाद एवं मूकता।

इस प्रकार यदि कोई सत्त्व नरक में जन्म ग्रहण करता है तो शीत, उष्ण नरकों में सदैव विचरण करने के कारण उसे धर्म अभ्यास का अवसर नहीं होता है। भूख, प्यास के दुःखों में विचरण करने के कारण प्रेतों को धर्म अभ्यास का अवकाश प्राप्त नहीं होता है। कार्य में लगाने एवं परस्पर पीडा देने के दुःखों में विचरण करने के

---

[1] बो.च.पं., पृ. ५, मि.सं.

कारण तिर्यग् योनि के सत्त्वों को धर्म अभ्यास का अवसर प्राप्त नहीं होता है। असंज्ञि देवभूमि में जन्म से समय को व्यर्थ में गँवाने के कारण दीर्घायु देवयोनि के सत्त्वों को धर्म अभ्यास का अवसर प्राप्त नहीं होता है। प्रत्यन्त जनपद में पैदा होने पर बुद्ध शासन के अभाव में धर्म अभ्यास का अवकाश प्राप्त नहीं होता है। तैर्थिक अथवा उसके अनुकूल मिथ्यादृष्टि वालों में पैदा होने पर सन्तति के मिथ्यादृष्टि से लिप्त होने के कारण धर्म अभ्यास का अवसर नहीं होता है। अंधकारपूर्ण कल्प में पैदा होने पर त्रिरत्न का शब्दमात्र भी श्रवण न होने तथा पुण्य एवं पाप का ज्ञान न होने के कारण धर्म अभ्यास का अवसर नहीं होता है। मूक योनि में पैदा होने पर विज्ञान के अकर्मण्य हो जाने से धर्म अभ्यास का अवकाश नहीं होता है।

दश धर्मसम्पद् इस प्रकार हैं- पाँच स्वसंपद्- मनुष्य योनि में पैदा होना, मध्यदेश में जन्म ग्रहण करना, इन्द्रियों की अविकलता, अविपरीत कर्मान्त तथा आश्रय के प्रति श्रद्धा। पाँच परसम्पद्- बुद्धोत्पाद, बुद्ध द्वारा धर्मोपदेश, शासन की स्थिति, उसके अनुयायियों का होना तथा दूसरों के प्रति करुणा। इस प्रकार उपर्युक्त आठ अक्षणों से रहित एवं दश धर्मसम्पद् से युक्त होने पर मनुष्य जीवन को रत्न के समान अत्यन्त दुर्लभ कहा गया है।

स्वयं के द्वारा दुःख निवृत्ति :

संसार के अच्छा या बुरा होने के पीछे मनुष्य ही एकमात्र कारण है। मनुष्य अपने दुःखों का कारण स्वयं है। इस दुःख प्रवाह से मनुष्य का छुटकारा कोई दूसरा नहीं कर सकता है, क्योंकि अनादिकाल से जीवों की सन्तति में कुवासनाओं का प्रवाह बहता चला आ रहा है जिसके कारण उनमें तीव्र आत्मराग उत्पन्न हो गया है। आत्मराग के कारण अभिमान उत्पन्न होता है। संक्षेप में राग, द्वेष और अभिमान के कारण वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता है।

प्राणी अपने प्रयत्न से और केवल अपने ही प्रयत्न से इन सभी सांसारिक दुःखों से छुटकारा पा सकता है। किसी अन्य देवा-देवताओं या मार की कृपा या सहायता से नहीं, अपितु अपने जीवन को उन्नत करते-करते वह बुद्ध हो जाता है। शाक्यपुत्र गौतम ऐसे ही एक बुद्ध हैं। ऐसे बुद्ध पूर्व में होते रहे हैं और भविष्य में भी होते

रहेंगे। ऐसे बुद्धों का पथ प्रदर्शन जीवन यात्रा में सहायक होता है। बुद्ध स्वयं को सिर्फ मार्गाख्यायी बतलाते हैं, अंगुलि पकडकर मार्ग पर ले जाने वाला नहीं।[1]

उद्यान में कहा गया है कि- सांसारिक दुःखों को परिसमाप्त करने वाले मार्ग का मैंने तुम्हें आख्यान किया है। तथागत तो शास्ता हैं अर्थात् मार्ग के उपदेष्टा हैं किन्तु उस मार्ग पर तुम्हें स्वयं चलना है।

मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है दूसरा कौन उसका स्वामी हो सकता है? अपने को भली प्रकार दमन कर लेने पर वह एक दुर्लभ स्वामी को पाता है।[2]

सारे धर्माचार्य अपने शिष्यों से कहते हैं कि हमारे उपदेशों को बन्दरमुष्टि की भाँति पकड कर रखो, किन्तु गौतम बुद्ध का कहना इसके ठीक विपरीत है। कोई व्यक्ति बरसात में अचिरवती (राप्ती) नदी के तीर पर जाता है। नदी दोनों कूलों तक भरी हुई है, वहाँ कोई नाव या सेतु नहीं है। व्यक्ति को पार जाना है। वह सोचने लगता है। फिर लकडिया इकट्ठा कर एक बेडा बनाता है और उस पर बैठकर खेते हुए नदी पार हो जाता है। यह बेडा उस व्यक्ति के लिए कितना उपकारक हुआ, इसे कहने की जरूरत नहीं, किन्तु यदि इस उपकार का ख्याल कर वह व्यक्ति उस बेडे को सिर पर लाद लें, तो जिस गाँव में भी जाएगा, वहाँ लोग उसे निरा मूर्ख बतलाएंगे। बेडा नदी पार करने के लिए है, सिर पर ढोने के लिए नहीं मूर्ख, यही सब उसे कहेंगे। इस उपमा द्वारा बुद्ध ने श्रावकों से कहा- बेडे की भाँति मेरे उपदेश केवल पार उतरने के लिए हैं, पकडकर रखने के लिए नहीं। आर्यरत्नकरण्डसूत्र में भी कहा गया है- 'भदन्त सुभूते कोलोपमं धर्मपर्यायमाजानद्भिर्धर्मा एव प्रहातव्याः, प्रागेवाधर्मा इति। यो हि धर्म प्रहीयते, सोऽपि नाधर्मः इति'।[3]

वज्रच्छेदिकासूत्र में कहा गया है- तत्कस्य हेतोः? न खलु पुनः सुभूते, बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन धर्म उद्ग्रहीतव्यो नाधर्मः। तस्मादियं तथागतेन संधाय

---

[1] तुम्हेहि किच्चमातप्पं अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति, झायिनो मारबन्धना।। -धम्मपद, २०/४

[2] अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं ।। -धम्मपद, १२/४

[3] वज्रच्छेदिकाटीका, पुनरुद्धार, पृ. ३७, पेमा तेनजिन, ति.सं., १९९४

वाग्भाषिता- कोलोपमं धर्मपर्यायमाजानद्भिर्धर्मा एव प्रहातव्याः प्रागेवाधर्मा इति।[1]

मज्झिमनिकाय में भी कहा गया है- एवमेव खो भिक्खवे, कुल्लूपमो मया धम्मो देसितो नित्थरणत्थाय, नो गहणत्थाय। कुल्लूपमं वो भिक्खवे, धम्मं देसितं आजानन्तेहि धम्मा पि वो पहातब्बा पगेव अधम्मा।[2]

भगवान् ने कहा कि क्या धर्म है, क्या अधर्म है? इसके निर्णय के लिए किसी शास्त्र पर निर्भर नहीं किया जा सकता है। उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा- भिक्षुओं ! मेरे वचन को इसलिए ग्रहण मत करो कि मैं कहता हूँ, अपितु भली प्रकार परीक्षा करके ही ग्रहण करो। जैसे सोने के खरे खोटे होने की बात हर सोने के पीछे दौडने से मालूम नहीं होती, बल्कि उसका खरा खोटापन आपके हाथ में है। जिस प्रकार स्वर्णकार सोना खरीदने के पूर्व उसे आग में तपाकर, काटकर, रगडकर उसकी परीक्षा करता है, तभी वह सोने की शुद्धता को जानता है। ठीक उसी प्रकार किसी धर्माचार्य के रूप सौन्दर्य, उसकी वाग्मिता एवं उसकी लोकप्रसिद्धि को देखकर उसके उपदेश को ग्रहण न करो। बल्कि उसके लिए तुम अपनी बुद्धि और अनुभव को कसौटी बनाओ।

बुद्ध ने धर्म का लक्ष्य बताया- बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय। इसलिए उन्होंने भिक्षुओं से कहा कि- भिक्षुओं बहुजनों के हित एवं सुख के लिए, लोक पर अनुकम्पा करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के सुख एवं हित के लिए सर्वत्र विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। भिक्षुओं, आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी तथा अन्त में कल्याणकारी इस धर्म का उपदेश करो।[3]

इस जगत में मनुष्य के गौरव के लिए जन्म अथवा कुल परम्परा का कोई महत्त्व नहीं है। बुद्ध कहते हैं कि किसी की श्रेष्ठता का निर्णय उसकी जाति और कुल आदि से नहीं की जा सकती। इन सबका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं होता

---

[1] वज्रच्छेदिकासूत्र, द्वितीय संस्करण, पृ. ४० ति.सं. १९९७

[2] म.नि. १:२, पृ. १७९ ।

[3] चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय देवमनुस्सानं। मा एकेन द्वे अगमित्थ। देसेथ भिक्खवे, धम्मं आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं केवल परिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ। --विनयमहावग्ग, १/१०, पृ. २३ ।

है। शील अथवा सदाचरण ही मनुष्य की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। जैसे वज्रसूची में कहा गया है-

शीलं प्रधानं स कुलं प्रधानं कुलेन किं शीलविवर्जितेन।
बहवो नरा नीचकुलप्रसूताः स्वर्गं गताः शीलमुपेत्य धीराः।।[१]

भगवान् ने कहा कि जन्म से न कोई नीच होता है, न कोई श्रेष्ठ। कर्म से ही व्यक्ति नीच एवं कर्म से ही श्रेष्ठ होता है।

न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणो।।[२]

बुद्ध ने जन कल्याण की भाषा के महत्त्व को स्वीकार किया। अतएव उन्होंने सर्वसाधारण की भाषा में धर्मोपदेश किया और इसी कारण जनसाधारण में बौद्धधर्म बहुत शीघ्र व्यापक रूप में फैल गया। उन्होंने भिक्षुओं से कहा कि लोगों को उनकी जन-भाषाओं में उपदेश दो, उन भाषाओं में नहीं, जिन्हें थोडे लोग श्रेष्ठ समझते हैं। यही कारण रहा कि हजारों वर्ष पूर्व विश्व की अनेक स्थानीय भाषाओं में बुद्ध उपदेशों को लिखा गया, अनुवाद किया गया और अपने-अपने देशों में प्रचार-प्रसार किया गया। उन्होंने बताया कि कोई भी भाषा श्रेष्ठ या पवित्र नहीं होती है। जिसमें मानव के लिए कल्याणकारी बातें हों, वही भाषा श्रेष्ठ और ग्राह्य है। बुद्ध ने जोर देकर कहा कि शास्त्रों में निहित शब्दों की शरण में न जाओ, बल्कि उसके अर्थों को देखो और अर्थ की ही शरण में जाओ। जैसे कहा गया है- ग्रन्थज्ञो देवानां प्रियो न त्वर्थज्ञः। अर्थश्च प्रतिशरणमुक्तं भगवता।

अर्थश्च प्रतिसरणमुक्तं भगवतेति। चत्वारीमानि भिक्षवः प्रतिसरणानि। कतमानि? धर्मः प्रतिसरणं न पुद्गलः, अर्थः प्रतिसरणं न व्यञ्जनम्। नीतार्थसूत्रं प्रतिसरणं न नेयार्थम्, ज्ञानं प्रतिसरणं न विज्ञानम्।[३]

---

[१] वज्रसूची, ३० का.

[२] तुलनीयम्-
न जटाही न गोत्तेन, न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चं न धम्मो च, सो सुची च ब्राह्मणो ।। - धम्मपद, २६/११

[३] अभि.को.भा.टी., पृ. २५७, बौ.भा.प्र., १९८७ ।

पुनश्च चत्वारि प्रतिसरणानि तद्यथा- अर्थप्रतिसरणता न व्यञ्जनप्रतिसरणता। ज्ञानप्रतिसरणता न विज्ञानप्रतिसरणता। नीतार्थप्रतिसरणता न नेयार्थप्रतिसरणता। धर्मप्रतिसरणता न पुद्‌गलप्रतिसरणता चेति।[१]

चार आर्यसत्य :

इसी प्रकार बुद्धत्व ज्ञान प्राप्त करने के सात सप्ताह पश्चात् वाराणसी के ऋषिपत्तन मृगदाव वन में भगवान् ने सर्वप्रथम पंचवर्गीय भिक्षुओं को चार आर्यसत्यों की देशना कर मनुष्य को स्वयं पुरुषार्थ के लिए प्रेरित किया। उन्होंने संसार के दुःखपूर्ण स्वरूप को बताते हुए लोगों को धर्म की शरण में जाने को कहा। उनके द्वारा उपदिष्ट चार आर्य सत्य सभी बौद्ध परम्पराओं द्वारा मान्य हैं। इसीलिए भगवान् ने सर्वप्रथम चार आर्यसत्यों की देशना की। संसार में जन्म के हेतु एवं उसमें जो कठिनाइयाँ होती हैं, उसके आधार पर प्रथम दो सत्य कहे गये हैं। हेतुरूप समुदय सत्य तथा उसके उपरान्त फलरूप दुःखसत्य। संसार में पुनर्जन्म का निरोध कर निर्वाण प्राप्ति के लिए निरोधसत्य तथा उसकी प्राप्ति के लिए हेतु के अधिकार से मार्गसत्य। सामान्य रूप से हेतु पूर्व में तथा फल पश्चात् प्राप्त होता है किन्तु भगवान् ने फल को पहले कहा है। दुःख को जानने के लिए दुःखसत्य को पहले कहा है। जैसे- कोई रोगी दर्द से कराह रहा है तो वह दुःखसत्य है, उस दर्द का कारण जानना समुदयसत्य है। दर्द के निवृत्त होने पर सुख का अनुभव होता है, वह निरोध सत्य है। दर्द को समाप्त करने के लिए उस दर्द के कारण को जानकर उसके निराकरण करने हेतु प्रयत्न करना मार्गसत्य है।

दुःखसत्य- यह संसार दुःखमय है, जो जन्म, जरा, मृत्यु, शोक, विलाप चिन्ता तथा निराशा आदि के रूप में प्रकट होता है। प्रत्येक मनुष्य दुःखों से ग्रसित है। यह कर्म और क्लेशों से उत्पन्न होता है और संसार से परिगृहीत होता है। इस प्रकार सामान्य जनों में जो शिरोवेदना आदि सामान्य दुःख प्रतीत होते हैं वह दुःखदुःखता है। इन दुःखों को जानने के लिए बहुत अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। इससे अधिक कठिन विपरिणामदुःख है। वर्तमान में जो दुःख सुख के रूप में प्रतीत

---

[१] म.सू.सं., पृ. ३२८, मि.सं. १९६० ।

होते हैं किन्तु वस्तुतः वे दुःख स्वभाव ही होते हैं, वे विपरिणामदुःख हैं। जैसे- भोजन की उचित मात्रा अच्छी लगती है किन्तु बहुत अधिक ग्रहण करने पर अथवा लगातार ग्रहण करने वह अहितकर एवं दुःखदायी होता है। गर्मियों में वातानुकूलित कमरे में बडा सुख मिलता है, किन्तु उसका निरन्तर सेवन करने के पश्चात् शीतदुःख होता है। संक्षेप में सभी सास्रव सुख विपरिणामदुःख हैं।

सभी अनित्यों से वियोग दुःखप्रद होता है, इसलिए सभी अनित्य धर्म संस्कार दुःख हैं। जैसे- इन पाँच स्कन्धों वाला हमारा यह शरीर दुःख-स्वभाव है, जिसकी वजह से हमें अनेकों कठिनाइयाँ आती हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो यह स्कन्ध हमें दुःख नहीं देता और यदि यह दुःख नहीं देता तो हमें इसके लिए अनेकों कष्ट नहीं उठाने पडते। हमें शीत, भूख, प्यास, गर्मी आदि से इस शरीर की रक्षा करनी पडती है एवं इसके लिए धन, भवन आदि सम्पत्ति का भी अर्जन करना पडता है। चूँकि वह स्वयं दुःखस्वभाव है, इसलिए हमें दुःख प्राप्त होता है। जब तक इसका अच्छी तरह से अध्ययन न किया जाय, इसे नहीं जाना जा सकता है। इस प्रकार का दुःख न केवल मनुष्य, बल्कि अन्य सत्त्वों में भी होता है।

समुदय सत्य- ये दुःख कैसे होते हैं? कर्म एवं क्लेश से सिद्ध होते हैं। क्लेश का ज्ञान सरल हो सकता है किन्तु कर्म कुछ जटिल है। समस्त क्लेश दुःख के आधार हैं। सत्त्व राग के अभिनिवेश से दश अकुशल कर्मों को सम्पादित करते हैं। इन सभी का मूल अविद्या आत्मग्राह है।

रागाभिनिवेश से कर्म का आचरण बुरा कर्म होने के कारण अकुशल कर्म कहलाता है। दूसरों के प्रति हितकारी कर्म की भावना कुशल कर्म है। इस प्रकार उस कर्म को कराने वाली इच्छा एवं कार्य को करना दो बातें हैं, जो अविद्या एवं क्लेश के अधिकार से किए जाते हैं। ये कर्म स्वयं के द्वारा सम्पादित किए जाते हैं और उनके प्रति भावना भी अपनी ही होती है, जिसके आधार पर समस्त अच्छे व बुरे कर्म स्वयं के द्वारा संचित होते हैं। उसी प्रकार उन कर्मों के अच्छे-बुरे फल भी स्वयं के द्वारा अनुभूत किए जाते हैं।

मार्गसत्य- आत्मग्राह के निवारण के लिए 'सभी धर्म संवृतितः विद्यमान हैं' यह जानना आवश्यक है। इसे जानने के लिए नैरात्म्यज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार के आत्मग्राह अथवा सत्यग्राह का अभाव शून्यता कहा जाता है। इस पर विचार कर

इस प्रकार के गुण को प्राप्त कराने वाला मार्गसत्य है। नैरात्म्यज्ञान से सत्यग्राह विनष्ट हो जाता है, जिससे सभी क्लेश समाप्त हो जाते हैं।

छह गतियों में से किसी भी एक गति में जन्म ग्रहण करना दुःख का कारण है। जाति, जरा, ज्वर और मृत्यु ये सभी दुःखों के कारण हैं। इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए संसार के दुःख स्वरूप को जानना आवश्यक है। संसार का अर्थ है दुःखों का घर। सास्रव धर्मों एवं क्लेशों के समूह को संसार कहा गया है। संसारी व्यक्ति संसार में संसरण करने वाला है। कर्ता सभी छह गतियों में भ्रमण करता रहता है। संसार आश्रय अथवा वह स्थान है, जहाँ व्यक्ति विचरण करता है। इस प्रकार संसार को दुःखों का स्वभाव जानकर उसके प्रति त्याग की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। संसार के आधार काय, सम्पत्ति सभी के प्रति अभिनिवेश की व्यावृत्ति के लिए दुःख स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए।

सभी सास्रव धर्म दुःख के कारण हैं। अच्छे एवं बुरे कर्मों के फलस्वरूप कोई सौभाग्यशाली सत्त्व एवं कोई दुर्भाग्यशाली सत्त्व के रूप में पुनः जन्म ग्रहण करता है। इस जन्म को हम अपने माता-पिता, दादा-दादी एवं पूर्व जन्मों के असंख्य माता-पिता आदि की सन्तति से जोड सकते हैं। नवजात शिशु का उपादान कारण चित्त है अर्थात् पूर्वगामी कारण चित्त को होना चाहिए। चित्त का उपादान हेतु एक पूर्व चित्त होना चाहिए। यदि ऐसा है तो पूर्वजन्म सिद्ध हो जाएगा। चार महाभूत चित्त नहीं हैं। वे शरीर बनने के हेतु हैं। चार महाभूतों का संग्रह होने पर भी यदि चित्त का अभाव हो तो वह अचित्त है, जड वस्तु है।

चित्त की एक सूक्ष्म सन्तति अन्य स्वभाव में परिवर्तित होकर अपर जन्म में चली जाती है। जैसे- बीज से अंकुर, पौधा और पुनः फूल एवं फल। ये सभी तत्त्व पुनः अन्त में फल से बीज देते हैं और वह बीज दूसरे पौधे को जन्म देने का हेतु बन जाता है। उसी तरह सूक्ष्म चित्त एक देह से दूसरे जीवन में स्थानान्तरित हो जाता है। चित्त प्रायः काय पर आश्रित होकर रहता है, काय के न रहने पर वह अन्य काय में चला जाता है। जैसे- विद्युत बल्ब पर आश्रित है, बल्ब के न रहने पर विद्युत नहीं आ सकती। यह शरीर पूर्व जन्म के कर्मों से प्राप्त हुआ है, इसमें हमारी स्वयं की इच्छा नहीं होती। अतः यह शरीर एवं क्लेश सभी सास्रव है, जो दुःख के कारण हैं। जन्म कर्म एवं क्लेश के पराधीन होने के कारण दुःख है। जाति, जरा, मरण में

स्वतंत्रता नहीं होती है। प्रिय से वियोग, अप्रिय से संयोग, अभिलाषा की पूर्ति न होना, संक्षेप में सभी उपादान स्कन्ध दुःख हैं।

इस प्रकार के मार्ग सत्य को आधार बनाकर केवल स्वयं के दुःखों को दूर करने की कामना करने वाले सत्त्वों को श्रावक तथा इसी तरह स्वयं के लिए संसार से निर्वाण की कामना करना वाले सत्त्वों को प्रत्येकबुद्ध कहा जाता है। केवल स्वयं के लिए ही नहीं, अपितु सभी सत्त्वों के कल्याण के लिए मार्गसत्य की भावना करने वाले सत्त्वों को महायानी कहा जाता है। इस प्रकार मार्गसत्य में श्रावक, प्रत्येकबुद्ध एवं बोधिसत्त्व तीन प्रकार के पुद्गल होते हैं।

श्रावकयान- जो विनेय जन इस दुःखस्वरूप संसार को देखकर भयभीत हो, तत्काल इन दुःखों से मुक्ति की इच्छा तो रखते हैं, किन्तु तात्कालिक रूप से सम्पूर्ण प्राणियों के हित और सुख के लिए सम्यक् सम्बुद्धत्व की प्राप्ति में स्वयं को समर्थ नहीं पाते, वे श्रावकयानी कहलाते हैं। उनके लिए भगवान् ने प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन करते हुए चार आर्यसत्यों एवं उनके अनित्यता आदि सोलह आकारों की देशना की तथा इनकी भावना के द्वारा पुद्गल नैरात्म्य का साक्षात्कार करके क्लेशावरण का समूल प्रहाण करते हुए अर्हत्त्व एवं निर्वाण प्राप्ति के मार्ग की देशना की।

प्रत्येकबुद्धयान- श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध के लक्ष्य में भेद नहीं होता। प्रत्येकबुद्ध भी स्वयं की मुक्ति के ही अभिलाषी होते हैं। किन्तु दोनों के ज्ञान में और पुण्य में किञ्चत् अन्तर अवश्य होता है। प्रत्येकबुद्ध में केवल ग्राह्यशून्यता का बोध होता है, ग्राहक शून्यता का नहीं। पुण्य भी श्रावकों की अपेक्षा अधिक होता है। प्रत्येकबुद्ध बुद्धरहित काल एवं लोक में पैदा होते हैं। वे बिना आचार्य या गुरु के ही पूर्वजन्मों की स्मृति के आधार पर अपनी साधना करते हैं और प्रत्येकबुद्ध-अर्हत्त्व और निर्वाण पद प्राप्त करते हैं। इनकी यह भी विशेषता है कि ये वाणी के द्वारा धर्मोपदेश नहीं करते तथा संघ बनाकर नहीं रहते अर्थात् एकाकी विचरण करते हैं।

बोधिसत्त्वयान- जो विनेय जन सम्पूर्ण सत्त्वों के हित एवं सुख के लिए सम्यक् सम्बुद्धत्व प्राप्त करना चाहते हैं, ऐसे विनेय जन बोधिसत्त्वयानी कहलाते हैं। उन लोगों के लिए भगवान् ने बोधिचित्त का उत्पाद कर छह अथवा दस पारमिताओं की साधना का उपदेश किया तथा पुद्गलनैरात्म्य के साथ धर्मनैरात्म्य का भी विभिन्न

युक्तियों से अवबोध कर क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों के प्रहाण द्वारा सम्यक् सम्बुद्धत्व की प्राप्ति के मार्ग का उपदेश किया। ऐसे सत्त्व महायानी कहलाते हैं।

निरोधसत्य- दुःखसत्य एवं समुदय सत्य का प्रहाण करने के लिए मार्ग में प्रविष्ट होकर राग, द्वेष एवं मोह का प्रहाण करना ही निरोधसत्य है। स्वयं शान्त होना एवं शान्ति का प्रापक होना निरोधसत्य का स्वभाव है। यह तृष्णा का अभाव तथा निर्वाण पद की प्राप्ति है। अभिधर्मकोश में कहा गया है- **सत्यान्युक्तानि चत्वारि,...** क्वोक्तानि? सास्रवानास्रवधर्मनिर्देशे। 'अनास्रवा मार्गसत्यम्' इति स्वशब्देन 'प्रतिसंख्यानिरोधी यो विसंयोगः' इति निरोधसत्यम्, 'दुःखं समुदयो लोकः' इत्यत्र दुःखसमुदयसत्ये। ....आर्यसत्यानि सूत्र उच्यन्ते। कोऽस्यार्थः? आर्याणामेतानि सत्यानि तस्मादार्यसत्यानि सूत्र एवोक्तम्। किमन्येषामेतानि मृषा? सर्वेषामेतानि सत्यानि, अविपरीतत्वात्। आर्यैस्तु यथैतानि तथा दृष्टानि, नान्यैः। अत आर्याणामेतानि सत्यान्युच्यन्ते न त्वार्याणाम्, विपरीतदर्शनात्।

यदार्याः सुखतः प्राहुस्तत् परे दुःखतो विदुः।
यत् परे सुखतः प्राहुस्तदार्या दुःखतो विदुः।।[१]

अर्थविनिश्चयसूत्र में कहा गया है- तत्र भिक्षवः कतमानि चत्वार्यार्यसत्यानि? तद्यथा- दुःखमार्यसत्यम्, दुःखसमुदय आर्यसत्यम्, दुःखनिरोध आर्यसत्यम्, दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपदार्यसत्यम्।

तत्र दुःखमार्यसत्यं कतमत्? तद्यथा- जातिर्दुःखम्, जरा दुःखम्, व्याधिर्दुःखम्, मरणं दुःखम्, प्रियवियोगो दुःखम्, अप्रियसंयोगो दुःखम्, यदपीच्छन् पर्येषमाणे न लभते तदपि दुःखम्, संक्षिप्तेन पञ्चोपादानस्कन्धा दुःखम्। इदमुच्यते दुःखमार्यसत्यम्।

दुःखसमुदय आर्यसत्यं कतमत्? तद्यथा- तृष्णा पौनर्भविकी, नन्दीरागसहगता, तत्रतत्राभिनन्दिनी। इदमुच्यते दुःखसमुदय आर्यसत्यम्

दुःखनिरोध आर्यसत्यं कतमत्? यदस्या एव तृष्णायाः पौनर्भविक्या नन्दीरागसहगतायास्तत्र-तत्राभिनन्दिन्या अशेषतः प्रहाणं, प्रतिनिःसर्गो, व्यन्तीभावः, क्षयो, विरागो, निरोधो, व्युपशमोऽस्तंगमः। इदमुच्यते दुःखनिरोध आर्यसत्यम्।

---

[१] ६/२, पृ. ८७२, बौ.भा.प्र., १९८७ ।

तत्र दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपदार्यसत्यं कतमत्? अयमेव सम्यग्दृष्ट्यादिरार्याष्टाङ्गो मार्गः। तद्यथा- सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्संकल्पः, सम्यक्वाक्, सम्यक्कर्मान्तः, सम्यगाजीवः, सम्यग्व्यायामः, सम्यक्स्मृतिः, सम्यक्समाधिरिति। इदमुच्यते दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपदार्यसत्यम्।[1]

अष्टाङ्गिक मार्ग :

उपर्युक्त निरोध सत्य को प्राप्त कराने वाला विशिष्ट उपाय मार्गसत्य है। बुद्ध ने तृष्णा एवं सांसारिक दुःखों का अन्त करने के लिए मार्ग का प्रतिपादन किया, जो अष्टांगिक मार्ग कहलाता है। इन आर्य अष्टाङ्गिक मार्गों को नैर्याणिक मार्ग भी कहते हैं, क्योंकि ये पुद्गल को सहज क्लेशों के क्षेत्र से बाहर कर देते हैं और उसे निर्वाण के समीप पहुँचा देते हैं।

सम्यग्दृष्टि- आर्यों के मार्ग की दो अवस्थाएँ होती हैं- समाहित मार्ग तथा पृष्ठलब्ध मार्ग। समाहित मार्ग उसे कहते हैं जिसके द्वारा शून्यता का साक्षात्कार किया जाता है तथा जो शून्यता के साक्षात्कार में संलग्न रहता है।

पृष्ठलब्ध मार्ग समाहित मार्ग के अनन्तर उपलब्ध होता है। इसके द्वारा शून्यता का साक्षात्कार नहीं किया जाता, अपितु यह सांवृतिक धर्मों को जानता है। सम्यग्दृष्टि समाहित मार्ग की अवस्था में नहीं होती, अपितु पृष्ठलब्ध मार्ग की अवस्था में होती है। सम्यग्दृष्टि वह विशिष्ट प्रज्ञा है, जो पृष्ठलब्ध मार्ग की अवस्था में भी, समाहित मार्ग की अवस्था में ज्ञात चार आर्यसत्यों की शून्यता को जानती रहती है। अर्थात् उसे यह निश्चय रहता है कि मैंने समाहित मार्ग की अवस्था में शून्यता को जाना है।

सम्यक् संकल्प- इसके द्वारा पहले जिस प्रकार शून्यता जानी गई है, उसकी सम्यक् हेतु एवं लिङ्गों द्वारा परीक्षा की जाती है। यह सम्यक् संकल्प उस परीक्षित शून्यता आदि यथार्थ तत्त्वों का दूसरों को ज्ञान कराने की विधि का भी निश्चय करता है।

---

[1] पृ. १४, के.पी.जा.रि.सं., पटना, १९७१ ।

सम्यग् वाक्- यद्यपि यह शून्यता निष्प्रपञ्च है, उसका यथार्थ कथन नहीं किया जा सकता, तथापि उसके स्वरूप का व्यावहारिक दृष्टि से शब्दों द्वारा ज्ञापन किया जा सकता है। अतः यह सम्यग् वाक् उस निष्प्रपञ्च शून्यता का व्याख्यान, वाद एवं ग्रन्थ रचना द्वारा दूसरों को अवबोध कराती है तथा उनमें सम्यग्दृष्टि के प्रति विश्वास उत्पन्न करती है। यह मृषावाद आदि वाणी के दोषों से विशुद्ध है, अतः सम्यग् वाक् के प्रति भी विश्वास उत्पन्न करती है।

सम्यक् कर्मान्त- आर्यों के आचरण स्वभावतः धर्म के प्रतिकूल नहीं होते, अपितु अनुकूल ही होते हैं। इसलिए सम्यक् कर्मान्त विशुद्ध शील के प्रति लोगों में विश्वास उत्पन्न करता है। यही कारण है, जिसकी वजह से इसे विशुद्ध काय कर्म भी कहते हैं।

सम्यग् आजीव- आर्यों की जीविका के साधन अत्यन्त विशुद्ध होते हैं, क्योंकि वे पाप द्वारा उपार्जित आहार एवं मिथ्या आजीव आदि से सर्वथा अमिश्रित होते हैं। उनके आचरण कायिक आडम्बर एवं वाचिक आडम्बरों से सर्वथा रहित होते हैं। इन कारणों की वजह से वे विशुद्ध आजीव के प्रति लोगों में विश्वास उत्पन्न करते हैं।

सम्यग् व्यायाम- यह उन कुशल प्रयत्नों का कारण है, जिसके द्वारा पूर्व ज्ञात शून्य की पुनः पुनः भावना की जाती है। अतः यह भावनाहेय क्लेशों का प्रतिपक्ष है।

सम्यक् स्मृति- आर्य शमथ एवं विपश्यना प्राप्त होते हैं। चार आर्यसत्य इनके प्रधान आलम्बन होते हैं। यह सम्यक् स्मृति उन आलम्बनों का कभी विस्मरण नहीं होने देती। इसलिए यह मुषितस्मृतिता का प्रतिपक्ष होती है। मुषितस्मृतिता एक प्रकार का उपक्लेश है, जिसके कारण आलम्बन का विस्मरण हो जाया करता है।

सम्यक् समाधि- यह विशुद्ध समाधि है, निमग्नता एवं औद्धत्य आदि समाधि के दोषों से विमुक्त है। इसके कारण मार्ग की गति उत्तरोत्तर आगे बढती जाती है। यह मार्ग के विरोधी क्लेशों का प्रतिपक्ष होती है।

उपर्युक्त अष्टाङ्गिक मार्गों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। सम्यग्दृष्टि अवच्छेदक है, क्योंकि यह समाहित मार्ग की अवस्था में ज्ञात शून्यता का अवच्छेद करती है। सम्यक् संकल्प अवबोधक है, क्योंकि यह यथार्थ तत्त्वों का दूसरों को ज्ञान कराता है। सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त एवं सम्यग् आजीव- ये तीन विश्वासाधायक हैं, क्योंकि ये लोगों में उन-उन अर्थों के प्रति विश्वास उत्पन्न

करते हैं। सम्यग् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि- ये तीन प्रतिपक्ष हैं, क्योंकि ये क्लेशों के विरोधी हैं। जैसे कहा गया है-

परिच्छेदोऽथ सम्प्राप्तिः परसम्भावना त्रिधा।
विपक्षप्रतिपक्षश्च मार्गस्याङ्गं तदष्टधा।।[1]

अभिधर्मसमुच्च में भी कहा गया है- अष्टानामार्यमार्गाङ्गानामालम्बनं कतमत्। तदुत्तरकालं चतुर्णामार्यसत्यानां यथाभूतता। स्वभावः कतमः। सम्यग्दृष्टिः सम्यक्कर्मान्तः सम्यगाजीवः सम्यग्व्यायामः सम्यक्स्मृतिः सम्यक्समाधिश्च।। सम्यग्दृष्टिः परिच्छेदाङ्गम्। सम्यक्संकल्पः परसंप्रापणाङ्गम्। सम्यग्वाक्कर्मान्ताजीवाः परसंप्रत्ययाङ्गम्। दर्शनशीलाजीवविशुद्धितामुपादाय। सम्यग्व्यायामः क्लेशावरणविशोधनाङ्गम्। सम्यक्समाधिः वैशेषिकगुणावरणविशोधनाङ्गम्। सहायः कतमः। तत्संप्रयुक्ताश्चित्तचैतसिकाधर्माः। भावना कतमा। भावना तु बोध्यङ्गवत्। भावनाफलं कतमत्। परिच्छेदः परसंप्रापणं परसंप्रत्ययः क्लेशावरणविशोधनमुपक्लेशविशोधनं वैशेषिकगुणावरणविशोधनं च।[2]

यह जो आर्यजनों के उपयुक्त आष्टांगिक मार्ग हैं, यह जो मोक्ष प्राप्ति के लिए सीधा सरल रास्ता है, यह जो सर्वश्रेष्ठ शान्तिदायक सद्धर्म है और यह जो निर्वाण की ओर ले जाने वाला है। मैं उस सद्धर्म को प्रणाम करता हूँ।

अठ्ठङ्गिको अरियपथो जनानं।
मोक्खप्पवेसा उजुको व मग्गो।
धम्मो अयं सन्ति करो पणीतो।
नीय्याणिको तं पणमामि धम्मं।।[3]

इस प्रकार के धर्म या इस प्रकार के मार्ग का उपदेश भगवान् बुद्ध के अतिरिक्त विश्व इतिहास में किसी अन्य धर्मप्रवर्तक ने नहीं दिया है, जिसमें प्रज्ञा और करुणा का इतना प्रकर्ष हो। जब तक मनुष्य में आत्मदृष्टि या वस्तुओं की स्वभावतः सत्ता को ग्रहण करने वाली बुद्धि विद्यमान होती है, तब तक उसमें अहं और स्वतः सत्ता

---

[1] मध्यान्तविभाग, पृ. १३६, मो.ब.प्र. १९७१ ।

[2] अभि.समु., पृ. ७४-७५ वि.भा.प्र. १९५० ।

[3] महापरित्राणसूत्र, पृ. ३४, भदन्त धर्मकीर्ति महाथेरो, भारतीय बुद्ध धम्म ज्ञान शिक्षण विद्यालय, नागपुर, १९८७

को ग्रहण करने वाली सीमित बुद्धि या भेदबुद्धि उत्पन्न होती रहती है और तब तक उसमें वस्तुओं की यथास्थिति का ज्ञान तथा सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो निर्वाण सम्भव नहीं है। और वह संसार चक्र में बार-बार जन्म ग्रहण कर संसरण करता रहता है।

आचार्य नागार्जुन ने भी चतुःस्तव में कहा है कि हे भगवन्, आप में सत्त्व संज्ञा बिलकुल नहीं है, क्योंकि सत्त्व की सत्ता काल्पनिक है, सांवृतिक है, फिर भी आप सत्त्वों के प्रति अत्यन्त कारुणिक हैं।[१]

नैरात्म्य का उपदेश करने वाला संसार में भगवान् बुद्ध के अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं हुआ, इसलिए भगवान् द्वारा प्रदर्शित मार्ग के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग लोक में शान्ति की प्रतिष्ठा करने वाला नहीं है। जैसे कहा भी गया है-

साहङ्कारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबन्धः
नाहङ्कारश्चलति हृदयात्मदृष्टौ तु सत्याम्।
अन्य शास्ता जगति च यतो नास्ति नैरात्म्यवादी
नान्यस्तस्मादुपशमविधौ त्वन्मतादस्ति मार्गः।।[२]

भगवान् बुद्ध की इस परम्परागत शिक्षा की सुरक्षा और संवर्धन तथा उसका प्रचार और उसका मानव के त्राण के लिए प्रयोग आज का पुनीत कर्तव्य है। आज भी पूरे उत्तरी भारत के हिमालयीय क्षेत्रों में ऐसे साधक हैं, जिन्होंने उस शिक्षा को जीवन में उतारा है और यह आवश्यक भी है, क्योंकि बिना अधिगम के शिक्षा अधूरी लगती है, उससे लाभ नहीं होता। आचार्य शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार में कहा है-

कायेनैव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु किं भवेत्।
चिकित्सापाठमात्रेण रोगिणः किं भविष्यति।।[३]

अर्थात् वाणी द्वारा शिक्षा का पाठ करने मात्र से क्या लाभ? जैसे चिकित्साशास्त्र के पाठ से रोगी को रोग से मुक्ति नहीं मिलती, उसी तरह शिक्षा के पाठ से कुछ भी लाभ नहीं होता है, अपितु शरीर एवं मन से उसका अभ्यास किया जाना चाहिए और

---

[१] सत्त्वसंज्ञा च ते नाथ सर्वथा न प्रवर्तते।
दुःखार्तेषु च सत्त्वेषु त्वमतीव कृपात्मकः।। -चतुःस्तव, नागार्जुनप्रणीत, १/९

[२] त.सं.पं., भाग-२, पृ. १०९५, बौ.भा.प्र. १९६८ ।

[३] बो.च. ५/१०९

तत्त्व का अधिगम करना चाहिए। अन्यत्र भी आचार्य ने कहा है- जो रोग औषधि से ठीक हो सकता है, फिर भी यदि रोगी वैद्य के उपदेशानुसार औषधि का सेवन नहीं करता अर्थात् आचरण नहीं करता तो जैसे उसे रोग से मुक्ति नहीं मिलती, वैसे ही यदि कोई बोधिसत्त्व महाभैषज्यराज भगवान् बुद्ध के उपदेश के अनुसार आचरण नहीं करता तो उसके दुःखों का अन्त नहीं हो सकता या उसे निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। यथा-

वैद्योपदेशाच्चलतः कुतोऽस्ति भैषज्यसाध्यस्य निरामयत्वम्।[१]

भगवान् बुद्ध ने मनुष्य को सुख और शान्ति के साथ रहने का मार्ग प्रदर्शित किया है। भगवान् बुद्ध और उनके अनुयायी बौद्धों का यह सुनिश्चित मत है कि बाहरी क्रान्तियों और बाहरी परिवर्तनों से कभी स्थायी सुख एवं शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। जब तक मनुष्य के आभ्यन्तर चित्त में परिवर्तन नहीं होता, वह भीतर से बदल नहीं जाता तब तक स्थायी सुख और शान्ति की आशा करना सम्भव नहीं है। आभ्यन्तर परिवर्तन ही वास्तव में बौद्धधर्म है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। इस प्रकार के परिवर्तन से ही नये एवं सुखी समाज का निर्माण सम्भव है। ऐसे मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ केवल मानवता के आधार पर व्यवहार होगा, न कि धर्म, जाति, राष्ट्र आदि के आधार पर।

इन सारे मानवीय दुःखों एवं अशान्तियों का जो प्रमुख कारण बताया है, वह स्वयं में तृष्णा का होना है। अर्थात् मनुष्य ने अज्ञान के कारण अपना एक कल्पित अस्तित्व खडा कर लिया है और उसे वह स्थायी, निरपेक्ष, अपरिवर्तनीय एवं दृढ समझता है। जबकि हमारा अर्थात् मानव का जीवन प्रतिक्षण नितान्त परिवर्तनशील है और दूसरों पर निर्भर है। अपने अस्तित्व की स्वतंत्रता एवं निरपेक्ष सत्ता मानना ही बौद्ध शब्दावलि में आत्मदृष्टि कहलाती है, जो सारी बुराइयों, उपद्रवों, कलहों, युद्धों एवं मानवीय दुःखों की जडें हैं। अतएव आचार्य चन्द्रकीर्ति ने मध्यमकावतार में कहा है-

सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान्
क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।

---

[१] बो.च. ४/४८

आत्मानमस्या विषयं च ज्ञात्वा
योगी करोत्यात्मनिषेधमेव।।[१]

जब 'स्व' है तो 'पर' भी है। इसी कारण अनेकानेक भेद खडे होते हैं . मेरा धर्म, तुम्हारा धर्म, मेरा ईश्वर, तुम्हारा ईश्वर आदि धार्मिक भेद, जातीय भेद, सामाजिक भेद, राष्ट्रभेद, सिद्धान्त भेद आदि सभी भेद इसी आत्मदृष्टि के कारण हैं। स्व-सत्ता के प्रति इसी आग्रह के कारण स्व और स्वकीय के प्रति स्नेह तथा पर और परकीय के प्रति द्वेष होता है। इन राग-द्वेषों के कारण विविध प्रकार के उपद्रव, अशान्ति आदि दोष उत्पन्न होते हैं। आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कहा है-

यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति, तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते।।
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते।।[२]

माध्यमिकों के अनुसार वस्तुओं की स्वभावतः या स्वतः सत्ता को ग्रहण करने वाली बुद्धि इस मत में आत्मदृष्टि है। यह आत्मदृष्टि एक मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि इस दृष्टि का विषय जो वस्तु की स्वभावसत्ता है, उसका अत्यन्त अभाव है। स्वभावसत्ता का अभाव ही शून्यता है, न कि सबका अभाव, जैसा कि आजकल कुछ लोग शून्यता का अर्थ समझते हैं। नागार्जुन के अनुसार वस्तु की सत्ता काल्पनिक या मनोवैज्ञानिक मात्र है। वस्तु की अपनी ओर से किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं है, न कि उनके अनुसार वस्तु ही नहीं है। सभी धर्मों का निःस्वभाव अस्तित्व तो होता ही है और इसी निःस्वभावता पर आधारित अस्तित्व के आधार पर संसार और निर्वाण की सारी व्यवस्थाएं सुचारु रूप से सम्पन्न होती हैं। इसीलिए आचार्य नागार्जुन ने कहा कि जिस शून्यतावादी माध्यमिक मत में शून्यता है, उसी मत में सारी व्यवस्थाएं युक्तियुक्त सम्पन्न होती है, तथा हि-

सर्वं च युज्यते तस्य शून्यता यस्य युज्यते।
सर्वं न युज्यते तस्य शून्यं यस्य न युज्यते।।[३]

---

[१] मध्यमकावतार, ६/१२०

[२] प्र.वा., प्र.परिच्छेद, का. २१९, २२१ ।

माध्यमिक कहते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद से शाश्वतान्त का निषेध हो जाता है। शून्यता ज्ञान से उच्छेदान्त का निषेध हो जाता है। वस्तु की सत्ता यदि है तो उसे स्वभावशून्य होना अनिवार्य है। अन्यथा अस्तित्व की सम्भावना नहीं रहती है। नहीं तो वह नित्य हो जायेगा।

माध्यमिकों के अनुसार सबकुछ सापेक्ष होना चाहिए। निरपेक्ष होने पर संसार की स्थिति नहीं बन पायेगी। निःस्वभाव है, इसलिए उसकी सत्ता है, अभाव नहीं है। किन्तु वह निःस्वभाव है, अतः वह शून्य है। प्रतीत्यसमुत्पन्न है, परस्पर आश्रित होकर प्रत्ययों से धर्म अस्तित्व में आते हैं। युक्ति के माध्यम से खोजने पर नहीं मिलता है, अन्यथा उसका अस्तित्व होता है। माध्यमिकों के अनुसार निरपेक्ष कोई भी वस्तु नहीं होती अपितु सभी वस्तुएं सापेक्ष होती हैं। उनके अनुसार मध्यम मार्ग का यह अर्थ नहीं है कि वह दो अन्तों से रहित है बल्कि अन्त एवं मध्य कुछ भी नहीं है। ये सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, वही मध्यम मार्ग है, शून्य है। प्रतीत्यसमुत्पन्न होने पर वस्तु निरपेक्ष नहीं होती, अपितु सापेक्ष होती है। सापेक्ष का हेतु भी सापेक्ष ही होना चाहिए। इसीलिए प्रतीत्यसमुत्पाद को युक्तियों का राजा कहा गया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद :

सामान्यतया प्रतीत्यसमुत्पाद एवं प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंग दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार समस्त नित्य, अनित्य, संस्कृत एवं असंस्कृत धर्मों में व्याप्त है तथा द्वितीय प्रकार का प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु प्रत्ययों से समुत्पन्न समस्त संस्कृत धर्मों पर लागू होता है। वस्तुवादी लोग संस्कृत धर्मों को प्रतीत्यसमुत्पन्न मानते हैं किन्तु असंस्कृत धर्मों को नहीं। माध्यमिक सभी धर्मों को प्रतीत्यसमुत्पन्न मानते हैं। अतः सभी धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं और प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण स्वभावेन स्वतंत्र सत्ता से शून्य होते हैं। जैसे- पुष्प आदि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं खाद आदि हेतु प्रत्ययों से पैदा होते हैं। इतने सारे अवयवों की अपेक्षा से पुष्प होता है। इसके अतिरिक्त पुष्प की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती है।

---

[३] म.शा.का. २४/१४

अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादाद् इदमुत्पद्यते। सत्त्व एवं भाजन लोक के सभी सत्त्व एवं पदार्थ अहेतु से उत्पन्न नहीं हैं। हेतु पूर्ण होने पर नित्य कर्त्ता के आश्रय के बिना उत्पन्न होते हैं। हेतु होने के कारण फल उत्पन्न होता है। वह किसी कर्त्ता के अनुसार कार्य नहीं करता है। जैसे- धान के खेत में हेतु प्रत्ययों के पूर्ण होने पर कर्त्ता के चित्ताशय की परवाह किए बिना फल उत्पन्न होता है। यदि पृथ्वी, वायु, जल, खाद आदि पूर्ण न हो तो कर्त्ता की इच्छा होने पर भी फलोत्पाद नहीं होता है। हेतु में भी फलोत्पाद का चित्त नहीं होता है तथा फल की भी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती है और न ही फलोत्पाद के समय फल में कोई ऐसा चित्त होता है कि मैंने आत्मलाभ किया है।

अन्य कोई कहते हैं कि जगत का कर्त्ता ईश्वर है। अतः उनके अनुसार एक अत्यन्त लघु पदार्थ को बनाने में भी ईश्वर का चित्ताशय होना चाहिए। नित्य ईश्वर से अनित्य भावों की उत्पत्ति भी नहीं होती है, नित्य से फलोत्पाद में अन्य की अपेक्षा न होने के कारण सभी के युगपत् उत्पाद का प्रसंग होगा। ईश्वर की इच्छा की अपेक्षा से यदि क्रमशः उत्पाद हो तो इच्छा के ईश्वर से भिन्न होने के कारण सभी के ईश्वर कृत होने में विरोध होगा। यदि ईश्वर से उत्पाद होगा तो सभी का युगपत् उत्पाद होगा। अन्य इच्छा की अपेक्षा से उत्पाद मानने पर अनवस्था प्रसंग होगा। अतएव न विषम हेतु से उत्पत्ति होती है और न ही अहेतु से, अन्यथा या तो सदैव विद्यमानता होगी अथवा सदैव अभाव का प्रसंग होगा।

बौद्धों के अनुसार सभी भावों में अर्थक्रियाकारित्व होता है किन्तु उनके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। जैसे- विभिन्न प्रकार के आकारों वाले भवनों की विद्यमानता के पीछे कर्त्ता का चित्त पूर्वगमन करता है, वैसे ही पर्वत, नदी आदि के आकारों में जो भिन्नताएं हैं, वे हेतु प्रत्ययों के द्वारा उत्पन्न हैं। वे किसी एक नित्य कर्ता के द्वारा बनाए गए नहीं हैं। आकारों का सादृश्य सम्भव है फिर भी, किसी एक साक्षात् कर्त्ता के होने या न होने मात्र का भेद है। जैसे- चींटी अपना घर बनाती हैं और वह कुम्भकार द्वारा निर्मित भाण्ड की भाँति मृद्विकार होता है फिर भी, चींटी के घर(वल्मीक) केवल कुम्भकार के भाण्ड के सदृश होते हैं किन्तु वहाँ एक ही प्रकार का चित्ताशय पूर्व में नहीं रहता है।

यदि जगत के कर्त्ता ने सत्त्व एवं भाजन लोक का निर्माण किया है तो जगत कर्त्ता ईश्वर का निर्माण किसने किया है? यदि उसके लिए पूर्वगामी चेतन की आवश्यकता न हो, तब दूसरी वस्तुओं के लिए भी कर्त्ता ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। अपितु हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा के बिना सर्वशक्तिमान् जगत कर्त्ता किन हेतुओं से उत्पन्न हुआ है? यदि वास्तव में कोई शक्ति है या फिर उसकी करुणा है तो सभी को अच्छा बनाना चाहिए। अन्यथा जैसे-तैसे बना देने से उसका अस्तित्व कैसे मान्य होगा? भविष्य में पुद्गलों के सुख-दुःख कैसे होंगे, क्योंकि यदि वे कर्त्ता पर आश्रित हैं तो हम सिवाय मिट्टी के ढेले के अतिरिक्त नहीं हैं। हममें स्वतंत्रता नहीं है। फिर भी ऐसा नहीं होता है, क्योंकि ये सभी हेतु प्रत्ययों पर आश्रित होते हैं इस कारण पुरुषकार की गुंजाइश है। फिर कहाँ से उत्पत्ति होती है? जैसे मिट्टी और खाद में निगूढ एक दोषरहित बीज जल से सींचे जाने पर हरे-भरे अंकुर के रूप में साक्षात् सिद्ध होता है अर्थात् स्फुरित होता है। उसी तरह अविद्या से आवृत, बलवान कर्म और उसके तृष्णा से सींचे जाने पर पुनः भवरूपी अंकुर साक्षात् सिद्ध होता है अर्थात् स्फुरित होता है। अतएव अविद्या तथा तृष्णा से स्कन्ध सन्तति को भी उत्पन्न जानना चाहिए।

जब यह ज्ञात हो जाए कि वास्तव में जगत का कर्त्ता कोई अन्य नहीं है, तब यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि अपने काय-वाक्-चित्त की क्रियाओं अर्थात् चर्याओं में प्रयत्न करें। इनमें भी चित्त में परिवर्तन करना बौद्धों का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है, क्योंकि यह चित्त बीज की भाँति है। इसलिए एक परिपुष्ट एवं पुष्कल बीज का होना अत्यावश्यक है। इसीलिए तथागत हेयोपादेय धर्मों की देशना करते हैं। बुद्ध स्वयं कहते हैं कि- 'मैंने तुम्हें निर्वाण का मार्ग दिखाया है, तुम्हें मार्ग में स्वयं प्रयत्न करना चाहिए।'[१] आचार्य नागार्जुन ने भी सुहल्लेख[२] में कहा है कि- 'मोक्ष स्वयं अपने आप पर निर्भर है, इसमें किसी दूसरे से कोई भी सहायता नहीं मिलती।' इसलिए श्रवण, शील एवं चिन्तन से युक्त होकर चार आर्य सत्यों के साक्षात्कार में प्रयत्न करें।

---

[१] तुम्हेहि किच्चमातप्पं अक्खातारो तथागता । -धम्मपद, २०/४

[२] सुहल्लेख, ५२ श्लोक; धम्मपद, २५/२१, १२/४

अभिधर्मकोश में भी कहा गया है-

वृत्तस्थः श्रुतचिन्तावान् भावनायां प्रयुज्यते।[१]

बुद्ध वास्तविक शरण हैं, धर्म औषधि के समान हैं जिसका अभ्यास किया जाना है तथा संघ सहायक के रूप में है जो शील आदि विनय के नियमों का पालन कराकर धर्म के अभ्यास को अंजाम देता है।

इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है। अनित्य वस्तु के उत्पाद और नाश से दुःख और सुख होते हैं। नित्य वस्तु से कुछ भी नहीं होते हैं, वह तो निष्क्रिय होती है। कुछ लोग काल को नित्य मानते हैं और उससे जगत् की सृष्टि मानते हैं। जैसे कहा गया है-

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।।[२]

नित्य एक काल से उत्पन्न मानना भी युक्त नहीं है, रूपादि भावों के अतिरिक्त काल अनुपलब्ध होता है। नित्य काल से उत्पन्न भावों का युगपत् उत्पाद एवं विनाश मानने का प्रसंग होता है। काल तो क्रिया एवं कारित्र को आश्रित कर प्रज्ञप्त अथवा व्यवस्थित किया गया है। काल अपने को प्रज्ञापित नहीं करता, बल्कि हमने अपने उपयोग के अनुसार समय को अपना लिया है। जैसे- हम सूरज निकलने पर सुबह एवं अस्त होने पर सायं कहते हैं। हमने समय को बाँट दिया है और उसका अपनी जरूरत के अनुसार व्यवहार करते हैं।

जिस प्रकार हेतु प्रत्यय वस्तु में परिवर्तन करते हैं किन्तु नित्य से परिवर्तन नहीं होता है। ठीक उसी प्रकार नित्य होने के कारण प्रधान(प्रकृति) में परिवर्तन सम्भव नहीं होता है। कोई अपरिवर्तनशील वस्तु किसी अन्य वस्तु का उत्पाद नहीं करती है। यदि उत्पन्न करती भी है तो उससे एक नित्य, अपरिवर्तनशील वस्तु का ही उत्पाद होना चाहिए। काल नित्य हो तो वैसा ही होगा। यदि उत्पाद करे, तो सभी कालों में उत्पाद होना चाहिए तथा एक विषय में उत्पाद होने पर सभी विषयों में भी होना चाहिए।

---

[१] अभि.को. ६/५

[२] प्रसन्नपदाटीका, (उद्धृत), पृ. १६५, बौ,भा.प्र., १९८३ ।

किसी नित्य वस्तु से फल का उत्पाद नहीं होता है बल्कि हेतु के विकार से फल का उत्पाद होता है। अनित्य हेतु से फलोत्पाद होता है। हेतु प्रत्ययों के सामर्थ्य द्वारा फलोत्पाद होता है। सभी भावों के पृथग्-पृथग् हेतु होते हैं। जैसे- आग से धुआँ, आग के उत्पाद से उष्मा होती है। सभी धर्मों का अपना एक असाधारण हेतु होता है। हेतु के परिवर्तित होने पर इसके अनुरूप फल का भी परिवर्तन होता है।

नित्य हेतु किसी भी प्रकार के फल को नहीं देता है। पुष्ट हेतु प्रत्ययों के आश्रय से पुष्कल फलोत्पाद होता है। कर्म एवं क्लेश रूपी हेतु प्रत्ययों से हम संसार में आते हैं। संसार के प्रसंग में हेतु फल की व्यवस्था कही गई है। हेतु समुदय सत्य है अर्थात् पूर्व जन्म के कर्म एवं क्लेश हैं। इसका फल दुःख सत्य है। इनसे निर्वृति का उपाय क्या है? प्रत्येक दुःख के हेतुओं का निषेध करने हेतु निरोध सत्य कहा गया है। उस निरोध सत्य के लिए प्रवृत्त होने के उपाय को मार्गसत्य कहा जाता है। अतः मार्गसत्य निर्वाण प्राप्ति का हेतु है।

प्रारम्भिक हेतु अविद्या है, जो आत्मा की अवास्तविकता को विपरीत रूप से ग्रहण करती है। (कुछ भी ग्रहण न करना अविद्या नहीं है) अनेकविध अविद्याओं में से सम्प्रति आत्मग्राह अविद्या कही जा रही है, जो आत्मा को स्वतंत्र, एक, नित्य समझती है। पाँचों स्कन्ध विनाश स्वभाव वाले हैं, उन्हें आत्मस्वरूप मानकर स्वतंत्र मानना तथा स्कन्धों में आत्मसत्ता देखना सत्कायदृष्टि है। यह विपरीत दर्शन है। कुछ आचार्यों के अनुसार यह भी अविद्या ही है। आत्मा में रूपादि स्वभाव नहीं हैं। आत्मा में रूपादि स्वभाव होने पर उसके अनित्य एवं अनेक होने का प्रसंग हो जाएगा। रूपादि को द्रव्यसत् मानने से आत्मा भी द्रव्यसत् हो जाएगा। आत्मदृष्टि के द्रव्यविषयी हो जाने से प्रतिपक्ष द्वारा उस आत्मदृष्टि बीज का प्रहाण सम्भव नहीं होगा। जैसे मध्यमकावतार में कहा गया है-

स्कन्धा आत्मा चेदतस्तद्बहुत्वात्
आत्मानः स्युस्तेऽपि भूयांस एव।
द्रव्यं चात्मा प्राप्नुयात् तादृशश्च
द्रव्ये वृत्तौ वैपरीत्यं च न स्यात्।।[1]

---

[1] म.अ. ६/१४४

यदि रूपादि स्कन्धों से भिन्न कोई आत्मा है तो या तो वह गोमान् देवदत्त की भाँति रूपादि से सम्बद्ध होगी अथवा चटाई पर बैठे देवदत्त की भाँति रूपादि आधार में स्थित होगी अथवा पृथ्वी पर आश्रित लता आदि की भाँति रूपादि आश्रित होगी।

प्रथम उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा रूपयुक्त नहीं है। जिस प्रकार देवदत्त को गो के स्वामित्व से युक्त कहा गया है, इस अर्थ में कि बैल देवदत्त के वश में है। ठीक उसी प्रकार आत्मा में रूपादि को वश में करने की क्षमता नहीं है, क्योंकि आत्मा के न चाहते हुए भी रूपादि भिन्न-भिन्न भूमियों में परिवर्तित होते हैं तथा उनमें विकार आदि होते दिखाई पडते हैं।

दूसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि चटाई पर बैठे देवदत्त की भाँति रूपादि में आत्मा आश्रित नहीं होती, क्योंकि रूपादि आधार अनित्य होते हैं इसलिए आत्मा भी अनित्य हो जाएगी।

तृतीय पक्ष भी उचित नही है, क्योंकि भूमि पर आश्रित लता आदि की भाँति आत्मा में रूपादि स्कन्ध आश्रित नहीं होते हैं, क्योंकि नित्य आत्मा पर आश्रित रूपादि के नित्य अविनाशी होने का प्रसंग होगा। उनका उत्पाद एवं विनाश यदि आत्मा पर निर्भर हो तो वह भी नहीं है, क्योंकि आत्मा के अभाव में भी बाह्य वस्तुओं के उत्पाद एवं विनाश उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार पाँचों स्कन्धों में प्रत्येक में चार-चार आत्मदृष्टियाँ होने से कुल बीस सत्कायदृष्टि होती हैं।[1] इसीलिए कहा गया है कि-बुद्धिमान् लोग सत्कायदृष्टि का प्रहाण करते हैं।

आत्मसत्ता की वजह से स्वयं को प्रिय ग्रहण करने का आशय तथा आत्मा एवं आत्मीय, स्वयं की प्रधानता एवं अत्यधिक दृढ अभिनिवेश होता है। इस अभिनिवेश से राग, द्वेष एवं अन्य बाधाएं होती हैं तथा स्वयं के प्रिय ग्रहण से स्व एवं पर इन दो भागों में विभाजन होता है। इससे कुशलकर्म के रूप में पुण्यकर्म तथा अकुशलकर्म के रूप में अपुण्यकर्म एवं अमर्यादित कर्मों का संचय होता है। जैसे- पशुबलि को धर्म समझकर किया जाता है किन्तु वह अकुशलकर्म में परिगणित होता है। फलस्वरूप अकुशल कर्मों से अधिक पाप किए जाने पर नरक में गमन होता है।

---

१ तथा हि- रूपं नात्मा रूपवान्नापि चात्मा रूपे नात्मा नात्मनि रूपं ..... । एवं यावत् विज्ञानं नात्मा । विज्ञानवान्नात्मा विज्ञाने नात्मा नात्मनि विज्ञानम् इति । -प्रसन्न. टीका, पृ. १५१, बौ.भा.प्र., १९८३।

मध्यम अकुशल करने वाले प्रेतयोनि में जाते हैं तथा अल्प अकुशल करने वाले तिर्यग् योनि में जाते हैं। इसके विपरीत दशकुशल कर्मों को करने वाले देवयोनि, मध्यम कुशलमूल वाले असुरयोनि में तथा अल्प कुशलमूल वाले मनुष्य योनि में पैदा होते हैं। संक्षेप में अविद्या से राग, द्वेष आदि और तज्जनित कर्म होते हैं। ये दोनों प्रारम्भिक अविद्या हैं। इसके अतिरिक्त भी अनेक क्लेश होते हैं।

कोई भी ऐसा संस्कृत धर्म नहीं है, जिसका उत्पाद हेतु प्रत्ययवश न हो। इसलिए कोई भी धर्म अशून्य नहीं है। सभी धर्म शून्य हैं, अर्थात् निःस्वभाव हैं, क्योंकि यदि भावों की उत्पत्ति स्वभावतया होती है, तो स्वभाव हेतु प्रत्यय निरपेक्ष होने के कारण न उत्पन्न होता है और न उसका उच्छेद होता है। यदि भावों की उत्पत्ति हेतु प्रत्ययवश होती है तो उनका स्वभाव नहीं होता है। इसलिए स्वभाव की कल्पना में अहेतुक होने का दोष होता है और इससे कार्य, कारण, कर्त्ता, क्रिया, उत्पाद, निरोध एवं फल की बाधा होती है। परन्तु जो स्वभाव शून्यतावादी हैं उनके लिए किसी कार्य में बाधा नहीं पहुँचती, क्योंकि जो प्रतीत्यसमुत्पाद है, वही शून्य है अर्थात् स्वभावतः भावों की उत्पत्ति नहीं होती है। चूँकि कोई भी धर्म अप्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं होता है, इसलिए कोई भी धर्म अशून्य नहीं है। जैसे आचार्य नागार्जुन ने मध्यमकशास्त्रकारिका में कहा है-

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा।।
अप्रतीत्यसमुत्पन्नो धर्मः कश्चिन्न विद्यते।
यस्मात्तस्मादशून्यो हि धर्मः कश्चिन्न विद्यते।।[1]

पुनः वही कहा गया है कि- एवं प्रतीत्यसमुत्पादशब्दस्य योऽर्थः, स एव शून्यताशब्दस्यार्थः, न पुनरभावशब्दस्य योऽर्थः स शून्यताशब्दस्यार्थः। अभावशब्दार्थं च शून्यतार्थमित्यध्यारोप्य भवानस्मानुपालभते। तस्माच्छून्यताशब्दार्थमपि न जानाति। अजानानश्च त्वमेवमुपालम्भं कुर्वन् नियतं विहन्यसे।[2]

---

[1] म.शा.का., २४/१८-१९

[2] म.शा.वृ., पृ. २१५, बौ.भा.प्र. १९८३ ।

भगवान् ने अनवतप्तहृदापसंक्रमणसूत्र में कहा हैं-

यः प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो न तस्य उत्पादु स्वभावतोऽस्ति।
यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः।।[१]

शास्त्रों में प्रतीत्यसमुत्पाद को सरल तरीके से बालजनों को समझाने के लिए तथा कुशल एवं अकुशल कर्मो को दर्शाने वाले रूपक का संक्षिप्त भावार्थ इस प्रकार है-

सुअर एक मन्दबुद्धि वाला प्राणि होने से अविद्या (मोह) का प्रतीक है। कबूतर राग का प्रतीक है तथा सर्प द्वेष का प्रतीक है। कृष्णभाग अकुशल कर्म का प्रतीक है जो अधोगति को प्राप्त कराता है। शुक्लभाग कुशल का प्रतीक है जो सुगति को प्राप्त कराता है। अकुशल कर्म के फलस्वरूप नरक, प्रेत, तिर्यग् के अतिरिक्त मनुष्य योनि में भी जन्म होता है। फलतः भोजन के न मिलने से मृत्यु, प्यास एवं बुभुक्षा से मृत्यु, अग्निदाह से मृत्यु आदि मनुष्य जगत में स्पष्ट दिखलाई पडते हैं। पशुओं की भाँति पराधीन होकर अन्य के द्वारा मारने, पीटने, दमन आदि प्रताडना की पीडा मनुष्य गति में भी होती है।

प्रतीत्यसमुत्पादादि विभंगनिर्देशसूत्र में कहा गया है- हे भिक्षुओ! इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है। वह जैसे- अविद्या प्रत्ययों से संस्कार उत्पन्न होते हैं, से लेकर जाति प्रत्ययों से जरा, मरण, शोक, परिदेव दुःख, दौर्मनस्य, उपायास (कलह) उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण महान् दुःखस्कन्ध का समुदय होता है।[२]

---

[१] म.शा.वृ., (उद्धृत) पृ. २१५, बौ.भा.प्र.; म.सू.सं., पृ. ११६, मि.सं., १९६१ ।

[२] भिक्षवः! यदुत अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते। यदुत अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः। संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्। नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्। षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः। स्पर्शप्रत्यया वेदना। वेदनाप्रत्यया तृष्णा। तृष्णाप्रत्ययमुपादानम्। उपादानप्रत्ययो भवः। भवप्रत्यया जातिः। जातिप्रत्यया जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाः संभवन्ति। एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति। ------प्रतीत्यसमुत्पादादिविभंगनिर्देशसूत्रम्, (म.सू.सं.) पृ. ११७; म.शा.वृ., १/२; अभि.को. ३/२०; अ.वि.सू., पृ. १८; बौ.द.मी., पृ. ६० ।

अर्थविनिश्चयसूत्र[1] में कहा गया है- 'उसी प्रकार अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध होता है, से लेकर जाति के निरोध से जरा, मरण, शोक, परिदेव दुःख, दौर्मनस्य एवं कलहों का निरोध होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण महान् दुःखस्कन्ध का निरोध होता है।'

उन स्कन्धों में आत्म-आत्मीय दृष्टिमूलक अविद्या से पुण्य, अपुण्य तथा आनेञ्ज्यकर्म होते हैं। उन कर्मों की वासना से जन्म ग्रहण करने वाला प्रतिसन्धि विज्ञान उत्पन्न होता है। उस विज्ञान से कलल आदि पाँच आवस्थिक स्कन्धों के स्वभाव वाले नाम एवं रूप उत्पन्न होते हैं। वेदना आदि चार स्कन्ध नाम हैं, रूप उनका सहभू, सहजात तथा पश्चाज्जात है। नाम-रूप की वृद्धि से चक्षु आदि छह आभ्यन्तर आयतन होते हैं क्योंकि, उन षड् आयतनों में विषय, इन्द्रिय एवं विज्ञान तीनों के संग्रह से सभी स्पर्श होते हैं। स्पर्श से सुख- दुःख की सभी वेदनाएं होती हैं। वेदना के आधार पर सुख की प्राप्ति की इच्छा तथा दुःख प्रहाण की इच्छा की तृष्णा होती है। तृष्णा से तो सुख-दुःख में हेयोपादेयता को आरम्भ करने वाली तृष्णा की अत्यधिक वृद्धि से उपादान उत्पन्न होता है। उससे पुनर्भव ग्रहण में प्रभावशाली एवं समर्थ कर्म उत्पन्न होने से भव अंग उत्पन्न होता है। उस भव के पश्चात् जाति होती है। जाति के होने पर धातु के परिवर्तन से व्याधि, आयु परिवर्तन से जरा, प्राण परिवर्तन से मरण, काय एवं चित्त पीडित होने से शोक, अभीष्ट खाद्य एवं वस्त्रों के न मिलने आदि से परिदेव दुःख एवं दौर्मनस्य आदि होते हैं। इस प्रकार आत्म तथा आत्मीय से सम्बद्ध अत्यन्त बृहत् दुःखस्कन्ध उत्पन्न होता है।

अविद्या अन्धे व्यक्ति के सदृश है। दण्ड की सहायता से भाण्ड बनाना कर्म (संस्कार) है। विज्ञान चञ्चलता का प्रतीक (चित्त की सूक्ष्म सन्तति) बन्दर की भाँति है। सिद्धार्थ के पिता राजा शुद्धोदन ने बुद्ध से प्रश्न किया कि- यदि आप आत्मा को अनित्य मानते हैं तथा जगत् के कर्त्ता को नहीं मानते हैं तो फिर पुनर्जन्म कैसे होगा?

---

[१] तत्र अविद्यानिरोधात् संस्कारनिरोधः ।
......................जातिनिरोधाज्जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासा निरुध्यन्ते । एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवति । अयमुच्यते प्रतीत्यसमुत्पादो भगवता । -अ.वि.सू. पृ. ५, के.पी.जा.प्र. १९७१ ।

इस पर भगवान् कहते हैं कि जिस प्रकार संसार की अन्य वस्तुएं उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाती है, पुनः उत्पन्न होती है। उसी प्रकार हमारा भी पुनर्जन्म होता है। हेतु प्रत्यय समूह पूर्ण होने चाहिए। विज्ञान बीज की भाँति है जो हेतु प्रत्ययों पर आश्रित है। कोई खट्टी चीज खाता है और उसका स्वाद अन्य को बताता है तो स्वभावतः दूसरे के मुँह में भी पानी आ जाता है। दीप बुझने वाला है और बगल में दूसरा दीप है तो उसे जला दिया जाता है। पहाड से गूँज आती है मगर उसकी प्राप्ति नहीं होती है।

नाम-रूप को स्कन्ध कहते हैं। षडायतन खाली मकान के समान है। अभी उसमें इन्द्रिय उत्पन्न नहीं हुए हैं, होने वाले हैं। विषय, इन्द्रिय एवं विज्ञान के सम्पर्क से स्पर्श होता है। उपरोक्त तीनों से उत्पन्न अच्छी-बुरी वेदनाएं वेदना कहलाती हैं। सुख वेदना में आसक्ति तथा दुःख वेदना के प्रति निरासक्ति (वियोग) की इच्छा तृष्णा है। तृष्णा के विषय का अभिनिवेश के साथ ग्रहण करना उपादान है। वस्तुओं के प्रति तृष्णा होने से व्यक्ति उसे पुनः-पुनः ग्रहण करता है। पुनर्जन्म का प्रधान हेतु भव है। यदि मृत्यु के समय चित्त में संयम करें अथवा धैर्यपूर्वक कुशल चित्तोत्पाद करें तो अच्छा जन्म प्राप्त होगा। मृत्यु होकर पुनः जन्म ग्रहण करना जाति है। जरा बुढापा है। मरण मृत्यु है।

तीन जन्मों में ये बारह प्रतीत्यसमुत्पाद अंग पूर्ण होते हैं। पूर्व जन्म में दो अंग अर्थात् अविद्या एवं संस्कार पूर्ण होते हैं, क्योंकि वे जाति आदि के प्रक्षेपक हैं। इस जन्म में विज्ञान से लेकर भव तक आठ अंग अन्तर्भूत होते हैं, क्योंकि इनमें नाम-रूप से वेदना पर्यन्त विपाक स्वभाव हैं तथा तृष्णा, उपादान एवं भव भी विपाक प्रत्ययों से उत्पन्न होते हैं। अनन्तर जन्मों में जाति, जरा, मरण पूर्ण होते हैं, क्योंकि इस जन्म का अन्त भव है। उस प्रत्यय से जाति सिद्ध होती है तथा जाति प्रत्यय से जरा मरण होता है।

राक्षस भवचक्र को हाथों से पकडे हुए है, यह अनित्यता के द्वारा खाने का दृष्टान्त है अर्थात् सभी धर्म अनित्य हैं। अन्त में सभी की मृत्यु निश्चित रूप से सम्भव है।

सूर्य एवं चन्द्र निर्वाण के दृष्टान्त हैं। क्या सांसारिक दुःखों से मुक्त होने का उपाय है? भगवान् ने कहा कि- हाँ है। सूर्य एवं चन्द्र की भाँति जो स्वयं प्रभास्वर हैं,

वह कैसे मुक्त होंगे? उसके लिए मार्ग की व्यवस्था की गई है। अतः भगवान् ने चार आर्य सत्यों की देशना की है। संसार के स्वरूप को दुःखपूर्ण एवं अनित्य के रूप में चिन्तन करने पर आसक्ति कम हो जाती है तथा सत्त्वों के प्रति मैत्री एवं करुणा उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार संसार का चक्र परस्पर सापेक्ष होने तथा एक के होने से दूसरे के होने से क्रमश निरन्तर घूमता रहता है, जिसका न कोई आदि है और न ही कोई अन्त।

महायान का उद्भव एवं विकास :

भारतीय दर्शनों एवं धर्मों के इतिहास में बौद्धधर्म के उद्भव के साथ ही महायान का प्रादुर्भाव एक ऐतिहासिक घटना है। इसके पूर्व बौद्ध, बौद्धेतर सभी दर्शनों में मोक्ष या निर्वाण ही परम पुरुषार्थ एवं जीवन का लक्ष्य माना जाता रहा है। चार पुरुषार्थ - धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष या दो अभ्युदय एवं निःश्रेयस माने जाते हैं। इनमें मोक्ष या निःश्रेयस ही सर्वश्रेष्ठ हैं। आत्यन्तिक दुःख-विमुक्ति या सुखावाप्ति ही मोक्ष का स्वरूप है। यह मोक्ष नितान्त व्यक्तिगत होता है।

अशोक के समय में बौद्धों में मूर्तिपूजा प्रचलित नहीं थी। बुद्ध का प्रतीक रिक्त आसन, चक्र, कमलपुष्प या चरणपादुका हुआ करता था। स्तूप में बुद्ध की धातु रखकर पूजा किया करते थे। स्वयं अशोक ने बुद्ध की अस्थियों को प्राचीन स्तूपों से निकालकर ८४,००० स्तूपों में बाँटकर चैत्यों का निर्माण करवाया था।

बौद्ध यह नहीं मानते थे कि पूजा करने से बुद्ध वरदान देंगे, क्योंकि बौद्ध कर्मफलवादी हैं। वे मानते थे कि बुद्ध का ध्यान करने से चित्त समाहित और विशुद्ध होगा और साधक अपने को निर्वाण के लिए तैयार करेगा। सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक अपने किए कर्मों का फल भोगता है। किन्तु धीरे-धीरे बौद्धों में प्रतीक एवं प्रतिमाओं की पूजा होने लगी और वे उनसे सुख की प्राप्ति की प्रार्थना करने लगे। ये देव शाक्यमुनि, पूर्वबुद्ध, अनागतबुद्ध, मैत्रेय बोधिसत्त्व आदि हैं। पूर्वविश्वास के अनुसार एक काल में एक साथ दो बुद्ध नहीं होते। महायान में एक काल में अनेक बुद्ध हो सकते हैं, किन्तु एक लोक में अनेक नहीं हो सकते। धीरे-धीरे बुद्धों की संख्या २४ हो गई है किन्तु महायान में हजारों बुद्धों की कल्पना की जाती है। इनके अलग-अलग बुद्ध क्षेत्र हैं, जहाँ इनका आधिपत्य है। इसी प्रकार का एक बुद्धक्षेत्र

सुखावती व्यूह है, जहाँ अमिताभ या अमितायु बुद्ध शासन करते हैं। यहाँ लेश-मात्र भी दुःख नहीं होता है।

महायान बौद्धधर्म लोकपरायण, समाजोन्मुख एवं समस्त सत्त्वों के हित वाला धर्म है। महायान का प्रमुख उद्देश्य प्राणिमात्र को सांसारिक दुःखों से मुक्त कर उन्हें बुद्धत्व प्राप्त कराना है, जिसके लिए वह स्वयं निर्वाण प्राप्त न कर यावत् संसार सत्त्व कल्याण हेतु पुनः पुनः जन्म ग्रहण करता है। वे दूसरों के कल्याण के लिए स्वेच्छया नरक में जन्म ग्रहण करने तथा जन्म जन्मान्तर पर्यन्त संसार में रहने को बुरा नहीं मानता है। वह न लोक के दोषों से दूषित होता है और न संसार को छोडकर निर्वाण में प्रविष्ट होता है, यही अप्रतिष्ठित निर्वाण है और यही उसका परम लक्ष्य है। इस प्रकार प्राणि मात्र को दुःखों से मुक्त करने का संकल्प व्यक्ति के लिए दुःसाध्य होता है। जब स्वयं को दुःख से मुक्त करना भी अत्यन्त कठिन होता है तब समस्त सत्त्वों को दुःखमुक्त करने के बारे में तो कहना ही क्या। इसलिए बोधिसत्त्व अथक परिश्रम से पारमिताओं का अभ्यास कर अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए बुद्धत्व प्राप्त करना चाहता है। बुद्धत्व उसका साध्य नहीं अपितु साधन है। साध्य तो सत्त्वों की दुःखों से मुक्ति है।

इस प्रकार वे बोधिसत्त्व भी कई प्रकार के होते हैं। जैसे- गोपालसदृश बोधिसत्त्व, नाविक सदृश बोधिसत्त्व तथा नृपसदृश बोधिसत्त्व। प्रथम प्रकार का बोधिसत्त्व गोपाल के समान होता है, क्योंकि वह गोपाल की तरह सभी सत्त्वों को पहले बुद्धत्व प्राप्त कराकर अन्त में स्वयं बुद्धत्व प्राप्त करता है। द्वितीय प्रकार का बोधिसत्त्व नाविक की भाँति होता है, क्योंकि वह सभी सत्त्वों के साथ-साथ स्वयं भी बुद्धत्व प्राप्त करता है। किन्तु अन्तिम प्रकार का बोधिसत्त्व तो स्वयं पहले बुद्धत्व प्राप्त कर बाद में अन्य सत्त्वों को बुद्धत्व प्राप्त कराता है। वर्तमान शाक्यमुनि गौतमबुद्ध भी नृपसदृश बोधिसत्त्व के उदाहरण हैं, क्योंकि उन्होंने राजा की भाँति पहले स्वयं बुद्धत्व प्राप्त किया तथा अनन्तर धर्मोपदेश द्वारा सत्त्वों का हित किया।

महायानियों के अनुसार भगवान् द्वारा प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध गोत्रीय विनेय जनों के लिए किया गया, द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्तन के समय राजगृह के गृध्रकूटपर्वत पर प्रज्ञापारमिता सूत्रों की देशना महायानी विनेय जनों के लिए की गई तथा अन्तिम धर्मचक्रप्रवर्तन वैशाली में अतितीक्ष्ण इन्द्रिय वाले विनेय

जनों के लिए की गई। इसी के साथ ही भगवान् ने ऋद्धिबल से एक ही समय में धान्यकटक पर्वत पर वज्रयान का उपदेश भी किया। इस प्रकार बौद्धों में हीनयान एवं महायान की दो परम्पराएं विकसित हुई। महायान हीनयान पिटक को बुद्ध वचन मानता है, किन्तु अन्तिम लक्ष्य नहीं मानता। हीनयानी लोग महायान को बुद्धवचन मानने के पक्ष में नही हैं। हीनयान में श्रावक एवं प्रत्येकबुद्ध का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण या अर्हत् पद प्राप्त करना है, सांसारिक दुःखों से भयभीत होकर स्वयं के दुःखों से मुक्त होने के लिए रागादि मलों का उच्छेद कर क्लेश बन्धन से मुक्त होना है। हीनयान में शील पालन पर अधिक बल दिया जाता है तथा क्लेशों का प्रहाण कर पुद्गल नैरात्म्यज्ञान का अधिगम कर अर्हत् पद प्राप्त किया जाता है। वही महायानी लोग समस्त सत्त्वों के हित, सुख एवं उनके दुःखों को दूर करने के लिए बुद्धत्व प्राप्त करना परम लक्ष्य मानते हैं। इसी कारण जहाँ हीनयान में चार आर्यसत्य एवं अष्टाङ्गिक मार्गों का अभ्यास प्रमुखतया किया जाता है, वहीं बोधिसत्त्व की पारमिता आदि चर्या का विकास हुआ और इस समुदाय का आदर्श अर्हत्त्व न होकर बोधिसत्त्व हुआ, क्योंकि भगवान् बुद्धत्व की प्राप्ति के पूर्व तक बोधिसत्त्व थे। बोधिसत्त्व उसे कहते हैं, जो बुद्धत्व प्राप्ति हेतु सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति चाहता है। जिसमें सम्यग् ज्ञान है, उसी के चित्त में जीवलोक के प्रति करुणा का प्रादुर्भाव हो सकता है। इसे ही महायान कहा जाता है।

महायान में महाकरुणा, बोधिचित्त, पारमिताओं की साधना एवं शून्यता का विशेष महत्त्व है। करुणा भी तीन प्रकार की होती है- सत्त्वालम्बन, धर्मालम्बन एवं निरालम्बन। समस्त सत्त्वों को तीन प्रकार के दुःखों[1] से दुःखी देखकर उन्हें उन दुःखों से मुक्त कराने की अभिलाषा ही करुणा है। बोधिसत्त्व की जो करुणा सत्त्वों एवं उनके दुःखों को आलम्बन बनाती है, वह सत्त्वालम्बन करुणा कहलाती है। परमार्थतः सत्त्वों की वास्तविक सत्ता नहीं होती है, समस्त धर्म निःस्वभाव हैं, इस प्रकार के ज्ञान के अभाव से दुःखी सत्त्वों को उनके दुःखों से मुक्त करने के लिए भावना के द्वारा विकसित करुणा धर्मालम्बन करुणा कहलाती है। वास्तव में, न सत्त्वों की वास्तविक सत्ता होती है और न ही उनके दुःखों की वास्तविक सत्ता

---

[1] दुःखदुःखता, विपरिणामदुःखता, संस्कारदुःखता ।

अर्थात् सभी सत्त्व एवं उनके दुःख भी निःस्वभाव होते हैं। इस प्रकार का शून्यता ज्ञान होते हुए भी करुणावश बुद्ध एवं बोधिसत्त्व दुःखी सत्त्वों के दुःख को दूर करने का प्रयास करते हैं, जो निरालम्बन करुणा कहलाती है।

बोधिचित्त के उत्पाद के साथ ही व्यक्ति महायानी और बोधिसत्त्व कहलाने लगता है अर्थात् समस्त सत्त्वों को दुःख से मुक्त करने के लिए तथा परार्थ के लिए मैं बुद्धत्व प्राप्त करुंगा ऐसी उत्कट अभिलाषा बोधिचित्त कहलाती है। प्रणिधि और प्रस्थान के भेद से बोधिचित्त भी द्विविध होता है।[१] यहाँ बुद्धत्व साधन तथा सभी सत्त्वों को दुःखों से मुक्त करना साध्य है।

सामान्यतया दस पारमिताएं होती हैं, किन्तु उनका छह में समावेश कर लिया जाता है। अधिकांश बौद्ध ग्रन्थों में छह पारमिताओं की ही चर्चा होती है। इनमें से प्रथम पाँच पारमिताएं उपाय अथवा करुणा कहलाती हैं जो पुण्य सम्भार को संचय कराने वाली होती हैं। छठी पारमिता प्रज्ञापारमिता है, जिसे प्रज्ञा कहा जाता है तथा यह ज्ञान सम्भार का संचय कराती है। प्रज्ञा एवं करुणा या उपाय ये दोनों बुद्धत्व प्राप्ति के उत्तम उपाय हैं। पराकाष्ठा प्राप्त प्रज्ञा एवं उपाय की युगनद्ध अवस्था ही बुद्धत्व कहलाती है।

सभी धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं जैसा कि पहले कहा जा चुका है। धर्म अपने अस्तित्व के लिए अन्य हेतु प्रत्ययों पर अपेक्षित हैं अर्थात् उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वे आत्मनिर्भर नहीं हैं, वे सापेक्ष हैं। परनिरपेक्ष होना या आत्मनिर्भर नहीं होना ही उनकी प्रकृति है और यही शून्यता है। यह शून्यता सभी धर्मों का धर्म है। इसे ही भूतकोटि, धर्मता, तथता, एवं परमार्थ सत्य कहा जाता है। इसका साक्षात्कार प्रज्ञा द्वारा होता है। प्रज्ञा भी तीन प्रकार की होती है- श्रुतमयी प्रज्ञा, चिन्तामयी प्रज्ञा एवं भावनामयी प्रज्ञा। भावना के प्रकर्ष पर शून्यता का साक्षात्कार होता है, जिसे दर्शन मार्ग कहते हैं। यही साधक पृथग्जन से आर्य होकर महायान की प्रथम भूमि में प्रविष्ट हो जाता है। दर्शनमार्ग द्वारा दृष्ट तत्त्व की पुनः पुनः भावना की जाती है, जिसे भावनामार्ग कहते हैं। इस मार्ग से साधक महायान की दशम भूमि पर्यन्त गमन

---

[१] तद्बोधिचित्तं द्विविधं विज्ञातव्यं समासतः ।
बोधिप्रणिधिचित्तं च बोधिप्रस्थानमेव च ।। --बो.च. १:१५ कारिका ।

करता है। दसवीं भूमि के अन्त में वज्रोपम समाधि प्राप्त होती है, जिससे अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञेयावरण का भी प्रहाण हो जाता है और यही अशैक्षमार्ग कहलाता है, जिसके दूसरे क्षण में बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।

सुहृल्लेख एवं व्यक्तपदा टीका :

बौद्धधर्म का भारत से विलोप के साथ-साथ उसके मौलिक संस्कृत ग्रन्थ भी भारत से धीरे-धीरे या तो विलुप्त हो गए अथवा उन्हें नष्ट कर दिया गया और सदियों तक भारत में बौद्धधर्म का पुनरुद्धार या पुनर्जागरण नहीं किया जा सका। यही वजह थी कि बौद्धधर्म एवं दर्शन के ग्रन्थों की अनुपलब्धता से अपनी ही मातृभूमि भारत में कुछ हिमालयीय क्षेत्रों को छोडकर इसका अध्ययन-अध्यापन समाप्त प्रायः हो गया था। बीसवीं सदी में राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत की तीन बार यात्रा की तथा वहाँ के तिब्बती मठों से हजारों की संख्या में संस्कृत एवं तिब्बती पाण्डुलिपियाँ भारत ले आये और उन्हें विहार रिसर्च इन्सटीच्यूट एवं जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट में जमा कर दिया। उनमें से कुछ ग्रन्थों का दरभंगा स्थित मिथिला इन्सटीच्यूट ने प्रकाशन किया। इसके अतिरिक्त डा. विदुशेखर भट्टाचार्य, श्री बी. एम. बरुआ, डा. शरत्चन्द्रदास, डा. आर. एल. मित्र, प्रो. बाग्ची, पी.एल. वैद्य, एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, प्रो. डी. डी. कौसाम्बी, आचार्य नरेन्द्रदेव सहित कुछ भारतीय मूल के विद्वानों ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया।

इसी प्रकार आचार्य नागार्जुन कृत सुहृल्लेख एवं उसकी आचार्य महामति कृत व्यक्तपदा-टीका ग्रन्थ का संस्कृत मूल भी सम्प्रति यावत् अप्राप्त है। किन्तु तिब्बत में इस ग्रन्थ का अनुवाद न केवल बहुत पूर्व हो चुका था बल्कि वहाँ इसके अध्ययन का प्रचलन भी बहुत अधिक रहा। विशेषकर शास्त्रों का अध्ययन न करने वाले गृहस्थ एवं सरकारी अधिकारियों में यह काफी लोकप्रिय रहा है। इसी कारण तिब्बत में सभी सम्प्रदायों के अनेकों भोट विद्वानों ने इस ग्रन्थ पर टीका-टिप्पणियाँ लिखी हैं। जबकि भारतीय आचार्यों की एकमात्र टीका आचार्य महामति की सुहृल्लेख-व्यक्तपदाटीका के नाम से उपलब्ध होती है। जैसे उपर कहा जा चुका है कि ग्रन्थ एवं उसकी टीका का संस्कृत मूल प्राप्त नहीं होता है किन्तु इनका अनुवाद तिब्बती भाषा में प्राप्त होता है, जो तिब्बती तनग्युर संग्रह के लेखवर्ग में क्रमसंख्या ४१८२ तथा

४१९०, ङे पुट में विद्यमान है। इस ग्रन्थ एवं टीका का तिब्बती अनुवाद आठवीं शताब्दी के भारतीय विद्वान् सर्वज्ञदेव एवं प्रसिद्ध भोट अनुवादक भन्ते पलचेग ने किया था। आचार्य सर्वज्ञदेव के बारे में ज्यादा कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि वे आठवीं शताब्दी में भोट नरेश ठ्रिसोङ् देउचन के शासनकाल में भारत से आमन्त्रित किये गये थे, क्योंकि भोट अनुवादक कावा पलचेग का काल भी वही है।

इस ग्रन्थ में १२३ आर्यागीति नामक छन्द के श्लोक हैं, जिन्हें पत्र के रूप में आचार्य ने तत्कालीन दक्षिण के भारतीय राजा सातवाहन गौतमीपुत्र को सम्बोधित कर लिखा है। प्राचीन काल में गुरु, शिष्य एवं मित्रों के मध्य परस्पर पत्र व्यवहार से गम्भीर धार्मिक चर्चा की जाती थी, जिसका एक ज्वलन्त उदाहरण स्वयं सुहल्लेख है। इस प्रकार के अनेकों लेख भोट तनग्युर संग्रह में उपलब्ध होते हैं। ये लेख वर्तमान पत्र व्यवहार से सर्वथा भिन्न तथा महत्त्वपूर्ण धार्मिक चर्या विशेष पर आधारित हैं।

स्वयं ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य ने राजा को सम्बोधित करते हुए संक्षिप्त पत्र के रूप में उपदेश का कारण बताते हुए कहा है कि राजा तो प्रजा की देख-रेख में कार्य की बहुलता से अनेक ग्रन्थों को धारण करने में असमर्थ होता है। अतएव शब्दबाहुल्य के दोष का परिहार कर कतिपय श्लोकों की रचना करुंगा। इतना ही नहीं, उन्होंने इस अत्यन्त लघु ग्रन्थ के माध्यम से न केवल समस्त बौद्ध धर्म के सिद्धान्त का संक्षेप में उपदेश किया है बल्कि राजा को बताया कि अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के अविपरीत उपाय की सम्भावना बुद्धशासन के अतिरिक्त किसी अन्य में नहीं है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रधानतः गृहस्थों को बौद्धधर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा दी गई है। पश्चात् गृहस्थों एवं प्रव्रजितों दोनों के अभ्युदय एवं निःश्रेयस के प्रतिपादन हेतु उपदेश दिया गया है। अनन्तर सांसारिक दोषों से खिन्न होना तथा निर्वाण लाभ हेतु मार्ग की प्रतिपत्ति की देशना भी की गई है।

ग्रन्थ एवं टीका का काल :

सुहृल्लेख की रचना आचार्य नागार्जुन ने अपने जीवन के उत्तरार्ध में की तथा यह भी सुनिश्चित है कि यह ग्रन्थ सातवाहन राजा गौतमीपुत्र को सम्बोधित करके लिखा गया। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार सातवाहन राजवंश में कई राजा हुए। उनमें से आचार्य का मित्र प्रथम, द्वितीय या तृतीय अथवा अन्तिम कौन सा राजा था, इसके बारे में निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। सभी विद्वानों ने आचार्य के सुहृद् को सातवाहन राजा के नाम से या फिर सातवाहन राजा गौतमीपुत्र के नाम से उल्लिखित किया है। भोट इतिहासकारों के अनुसार सातवाहन वंश का प्रथम राजा ही आचार्य का मित्र था। तदनुसार इस ग्रन्थ की रचना का काल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का अन्त अथवा प्रथम शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाना चाहिए। किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि आचार्य ने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में दक्षिण से कुरुप्रदेश की ओर प्रस्थान करते समय मार्ग में साातवाहन राजा की भविष्यवाणी की थी। तत्पश्चात् कुरुप्रदेश से वापस आकर ही इस ग्रन्थ की रचना की थी। बुद्ध के परिनिर्वाण के चार सौ साल बाद आचार्य के प्रादुर्भाव की भविष्यवाणी के अनुसार तथा आचार्य के जीवन के अन्तिम अवस्था में रचना-काल होने के कारण यह गणना सही प्रतीत नहीं होती है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सातवाहन राजवंश द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से प्रारम्भ होकर कुछ समय पश्चात् प्रथम शताब्दी ईसवी सन् में प्रायः प्रभावहीन हो चुका था। राजा की कोई मान्यता या स्थिति नहीं रह गई थी। द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में सातवाहन गौतमीपुत्र एक योग्य एवं वीर सेनापति के रूप में उभरा और उसने अपनी शक्ति को एकत्र करके राज्य की सीमा को बढाया। अपने पूर्वजों द्वारा युद्ध में हारी हुई भूमि को जीता औंर पूर्व से पश्चिमी समुद्र तक राज्य का विस्तार किया। यह सातवाहन राजा गौतमीपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो उस वंश का सबसे शक्तिशाली राजा माना जाता है। कहा जाता है कि उसके शासनकाल में उसके घोडों ने तीन समुद्र का पानी पिया। बौद्धधर्म के प्रति इस राजा का झुकाव था। नासिक से प्राप्त अभिलेखों से पता चलता है कि उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के लिए भूमि दान आदि

कार्य किये।[1] इतिहास के अनुसार इन्होंने १०६ ई. सन् से १३० ई. सन् पर्यन्त राज्य किया। भविष्यवाणी के अनुसार आचार्य का प्रादुर्भाव भगवान् बुद्ध के चार सौ साल बाद हुआ जो ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है। मान्यताओं के अनुसार वे तीन सौ वर्षों तक जीवित रहे। इस प्रकार द्वितीय शताब्दी ई. सन् के प्रारम्भ में आचार्य अपने जीवन के उत्तरार्ध में थे। यही समय सभी मान्यताओं की दृष्टि से उचित प्रतीत होता है और ग्रन्थ की रचना के काल को निर्धारण करने में सहायक होता है। उपर्युक्त बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में लगभग ११० ई. सन् के आस-पास की है।

आचार्य नागार्जुन ने इस ग्रन्थ के अतिरिक्त रत्नावलि नामक ग्रन्थ की रचना भी इसी सातवाहन राजा को सम्बोधित करते हुए की है। इन दोनों ग्रन्थों में किस ग्रन्थ की रचना पहले हुई, ऐसा कोई क्रम स्पष्ट नहीं है। फिर भी ऐसा माना जा सकता है कि पहले संक्षेप में सुहल्लेख की रचना की गई होगी और पश्चात् विस्तृत रूप में रत्नावलि की रचना की होगी। ऐसा विचार करने में कोई दोष भी नहीं है, क्योंकि दोनों ग्रन्थों के विषयों में समानता पाई जाती है। जिन विषयों का संक्षेप में सुहल्लेख में वर्णन किया गया है, उनका विस्तारपूर्वक रत्नावलि में वर्णन किया गया है।

ग्रन्थ की व्यक्तपदाटीका की रचना आचार्य महामति ने की है, जिनके बारे में बौद्ध धर्म के इतिहास में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। अतः इनके बारे में कुछ ठीक-ठीक कहना सम्भव नहीं है। लेकिन हम आचार्य की रचना के आधार पर कुछ कहने की चेष्टा करेंगे। आचार्य की इस व्यक्तपदा-टीका में भगवान् के वचनों का ही उद्धरण दिया गया है, जबकि पश्चात्वर्ती भारतीय विद्वानों तथा भोट-टीकाकारों ने बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय, मध्यमकावतार आदि अनेकों ग्रन्थों से प्रचुर मात्रा में उद्धरण प्रस्तुत किया है। अतः ऐसा लगता है कि ये आचार्य नागार्जुन के समकालीन नहीं थे तो बहुत बाद के भी नहीं थे। इन परिस्थितियों में आचार्य के काल का निर्णय अत्यन्त दुःसाध्य कार्य है। विद्वानों को इस विषय में गवेषणा करनी चाहिए।

---

[1] सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों के अभिलेख, डाक्ट. वा.पी.मिराशी, पृ. २५ ।

आचार्य नागार्जुन का काल निर्णय :

सुहृल्लेख के रचनाकार आचार्य नागार्जुन ही है, इसमें कोई मतभेद नहीं है। किन्तु आचार्य नागार्जुन कब हुए? उनकी कौन-कौन सी रचनाएं हैं? उन्होंने क्या-क्या कृत्य किए? ये सारी बातें विवादास्पद हैं। चीन में अनूदित आचार्य की जीवनी, तिब्बत में अनूदित जीवनी, भारत में प्राप्त जीवनी तथा आजकल के पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा लिखी गई जीवनियों में काफी अन्तर है। विस्तार के भय से इनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है। किन्तु भोट पाण्डुलिपि में प्राप्त आचार्य की विस्तृत जीवनी आगे दी जा रही है।

संक्षेप में भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के चार सौ साल के बाद आचार्य नागार्जुन का प्रादुर्भाव सभी तिब्बती विद्वान् एक स्वर से स्वीकार करते हैं। चौरासी सिद्धों की जीवनी में तथा बुस्तोन, तारानाथ, सुमपा खनपो एवं अन्य तिब्बती इतिहासकारों में आचार्य के बारे में अनेक मतभेद हैं। फिर भी लंकावतारसूत्र में उल्लिखित व्याकरण को सभी स्वीकार करते हैं। षड् युक्तिवर्ग, स्तुतिवर्ग, कथावर्ग एवं पञ्चक्रम आदि तंत्र शास्त्रों के रचियता एक ही नागार्जुन हैं- ऐसी तिब्बती विद्वानों की मान्यता है। तिब्बती विद्वान् इसके अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेदशास्त्र, प्रज्ञादण्ड एवं प्रज्ञाशतक के रचनाकार आचार्य नागार्जुन को भी माध्यमिकनय के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन ही मानते हैं।

इस प्रकार भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के चार सौ साल बाद प्रादुर्भूत आचार्य नागार्जुन एवं उपर्युक्त युक्तिवर्ग, कथावर्ग, स्तुतिवर्ग, तंत्र, ज्योतिष एवं आयुर्वेद ग्रन्थों के रचियता आचार्य नागार्जुन एक ही व्यक्ति थे, ऐसी तिब्बती विद्वानों की मान्यता है।

आधुनिक विद्वान् माध्यमिक युक्तिवर्ग के रचनाकार आचार्य नागार्जुन तथा तंत्र ग्रन्थों के रचियता नागार्जुन को एक व्यक्ति नहीं मानते हैं। तंत्र ग्रन्थों के रचनाकार नागार्जुन को आयुर्वेदशास्त्र एवं ज्योतिषशास्त्र के रचियता नागार्जुन से भी भिन्न मानते हैं। इस प्रकार वे तीन नागार्जुन की कल्पना करते हैं। प्रज्ञाशतक एवं प्रज्ञादण्ड के रचियता नागार्जुन तथा माध्यमिक युक्तिवर्ग के रचियता नागार्जुन को प्रायः सभी आधुनिक विद्वान् एक व्यक्ति मानते हैं। जो विद्वान् तीन नागार्जुन मानते हैं, उनके

अनुसार माध्यमिक नागार्जुन, आयुर्वेद के पुरस्कर्ता नागार्जुन तथा तंत्रशास्त्र के प्रणेता नागार्जुन तीन व्यक्ति हैं।

आचार्य कितने वर्षों तक जीवित रहे, इसके बारे में भी अनेकों मतभेद हैं। फिर भी अधिकांश तिब्बती विद्वानों के अनुसार वे छह सौ साल पर्यन्त जीवित रहे। भोट इतिहासकार तारानाथ के अनुसार छह सौ साल की गणना दिन-रात की पृथक् गणना करके की गई है। इस प्रकार उन्हें तीन सौ साल तक जीवित माना जाता है। इन विद्वानों का मानना है कि आचार्य जीवन के प्रारम्भ में जम्बूद्वीप में रहे, मध्य में नागलोक में गये तथा पुनः वापस जम्बूद्वीप में लौट आए और जीवन के उत्तरार्ध में उत्तरकुरु प्रदेश में जाकर सत्त्वों का कल्याण किया। वहाँ से पुनः जम्बूद्वीप लौट आए तथा जीवन के अन्तिम क्षणों में दक्षिण के श्रीपर्वत पर रहे।

तिब्बती इतिहास से प्राप्त जीवनी के अनुसार आचार्य निरन्तर जीवन पर्यन्त जम्बूद्वीप में नहीं रहे, किन्तु उनके जम्बूद्वीप में निवास का क्रम बार-बार दिखलाई पडता है। शायद इसी वजह से आधुनिक विद्वानों में तीन अथवा दो नागार्जुन की धारणा दिखलाई पडती है।

तिब्बती विद्वान् उपर्युक्त समस्त ग्रन्थों के रचियता आचार्य नागार्जुन को एक ही व्यक्ति मानने के लिए आर्यदेव एवं आचार्य चन्द्रकीर्ति को आधार मानते हैं। इन दोनों आचार्यों ने न केवल आचार्य नागार्जुन के तंत्र एवं माध्यमिक ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी हैं, बल्कि कथावर्ग आदि अन्य ग्रन्थों की टीकाएं भी लिखी हैं। इन दोनों ही आचार्यों ने तन्त्र ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य नागार्जुन, माध्यमिकनय के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन एवं आयुर्वेद शास्त्र के प्रणेता आचार्य नागार्जुन, सभी को एक ही व्यक्ति माना है। अतएव तिब्बती विद्वानों ने भी इन आचार्यों का अनुसरण करते हुए इन सभी नागार्जुनों को एक ही व्यक्ति स्वीकार किया है।

भविष्यवाणी के अनुसार आचार्य को भगवान् के परिनिर्वाण के चार सौ साल बाद ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी का मानना पडेगा। एक ओर भोट इतिहासकार सातवाहनवंश के प्रथम राजा को ही आचार्य के समकालीन मानते है, जो राजा भारतीय इतिहास के अनुसार ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में मान्य है। किन्तु दूसरी ओर, तिब्बती विद्वान् यह भी मानते हैं कि आचार्य ने अपने जीवन के उत्तरार्ध में दक्षिण से उत्तरकुरु प्रदेश की ओर यात्रा करते समय मार्ग में एक बालक के लिए

भविष्यवाणी की थी, जो बाद में सातवाहन राजा गौतमीपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसका काल ईसवी सन् द्वितीय शताब्दी का प्रारम्भ है। इतिहास से पता चलता है कि सातवाहनवंश प्रथम शताब्दी ईसवी सन् में प्रायः प्रभावहीन हो चुका था। राजा की कोई सार्वजनिक मान्यता या स्थिति नहीं रह गई थी। द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में सातवाहन गौतमीपुत्र एक योग्य सेनापति के रूप में उभरा और उसने अपनी शक्ति को एकत्रित करके पश्चिमी समुद्र तक राज्य का विस्तार किया। यह सातवाहनवंश का सबसे शक्तिशाली राजा माना गया। इस आधार पर ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि गौतमीपुत्र शातकर्णी ही वह सातवाहन राजा था, जिसकी आचार्य से मित्रता थी।

आचार्य कितने वर्षों तक जीवित रहे इस पर तिब्बती विद्वानों में दो मान्ताएं हैं- प्रथम के अनुसार वे २७१ वर्ष तक जीवित रहे। दूसरे लोगों का मानना है कि वे २२९ वर्ष तक जीवित रहे। तिब्बती इतिहासकार यह भी मानते हैं कि आचार्य एवं उनके मित्र सातवाहन की मृत्यु एक समय में हुई।

इतिहासकारों के अनुसार सातवाहन राजा गौतमीपुत्र ने १०६ ईसवी सन् से १३० ईसवी सन् तक राज्य किया।[१] तदनुसार १३० ई. के आसपास आचार्य को कम से कम दूसरी मान्यता के अनुसार २२९ वर्ष का होना चाहिए। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्य का प्रादुर्भाव ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ होगा, जो भगवान् बुद्ध द्वारा लंकारवतार एवं मञ्जुश्रीमूलकल्प के व्याकरण को भी सिद्ध करता है।

नागार्जुन का दर्शन :

जम्बूद्वीप से लुप्त हो चुके भगवान् के वचनों का संग्रह प्रज्ञापारमितासूत्र, जो नागलोक में विद्यमान था, उसे प्राप्त करने के लिए आचार्य नागार्जुन को नागलोक की यात्रा करनी पडी। इसके लिए उन्हें विष के असर को समाप्त करने वाली विद्या सीखनी पडी तथा बारह वर्षों तक नागलोक में धर्मोपदेश करना पडा। आचार्य द्वारा लाए गए इन सूत्रों की बुद्धवचनता सिद्ध करने के लिए उन्हें मूलमध्यमककारिका,

---

[१] सातवाहनों और पश्चिमी क्षत्रपों के अभिलेख, डाह्न. वा. पि. मिराशी ।

विग्रहव्यावर्तनी, शून्यता-सप्तति आदि ग्रन्थों की रचना करनी पडी, जिसके द्वारा आचार्य ने अपनी प्रौढ तार्किक शक्ति, अलौकिक प्रतिभा तथा असाधारण पाण्डित्य का पूर्ण परिचय दिया है। इस जगत् की समस्त धारणाओं को तर्क की कसौटी पर कस कर निराधार तथा निर्मूल उद्घोषित करना आचार्य नागार्जुन का ही कार्य था। आचार्य के शिष्य आचार्य आर्यदेव ने अपने गुरु के भाव को स्पष्ट करने के लिए चतुःशतक नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना कर शून्यता के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया। पश्चात् दोनों आचार्यों के ग्रन्थों पर आचार्य चन्द्रकीर्ति ने इसकी वृत्ति एवं टीका की रचना कर इस सिद्धान्त को चरम शिखर तक पहुँचा कर माध्यमिक दर्शन को और पुष्ट किया। यही से माध्यमिक दर्शन की नींव पडी। वैसे शून्यता प्रज्ञापारमिता, रत्नकरण्ड आदि सूत्रों में उपलब्ध होने के कारण प्राचीन है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। परन्तु प्रमाणों के द्वारा शून्यता सिद्धान्त को प्रमाणित करने का सारा श्रेय आर्य नागार्जुन को है। आचार्य ने समस्त बुद्ध वचनों का प्रतिपाद्य अथवा पारमार्थिक अभिधेय शून्यता को ही निरूपित किया, जो समस्त प्रज्ञापारमिता सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय है। उन्होंने प्रज्ञापारमितासूत्रों के अतिरिक्त अन्य नानाविध सूत्रों के अन्तिम प्रतिपाद्य को भी शून्यता के अर्थ में ही प्रतिपादित किया। इस तरह उन्होंने सूत्रों का नेयार्थ एवं नीतार्थ में सर्वप्रथम विभाजन किया। कहने का तात्पर्य यह है कि जो विनेयजन तत्क्षण शून्यता के पात्र नहीं हैं, वे इतने कठिन प्रतिपाद्य विषय से उद्विग्न एवं भयभीत न हो, इसके लिए उपायकुशल भगवान् बुद्ध ने अन्य नाना प्रकार से सूत्रों की देशना की। ऐसे सूत्रों की देशना का उद्देश्य भी अन्ततोगत्वा उन विनेयजनों को इसके लिए प्रेरित करना है।

बौद्धों को ही अनात्मवादी कहा जाता है। आचार्य नागार्जुन ने अनात्मवाद के आधार पर ही बन्ध-मोक्ष, संसार-निर्वाण, मार्ग एवं फल आदि की समस्त लौकिक एवं आध्यात्मिक व्यवस्थाएं असाधारण रूप में सम्पन्न की हैं। नागार्जुन का माध्यमिक दर्शन उस अनात्मवादी दर्शन परम्परा का उत्कर्ष बिन्दु है। इतना ही नहीं, आचार्य ने सूत्र एवं शास्त्रप्रमाण से निरपेक्ष होकर अस्तित्व की जैसी सूक्ष्म, गम्भीर तथा असाधारण व्याख्या की है, वह सम्प्रति यावत् विश्व के दार्शनिक जगत में अद्वितीय है, जिसने समस्त अन्य अस्तित्ववादी दार्शनिकों को नये सिरे से सोचने पर विवश

कर दिया। आचार्य के इस प्रकार के सिद्धान्त ने भारतीय दर्शनों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

वस्तुतः नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन के सम्यग् ज्ञान के लिए शून्यता और प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को जानना परम आवश्यक है। शून्यता निषेध पक्ष है तो प्रतीत्यसमुत्पाद साधनपक्ष। प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर माध्यमिक सारी व्यवस्थाएं सुचारु रूप से सम्पादित करते हैं। शून्यता की स्थापना प्रतीत्यसमुत्पाद पर तथा प्रतीत्यसमुत्पाद की स्थापना शून्यता पर निर्भर है। फलतः माध्यमिक पक्ष में कोई भी प्रतिज्ञा न होने से किसी दोष की सम्भावना नहीं है। स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं प्रासंगिक माध्यमिक में कुछ भिन्नताएँ अवश्य हैं किन्तु शून्यता एवं प्रतीत्यसमुत्पाद की मान्यता दोनों में विद्यमान है। आचार्य स्वयं अपनी रचना विग्रहव्यावर्तनी में शून्यता के माहात्म्य को बतलाते हुए कहते हैं कि-

प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
प्रभवति न तस्य किंचित् न भवति शून्यता यस्य।।[१]

इसकी व्याख्या में आचार्य ने कहा है कि- जो शून्यता को समझता है, वह प्रतीत्यसमुत्पाद[२] को समझ सकता है, प्रतीत्यसमुत्पाद को समझने वाला चारों आर्यसत्यों को समझ सकता है। चारों सत्यों के समझने पर उसे निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। प्रतीत्यसमुत्पाद जानने वाला यह जान सकता है कि क्या धर्म है, क्या धर्म का हेतु और क्या धर्म का फल है। वह जान सकता है कि अधर्म, अधर्महेतु, अधर्मफल क्या हैं। क्लेश, क्लेशहेतु, क्लेश-वस्तु क्या है। जिसे ये सब मालूम है, वह सुगति एवं दुर्गति को भी जानते हुए उनसे निकलने का उपाय भी जान सकता है।

नागार्जुन के अनुसार वस्तु की परमार्थतः सत्ता एक शाश्वत अन्त है तथा व्यवहारतः असत्ता दूसरा उच्छेदान्त है। इन दोनों का परिहार कर वे अपना अनूठा मध्यममार्ग प्रकाशित करते हैं। उनके अनुसार परमार्थतः भाव नहीं है और संवृतितः

---

[१] -विग्रहव्यावर्तनी, ७१वीं कारिका ।

[२] इह हि यः प्रतीत्य भावानां भावः सा शून्यता । कस्मात् ? निःस्वभावत्वात् । ये हि प्रतीत्यसमुत्पन्ना भावास्ते न सस्वभावा भवन्ति स्वभावाभावात् । कस्माद् ? हेतुप्रत्ययापेक्षत्वात् । यदि हि स्वभावतो भावा भवेयुः । प्रत्याख्यायापि हेतुप्रत्ययं भवेयुः । -विग्रहव्यावर्त्तनी, पृ. २२ ।

या व्यवहारतः अभाव भी नहीं है।[१] यही नागार्जुन का मध्यममार्ग है। आचार्य द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद की विशिष्ट व्याख्या के आधार पर भी मध्यममार्ग की व्यवस्था की गई है। वे प्रतीत्य शब्द द्वारा शाश्वतान्त तथा समुत्पाद शब्द के द्वारा उच्छेदान्त का परिहार करते हैं। यद्यपि सभी बौद्ध दार्शनिक प्रस्थानों ने इसका जीवन के प्रत्यके क्षेत्र में व्यापक प्रयोग किया है। शील के क्षेत्र में अतिशय भोग-विलासिता एक अन्त है तो अतिशय कष्टदायक तपश्चर्या दूसरा अन्त है। समाधि में वीणा की तार की उपमा देते हुए भगवान् ने कहा कि- वीणा के तारों को न अत्यधिक ढीला रखो और न ही अत्यधिक कसो। इसी प्रकार समाधि के समय भी अत्यधिक उद्वेग एवं शिथिलता का परिहार करना चाहिए। प्रज्ञा के क्षेत्र में भी शाश्वत दृष्टि एवं उच्छेददृष्टि का परिवर्जन कहा गया है। दोनो अन्तों का परिहार कर अन्तद्वयरहित शून्यता को भी यदि एक पक्ष या एक अन्त बना लिया जाता है, तो आचार्य कहते हैं कि शून्यतादृष्टि वाले ऐसे व्यक्ति का वास्तविक कल्याण असम्भव है। स्वयं आचार्य ने मूलमाध्यमिककारिका में कहा है-

शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे।।[२]

इसलिए आचार्य कहते हैं कि पण्डितों को दोनों अन्तों के मध्य में कहीं सद् दृष्टि नहीं रखनी चाहिए।[३] आर्यकात्यायनाववादसूत्र में कहा गया है- अस्तीति, काश्यप, अयमेकोऽन्तः। नास्तीति, काश्यप, अयमेकोऽन्तः। यदनयोरन्तयोर्मध्यम्, तदरूप्यमनिदर्शनमप्रतिष्ठमनाभासमनिकेतम् अविज्ञप्तिकम्। इयमुच्यते, काश्यप, मध्यमा प्रतिपद् भूतप्रत्यवेक्षा इति। तथा-

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता।
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा मध्येऽपि स्थानं न करोति पण्डितः।।[४]

---

[१] अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम् ।
तस्माद् अस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः ।। -मू.म.का., १५/१० ।

[२] मूलमाद्यमिककारिका, १३/८का. ।

[३] कात्यायनाववादे चास्तीति नास्तीति चोभयम् ।
प्रतिषिद्धं भगवता भावाभावविभाविना ।। -मूलमाध्यमिकाकारिका, १५/७ का. ।

[४] आर्यकात्यायनाववादसूत्र, प्रसन्नपदा में उद्धृत, पृ. ११७ ।

आचार्य का कहना है कि यदि धर्मों का परमार्थतः अस्तित्व होगा तो वे सर्वथा हेतु प्रत्यय निरपेक्ष एवं अकृत्रिम हो जाएँगे। ऐसे पदार्थों का क्रमशः अथवा युगपत् अर्थक्रिया से विरोध होगा। अर्थक्रिया ही वस्तु के अस्तित्व की नियामक है। फलतः निरपेक्ष, नित्यवस्तु का अस्तित्व ही असम्भव है। इसी तरह परमार्थतः सभी धर्मों का उत्पाद एवं निरोध माना जाएगा तो सारी हेतु-प्रत्यय व्यवस्था निरर्थक सिद्ध होगी। फलतः स्वतः, परतः, उभयतः या अहेतुतः किसी भी तरह वस्तु का परमार्थतः उत्पाद सम्भव नहीं है और इसी कारण निरोध भी सम्भव नहीं है।[१] अतः उत्पाद, निरोध आदि की सारी व्यवस्था व्यावहारिकमात्र है, वस्तुतः न कोई धर्म उत्पन्न होता है और न निरुद्ध। संसार, निर्वाण, आत्मा, धर्म सभी का वास्तविक स्वरूप शून्यता ही है। ऐसा होने पर भी मार्ग, फल, बन्धन, मोक्ष आदि की सारी लौकिक एवं लोकोत्तर व्यवस्थाएं सुचारुतया सम्पन्न होती है। इस अर्थ में प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा शून्यता और शून्यता द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद की अभिव्यक्ति होने लगती है।

दोनों अन्तों के परिहार से आचार्य के दो सत्यों का सिद्धान्त प्रकाशित होता है- संवृतिसत्य एवं परमार्थ सत्य। दो सत्यों में बौद्धों के चार आर्यसत्यों का अन्तर्भाव हो जाता है तथा सभी धर्म समाहित हो जाते हैं। आचार्य अपनी रचना मूलमाध्यमिककारिका में कहते हैं कि भगवान् बुद्ध की देशना इन्हीं दो सत्यों पर आश्रित है।[२] अतः दो के अतिरिक्त तीसरा कोई सत्य नहीं होता। जैसे पितापुत्रसमागमसूत्र में कहा गया है-

सत्य इमे दुवि लोकविदूनां दिष्ट स्वयं अश्रुणित्व परेषाम्।
संवृति या च तथा परमार्थो सत्यु न सिध्यति किं च तृतीयु।।[३]

आचार्य ने ज्ञेय के आधार पर उनकी व्यवस्था की है। ऐसा बिलकुल नहीं है कि रूप, वेदना आदि कुछ पदार्थ संवृतिसत्य होते हैं और निर्वाण आदि कुछ परमार्थ।

---

[१] न स्वतो नापि परतो द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ।। -मूलमाध्यमिककारिका, १/३ का. ।

[२] द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं परमार्थतः ।। -मू.म.का., २४/८ का. ।

[३] पितापुत्रसमागमसूत्रम्, बो.च.पं. में उद्धृत, पृ, १७५ दरभंगा संस्करण ।

अपितु एक ही पदार्थ दोनों सत्यों का स्वभाव धारण करता है। इनमें से एक पृथग्जनों का और दूसरा आर्यजनों का विषय होता है।[१]

प्रस्तुत ग्रन्थ में नागार्जुन का प्रज्ञा एवं उपाय पक्ष :

भारतीय परम्परा में मुक्ति के मार्ग के रूप में तीन उपाय प्रचलित हैं। ज्ञान, कर्म एवं भक्ति। भारतीय दर्शनों में मीमांसा दर्शन कर्म को मुक्ति का मार्ग मानता है और वैष्णव दर्शन भक्ति को। शेष भारतीय दर्शन जिनमें बौद्ध भी सम्मिलित है, ज्ञानमार्गी कहलाते हैं, क्योंकि संसार का मूल अविद्या है। उसका प्रहाण ज्ञान से सम्भव है। ज्ञान से यहाँ तात्पर्य सामान्य ज्ञान से नहीं है, अपितु जिनके द्वारा वस्तु की वास्तविकता अर्थात् यथार्थ स्थिति या तत्त्व का बोध होता है। अज्ञान अथवा अविद्या के दो कार्य होते हैं- १. वस्तुस्थिति का आवरण करना, २. अवस्तु को वस्तु के रूप में प्रस्तुत करना। इतना ही नहीं अज्ञान के द्वारा उपस्थापित कल्पित वस्तु के प्रति सत्य के रूप में अभिनिवेश भी किया जाता है। अविद्या से प्रभावित व्यक्ति अनित्य को नित्य, अशुभ को शुभ, अनात्म को सात्मक तथा दुःख को सुख के रूप में समझता है।[२]

इस मिथ्या ग्रहण के कारण उसमें अपने प्रति और वस्तुओं के प्रति राग, द्वेष आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं और इनकी वजह से वह अनन्त काल तक संसार में या जन्म-मरण परम्परा के चक्र में घूमता रहता है। इन सभी क्लेशों में अविद्या या अज्ञान ही प्रमुख है, जिसकी वजह से वह अपने अन्दर एक नित्य, शाश्वत आत्मा की कल्पना करता है। आत्मा की कल्पना करने के बाद व्यक्ति के अन्दर आत्मीय की कल्पना होती है तथा आत्मा-आत्मीय से राग उत्पन्न होते हैं। आत्मा-आत्मीय के हित में जो बाधक होता है उसके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। आत्मा के होने से पर(दूसरों) की कल्पना भी उत्पन्न होती है और इस तरह उसमें अनेक प्रकार के द्वन्द्व

---

[१] सम्यग्मृषादर्शनलब्धभावं रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः ।
सम्यग्दृशां यो विषयः स तत्त्वं मृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम् ।। -म.अ., ६/२३

[२] अभि. को. ५/९, पृ. ७७७, बौ.भा.प्र.।

उत्पन्न होते हैं।[1] इस प्रकार आत्मा को मानना या आत्मदृष्टि ही सारी विपत्तियों का मूल है।[2]

बौद्ध आचार्यों ने इस आत्मदृष्टि के विषय आत्मा या अहं की परीक्षा की है और जिस प्रकार तैर्थिक लोग आत्मा का स्वरूप मानते हैं, उस प्रकार का आत्मा उन्हें कहीं उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार आत्मदृष्टि एक मिथ्यादृष्टि सिद्ध होती है। इसका प्रहाण तभी सम्भव है जब उस आत्मा के अभाव अर्थात् नैरात्म्य का ज्ञान व्यक्ति में उत्पन्न हो। इसलिए बौद्ध परम्परा में नैरात्म्य ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान है, प्रज्ञा है। इस आत्म-आत्मीयदृष्टि का विस्तार अत्यन्त व्यापक है। इसके चलते व्यक्ति मेरा धर्म, मेरे सिद्धान्त, मेरा ईश्वर आदि अनेक प्रकार की सीमाओं में आबद्ध हो जाता है।

आत्मदृष्टि भी दो प्रकार की होती है- पुद्गलात्मदृष्टि एवं धर्मात्मदृष्टि। बौद्ध दर्शन के हीनयानी निकायों में केवल पुद्गलात्मदृष्टि, जिसे क्लेशावरण भी कहते हैं, प्रहेय मानी जाती है। पुद्गल नैरात्म्य ज्ञान के द्वारा वे क्लेशावरण या पुद्गलात्मदृष्टि का प्रहाण कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। उनमें यद्यपि धर्मात्मदृष्टि अथवा ज्ञेयावरण विद्यमान रह जाता है फिर भी वह धर्मात्मदृष्टि मोक्ष की प्रतिबन्धक नहीं हुआ करती।

धर्मात्मदृष्टि के स्वरूप के बारे में महायान दार्शनिकों में कुछ मतभेद हैं। ज्ञात है कि विज्ञानवाद और शून्यवाद महायान के दर्शन कहे जाते हैं। विज्ञानवादी दार्शनिक बाह्यार्थ की सत्ता को मानने या ग्राह्य-ग्राहक की पृथग् सत्ता को मानने को ही धर्मात्मदृष्टि कहते हैं। यही इनके मत में ज्ञेयावरण है। जबकि माध्यमिक दार्शनिक वस्तु की परमार्थतः स्वाभाविक सत्ता को धर्मात्मदृष्टि या ज्ञेयावरण मानते हैं। महायान दार्शनिकों के अनुसार ज्ञेयावरण या धर्मात्मदृष्टि अक्लिष्ट अज्ञान होता है और उसके प्रहाण के बिना सर्वज्ञता की प्राप्ति सम्भव नहीं होती है। महायान का उद्देश्य समस्त प्राणियों को दुःख से विमुक्त करके उन्हें निर्वाण या बुद्धत्व प्राप्त

---

[1] आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ।। द्र०- प्रमाणवार्तिक, १/२२१

[2] सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशांश्च दोषाश्च धिया विपश्यन् ।
आत्मानमस्या विषयं च ज्ञात्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव ।। - म.अ., ६/१२०

कराना होता है। इसलिए इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वज्ञत्व प्राप्त करना ही उनका लक्ष्य होता है। इसी कारण इस धर्मात्मदृष्टि या ज्ञेयावरण के प्रहाण पर उनका अत्यधिक जोर होता है। धर्मात्मदृष्टि का प्रहाण धर्मनैरात्म्य ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए इनके मतानुसार धर्मनैरात्म्य ज्ञान ही सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दृष्टि या सम्यग् प्रज्ञा है।

इस तरह वस्तुस्थिति कें यथार्थ ज्ञान को ही प्रज्ञा कहते हैं। इस नैरात्म्य ज्ञान का उदय व्यक्तियों में सबसे पहले बुद्धवचन, शास्त्र या गुरु उपदेश से होता है। इसे श्रुतमयज्ञान या श्रुतमयी प्रज्ञा कहते हैं। तदनन्तर व्यक्ति इस ज्ञान की विभिन्न युक्तियों एवं आगमों के द्वारा परीक्षा करता है। परीक्षा के बाद वह इस नैरात्म्य ज्ञान की सत्यता का निश्चय करता है। युक्ति एवं आगम के द्वारा परीक्षा की इस विधि को चिन्तामय ज्ञान या चिन्तामयी प्रज्ञा कहते हैं। चिन्तामयी प्रज्ञा द्वारा नैरात्म्य का निश्चय हो जाने पर व्यक्ति उसके साक्षात्कार के लिए भावना करता है। इसे भावनामय ज्ञान या भावनामयी प्रज्ञा कहते हैं। भावना के अन्त में व्यक्ति नैरात्म्य या शून्यता का साक्षात्कार करता है। इस तत्त्व के साक्षात्कार के साथ ही व्यक्ति आर्य कहलाने लगता है और उसे दर्शन मार्ग की प्राप्ति भी हो जाती है तथा महायान के अनुसार उसे प्रथम भूमि की प्राप्ति हो जाती है। इस दर्शन मार्ग के द्वारा उसके दर्शनहेय क्लेशों का प्रहाण हो जाता है, किन्तु अभी उसके भावनाहेय क्लेश विद्यमान रहते हैं। इनके प्रहाण के लिए वह दृष्ट तत्त्व की पुनः पुनः भावना करता है, जिससे उसके भावनाहेय क्लेश क्रमशः प्रहीण होते हैं और वह क्रमशः सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् हो जाता है।

महायान के अनुसार भावनाहेय क्लेशों का प्रहाण द्वितीय भूमि से लेकर दशम भूमि के अन्तिम क्षण वज्रोपम समाधि तक होता रहता है। इन भूमियों में भावनाहेय क्लेशों के प्रहेय के साथ-साथ अनेकानेक गुण और शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है और अन्त में दशम भूमि के बाद ग्यारहवीं समन्तप्रभा भूमि में वह बुद्धत्व प्राप्त होता है।

महायान के अनुसार बुद्ध के तीन काय होते हैं। इन तीनों कायों की प्राप्ति को ही सम्यग् सम्बुद्धत्व की प्राप्ति या सर्वज्ञता की प्राप्ति कहते हैं। ये तीन काय हैं- धर्मकाय, सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय। इन्हें दो कायों में भी विभक्त किया जा

सकता है। रूपकाय और धर्मकाय या ज्ञानकाय। रूपकाय के अन्तर्गत सम्भोगकाय और निर्माणकाय होते हैं। रूपकाय के द्वारा ही बुद्ध परहित सम्पादन करते हैं। इसीलिए इसे परहित सम्पद् भी कहते हैं। परहित सम्पादन के लिए ही बुद्धत्व प्राप्ति की प्रतिज्ञा की गयी थी। किन्तु जब तक ज्ञानकाय या धर्मकाय की प्राप्ति नहीं होती, तब तक रूपकाय की प्राप्ति भी असम्भव है। वस्तुतः तीनों कायों की प्राप्ति युगपत् ही होती है। धर्मकाय की प्राप्ति स्वहित सम्पद् कहलाती है। इस प्रकार बुद्धत्व की प्राप्ति का अर्थ है स्व-परहित सम्पद् की प्राप्ति अर्थात् तीनों कायों की प्राप्ति।

केवल धर्मनैरात्म्य के ज्ञान से अथवा प्रज्ञा के अभ्यास से धर्मकाय को प्राप्त किया जा सकता है, इसे ही ज्ञान सम्भार कहते हैं, किन्तु परहित सम्पादक रूपकायों की प्राप्ति पुण्य के बिना सम्भव नहीं है। पुण्य का तात्पर्य है- चार संग्रह वस्तु, चार ब्रह्मविहार[1] एवं छह पारमिताओं का अभ्यास आदि। इन सारी पुण्य क्रियाओं को एक शब्द में करुणा भी कहा जाता है और करुणा का ही दूसरा नाम उपाय भी है। इस तरह त्रिकायात्मक बुद्धत्व की प्राप्ति के दो मुख्य हेतु हैं- प्रज्ञा और उपाय अर्थात् ज्ञान सम्भार और पुण्य सम्भार।

आचार्य नागार्जुन ने अपने इस लघु (सुहृल्लेख) ग्रन्थ में प्रज्ञा एवं उपाय का बहुत ही वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक तरीके से वर्णन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में त्रिशरणगमन, षडनुस्मृतियाँ, छह पारमिताएं, छह गतियों के दुःखों का वर्णन आदि से लेकर उपाय पक्ष को बतलाते हुए अष्टाङ्गिक मार्ग, सप्त बोध्यङ्ग, चार आर्यसत्य एवं निर्वाण की अनुशंसा आदि प्रज्ञा पक्ष के द्वारा इस अत्यन्त संक्षिप्त ग्रन्थ के महत्त्व को न केवल राजा तक ही सीमित रखा बल्कि प्रव्रजितों एवं गृहस्थों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी बतलाया। निश्चित ही आचार्य नागार्जुन का यह ग्रन्थ संक्षिप्त किन्तु बौद्ध दर्शन के समस्त मौलिक सिद्धान्तों का व्याख्यान करने वाला, अभ्युदय एवं निःश्रेयस को प्राप्त कराने वाला, प्रज्ञोपाय से युक्त एवं सारगर्भित उपदेशपरक ग्रन्थ है, जिसके श्रवण, चिन्तन एवं मनन से गृहस्थ भी बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है।

---

१ मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा- ये चार ब्रह्मविहार हैं, उन्हें ही 'अप्रमाण' कहते हैं, क्योंकि मैत्री, करुणा आदि के आलम्बन से जो सत्त्व होते हैं, उनका कोई परिमाण नहीं होता है ।
दान, प्रियवचन, अर्थ(हित) चर्या एवं समानार्थता- ये चार संग्रह वस्तुएं हैं । इनके अनुष्ठान से सत्त्वपरिपाक होता है ।

नागार्जुन का व्यावहारिक पक्ष :

सामान्यतया बौद्धधर्म मनुष्य को कामोपभोग के प्रति आकर्षणों पर अंकुश लगाना और सारी ऊर्जा को जीवन के कर्तव्यों के पालन में लगाना सिखाता है। अधिकांश लोग इसके सकारात्मक पक्ष को नहीं देख पाते हैं। इसीलिए उन्हें आश्चर्य होता है कि कैसे लाखों-करोडों लोगों को आज भी इतना प्रभावित कर रहा है। आज भी वह सतत प्रवहमान है। जिन्होंने जीवन को देखा और उस पर विचार किया है, उन्हें लगता है कि सब कुछ क्षणिक है, कुछ भी शाश्वत नहीं है। यहाँ जन्म और मृत्यु है, वृद्धि एवं क्षय है, संयोग और वियोग है। आज जहाँ भी देखें संघर्ष, शोषण एवं विषमताएं हैं। सुख प्राप्ति की व्याकुलता है। कामनाओं की प्रज्वलित अग्नि है। यह जगत सम्प्रति भय, पीडा एवं मृत्यु के आतंक का घर बन गया है। इस अशान्तिपूर्ण संसार में कहीं कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ व्यक्ति को शान्ति मिल सके। सत्य की शरण एवं धर्म की शरण ही एकमात्र स्थान है, जिसकी देशना बुद्ध ने की है। यही शान्ति का उचित उपाय है।

भगवान् बुद्ध अपना सन्देश विशिष्ट जनों तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे, बल्कि जन साधारण तक पहुँचाना चाहते थे। इस विषय में एक उल्लेख प्राप्त होता है कि दो भिक्षुओं ने भगवान् बुद्ध से निवेदन किया कि उनके उपदेशों को वैदिक संस्कृत छन्दों में परिवर्तित कर दिया जाय, जिससे वे सुरक्षित रह सकें और लोग अपनी इच्छानुसार उनको भिन्न-भिन्न रूप न दे सकें। भगवान् ने उनकी प्रार्थना अस्वीकार करते हुए कहा कि- मैं अपनी-अपनी भाषा में उन्हें संगृहीत करने की अनुमति प्रदान करता हूँ- 'अनुजानामि भिक्खवे, सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं ति'।[१] फलतः उनके उपदेश पैशाची, संस्कृत, अपभ्रंश, मागधी आदि अनेक भाषाओं में संकलित हुए।

भगवान् बुद्ध के अनुसार धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में सभी स्त्री तथा पुरुषों में समान योग्यता एवं अधिकार हैं। इतना ही नहीं, शिक्षा, चिकित्सा और आजीविका के क्षेत्र में भी वे समानता के पक्षधर थे। उनके अनुसार एक मानव का दूसरे मानव

---

[१] द्र०- चुल्लवग्ग, पृ. २२८ ।

के साथ व्यवहार मानवत्ता के आधार पर होना चाहिए, न कि जाति, वर्ण, लिङ्ग आदि के आधार पर। क्योंकि सभी प्राणी समानरूप से दुःखी हैं, अतः सब समान हैं। दुःख का प्रहाण ही उनके धर्म का प्रयोजन है। जैसे नदियाँ समुद्र में मिलकर अपना नाम, रूप और विशेषताओं को खो देती हैं, उसी प्रकार मानवमात्र उनके संघ में प्रविष्ट होकर जाति, वर्ण आदि विशेषताओं को खो देते हैं तथा समान हो जाते हैं। निर्वाण ही उनके धर्म का एकमात्र रस है।

बुद्ध के अनुसार मानवजन्म अत्यन्त दुर्लभ है। सभी प्राणियों में तथागतगभ निहित है, जिसके कारण बुद्धत्व जैसे परम पुरुषार्थ को भी सिद्ध कर सकते हैं। देवता श्रेष्ठ नहीं हैं, क्योंकि वे व्यापक तृष्णा के क्षेत्र के बाहर नहीं हैं। अतः मनुष्य उनका दास नहीं है, अपितु उनके उद्धार का भार भी मनुष्य के ऊपर ही है। इसीलिए उन्होंने कहा कि भिक्षुओं, बहुजन के हित और सुख के लिए तथा देव और मनुष्यों के कल्याण के लिए लोक में विचरण करो।

बुद्ध की शिक्षा अत्यन्त व्यावहारिक थी। उसमें किसी तरह के रहस्यों और आडम्बरों के लिए कोई स्थान न था। उनका चिन्तन प्राणियों के व्यापक दुःखों के कारण की खोज से प्रारम्भ होता है। वे यावज्जीवन दुःखों के अत्यन्त निरोध का उपाय बताते रहे। उन्होंने ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने से इन्कार कर दिया और उन्हें अव्याकरणीय करार दिया, जिनके द्वारा यह पूछा जाता था कि यह लोक शाश्वत है कि अशाश्वत; अनन्त है कि सान्त अथवा तथागत मरण के पश्चात् होते हैं या नहीं- इत्यादि। उनका कहना था कि ऐसे प्रश्न और उनका उत्तर न अर्थसंहित है और न धर्मसंहित। इन दृष्टियों के होते हुए भी मनुष्य जन्म, जरा, मरण आदि दुःखों से दुःखी रहते हैं, जिनका वे विघात कर सकते हैं। उन्होंने पूछा कि- किसी विष से बुझे बाण से विद्ध और दर्द से छटपटाते हुए व्यक्ति का क्या यह कहना उचित है कि "पहले मुझे यह बताया जाय कि यह बाण किसने बनाया, किस धातु से बनाया गया और किस दिशा से आया"? इसके बाद मुझे वैद्य के पास ले जाया जाय अथवा यह उचित है कि पहले उसे वैद्य के पास ले जाकर दर्द से मुक्त कराया जाय? भिक्षुओं ने कहा कि प्राथमिकता की दृष्टि से वैद्य के पास पहले ले जाकर दर्द से मुक्त कराना ही उचित है, क्योंकि ऐसे प्रश्नों का उत्तर पाना आसान नहीं है और साथ ही, वह निर्विवाद भी नहीं होगा। तब भगवान् ने कहा कि मनुष्य क्योंकि विविध दुःखों से

दुःखी है, अतः अन्य सारे प्रश्नों को छोडकर सर्वप्रथम उसे दुःखों से मुक्ति का उपाय ही खोजना और कार्यान्वित करना जाहिए।

इसके लिए भगवान् ने मध्यम मार्ग की देशना करते हुए प्रतीत्यसमुत्पाद तथा कर्म की स्वतन्त्रता का उपदेश करते हुए कहा कि अपने सुख एवं दुःखों के लिए स्वयं प्राणी ही उत्तरदायी है। अपने अज्ञान और मिथ्यादृष्टियों से ही उसने स्वयं दुःखों का उत्पाद किया है, अतः कोई दूसरी अदृश्य शक्ति अथवा जगत का कर्ता ईश्वर उसे उन दुःखों से मुक्त नहीं कर सकता। इसके लिए उसे स्वयं प्रयास करना होगा। किसी के वरदान या कृपा से दुःखमुक्ति असम्भव है। कोई महापुरुष, जिसने अपने दुःखों का प्रहाण कर लिया है, वही अपने अनुभव के आधार पर दुःखमुक्ति का मार्ग बता सकता है, किन्तु उसकी बातों की परीक्षा कर, सही प्रतीत होने पर उस मार्ग पर प्राणी को स्वयं चलना होगा। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त के द्वारा मानव-स्वतन्त्रता और आत्म-उत्तरदायित्व का विशिष्ट बोध प्रतिफलित होता है।

समस्त अभ्युदय धर्म मानव समाज से जुडा हुआ है, क्योंकि व्यक्ति जितना सदाचरण का पालन करेगा उतना ही समाज में एक स्वस्थ एवं स्वच्छ वातावरण का निर्माण होगा। एक अच्छे समाज के निर्माण के लिये यह जरुरी है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित हो तथा स्वयं भले बुरे की पहचान कर सके। भगवान् तथागत ने सभी दृष्टि से मध्यममार्ग की व्याख्या की है। अन्तद्वय में पतित न होकर बीच का मार्ग मध्यम मार्ग है। दान, शील, पुण्य, पाप आदि व्यवस्था मध्यम मार्ग पर आश्रित होते हैं। उसी प्रकार आहार, पेय, पोशाक, रहन-सहन तथा वार्तालाप सभी माध्यमिक दृष्टिकोण पर आधारित हैं। उदाहरण के लिए भोजन का सर्वथा त्याग उचित नहीं है तथा अत्यधिक भोजन या अनावश्यक भोजन भी अनुचित है। दैहिक आवश्यकताओं को पूरा करने लिए सीमित तथा सादा आहार ग्रहण करना चाहिए।

कोई भी वस्तु निरपेक्ष नहीं होती, अपितु सभी वस्तुएं सापेक्ष होती हैं। आज कोई भी समाज, राष्ट्र, महाद्वीप अन्य राष्ट्रों, महाद्वीपों पर सापेक्ष न होकर न तो अपने अस्तित्व की बात समझ सकते हैं और न ही, अपनी व्यवस्था बना सकते हैं। यह व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं है। सापेक्षता के ज्ञान से परस्पर अन्योन्य के महत्त्व को समझ सकते हैं। महायानी स्व से अधिक पर को महत्त्व देते हैं, करुणा की भावना रखते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान से करुणा एवं मैत्री की भावना का

उदय सहज हो जाता है। आज समाज में उसकी आवश्यकता है। अतः समाज के निर्माण में मध्यम मार्ग उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

आज निरपेक्षता के सिद्धान्त को कोई भी नहीं मानता है। वैज्ञानिक भी स्वीकार नहीं करते हैं। या यों कहें कि ऐसी वस्तुस्थिति है ही नहीं। सापेक्षता (प्रतीत्यसमुत्पाद) के सिद्धान्त के अनुसार जैसे एक अंग महत्त्वपूर्ण है, वैसे ही सभी अंग महत्त्वपूर्ण हैं। इसके न समझने से विषमता, भेद-भाव एवं शोषण की स्थिति होती है। इसका मूल कारण स्व को पर से अधिक महत्त्व देना है, यह अपने लाभ की तृष्णा है। स्वलाभ पर (दूसरे) से अधिक हो, ऐसी मनुष्य की प्रवृत्ति एवं प्रबल इच्छा होती है, क्योंकि अविद्या हमारे चित्त के मूल में है। वह स्व-सत्ता को निरपेक्ष रूप में धारण करता है। उसके प्रति उसका अभिनिवेश होता है, जिससे स्व एवं पर का भेद हो जाता है। फलतः स्व की सुरक्षा के लिये पर का शोषण करना आदि सारी प्रवृत्तियाँ स्वयं उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिये सापेक्षता के ज्ञान से अन्य उपायों से विषमता, शोषण को रोकने हेतु जो प्रयास किए जाते हैं, वे सही उपाय के रूप में नहीं माने जा सकते हैं। रोग के मूल कारण को जाने बिना रोग का सही निवारण नहीं हो सकता बल्कि रोग के बढ जाने का खतरा रहता है। इसी प्रकार इन समस्याओं के समाधान के लिए उनके मूल कारणों का निवारण होना अत्यन्त आवश्यक है। इसे खोज लिया जाय तो शोषण, विषमता आदि के निराकरण का उपाय भी निकल आयेगा और वह एक स्थायी समाधान होगा। इसलिये प्रतीत्यसमुत्पाद सामाजिक दर्शन में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है। यह जो स्व संवर्धन की तृष्णा है, यह व्यक्ति के सारे दुःखों का मूल कारण तो है ही, साथ-साथ जागतिक विश्व के दुःखों का भी कारण बनती है। प्रत्येक व्यक्ति के स्व एवं आत्म की धारणा हटने पर करुणा का उत्पाद होगा, विश्व का परिवर्तन सम्भव हो जायेगा तथा उसी से सारी समस्याओं का समाधान भी निकलेगा। इसीलिये मध्यम मार्ग या प्रतीत्यसमुत्पाद पर्यायवाची हैं। जागतिक ऐहिक जीवन की समस्याओं के समाधान से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक यदि कोई व्यक्ति पुरुषार्थ सिद्ध करना चाहे तो वह इस सिद्धान्त से सिद्ध किया जा सकता है।

कोई भी राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक न्याय की समस्या स्व की धारणा एवं स्व विजय से उत्पन्न हुई है। ऐसी मिथ्या दृष्टि को हमारे सामने रखा गया है

जिसने जीवन के अन्य मूल्यों को छोडकर अर्थ मूल्यों में जीवन को निर्धारित कर दिया है। आज उपभोग को बढाने हेतु उपाय खोजे जा रहे है, क्योंकि उपभोग से नई वस्तुओं का विकास होगा। मनुष्य की आवश्यकताओं का कृत्रिम रूप से वृद्धि की जा रही है। वे सब आत्मदृष्टि, स्वलाभ, प्रतिस्पर्धा एवं तृष्णा की वृद्धि के कारण हैं, जो काम प्रतिस्पर्धा को बढावा देते हैं। ये सिर्फ मिथ्या दृष्टि हैं, क्योंकि आर्थिक विकास दर की वृद्धि के बावजूद अधिक गरीबी बढती जा रही है, जो एक विषम रूप धारण कर रही है। मानव के इतिहास में बीसवीं शदी के समान हिंसा कभी भी नहीं हुई है।

ये सारी विषमताएं परस्पर सापेक्षता एवं सह अस्तित्व को न जानने से हुई हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि हम मूलभूत रूप से संघर्ष, प्रतिस्पर्धा की जगह सहयोग, सापेक्षता एवं सह अस्तित्व से जीने की मानसिकता पैदा कर सकें, तो ऐहिक जीवन की सारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा।

इसलिये प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा मध्यम मार्ग के सिद्धान्त को सार्वभौमिक दायित्व का प्रतीक माना जा सकता है, क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के सही ज्ञान से सार्वभौमिक दायित्व स्वतः उत्पन्न हो जायेगा और दायित्व बोध के बिना सार्वभौमिक दायित्व सम्भव नहीं है। दायित्व हमेशा पराश्रयी एवं पर(दूसरे) से सम्बद्ध होता है। अतः अधिकारों के स्थान पर दायित्वों का अवबोध कराना ही मध्यम मार्ग है।

आचार्य नागार्जुन ने भी सुहृल्लेख के प्रारम्भ में सभी व्यावहारिक पक्षों पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। जैसे- दश अकुशल कर्मों का परित्याग कर दश कुशल कर्मों का आचरण करना। अकुशल कर्मों से समाज दूषित होता है और कुशल कर्मों के अभ्यास से न केवल मनुष्य के आचरण, स्वभाव एवं जीवन में विशेष परिवर्तन होता है, अपितु स्वयं के अभ्युदय के साथ-साथ अपने आस-पास एक स्वच्छ एवं शान्तिपूर्ण वातावरण का निर्माण भी होता है, जो एक अच्छे समाज के निर्माण में विशेष सहायक होता है।

आचार्य कहते हैं कि क्रोध को अवसर नहीं देना चाहिए। वैर का ग्रहण केवल काय, वाक् के दोषों से होने वाले झगडे ही उत्पन्न नहीं करता है, बल्कि व्यक्ति को दुःखी भी करता है। इस प्रकार वैर भाव का प्रहाण कर चित्तगत विषमता के अभाव में व्यक्ति सुख की नींद सोता है। कहा भी गया है-

यः क्रोधं हन्ति निर्बन्धात् स सुखीह परत्र च।[1]

इस प्रकार क्रोध के परित्याग से स्व एवं पर दोनों शान्तिपूर्वक जावन व्यतीत कर सकते हैं, जो अत्यन्त व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करता है।

पुनः कहते हैं कि गृहस्थ होने के कारण अनेक प्रकार के सहयोगियों का साथ एवं अनेक सत्त्वों से मैत्री करनी पडती है, जिसके लिए उन्होंने चार प्रकार के व्यक्तियों[2] की चर्चा करते हुए उनके लक्षणों को जानकर हेय और उपादेय का यथोचित विवेचन करने को कहा है। साथ ही गृहस्थों में काममिथ्याचार प्रायः अधिक मात्रा में पाया जाता है, जो अधिक हानिकारक है। अतः उसकी निवृति के लिए कहा कि- पर स्त्री को देखना नहीं चाहिए। यदि किसी प्रकार दिख जाएं तो उम्र के अनुरूप माँ, बहिन एवं बेटी की संज्ञा का उत्पाद करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उच्च कुल एवं सुन्दर रूप वाला श्रुतवान् पुरुष भी प्रज्ञा एवं शील से रहित होने पर सम्मानित नहीं होता है, इसलिए उसे शिक्षित एवं आचरणवान् होना चाहिए। इतना ही नहीं, आचार्य गृहस्थों को ब्राह्मणों, भिक्षुओं, देवों, अतिथियों, माता-पिता, पत्नी एवं परिवार के लिए भी किसी प्रकार का पाप कर्म नहीं करने का उपदेश देते हैं, क्योंकि मृत्यु के अनन्तर उनमें से कोई भी व्यक्ति उस पाप के विपाक या नरक का भागी नहीं होगा। देवताओं एवं मनुष्यों के शास्ता ने सभी धनों में सन्तोष धन को परम श्रेष्ठ कहा है। अतः सदैव सन्तोष करना चाहिए, क्योंकि सन्तोष का लाभ हो जाने पर बिना धन के भी व्यक्ति वास्तविक धन वाला होता है।

उपर्युक्त सभी उपदेशों का यदि व्यक्ति सम्यक् या आंशिक रूपेण भी ग्रहण कर अपने जीवन में अभ्यास करने का प्रयत्न करता है तो वह न केवल निज जीवन को संतुलित एवं सन्तोषी बनाता है, अपितु स्व के साथ-साथ दूसरों के लिए भी एक

---

[1] बो.च. ६/६

[2] चार प्रकार के पुद्गल कहे गए हैं जो इस प्रकार हैं- देव तथा सौभाग्यशाली मनुष्य योनि में जन्म लेकर पुनः उसी योनि में उत्पन्न होना, दुर्गति एवं भाग्यहीन योनि में उत्पन्न होकर पुनः उसी में उत्पन्न होना, देव एवं भाग्यशाली मनुष्य योनि में उत्पन्न होकर पुनः तीन दुर्गतियों तथा भाग्यहीन मनुष्य योनि में पैदा होना । तीन दुर्गति एवं भाग्यहीन मनुष्य योनि में पैदा होकर पुनः देव तथा सौभाग्यशाली मनुष्य योनि में उत्पन्न होना ।
द्र०- सुहल्लेख व्यक्तपदा टीका, पृ. १८४, ति.सं.सं., १९९६ ।

शान्त, स्वच्छ एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण का निर्माण करता है तथा एक अच्छे समाज के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आचार्य नागार्जुन के इस लघु ग्रन्थ अथवा पत्र में विशेष रूप से गृहस्थों के लिए निर्दिष्ट वचनों के अभ्यास से एक सुसंस्कृत एवं सभ्य समाज के निर्माण में शक की कोई गुंजाइश नहीं है। इसलिए नागार्जुन का यह ग्रन्थ अत्यन्त व्यवहारोपयोगी है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

नागार्जुन का अभ्युदय एवं निःश्रेयस पक्ष :

भारतीय परम्परा में चार पुरुषार्थ माने जाते हैं, यथा- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चार का दो में भी अन्तर्भाव हो जाता है, यथा अभ्युदय और निःश्रेयस। अर्थ और काम 'अभ्युदय' के अन्तर्गत संगृहीत हो जाते हैं। निःश्रेयस मोक्ष है। धर्म द्वारा अर्थ और काम दोनों पुरुषार्थ (अभ्युदय) सिद्ध होते हैं और मोक्ष भी सिद्ध होता है। अतः उसका यथायोग दोनों में संग्रह होता है। बौद्ध परम्परा में अभ्युदय और निःश्रेयस ही पुरुषार्थ के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं।

लौकिक सुख को अभ्युदय कहा जाता है और निःश्रेयस को मोक्ष। इन दोनों को सिद्ध करने का साधन संक्षेप में क्रमशः श्रद्धा और प्रज्ञा है। इन दोनों में यद्यपि प्रज्ञा प्रधान है किन्तु श्रद्धा को पूर्वगामी अवश्य होना चाहिये।

बौद्ध शास्त्रों के अनुसार सुगति में जन्म एवं उसका वैभव अभ्युदय होता है। सुगति में मनुष्य लोक तथा देवलोक ये दो लोक हैं, जिनमें सुख तथा सुविधाएं विद्यमान हैं। किन्तु ये सभी सुख सुविधाएं सांसारिक सुख ही होती हैं। अतः ये सब लौकिक होते हैं।

संसार से मुक्ति तथा सर्वज्ञता निःश्रेयस है। अविद्या सहित क्लेशों का प्रहाण ही संसार से मुक्ति होती है। ज्ञेयावरण के प्रहाण से महामुक्ति होती है। महामुक्ति प्राप्त व्यक्ति सर्वज्ञ होता है। ये मुक्ति एवं महामुक्ति लोकातीत होते हैं।

सर्वप्रथम अभ्युदय की प्राप्ति होती है अनन्तर निःश्रेयस की प्राप्ति। निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये अभ्युदय की प्राप्ति आवश्यक है। सुगति में जन्म ग्रहण करके ही मुक्तिमार्ग में प्रवेश किया जा सकता है। नरक योनि तथा तिर्यग् योनि में जन्म ग्रहण करने पर शारीरिक तथा मानसिक दुःखों के कारण मुक्तिमार्ग के बारे में चिन्तन का अवसर प्राप्त नहीं होता है। मानव अथवा देवलोक में यद्यपि सांसारिक दुःख व्याप्त

है, तथापि सम्यग् विषयों में श्रवण, चिन्तन आदि सुलभ होता है। अतः वे अभ्युदय की प्राप्ति करके निःश्रेयस मार्ग में प्रविष्ट हो सकते हैं। इन तथ्यों को आचार्य नागार्जुन ने रत्नावलि में इस प्रकार स्पष्ट किया है-

प्राग्धर्माभ्युदयो यत्र पश्चान्नैश्रेयसोदयः।
संप्राप्याभ्युदयं यस्मादेति नैःश्रेयसं क्रमात्।।
सुखमभ्युदयस्तत्र मोक्षो नैःश्रेयसो मतः।
अस्य साधनसंक्षेपः श्रद्धाप्रज्ञे समासतः।।[१]

धर्मशास्त्रों में एवं बौद्ध आगमों में अनेक पुण्य कर्मों की व्याख्या उपलब्ध है। प्रायः ये सभी पुण्य कर्म अभ्युदय की प्राप्ति के लिये होते हैं। हेतु-फल के सिद्धान्त में एक वस्तु के अनेक हेतु होते हैं। केवल एक ही हेतु से कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती है। उत्पाद के लिये असंख्य हेतुओं में से उपादान हेतु मुख्य होता है। जिस प्रकार यवांकुर का उपादान हेतु यव ही होता है, उसी प्रकार सुगति तथा उसके वैभव का भी नियत हेतु होता है एवं उसके सहायक हेतु होते हैं, किन्तु हेतुओं में उच्चावच भाव नहीं होता।

विशेषतः बुद्ध वचनों में श्रद्धा, अधिमुक्ति, दान, शील आदि का प्रतिपादन विस्तार से किया गया है। दानादि कुशल कर्मों की देशना के साथ नैरात्म्य या प्रज्ञा की देशना भी की गयी है। प्रस्तुत ग्रन्थ सुहल्लेख में भी अभ्युदय की प्राप्ति हेतु त्रिशरणगमन, षडनुस्मृतियाँ, छह पारमितायें, शील, दश कुशलकर्म, ब्रह्मचर्य का पालन आदि सभी विषयों का क्रमशः संक्षेप में वर्णन किया गया है, जो अभ्युदय की प्राप्ति के हेतु हैं। दश अकुशल कर्मों का परित्याग कर कुशल कर्मों का सम्पादन करने पर व्यक्ति को सभी जन्मों में सुख एवं सुगति प्राप्त होती है। नरक, प्रेत एवं तिर्यग् योनियों से मुक्ति तथा मनुष्य एवं देवों के रूप में जन्म के साथ सुख प्राप्त होता है। इसके विपरीत अकुशल कर्मों से दुर्गति एवं दुःख ही प्राप्त होता है। संक्षेप में राग, द्वेष और मोह के वश से किये गये सभी कर्म अकुशल तथा अराग, अद्वेष एवं अमोहवश किए गये सभी कर्म शुभ होते हैं। शुभ एवं कुशल कर्मों के सम्पादन से ही अभ्युदय की प्राप्ति होती है। इन्हीं विषयों पर आचार्य नागार्जुन ने संक्षेप में

---

[१] रत्नावलि, १/३-४

सुहल्लेख के प्रारम्भ में प्रकाश डाला है उन्होंने प्रधान रूप से गृहस्थों को शिक्षा देते हुए कहा कि- जिस कुल में आदर के साथ माता-पिता की पूजा की जाती है, वह कुल मनुष्य एवं अमनुष्य द्वारा होने वाली हानि से सुरक्षित रहता है। देवताओं के प्रसाद एवं ब्रह्मा के आनुभाव से युक्त होता है। गुरु के अधिष्ठान से आचार्य से युक्त होता है। फलस्परूप दृष्टधर्म के रूप में इस जन्म में विस्तृत लौकिक यश की प्राप्ति होती है तथा दूसरे जन्मों में संसार में उत्तम फल अभ्युदय पद प्राप्त होता है।

पुनः प्राणातिपात, अदत्तादान, काममिथ्याचार, मृषावाद, मद्य, विकाल भोजन, उच्चासन, गीत, नृत्य एवं (रोग का निवारण करने वाले गन्धों को छोडकर) सुगन्ध लेप, माला, इन सबका एक दिन के लिये परित्याग करना चाहिये तथा पूर्व के अर्हतों के शीलों का अनुसरण करते हुए इन आठों अंगों से युक्त होने पर 'उपोषध' करना चाहिये। इन शीलों से युक्त होने पर तीनों लोकों के किसी भी पुरुष अथवा स्त्री को विपाक फल के रूप में भविष्य में कामावचर धातु में छह प्रकार के देवों में से किसी एक प्रकार का मनोरम देवकाय प्राप्त होता है।

दूसरी ओर निःश्रेयस धर्म को अति गम्भीर बताया गया है। वस्तुतः निःश्रेयस धर्म की प्राप्ति के लिये यथाभूत सम्यक् तत्त्व का ज्ञान अपेक्षित है। यथाभूत ज्ञान की प्राप्ति के लिये बौद्धदर्शन के अनात्मता, क्षणभंगुरता, एवं प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त के साथ-साथ शून्यता दृष्टि का भी ज्ञान होना चाहिए। इसीलिए कहा गया है-

नैःश्रेयसः पुनर्धर्मः सूक्ष्मे गम्भीरधर्मः।[१]

इस गम्भीर दर्शन अर्थात् तत्त्व के सम्यक् ज्ञान से नैःश्रयस की प्राप्ति होती है। निःश्रेयस ही परम लक्ष्य है। अभ्युदय की प्राप्ति व्यक्ति का अन्तिम उद्देश्य नहीं है, क्योंकि ये सांसारिक होते हैं। अन्तिम एवं परम लक्ष्य तो निःश्रेयस है। किन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु व्यक्ति को किसी देवयोनि या मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करना होता है, क्योंकि अन्य जन्मों में मुक्ति मार्ग में प्रवेश करना तथा उसका अभ्यास अत्यन्त दुर्लभ एवं दुष्कर होता है। अतः अभ्युदय को निःश्रेयस का पूर्वगामी कहा गया है।

2862

---

[१] रत्नावलि, १/२५

दार्शनिकों एवं विचारकों ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुरूप इसकी व्याख्या की है। कोई कहता है कि परमेश्वर के पास पहुँचना ही परम अथवा अन्तिम लक्ष्य है। कुछ लोगों का मानना है कि मृत्यु के बाद सन्तति टूट जाती है। कुछ मानते हैं कि मुक्ति होने पर चित्तधारा समाप्त हो जाती है। कुछ अन्य का कहना है कि परमात्मा में विलय होना ही अन्तिम मोक्ष है। भारतीय धर्म एवं दर्शन में मोक्ष, निर्वाण या मुक्ति का जो विस्तृत प्रतिपादन उपलब्ध है, ऐसा अन्यत्र नहीं है। किन्तु विभिन्न धर्मों एवं दर्शनों में इनके बारे में मौलिक भेद स्पष्ट हैं। जहाँ वैदिक मत आत्मवाद पर खडा है तो वही बौद्ध मत नैरात्म्य के आधार पर।

बौद्धों में भी श्रावकयान एवं महायान के मध्य निर्वाण के विषय में मौलिक भेद है। प्रथम के अनुसार जब पुद्गल-नैरात्म्य ज्ञान से क्लेशों का पूर्णतः प्रहाण हो जाता है, तब मोक्ष की अवस्था प्राप्त होती है। क्लेशों के प्रहाण से संसार के प्रपञ्च तथा बन्धन समाप्त हो जाते हैं। इसीलिये क्लेशों का क्षय ही मोक्ष अथवा निर्वाण है। पुद्गल नैरात्म्य ज्ञान ही अर्हत्त्व प्राप्ति का प्रमुख कारण है, क्योंकि अविद्या संसार का मूल है।

महायान के अनुसार क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण दोनों का जब प्रहाण हो जाता है, तब महामुक्ति की प्राप्ति हो जाती है और सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है। मुक्त पुरुष कर्म एवं क्लेशों के बन्धन से परे हो जाता है, जिससे वह उनके कारण जन्म नहीं लेता, किन्तु स्वेच्छा से यथा प्रयोजन जन्म ले सकता है। मुक्ति की अवस्था में व्यक्ति का ज्ञान विकसित हो जाता है। ज्ञेयावरण के क्षय से सर्वज्ञता प्राप्त होती है और वह सर्वज्ञ कहलाता है। क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के सम्पूर्ण प्रहाण को ही महापरिनिर्वाण कहा जाता है। यही निःश्रेयस अर्थात् परम लक्ष्य है। सर्वज्ञता प्राप्त व्यक्ति त्रिकायात्मक होता है तथा वह सकल जगत् के कल्याण के लिये यावत् संसार क्रियारत रहता है। उसकी समस्त क्रियाएं निराभोग रूप से चलती रहती हैं। समस्त मानसिक कल्पनाओं से रहित होकर सम्पूर्ण जगत तथा जीवों का कल्याण करता रहता है।

स्वयं आचार्य नागार्जुन ने अपने इस लघु लेख में भी स्पष्ट शब्दों में कहा है- व्यक्ति का जीवन तो बाह्य मनुष्य एवं अमनुष्यों के द्वारा हिंसा तथा आभ्यन्तरिक विकार आदि अनेक बाधाओं से युक्त होता है। हवा के वेग से उठे पानी के बुलबुले

से भी अधिक अनित्य यह मनुष्य जीवन है, अतः शरीर में आसक्त होने योग्य कोई सार तत्त्व नहीं है। मनुष्य के जीवन की अनित्यता एवं क्षणभंगुरता के इसी स्वरूप को शिक्षासमुच्चय नामक ग्रन्थ में बडे ही सुन्दर ढंग से उद्धृत कर कहा गया है कि तीनों लोक शरद ऋतु के बादलों की भाँति अनित्य हैं। प्राणियों का जन्म एवं मरण नृत्य के अवलोकन की भाँति है। व्यक्ति का आयु गमन अर्थात् जीवन आकाश में बिजली चमकने की भाँति है, क्योंकि यह अत्यन्त ढालू पर्वत से नीचे गिरते हुए झरने की तरह अतिशीघ्र गमन करता है।[1]

स्वयं भगवान् ने कहा- हे भिक्षुओं, जो शरीर समयातीत हो चुका है अर्थात् जो मर चुका है, वह बान्धवों के द्वारा आग में जलाया जाता है। पानी में फेंका जाता है। जमीन के नीचे गाडा जाता है अथवा वायु एवं सूर्य के द्वारा सुखाया जाता है। अथवा तिर्यग् योनि के नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं के द्वारा खाया जाता है।[2]

जब अत्यन्त दृढ वस्तुओं का अन्ततः विनाश निश्चित है, तब इस दुर्बल मानव शरीर की तो बात ही क्या? इस प्रकार न केवल रूपवान ही अनित्य हैं, बल्कि ये सभी पाँचों उपादान स्कन्ध भी पूर्वोक्त की भाँति अनित्य एवं अनात्म हैं, क्योंकि वे दुःख के त्राता न होने के कारण अशरण तथा उपकारक न होने से अनाथ हैं। अन्ततः उन्हें प्रतिष्ठित होने का अवसर भी प्राप्त नहीं होता है।[3] इसलिए आचार्य नागार्जुन ने महाराज सातवाहन गौतमीपुत्र को सम्बोधित कर मनुष्य जीवन को महासमुद्र में उतराएं हुए जुएं के छिद्र में कछुए की गर्दन घुसने के समान अत्यन्त ही दुर्लभ बताते हुए कदली के समान इस सारहीन संसार में चित्त न लगाने का उपदेश दिया।

आचार्य ने निःश्रेयस की प्राप्ति हेतु इस ग्रन्थ में सप्त बोध्यङ्ग, शमथ-विपश्यना की युगनद्धता, प्रतीत्यसमुत्पाद का अवबोध आदि विषयों को स्पष्ट करते हुए कहा कि- यदि शरीर में आग लग जाय तो उसे बुझाने का प्रयास किया जाता है, क्योंकि वह शरीर एवं प्राण दोनों का विनाश करती है। संसार के दोष को जानने वाले योगी

---

[1] अध्रुवं त्रिभवं शरदभ्रनिभं नटरङ्गसमा जगि जन्मच्युतिः ।
गिरिनद्यसमं लघुशीघ्रजवं व्रजतायु जगे यथ विद्यु नभे ।। -शि.समु.(उद्धृत) पृ. ११३ मि.सं. ।

[2] सुहल्लेख-स्फुटार्थाटीका, रेनदावा, पृ. २२५, ति.सं.सं., १९९६ ।

[3] सुहल्लेख-स्फुटार्थाटीका, रेनदावा, पृ. २२३, ति.सं.सं. १९९६ ।

तो शरीर एवं प्राण की चिन्ता न कर, आग बुझाने हेतु प्रयत्न करने की बजाय वीर्यपूर्वक पुनर्जन्म न होने के लिये प्रयत्न करते हैं। धर्मों के स्वलक्षण एवं सामान्य लक्षण का सही ज्ञान कराने वाली प्रज्ञा के अभाव में ध्यान का उत्पाद भी नहीं होता है, क्योंकि प्रज्ञा से ज्ञेय विषयों में विचिकित्सा का निराकरण होता है तथा वह आलम्बन में चित्त को एकाग्र करती है। ध्यान के अभाव में सम्यक् एवं यथावत् ज्ञान वाली प्रज्ञा नहीं होती है। चित्त के समाहित होने पर सम्यक् एवं यथावत् ज्ञान होता है। अतएव शमथ एवं विपश्यना की युगनद्धता परम अवश्यक है।[१]

प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश करते हुए कहते हैं कि यह (प्रतीत्यसमुत्पाद) जिन के वचनों में प्रधान है अर्थात् सबसे प्रिय वचन है, क्योंकि यह सभी वचनों का सार है। यह तो स्व, पर, उभय और अहेतु से रहित होता है। इसलिए अन्य के द्वारा दुर्बोध होने के कारण गम्भीर है। अतएव जो प्रतीत्यसमुत्पाद को सम्यक् रूप से देखता है, वह तत्त्वों के ज्ञाता बुद्ध के श्रेष्ठ स्वरूप को देखता है। बुद्ध तो धर्मकाय का प्रभेद है, जिसका स्वभाव प्रतीत्यसमुत्पाद के स्वभाव से भिन्न नहीं है। जैसे शालिस्तम्बसूत्र में कहा गया है- **यो भिक्षवः ! प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति, स धर्मं पश्यति। यो धर्मं पश्यति, स बुद्धं पश्यति।।**[२]

संक्षेप में आचार्य ने निःश्रेयस धर्म की प्रतिपत्ति के लिये प्रयोगमार्गीय पाँच इन्द्रियों एवं पाँच बलों की भावना पर जोर देते हुए कहा कि सत्यों के प्रति दृढ विश्वास करने वाली श्रद्धा, उनके साक्षात्कार में उत्साह होने से वीर्य, सत्य और उनके आकारों को न भूलने से स्मृति, सत्य और उनके आकारों में एकाग्रचित्त होना ध्यान तथा सत्य और उनके आकारों का सम्यक् परिच्छेद करना प्रज्ञा है। ये पाँच अग्रधर्म अथवा श्रेष्ठधर्म कहे जाते हैं, क्योंकि ये आर्यमार्ग के साक्षात हेतु हैं। साथ ही, इनके विरोधी प्रत्यय अभिमान का परिहाण करें। श्रद्धा आदि इन्द्रियों के उत्पाद के लिए सम्यक् दृष्टि अपेक्षित है, जो दो प्रकार की हैं- संवृति विषयक एवं परमार्थ विषयक। प्रथम भविष्य में कर्म एवं फल के सम्बन्ध में विश्वास करना है। द्वितीय

---

[१] नत्थि झानं अपञ्ञस्स, पञ्ञा नत्थि अझायतो ।
यम्हि झानं च पञ्ञा च, स वे निब्बानसन्तिके ।। -धम्मपद, २५/१३

[२] म.सू.सं., पृ. १०० मि.सं., १९६१ ।

सर्वधर्म शून्यता तत्त्व की अवबोधिका प्रज्ञा है। प्रथम सम्यक् दृष्टि तो स्वर्ग का हेतु है तथा द्वितीय मोक्ष का हेतु है। अत एव यदि आवस्थिक रूप से स्वर्ग एवं वास्तविक रूप से मोक्ष सुख की अभिलाषा हो, तो उपर्युक्त संवृति एवं परमार्थ विषयक सम्यक् दृष्टियों की सदैव भावना करें।

आचार्य नागार्जुन पाद का संक्षिप्त अवदान :

(आचार्य नागार्जुन के बारे में अनुसंधानकर्त्ताओं ने इतना कार्य किया है कि आज उनके बारे में सर्वत्र कुछ न कुछ अवश्य जाना जा सकता है। किन्तु विद्वानों में अभी भी मतभेद दिखलाई पडते हैं। सर्वत्र उनकी जीवनी को लेकर विषमताएं प्राप्त होती हैं। मैंने इस बारे में ऊपर कुछ कहने का प्रयास किया है।)

सम्प्रति जो नागार्जुन का संक्षिप्त अवदान यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, वह सोलहवी शताब्दी के भोटाचार्य ङग गि वाङ्छुग गेलेग ग्याछो का संग्रह है। इस भोट आचार्य ने सुहल्लेख की एक विस्तृत टीका लिखी है। इसी की खोज में मैंने ग्रन्थालय में उपलब्ध पाण्डुलिपियों को देखना प्रारम्भ किया। वही मुझे इस ग्रन्थ की टीका की फिल्म पाण्डुलिपि प्राप्त हुई और टीका के तुरन्त बाद आचार्य का संक्षिप्त अवदान भी प्राप्त हुआ। लेखक स्वयं कहता है कि उसने भारतीय आचार्य बुद्धगुप्त के वचनों को आधार बनाकर इस अवदान का संग्रह किया है। क्योंकि समस्त भोट विद्वान् आचार्य (नागार्जुन) के बारे में एक मत रखते हैं, इसलिए भी इस अवदान का महत्त्व बढ जाता है।[१]

"धर्मधातु रूपी समुद्र के मध्य में जन्म प्राप्त करने वाले, चतुर्विमोक्षरूपी फणवाले, निर्मल वचन-बाणों के समूह से कुमतों का विनाश करने वाले, परम ऋषि (नागार्जुन) अर्जुन की भाँति श्रेष्ठ (धनुर्धर) हैं। सर्वज्ञनाथ ने शासन रत्न के अर्थों को स्पष्ट किया है तथा सभी दोषों का नाश कर विजयी हुए हैं, ऐसे कृपालु नागार्जुन के रूप में प्रसिद्ध उस वीर को मैं शिरसा प्रणाम करता हूँ।"[२]

---

[१] Cone Tangyur, Box No. 419 TRW T.IC SET VII LMPJ=014-053 page 130.

[२] तुलनीयम्-

योऽन्तद्वयावासविधूतवासः सम्बुद्धधीसागरलब्धजन्मा ।
सद्धर्मतोयस्य गभीरभावं यथानुबुद्धं कृपया जगाद ।। १ ।।

"आकाश के समान जिनके अचिन्त्य अद्भुत् गुणों का इस मन्दबुद्धि भौंरे (लेखक) के द्वारा सूक्ष्मता से वर्णन नहीं किया जा सकता है, फिर भी पुण्य वृद्धि के लिए जैसा मैंने श्रवण किया उतने मात्र को संक्षेप में मैंने कहा है। अतः इसका आदरपूर्वक श्रवण करें।"

तथागत शाक्यमुनि बुद्ध के परिनिर्वाण के काफी समय बाद कालान्तर में उनके द्वारा देशित सद्धर्म के जितने आगम समूह इस लोक में अर्थात् आर्यावर्त में थे, जिनमें अधिकांश श्रावक पिटक थे, उन्हें स्मृत्यसम्प्रमोष प्राप्त अर्हत् लोगों ने संगृहीत किया। इस प्रकार तीन बार धर्म-संगीतियाँ हुई। तृतीयसंगीति के अनन्तर विभिन्न स्थलों पर महायान पिटक का संग्रह करने वाले अनेक कल्याणमित्र भी एक समय में उत्पन्न हुए। वे भी गुह्याधिपति, अवलोकितेश्वर, मैत्रेय आदि का साक्षात्कार कर उनसे धर्म श्रवण करने वाले एवं धर्म की सतत समाधि प्राप्त व्यक्ति थे। जैसे- भट्टारक अवितर्क, विगतरागध्वज, दिव्याकरगुप्त आदि। उन्होंने देव एवं नाग आदि अन्य लोकों के भिन्न-भिन्न स्थलों से महायान पिटक के अनेक ग्रन्थों को प्राप्त किया और उनकी विस्तार से देशना की, जिससे उनकी ख्याति सभी दिशाओं में व्याप्त हो गई।

कुछ ही समय पश्चात् मध्य भारत के समीप चन्द्रपाल नामक एक धार्मिक राजा के शासनकाल में दक्षिण के वैदर्भ जनपद में एक समृद्ध एवं सुसम्पन्न उच्च ब्राह्मण कुल में एक प्रिय एवं सुन्दर बालक का जन्म हुआ। परम्परा के अनुसार नवजात शिशु को भविष्यवक्ता (ज्योतिषी) को दिखाया गया। तब भविष्यवक्ता ने गणना कर कहा कि यह बालक महापुरुषों के लक्षणों से युक्त है, किन्तु इसकी आयु बहुत ही कम है। यदि सौ भिक्षुओं, ब्राह्मणों तथा गरीबों को भोजन कराया जाय तो उस पुण्य के बल से यह बालक क्रमशः सात वर्ष, सात महीने एवं सात दिन तक जीवित

यस्य दर्शनतेजांसि परवादिमतेन्धनम् ।
दहन्त्यद्यापि लोकस्य मानसानि तमांसि च ।। २ ।।
यस्यासमज्ञानवचः शरौघा निघ्नन्ति निःशेषभवारिसेनाम् ।
त्रिधातुराज्यश्रियमादधाना विनेयलोकस्य सदेवकस्य ।। ३ ।।
नागार्जुनाय प्रणिपत्य तस्मै तत्कारिकाणां विवृतिं करिष्ये ।
उत्तानसत्प्रक्रियवाक्यनद्धां तर्कानिलाव्याकुलितां प्रसन्नाम् ।। ४ ।। - म.शा.वृ., पृ. ३, बौ.भा.प्र. १९८३।

रहेगा, उसके बाद जीवित रहने का कोई उपाय नहीं है। ब्राह्मण परिवार ने वैसा ही किया। जब बालक कुछ बडा हुआ तो वह अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि वाला होने के कारण वेद, शास्त्र एवं शिल्प विद्याओं को संकेत मात्र से विस्तारपूर्वक जान गया। भविष्यवाणी के अनुसार ज्यों-ज्यों बालक के जीवन का अन्तिम क्षण समीप आता जा रहा था, त्यों-त्यों उसके माता-पिता की बैचैनी बढती ही जा रही थी। अन्ततः अपने प्रिय पुत्र के मृत शरीर को देखने में असमर्थ माता-पिता ने उसे सेवकों के साथ अन्यत्र भ्रमण के लिए मध्यदेश (मगध) भेज दिया।

पूर्व में जब भगवान् बुद्ध इस लोक में विहार कर रहे थे, तब मगध के ही एक भाग तथा ब्राह्मणों के नगर नालन्दा में आर्य शारिपुत्र ने जन्म लेकर अन्ततः निर्वाण प्राप्त किया था। धीरे-धीरे वह नगर उजडने लगा, परन्तु धर्मराज अशोक ने वहाँ स्तूप एवं विहार का निर्माण करवाया। कालान्तर में महायानीय आचार्यों ने बुद्ध द्वारा देशित सभी महायान पिटकों का वहाँ संग्रह किया। वह नगरी श्री नालन्दा उस समय पूरे भारत में बौद्धविद्या केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध थी। दो ब्राह्मण आचार्य उद्‌भट (सिद्धस्वामी) एवं आचार्य क्षेमंकर ने उस स्थान पर पाँच सौ महायानी धर्मभाणकों को एकत्रित कर उनकी सेवा की।

कुछ समय बाद ओडिविश में जन्मे आचार्य महापण्डित राहुलभद्र नालन्दा के आचार्य हुए। उन्होंने पूर्व में आचार्य अवितर्क आदि अनेक महायानीय आचार्यों से शिक्षा ग्रहण की और समस्त हीनयानीय एवं महायानीय पिटकों का ज्ञान प्राप्त किया। गुह्याधिपति आदि देवों से भी महायानीय पिटक का श्रवण किया। उन्होंने नालन्दा विश्वविद्यालय में रहते हुए महायान की मध्यमा प्रतिपदा का विधिवत् निरूपण किया।

उसी दौरान् वह ब्राह्मण बालक भी अपने सहयोगियों के साथ वहाँ पहुँचा। आचार्य राहुलभद्र के समक्ष जाकर सेवकों ने बालक के बारे में पूछा और निवेदन किया कि बालक की आयु मात्र सात दिन शेष रह गयी है। आचार्य ने बालक से "अपरिमित आयु-मन्त्र" का जाप करवाया। बालक ने भी प्रयत्नपूर्वक मन्त्र का जाप किया। अन्तिम सातवें दिन रात-दिन मन्त्र का जाप करवाया, जिससे ब्राह्मण बालक की मृत्यु नहीं हुई और वह उन्हीं आचार्य के समक्ष प्रव्रजित होकर उपसम्पदा प्राप्त भिक्षु हुआ। समस्त हीनयानीय एवं महायानीय पिटकों का अध्ययन किया। पूर्व में जिन बाह्य विद्यास्थानों का अध्ययन नहीं किया था, उनका भी अध्ययन किया।

संक्षेप में, सभी विद्यास्थानों में वे पारंगत विद्वान् हुए। आचार्य राहुलभद्र से ही महामायूरी, कुरुकुल्ला, महाकाल, नवयक्षिका आदि मन्त्रों को ग्रहण कर साधना के द्वारा सिद्धि प्राप्त की। गुटिका (अदृश्य होने की) सिद्धि, अञ्जन (गुप्तधन को देखने की) सिद्धि, खड्गसिद्धि, जंघाचारिका आदि सिद्धियों में एवं सोना बनाने की रसायन कला आदि कलाओं में निपुणता प्राप्त की। पुनः जीवित होना आदि सभी शक्तियों की सिद्धि प्राप्त की तथा यक्षों, नागों आदि अमनुष्यों को प्रेषक (दूत) बनाया।

उस समय गुह्याधिपति का साक्षात्कार करने वाले पण्डित गुह्यशील के शिष्य पिटकधर भिक्षु हयपाल ने तारादेवी का अभिषेक प्राप्त कर निरन्तर भावना से सिद्धि प्राप्त की थी। वे ऋद्धि के बल से ओडियान वज्रस्थल पर गये। वहाँ उन्होंने डाकिनियों से तारोदयतन्त्र, अचलक्रोधराजतन्त्र, वज्रपाणिपरमगुह्यतन्त्र और हेरुकोत्पादतन्त्र को प्राप्त किया। वे तिपुरी (त्रिपुरा) प्रदेश के जंगलों में मन्दिर बनाकर रहने लगे। उन्होंने इन तन्त्रों की शिक्षा अपने एकमात्र शिष्य आचार्य हयघोष को दी। आचार्य हयघोष ने भी क्रमशः भावना करते हुए कालान्तर में इन सभी हयग्रीवक्रोधराज आदि देवों की सिद्धि प्राप्त की तथा ऋद्धि बल से अनेक सत्त्वों को बौद्धधर्म में दीक्षित किया। शासन के प्रति द्वेषभाव रखने वालों का निराकरण कर अपरिमित सत्त्वार्थ क्रिया सम्पन्न की।

ब्राह्मण भिक्षु श्रीमान् (नागार्जुन) ने आचार्य से उपर्युक्त सभी तन्त्रों का सम्यक् श्रवण किया तथा उनका अधिगम भी किया। अतिशीघ्र ही सभी मन्त्रों की सिद्धि भी प्राप्त की। विशेषकर सुघोटललित विद्यामन्त्र को आश्रितकर पद्मवाक् महाविद्याधर सिद्ध हुए। उस समय भारत के पूर्व में आचार्य व्याडि-पा नाम के एक ब्राह्मण रहते थे, जिन्होंने माहकाल मन्त्र की सहायता से लोहे को सोना बनाने की रसायन विद्या की साधना की थी। जब उन्हें सिद्धि प्राप्त हो गई तो उन्हें अपनी विद्या के प्रति कृपणता हो गई। कोई अन्य उनसे इस विद्या को माँग न ले, इस आशंका से वे अपने परिवार के साथ दक्षिण में समुद्र के मध्य में स्थित एक ऐसे द्वीप में चले गये, जो चारों ओर से दल-दल भूमि तथा चट्टानों से घिरा हुआ था।

इस बात का ज्ञान जब भिक्षु श्रीमान् को हुआ तो लोक कल्याण की भावना से उन्हें इस विद्या को प्राप्त करने की इच्छा हुई। भिक्षु श्रीमान् के पास डाकिनी मन्त्र जाप से प्राप्त आकाश मार्ग से गमनागमन में सक्षम एक जोडी पादुका थी, जो

पत्तियों से बनी हुई थी। वे उस पादुका के द्वारा उस द्वीप पर पहुँचे और उन्होंने एक पादुका को छिपा दिया तथा एक पादुका को लेकर वे आचार्य व्याडि के पास पहुँचे। जब आचार्य व्याडि को पता चला कि वह पादुका के बल पर यहाँ पहुँचा है, तो उन्होंने सोना बनाने की रसायन विद्या के बदले में वह पादुका माँग ली, ताँकि वह वापस न जा सके। भिक्षु श्रीमान् ने उस ब्राह्मण आचार्य से इसके अतिरिक्त भी अनेकों रसायन विद्याओं के बारे में ज्ञान प्राप्त किया। पश्चात् छिपाई हुई पादुका की सहायता से वे आकाश मार्ग से जम्बूद्वीप लौट आये। स्वयं आचार्य ने भी कुछ रसायन विद्या ग्रहण करके उनकी भावना की, जिससे उनका शरीर वज्र की तरह तथा उनके शरीर का वर्ण मणि की तरह हो गया। उन्होंने अनन्त ऋद्धियाँ एवं अभिज्ञाएं प्राप्त की तथा अन्य अपरिमित प्राणियों का उपकार किया।

कालान्तर में महाकाल विद्यामन्त्र की साधना से धनश्रीद्वीप अर्थात् श्रीधान्यकटक द्वीप में स्थित श्रीमहाकालतन्त्र को प्राप्त करने के अभिप्राय से उस द्वीप में गये। वहाँ अचल (क्रोधराज) तन्त्र के द्वारा मायासिद्धि प्राप्त की तथा उसके बल पर एक योजन की परिधि वाले क्षेत्र में रत्नों के वृक्ष, उद्यान, भवन तथा अनन्त देवी देवताओं का निर्माण किया। तन्त्र रक्षा में लगी उन डाकिनियों को माया से आश्चर्यचकित कर, काली देवी, दो हस्त से बारह हस्त तक तन्त्रों वाले आठ महाकालतन्त्र एवं कुरुकुल्ला, वितर्क आदि एक सौ साठ प्रकार की अनेक साधनाओं को प्राप्तकर वहीं वज्रडाकिनियों के मुख से उनका उपदेश भी श्रवण किया। खड्ग आदि आठ साधारण सिद्धि एवं अनेक असाधारण सिद्धियाँ प्राप्त की।

एक समय आचार्य राहुलभद्र आर्यतारा की साधना में स्थित होने जा रहे थे, तब भिक्षु श्रीमान् को नालन्दा का आचार्य बनाया गया। उनके ऊपर नालन्दा के पाँच सौ भिक्षुओं की शिक्षा-दीक्षा आदि का दायित्व सौंपा गया। उसी समय बारह वर्ष तक मगध राज्य में भयंकर अकाल पडा, जिससे मगध प्रान्त लगभग वीरान हो गया। लोग अन्यत्र सुविधापूर्ण स्थलों पर चले गये। आचार्य ने भी कोई उपाय न देखकर रसायन विद्या से सोना बनाकर अन्य स्थलों से अन्न मँगवाकर भिक्षुओं के भोजन आदि की व्यवस्था की।

कुछ समय के बाद जब आचार्य राहुलभद्र साधना से उठे, तो उन्होंने जन-जीवन से रिक्त वीरान मगध को देखकर इसका कारण पूछा। आचार्य श्रीमान् ने पूर्व की

घटनाओं का निवेदन किया। आचार्य राहुलभद्र को काफी दुःख हुआ। उन्होंने कहा कि मुझमें भोजन वृष्टि का सामर्थ्य है। मुझे सूचना क्यों नहीं दी? सत्त्वों के प्रति तुममें अल्प करुणा है, इसलिए तुम्हारा यह आचरण बोधिसत्त्व की चर्या के विरुद्ध है। इस पाप के परिशोधन के लिए तुम्हें १०८ विहार, १००० मन्दिर तथा १०,००० स्तूपों का निर्माण करना पडेगा। तत्पश्चात् आचार्य राहुलभद्र समाधि में चले गये और श्रीमान् सरह (सिद्ध) के नाम से प्रसिद्ध हुए।

उस समय भिक्षु श्रीमान् ने नालन्दा विहार के आचार्य का पदभार ग्रहण करते हुए महायान के मध्यम मार्ग को और भी पुष्ट किया। भिक्षुसंघ का महान कल्याण किया। चरित्रहीन एवं कपटी भिक्षुओं तथा श्रामणेरों को विहार से निष्कासित किया, जिनकी संख्या आठ हजार तक थी। आचार्य श्रीमान् सभी अठारह निकायों के अधिपति भी रहे। एक बार आचार्य ने चण्डिका देवी की साधना की। देवी ने साक्षात् दर्शन दिया और आचार्य को आकाश मार्ग से स्वर्ग की ओर ले जाने लगी। तब आचार्य ने प्रार्थना की कि मैंने स्वर्ग की कामना से आपकी साधना नहीं की थी, बल्कि बुद्धशासन की स्थिति तक भिक्षुओं की जीविका में कोई बाधा न होने के उद्देश्य से की। ऐसा निवेदन किये जाने पर वह देवी नालन्दा में ही एक निम्न जाति की स्त्री के रूप में रहने लगी और भिक्षुसंघ की सेवा करने लगी। आचार्य ने पत्थरों से बने अत्यन्त ऊँचे 'मञ्जुश्री' के मन्दिर के सामने मानवाकार के बराबर खदिर से बना एक वज्रकील गाड दिया और देवी से कहा कि जबतक यह वज्रकील भस्मीभूत न हो जाय, तबतक तुम भिक्षुसंघ की जीविका का प्रबन्ध करोगी।

इस प्रकार बारह वर्षों तक वह देवी भिक्षुसंघ की सेवा में आवश्यक सामग्रियों का प्रबन्ध करती रही। अन्त में एक बुरी नियत वाले श्रामणेर द्वारा उसके साथ कामवासना (सहवास) की इच्छा व्यक्त किये जाने पर उस (देवी) ने कहा कि यदि तुम इस खदिर के वज्रकील को भस्म कर दोगे तो तुम्हारी इच्छा पूरी होगी। उस कपटी श्रामणेर ने ज्यों ही उस वज्रकील को जलाकर भस्म किया, त्यों ही वह देवी अदृश्य हो गई। तदनन्तर आचार्य ने उसके लिए १०८ मन्दिरों में १०८ महायान धर्म (सभा) का निर्माण किया। उन सभी (मन्दिरों) में एक-एक महाकाल की प्रतिमा स्थापित की और उन्हें शासन की रक्षा का भार सौंपा।

बोधगया के बोधिवृक्ष को जंगली हाथियों से काफी नुकसान पहुँचता था, इस कारण आचार्य ने उस वृक्ष के पीछे दो विशाल लाटें लगवाई, जिससे अनेकों वर्षों तक हाथियों द्वारा हानि नहीं हुई। पुनः हाथियों से हानि होने पर आचार्य ने लाटों के ऊपरी सिरे पर सिंह पर सवार गदाधारी महाकाल की प्रतिमा बनवाई, जिससे अनेक वर्षों तक हानि नहीं हुई। पुनः हानि होने पर आचार्य ने बोधिवृक्ष के चारों ओर विशाल पत्थरों का बाडा बनवा दिया और उसके बाहर चारों तरफ देवयुक्त १०८ स्तूपों का निर्माण करवाया। श्रीधान्यकटक के स्तूप के चारों ओर भी बाडा लगवाया और उस बाडे के भीतर चारों ओर १०८ स्तूप बनवाये। जब बोधगया के पूर्व की ओर बाढ से अत्यधिक हानि हुई, तब नदी के किनारे सात बडे-बडे पत्थरों पर बुद्ध का प्रतिबिम्ब बनाकर उन्हें नदी की ओर मुख करके स्थापित किया, जिससे जलभय समाप्त हो गया। यह "सप्तसेतु मुनि" के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

पूर्व में आचार्य राहुलभद्र ने जो आदेश दिये थे, वे एक भिक्षु द्वारा दुष्कर हैं, ऐसा जानकर उन्होंने यक्ष जम्भल से धन ग्रहण किया। कार्य में सहायक नागों की आवश्यकता को देखकर नागों को अपने प्रति अर्थात् धर्म के प्रति श्रद्धावान् बनाने के अभिप्राय से कुरुकुल्ला विद्यामन्त्र के प्रभाव से नागराज तक्षक के पुत्री सहित पूरे परिवार को धर्म के प्रति मोहित किया। फलस्वरूप, उन्हीं दिनों धर्मोपदेश से समय प्रतिदिन मनुष्य रूप में दो सुन्दर नारियाँ आभूषणों से अलंकृत हो दासियों सहित धर्म श्रवण हेतु आने लगी। उनके आगमन पर एक योजन की दूरी तक चारों ओर चन्दन की सुगन्ध फैल जाती थी और उनके चले जाने पर सुगन्ध गायब भी हो जाती थी।

जानेत हुए भी जब आचार्य ने उनसे पूछा कि तुम कौन हो? कहाँ से आयी हो? तब उन्होंने स्वयं को नागराज तक्षक की कन्या बताया और कहा कि हम मनुष्य की छाया अर्थात् गन्दगी से बचने के लिए अपने शरीर पर चन्दन का लेप करती हैं। आचार्य ने उनसे तारादेवी की मूर्ति बनाने हेतु चन्दन की लकडी तथा मन्दिर निर्माण में सहायता करने को कहा। नागपुत्रियों ने कहा कि वे अपने पिता से पूछकर आवेंगी। तीसरे दिन वे दोनों पुनः आचार्य के पास आईं और कहा कि एक शर्त पर ही वे चन्दन की लकडी दे सकती हैं, अगर आचार्य नागलोक का निमन्त्रण स्वीकार करें। नागों की भलाई एवं लोगों के उपकार के लिए वहाँ से

''शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता'' को लाने की कामना से आचार्य ने उनके निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया।

तदनुसार वे पश्चात् नागलोक की यात्रा पर गये। वहाँ शास्ता शाक्यमुनि के इस शासन के अनेक ऐसे अर्हत् थे, जो नागों द्वारा पूजनीय थे। उन्होंने आचार्य को आश्चर्य से देखा और कहा कि हम तो क्लेश पर विजय प्राप्त अर्हत् हैं, तुम तीन विषों (काम, क्रोध, तृष्णा) से युक्त व्यक्ति हो, फिर भी तुम पर नागों के विष का असर क्यों नहीं हो रहा है? आचार्य ने कहा कि मैंने महामायूरी विद्यामन्त्र की सिद्धि प्राप्त की है, उसी के प्रभाव से विष का कोई असर नहीं होता है। आचार्य ने भी उन अर्हतों से प्रश्न पूछा- भगवान् के वचनों में ''सभी धर्म निःस्वभाव'' कहे गये हैं, किन्तु वर्तमान में भूतल पर अधिकांश आचार्य इसकी विपरीत व्याख्या करते हैं, आर्य आप लोग इसे किस रूप में देखते हैं? तब उन अर्हतों ने कहा- धर्मों का स्वभाव, तत्त्व तो तुम्हारे अनुसार है, किन्तु पश्चात् काल में सभी आलम्बन के प्रति अभिनिवेश करने वाले श्रावक ही होंगे, ऐसा तथागत ने स्वयं व्याकरण किया है। वहाँ नागों को महायान आदि धर्मों का उपदेश करते हुए काफी समय तक रहकर आचार्य ने उनका महत् कल्याण किया। वहाँ से समस्त विस्तृत शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता तथा अनेक धारणी एवं अधिगम विद्याओं का ग्रहण कर जम्बूद्वीप वापस लौट आये।

वर्तमान में शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता का अन्तिम कुछ भाग (दो परिवर्त) उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि नागों ने उन्हें अपने पास अमानत के तौर पर रख लिया था। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चात् तैर्थिकों एवं मुस्लिम राजाओं द्वारा जब सद्धर्म को तीन बार नुकसान पहुँचाया गया, उसी समय इसके अन्तिम कुछ भाग भी नष्ट हो गये। प्रज्ञापारमिता सूत्रों को प्राप्त करने के पश्चात् आचार्य महायान परम्परा से अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचनाकर इसका खूब प्रचार किया। एक बार जब वे विहार के आंगन में धर्मोपदेश कर रहे थे, तब सूर्य की तेज एवं प्रखर किरणों से रक्षा हेतु छह नागों ने उनके ऊपर छतरी के रूप में छाया की। इसीलिए उन्हें नाग कहा गया। दूसरे शब्दों में उन्होंने कुरुकुल्ला की साधना कर नागराज तक्षक एवं अन्य नागों पर भी विजय प्राप्त की, इसलिए उन्हें नागार्जुन कहा गया।

उस समय आचार्य द्वारा लाये गये प्रज्ञापारमितासूत्रों को मिथ्या-धर्म कहकर वस्तुवादी श्रावकों ने आचार्य की निन्दा की। इसके निवारण के लिए आचार्य नागार्जुन ने मूलमध्यमककारिका, युक्तिषष्ठिका, शून्यतासप्तति, वैदल्यसूत्र आदि तथा पञ्चविद्यासमूह आदि ग्रन्थों की रचना की। इनके अतिरिक्त भी धर्मधातुस्तुतिसंग्रह तथा सूत्रसमुच्चय आदि महायान में अप्राप्त अनन्त शास्त्र, बाह्य एवं आभ्यन्तर विद्या-स्थान तथा शिल्पविद्या-स्थान आदि लघु शास्त्रों की भी रचना की।

भिक्षु क्षेमंकर (दे-जेद) नामक एक सैन्धव श्रावक ने 'विद्यालंकार' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसका परिमाण बारह हजार श्लोक था। महायान पर दोषारोपण के उद्देश्य से उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। आचार्य नागार्जुन ने इस ग्रन्थ सहित महायान पर आरोप करने वाले अन्य ग्रन्थों का 'वैदल्यसूत्र' द्वारा खण्डन किया। पुनः श्रावक सैन्धवों द्वारा तार्किक महायानियों से विवाद करने के लिए अनेक रचित ग्रन्थों को आचार्य ने उनकी मूल प्रतियों सहित भूमि में छिपा दिया। तत्पश्चात् दक्षिण प्रान्त में 'जटासंहर' नामक स्थान में ५०० तैर्थिकों को शास्त्रार्थ में परास्त कर उन्हें बुद्धशासन में प्रविष्ट कराया। पूर्व में पटपेसस्तेपुकं (शायद पाटलिपुत्र), ओडिविश, बंगाल तथा रन्ध्र (आंन्ध्र) प्रदेशों में बहुत से मन्दिरों का निर्माण कराया। इसी समय उन्होंने १०८ मन्दिरों एवं स्तूपों का निर्माण कार्य भी पूर्ण किया। इस प्रकार आचार्य ने न केवल महायान बौद्धधर्म की स्थापना की, अपितु समस्त प्रपञ्चों से रहित अप्रतिष्ठित 'मध्यम प्रतिपदा' को सूर्य की भाँति प्रकाशित किया।

अनन्तर शैलघण्टा पर्वत एवं उत्तर में भिङकोट आदि अनेक पर्वतों एवं चट्टानों को स्वर्ण रसायन विद्या द्वारा उन्होंने सोने में परिवर्तित करना चाहा, तो भट्टारिका तारादेवी ने व्याकरण किया कि पश्चात् काल में इसकी वजह से लोगों में परस्पर कलह एवं विवाद उत्पन्न होंगे। अतः आचार्य ने यह विचार त्याग दिया। फिर भी उस दिशा में सोने की खानें स्वतः निकल आईं। प्रायः सभी पर्वत स्वर्म-वर्ण के हो गये, जो वर्तमान में भी प्रसिद्ध हैं।

तदनन्तर आचार्य ने उत्तरकुरु प्रदेश की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में उन्हें कुछ बालक खेलते हुए मिले। उनमें से एक बालक की हाथ की रेखाएं देखकर भविष्य में उस बालक के राजा होने की भविष्यवाणी की और उत्तरकुरु में जाकर रहने लगे। इसके अलावा अन्य द्वीपों, जैसे- जम्बूद्वीप के समीप सिंहलद्वीप, यवद्वीप तथा

जमिगगिरिद्वीप आदि अनेकों द्वीपों में गये और धर्मोपदेश द्वारा वहाँ के सत्त्वों का उपकार किया। वहाँ भगवान् की पाषाण मूर्तियों एवं अनेकों मन्दिरों का निर्माण कराया। अन्त में अमनुष्य गति में तथा अन्य द्वीपों में भी बारह वर्षों तक शासन की सेवा कर वे पुनः जम्बूद्वीप में लौट आये।

तबतक आचार्य द्वारा की गयी भविष्यवाणी के अनुसार वह बालक राजा सातवाहन गौतमीपुत्र (दे-चोद् सङ्पो) के नाम से प्रसिद्ध हो चुका था। राजा ने आचार्य का आदर-सत्कार कर उनकी पूजा की। आचार्य ने भी राजा को धर्मोपदेश देने के लिए गाथा के रूप में सुहल्लेख एवं रत्नावलि की रचना की। आचार्य के उपदेश से प्रेरित होकर राजा ने रसायन विद्या एवं यक्षिणी प्रेषिका की सिद्धि प्राप्त की और संघ के निवास के लिए पाँच सौ विहारों का निर्माण कराया। इस प्रकार राजा सातवाहन (शातवाहनउदे-चोद् सङ्पो) को बुद्धशासन में प्रवेश कराकर उन्होंने दक्षिणी प्रदेशों में अनेक वर्षों तक शासन की सेवा की।

दक्षिण के कंस प्रदेश में मधु एवं सुप्रमधु नामक अथाह सम्पत्ति वाले दो ब्राह्मण रहते थे। उन्होंने आचार्य के साथ वेदान्त धर्म की चर्चा की। आचार्य तो चार वेदों एवं अठारह विद्या स्थानों आदि के सम्पूर्ण ज्ञाता हैं और उनके ज्ञान का सौवाँ अंश भी स्वयं हम दोनों में नहीं है, यह देखकर उन्होंने आचार्य से पूछा कि- हे ब्राह्मण पुत्र! तीनों वेदों एवं सभी शास्त्रों को जानते हुए भी आप शाक्य श्रमण क्यों हो गये? आचार्य ने वेद की प्रशंसा न कर धर्म की सम्यक् प्रशंसा द्वारा अत्यन्त श्रद्धा एवं आदर से महायान की स्तुति की। पश्चात् उनसे प्रभावित होकर दोनों ब्राह्मण भी बुद्धशासन में दीक्षित हो गये और आचार्य द्वारा मन्त्रविद्या की दीक्षा दी जाने पर प्रथम ने सरस्वती की सिद्धि प्राप्त की। देवानुभाव से 'शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' जैसे विशाल ग्रन्थ को एक, दो अथवा तीन दिन में लिख डाला। इसी कारण भिक्षुओं में बुद्धवचन जैसे अनेक ग्रन्थ वितरित किये जा सके। दूसरे ने वसुन्धरा देवी (धनलक्ष्मी) की सिद्धि प्राप्त की तथा बिना यत्न के चारों दिशाओं के भिक्षुसंघों को भी आवश्यक सामग्रियाँ प्रदानकर उनकी पूजा अर्चना की।

इस प्रकार आचार्य ने श्रवण, उपदेश एवं भावना, स्तूप एवं मन्दिर निर्माण, संघों की जीविका के साधन जुटाना, अमनुष्य गतियों का उपकार और तैर्थिकों के प्रतिवाद

का निराकरण आदि अनेक कार्य सम्पन्न किये। सभी प्रकार से सद्धर्म का संरक्षण एवं संवर्धन कर महायान शासन पर अद्वितीय कृपा की।

वे जीवन के उत्तरकाल में दक्षिण के 'श्रीपर्वत' पर लगभग दो सौ वर्षों तक रहे। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि आचार्य वहाँ एक सौ उनतीस अथवा एक सौ इकहत्तर वर्षों तक रहे। वे वहाँ यक्षिणी परिवार सहित तन्त्रचर्या द्वारा निवास करते थे। वहीं उन्हें प्रथम भूमि (प्रमुदिता) का ज्ञान प्राप्त हुआ और उनका शरीर बत्तीस महापुरुष लक्षणों से अलंकृत हो गया।

राजा का सबसे छोटा पुत्र 'सुशक्ति' राजगद्दी पर बैठना चाहता था। वह सदैव अपनी माता से इस बात की चर्चा किया करता था। एक दिन माता ने बताया कि महाराज की आयु आचार्य नागार्जुन की आयु के बराबर होगी, ऐसा आचार्य द्वारा उन्हें वर प्राप्त है। आचार्य स्वयं वज्रकाय प्राप्त हैं, इसलिए उनकी मृत्यु सम्भव नहीं लगती है और तबतक महाराज की भी मृत्यु नहीं हो सकती है। राजमाता से इस तथ्य को जानकर राजा न बन पाने की दशा में राजकुमार बहुत दुःखी हुआ। तब राजमाता ने इसका उपाय बताया, जो इस प्रकार है- आचार्य बोधिसत्त्व हैं, यदि तुम उनका सिर माँगोगे तो वह दे देंगे। आचार्य की मृत्यु के साथ ही महाराज की भी मृत्यु हो जायेगी। तभी तुम्हें राजगद्दी प्राप्त हो सकती है।

तदनन्तर वह राजकुमार 'श्रीपर्वत' गया और आचार्य का दर्शन कर उनसे उनका सिर माँगा। आचार्य ने राजकुमार की बात स्वीकार कर ली और सिर काटकर ले जाने को कहा। काफी प्रयास करने पर भी राजकुमार शस्त्र से आचार्य के सिर को काटने में असफल रहा, क्योंकि उन पर शस्त्र का कोई प्रभाव नहीं पडता था। तब राजकुमार ने स्वयं आचार्य से इसका उपाय पूछा, आचार्य ने कहा कि- इस जन्म में मैंने कोई पाप किया हो, ऐसा मुझे याद नहीं आता। हाँ, पूर्व किसी जन्म में मेरे द्वारा कुश-तृण से एक क्षुद्र जीव की हत्या हो गयी थी, अतः कुश से मुझे मारने का प्रयत्न करो। फलतः राजकुमार कुश से आचार्य से सिर को काटने में सफल हुआ। तब आकाश में भविष्यवाणी हुई कि- "मैं यहाँ से सुखावती (देवलोक) क्षेत्र में जाऊंगा, अनन्तर इसी शरीर में पुनः प्रवेश करूंगा।" आचार्य ने इस प्रकार की लीला दिखाई। वास्तव में तो वे युगनद्ध-काय प्राप्त हैं। आर्य शैक्षों को भी इस पद

की प्राप्ति होने पर मृत्यु के अनन्तर उनके मांस एवं रक्त रूपी स्थूल काय परिवर्तित होकर स्थित नहीं रहते हैं, पुनः आचार्य के काय का अवशिष्ट रहना तो असम्भव है।

सारी पृथिवी काँप उठी, बारह वर्षों तक निरन्तर उस क्षेत्र में अकाल पडा। राजकुमार को शंका हुई कि आचार्य तो रसायनसिद्ध पुरुष हैं। अतः कहीं पुनः सिर व धड एक न हो जाय। इसलिए उनके सिर को अनेकों योजन दूर ले जाया गया। रास्ते में यक्षिणियों ने आचार्य का सिर छीन लिया और एक चट्टान के ऊपर रख दिया। वह चट्टान फट गई और वहाँ पर 'पंचदेव चिन्तामणि अवलोकितेश्वर' की पाषाण मूर्ति प्रकट हो गई। यजमान यक्षिणियों ने सिर और धड (काय) दोनों पर अलग-अलग मन्दिर का निर्माण किया। इन दोनों स्थलों के बीच पहले चार योजन की दूरी थी। क्रमशः यह दूरी कम होते-होते एक कोश से कम रह गयी। दोनों मन्दिरों की दीवारें फटकर चट्टान की भाँति हो गई। द्वार बन्द हो गये तथा खिड्की से देखने पर दोनों (सिर व धड) आसन के ऊपर पत्थर की मूर्ति हो गये और अभी भी टुकडों के रूप में दिखाई पडते हैं।

आचार्य नागार्जुन की यह जीवनी भारतीय आचार्य बुद्धगुप्त के वचनों से ली गयी है। उपर्युक्त कथन के अनुसार भविष्यकाल में सिर और धड दोनों एक होकर पुनः जगत् का कल्याण करेंगे। ज्ञानकाय को सुखावती देवलोक में प्रतिष्ठित कर ऐसी लीला दिखायी गयी है। किन्तु वास्तव में, उनका ज्ञान आकाशपर्यन्त सत्त्व एवं भाजन लोक में सर्वत्र व्याप्त होने से एक देश में उनकी स्थिति मानना पृथग्जनों की बुद्धि के वश की बात नहीं है।

इस प्रकार आचार्य के बारे में सम्यक्सम्बुद्ध ने बार-बार व्याकरण किया है। यहाँ कुछ का उल्लेख किया जा रहा है। जैसाकि मञ्जुश्रीमूलकल्प में कहा गया है- तथागत के निर्वाण के चार सौ वर्ष बाद नाग नामक एक भिक्षु होगा, जो बुद्धशासन में श्रद्धा से प्रतिष्ठित होगा। प्रथम प्रमुदिता भूमि को प्राप्त करेगा तथा छः सौ वर्षों तक जीवित रहेगा। वह महात्मा विद्यामन्त्र, महामायूरी आदि सिद्धियाँ भी प्राप्त करेगा। अनेक शास्त्रों के अर्थ एवं अवस्तु (सत्ता अर्थात् धर्मों की निःस्वभावता) के अर्थों को जानेगा। मृत्यु को प्राप्त होने पर सुखावती देवलोक में उत्पन्न होगा। वह क्रमशः अन्त में निश्चित ही बुद्धत्व प्राप्त करेगा।

भारतीय आचार्यों का मानना है कि आचार्य के छः सौ साल जीवित रहने की जो गणना है, वह छः माह को एक वर्ष मानकर है। पश्चात् सिर का दान देने के कारण कुछ विद्वान् मानते हैं कि वे ५२९ (पाँच सौ उनतीस) वर्षों तक जीवित रहे। कुछ अन्य विद्वानों का मानना है कि वे ५७१ वर्षों तक जीवित रहे। प्रथम के अनुसार आचार्य मध्यदेश में दो सौ वर्ष, दक्षिण प्रान्त में दो सौ वर्ष तथा श्री पर्वत पर एक सौ उनतीस वर्ष रहे। जबकि दूसरे के अनुसार श्रीपर्वत पर एक सौ इकहत्तर वर्ष रहे। राजा गौतमीपुत्र भी एक सौ पचास वर्षों तक जीवित रहे। श्री उत्तरकालचक्रतन्त्र में कहा गया है- निखिल गुणों के आकर भिक्षु नागार्जुन सभी सत्त्वों के हितसाधक थे। लंकावतारसूत्र में भी कहा गया है- दक्षिणापथ के वेदली नामक स्थान पर नागार्जुन नाम का एक भिक्षु होगा, जो श्रीमान् यशस्वी तथा सत्पक्ष एवं असत्पक्ष का विदलन करने वाला होगा। वह मेरे यान अर्थात् अनुत्तर महायान को देवलोक में प्रकाशित करेगा तथा प्रथम प्रमुदिता भूमि को प्राप्त कर अन्त में सुखावती देवलोक में जन्म लेगा। इनके साक्षात् शिष्य आचार्य आर्यदेव, आर्यशूर, सिद्ध शबरी-पाद, आचार्य नागबोधि, शाक्यमित्र, सिद्ध शिंखी-पाद, ब्राह्मण वररुचि, कर्षरि-पाद, चन्द्रकीर्ति आदि अनेकों सत्पुरुष हुए। आचार्य नागार्जुन की जितनी भी जीवनियाँ प्राप्त होती हैं, उनमें से विश्वसनीय बातों का यहाँ वर्णन किया गया है।

द्वितीय जिन(बुद्ध) की आश्चर्यजनक कथा, जीवनी के आख्यान से जो अक्षय पुण्य प्राप्त हुआ है, उससे सभी लोग सम्यग् मार्ग से साक्षात् वज्रसदृश महासुख को प्राप्त करें।

(उत्तर दिशा में हिमालय के समीप मध्यदेश में उत्पन्न शाक्य श्रमण ङ्‌ग गि वङ्‌छुग्‌ गेलेग ग्याछो (वागीश्वर कल्याणार्णव) ने आचार्य नागार्जुन की अद्‌भुत एवं संक्षिप्त जीवन-कथा भोट संवत् अक्षय वर्ष के सातवें महीने के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के दिन, तदनुसार लगभग जुलाई १५६६ ई० सन् में सम्पन्न की है।)

आचार्य की कृतियाँ :

देगे तनग्युर संग्रह में आचार्य नागार्जुन के नाम से प्राप्त ग्रन्थों का विवरण का संकलन कर प्रोफेसर सेम्पा दोर्जे ने बहुत पहले १९७४ में प्रकाशित अपने लघु ग्रन्थ वैदल्यसूत्र के परिशिष्ट में दिया है। पश्चात् पूज्य गुरुवर प्रोफेसर रामशंकरत्रिपाठी जी

ने भी अपने बौद्धदर्शन प्रस्थान नामक ग्रन्थ में भी आचार्य के ग्रन्थों की सूची दी है। प्रस्तुत सूची उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर दिया जा रहा है -

स्तुतिवर्गः

१. धर्मधातुस्तवः
२. निरुपमस्तवः
३. लोकातीतस्तवः
४. चित्तवज्रस्तवः
५. परमार्थस्तवः
६. कायत्रयस्तोत्रम्
७. कायत्रयस्तोत्रनाम विवरणम्
८. सत्त्वाराधनस्तवः
९. प्रज्ञापारमितास्तवः
१०. अचिन्त्यस्तवः
११. स्तुत्यतीतस्तवः
१२. निरुत्तरस्तवः
१३. आर्यभट्टारकमञ्जुश्रीपरमार्थस्तुतिः
१४. आर्यमञ्जुश्रीभट्टारककरुणास्तोत्रम्
१५. अष्टमहास्थानचैत्यस्तोत्रम्
१६. अष्टमहास्थानचैत्यस्तोत्रम्
१७. द्वादशकार्यनयस्तोत्रम्
१८. वन्दनास्तोत्रम्
१९. नरकोद्धारी

तन्त्रवर्गः

१. संधिभाषाटीका
२. कक्षपुटम्
३. तारासाधना
४. महाकारुणिकार्यातारासाधनसामान्याभिसमयः
५. श्रीनाथमहाकालसाधनाक्रमः
६. प्रज्ञाश्रीमहाकालसाधना
७. श्रीमहाकालसाधना
८. श्रीमहाकालसाधना
९. महाकालसाधना
१०. श्रीमहाकालाष्टपदस्तोत्रम्
११. श्रीमहाकालाष्टमन्त्रस्तोत्रम्
१२. वज्रमहाकालाष्टकस्तोत्रम्
१३. श्रीगुह्यसमाजतन्त्रटीका
१४. पिण्डीकृतसाधना
१५. श्रीगुह्यसमाजमहायोगतन्त्रोत्पत्तिक्रमसाधनासूत्रमेलापकम्
१६.श्रीगुह्यसमाजमण्डलविधिः
१७. अभिषेकचतुःप्रकरणम्
१८. बोधिचित्तविवरणम्
१९. बोधिचित्तविवरणम्
२०. पञ्चक्रमः

२१. चण्डवज्रक्रोधपञ्चदेवमण्डलविधिः
२२. वज्रपाण्यष्टाङ्गमार्गः
२३. तत्त्वप्रदीपनाम वज्रपाणिसर्वसाधनापूर्णालंकारः
२४. प्रतिष्ठालंकारः
२५. मन्त्रालंकारसाधना
२६. आर्यवज्रपाणिनीलाम्बरधरसर्वमण्डलविधिपूर्णः
२७. भावसञ्चरः
२८. स्वभावासिद्धिर्नामोपदेशः
२९. निर्देशनाभिषेकक्रमः
३०. आर्यनीलाम्बरधरवज्रपाणिविधिनाम धारणीटीका
३१. मञ्जुश्रीवज्रप्रज्ञावर्धनम्
३२. आर्यसहस्रभुजावलोकितेश्वरसाधनम्
३३. लोकेश्वरसाधनम्
३४. नीलाम्बरधरोपसिद्धिः
३५. प्रायश्चितामृतम्
३६. वज्रपवित्रनामकर्मसमूहः
३७. सप्ताङ्गसाधना
३८. वज्रपाणिमण्डलविधिः
३९. हयग्रीवसाधना
४०. कल्याणकामधेनुः
४१. आर्यमहाप्रतिसराविद्याचक्रनिबन्धनम्
४२. कल्पोक्तकुरुकुल्लासाधना
४३. वज्रतारासाधना
४४. मुक्तकेन तारोद्भवकुरुकुल्लासाधना
४५. नागेश्वरराजसाधना
४६. खदिरवनतारासाधना
४७. निष्कामप्रदीपम्
४८. नानातन्त्रोद्धृतबलिविधिः

सूत्रवर्गः

१. मूलमाध्यमिककारिका
२. युक्तिषष्टिकाकारिका
३. वैदल्यसूत्रम्
४. शून्यतासप्ततिकारिका
५. विग्रहव्यावर्तनीकारिका
६. मूलमाध्यमिकवृत्तिरकुतोभया
७. वैदल्यप्रकरणम्
८. शून्यतासप्ततिवृत्तिः
९. विग्रहव्यावर्तनीवृत्तिः
१०. महायानविंशिका
११. अक्षरशतकम्
१२. अक्षरशतकस्य वृत्तिः
१३. प्रतीत्यसमुत्पादहृदयकारिका
१४. प्रतीत्यसमुत्पादहृदयव्याख्यानम्
१५. अबुद्धबोधकप्रकरणम्
१६. भवसंक्रान्तिः
१७. स्वभावत्रयप्रवेशसिद्धिः
१८. भावनाक्रमः

१९. सूत्रसमुच्चयः
२०. बोधिचित्तोत्पादविधिः
२१. आर्यशालिस्तम्बकमहायानसूत्रटीका
२२. बोध्यापत्तिदेशनावृत्तिः
२३. आर्यभद्रचर्याप्रणिधानमहाराजनिबन्धनम्
२४. आर्यधर्मधातुगर्भविवरणम्
२५. आर्यमूलसर्वास्तिवादिश्रामणेरकारिका
२६. दशशिक्षाविधिः
२७. योगशतकम्
२८. अवौषधविधिः
२९. धूपसंयोजनविधिः

परिकथा

१. राजपरिकथारत्नमाला
२. स्वप्नचिन्तामणिपरिकथा
३. दानपरिकथा
४. भवसंक्रान्तिपरिकथा
५. सुहृल्लेखः
६. प्रज्ञाशतकप्रकरणम्
७. नीतिशास्त्रप्रज्ञादण्डम्
८. नीतिशास्त्रजन्तुपोषणबिन्दुः

विविधम्

१. वज्रप्रणिधानम्
२. बोध्याकरप्रणिधानम्
३. आयनागार्जुनप्रणिधानम्
४. राजपरिकथारत्नावल्याम् उद्धृतं विंशतिकप्रणिधानम्
५. प्रणिधानरत्नराजः
६. मङ्गलगाथा
७. मङ्गलगाथा
८. आर्यविजयिनाम गुट्टिका
९. आर्यमूलकोषमहौषधक्रमः
१०. ईश्वरकर्तृत्वनिराकृतिः - विण्णोरेककर्तृत्वानिराकृतिश्च

टीकाकार आचार्य महामति की जीवनी एवं कृतियाँ :

आचार्य महामति की जीवनी एवं उनके काल के बारे में भारतीय इतिहासकारों एवं भोट इतिहासकारों ने कही भी कुछ स्पष्ट नहीं कहा है। इसलिए उनके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना असम्भव है, किन्तु तथ्यों के आधार पर हम उनके बारे में शायद कुछ निर्णय ले सकें। प्राचीन भारत के बौद्धधर्म के इतिहास में कुछ ऐसे भी आचार्य हुए हैं, जिन्होंने रचना से अधिक साधनापक्ष को महत्त्व दिया। शायद

आचार्य महामति भी रचना में इतने प्रसिद्ध नहीं हुए। यही कारण रहा कि इतिहासकारों ने उन्हें नजरअंदाज कर दिया। तनग्युर संग्रह में भी उनके नाम से मात्र तीन रचनाएं प्राप्त होती हैं, जिनमें सुहल्लेख की व्यक्तपदाटीका ही एकमात्र ऐसी कृति है जो परिमाण में सबसे बडी है। अन्य दो ग्रन्थों में से एक लघु ग्रन्थ तन्त्र से सम्बन्धित तथा एक माध्यमिक ग्रन्थ है। इस प्रकार यह तो स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य महामति अपने समय में कोई बहुत प्रसिद्ध विद्वान् नहीं रहे होंगे।

सुहल्लेख की यह भारतीय आचार्य कृत एकमात्र टीका है, जिसकी रचना आचार्य महामति ने की थी। इससे इस बात का भी संकेत प्राप्त होता है कि आचार्य नागार्जुन कृत यह ग्रन्थ उस समय भारत में बहुत अधिक प्रचलित नहीं रहा होगा। आठवीं शताब्दी तक इस ग्रन्थ का संस्कृत मूल भारत में विद्यमान था तथा इसे तिब्बत ले जाया गया। वहाँ भारतीय आचार्य सर्वज्ञदेव तथा तिब्बती अनुवादक कावा पलचेक ने मूल एवं टीका दोनों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। सम्प्रति दोनों ग्रन्थ तनग्युर संग्रह में उपलब्ध होते हैं।

आचार्य नागार्जुन के शिष्यवर्ग में भी इनका नाम नहीं आता है। अपनी व्यक्तपदाटीका में आचार्य महामति ने सिर्फ सूत्र ग्रन्थों के ही मात्र एक-दो उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। अतः ग्रन्थ से उनके काल निर्णय में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती है। आचार्य ने अपने मात्र सात पृष्ठों वाले 'रहस्यानन्दतिलक' नामक तन्त्र ग्रन्थ में एक स्थान पर 'ललितविस्तर' का एक उद्धरण दिया है, जो आचार्य शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय में भी उद्धृत है, जो इस प्रकार है-

अध्रुवं त्रिभुवं शरदभ्रनिभं नटरङ्गसमा जगि जन्मच्युतिः।
गिरिनद्यसमं लघुशीघ्रजवं वज्रतायु जगे यथ विद्यु नभे।।[1]

उसी ग्रन्थ में अन्यत्र एक स्थल पर आचार्य नागार्जुन कृत सुहल्लेख के एक श्लोक का भी उद्धरण प्राप्त होता है।

बहुबाधं तु जीवनं वायूद्धभूतजलबुद्बुदवदनित्यं च ।
आश्चर्यं जागर्तेः क्षणमिदं निःश्वासोच्छ्वासनिद्राभ्यः ।।[2]

---

[१] शिक्षा समुच्चय, (उद्धृत) १२/पृ. ११३ ; ललितविस्तर, १३/४५४ ।

[२] सुहल्लेख, (पुनरुद्धार), ५५ कारिका ।

उपर्युक्त ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने स्वयं को भिक्षु श्रीबोधिभद्र का गुरु कहा है। आचार्य दीपंकर के गुरु का नाम भी बोधिभद्र था किन्तु वे ग्यारहवीं शताब्दी के थे। भिक्षु बोधिभद्र के बारे में भी कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं है। विक्रमशील महाविहार के उत्तराधिकारियों की श्रेणी में आचार्य तथागतरक्षित के बाद आचार्य बोधिभद्र का नाम आता है, जो बाह्य एवं आध्यात्मिक सभी गुह्यमंत्र के ग्रन्थों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। ये उपासक थे। इन्हें मञ्जुश्री के साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ था। कहा जाता है कि नामसंगीति की साधना करने पर प्रत्येक नाम पर एक-एक समाधि उत्पन्न हुई। उन दिनों बोधिभद्र नाम के अनेक आचार्य हुए तथा पश्चात् भी हुए। किन्तु आचार्य बोधिभद्र का सम्बन्ध भी आचार्य महामति से सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि ये आचार्य (बोधिभद्र) पाँचवीं-छठीं शताब्दी में विक्रमशील के मठाधिकारी रहे होंगे।[1]

आचार्य महामति रचित 'बुद्धानुस्मृत्यनुत्तरभावना' नामक माध्यमिक ग्रन्थ से हमें उनके काल निर्णय में कोई सहायता नहीं मिलती है। इस प्रकार आचार्य महामति का काल आचार्य के पश्चात् तथा आठवीं शताब्दी से पूर्व का रहा होगा ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है।

कृतियाँ :

१. सुहृल्लेखव्यक्तपदाटीका, toh: ४१९०. तन-ग्युर सूची, 'ङे' पुट् पृ. ७३-११२
२. रहस्यानन्दतिलक-नाम, toh: १३४५. तन-ग्युर सूची, 'त' पुट् पृ. ३५९-३६६
३. बुद्धानुस्मृत्यनुत्तरभावना-नाम, toh: ३९२३.तन-ग्युर सूची, 'कि' पुट् पृ. ७७-७९

अनुवादक कावा पलचेग[2] :

सुहृल्लेख ग्रन्थ का भोटानुवाद करने वाले भारतीय आचार्य सर्वज्ञदेव के बारे में सिर्फ इतना कहा जा सकता है कि वे आठवीं शताब्दी के भारतीय बौद्ध विद्वान् थे और उन्हें तिब्बत नरेश ने आचार्य शान्तरक्षित एवं आचार्य पद्मसम्भव के सुझाव

---

[1] बौद्धधर्म का इतिहास, तारानाथ, पृ. १३६ ।

[2] गङ्छेन खेडुब रिमजोन मिङ्जोद, भोट संस्करण, पृ. ११६ ।

पर महायान संस्कृत मूल ग्रन्थों के अनुवाद हेतु तिब्बत बुलाया था। ऐसे ही बहुत से भारतीय आचार्य हैं जिन्हें अनुवाद कार्य हेतु तिब्बत बुलाया गया किन्तु उनके बारे में कही भी कोई स्पष्ट इतिहास प्राप्त नहीं होता है। इस ग्रन्थ के तिब्बती अनुवादक कावा पलचेग के बारे में तिब्बती इतिहास ग्रन्थों एवं अन्यत्र कुछ न कुछ अवश्य प्राप्त हो जाता है।

कावा पलचेग का जन्म आठवीं शताब्दी के मध्य में उरुफनयुल नामक स्थान पर हुआ था। पश्चात् आचार्य बोधिसत्त्व शान्तरक्षित से प्रवज्या ग्रहण कर वे अनुवाद में पारंगत हुए। आचार्य के शिष्य होने के कारण इन्हें भन्ते पलचेग रक्षित भी कहा जाता है। आचार्य पद्मसम्भव से अनेक अभिषेक, आगम तथा अववाद ग्रहण कर उनके अभ्यास से उनमें अभिज्ञा प्रस्फुटित हुई, जिससे दूसरों के चित्त को निर्बाध रूप से जानने की सिद्धि प्राप्त हुई।

स्फटिकादर्शसिद्धान्त ग्रन्थ में कहा गया है- ''कावा पलचेग परचित्त जानता है।'' वे पद्मसम्भव के पच्चीस शिष्यों में से एक हैं। आपने बुद्धवचनों से विनयागम, प्रज्ञापारमितापिण्डार्थ, आर्याविकल्प-प्रवेशनाम धारणी, आर्य बुद्धावदानज्ञानकसूत्र, आयुष्पर्यन्तसूत्र, वज्रपाण्युत्तमयुक्तिमहातन्त्र आदि तथा शास्त्रों में त्रिरत्नमंगलस्तोत्र, वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्रपिण्डार्थ, वज्रविदारणा-मण्डलविधि, प्रज्ञापारमितावादशास्त्राभिसमयालंकार, विग्रहव्यावर्तनीकारिका, स्खलितप्रमर्दनयुक्तिहेतुसिद्धि-नाम, सुहल्लेख, सुहल्लेख-व्यक्ततपदाटीका सहित अनेकों ग्रन्थों का संस्कृत से भोट भाषा में अनुवाद सम्पन्न किया तथा देनकरमा सूची का भी सर्वप्रथम संकलन किया।

भोट टीकाकारों का संक्षिप्त परिचय :

सुहल्लेख ग्रन्थ के ऊपर आचार्य महामति की एक मात्र भारतीय टीका प्राप्त होती है जिसका मूल संस्कृत अप्राप्त है। इस ग्रन्थ का भोटानुवाद तनग्युर संग्रह में उपलब्ध होता है। इसके विपरीत अनेकों भोट आचार्यों की सुहल्लेख ग्रन्थ पर टीकाएं एवं टिप्पणियाँ प्राप्त होती हैं। सम्प्रति तिब्बत पर कम्युनिस्ट चीन के आधिपत्य के कारण यद्यपि ग्रन्थों की सूचियाँ तो प्राप्त होती हैं, किन्तु उनमें से कुछ ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते हैं। प्रसिद्ध आचार्यों की रचनाओं को प्राप्त करने में खास दिक्कतें नहीं होती हैं। ग्रन्थ के कुछ टीकाकारों का स्पष्ट उल्लेख भी प्राप्त नहीं होता

है। शायद इन आचार्यों द्वारा विरचित ग्रन्थ अपने-अपने विहारों अथवा मठों में सुरक्षित हों, किन्तु उन्हें प्राप्त करना इस समय कठिन प्रतीत होता है, फिर भी मैंने अनेक स्रोतों से जानकारी प्राप्त कर यहाँ यथासम्भव उचित सूचना देने का प्रयास किया है। इस प्रकार सभी भोट टीकाकारों के उपलब्ध अथवा अनुपलब्ध ग्रन्थों की सूची यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

व्यक्तपदा सुहल्लेखटीका -- भारतीय आचार्य महामति की एकमात्र टीका

१. सुहल्लेख की विस्तृत टीका - सोनम नमग्यल (अप्राप्त)
२. सुहल्लेखटीका - सोनम ग्यलछन (अप्राप्त)
३. सुहल्लेखटीका - दोन्योद् डुबपा (अप्राप्त)
४. सुहल्लेखटीका - खनपो ङवङ् छोडक (अप्राप्त)
५. सुहल्लेखटीका - छोगले नमग्यल (अप्राप्त)
६. सुहल्लेखप्रवचन - ङवङ् टाशी (अप्राप्त)
७. सुहल्लेख टिप्पणी - चोने डाकपा शेडुब (प्राप्त)
८. सुहल्लेखभाष्य - गेशे लोसङ् जिनपा (प्राप्त)
९. सुहल्लेखटीका - ङग गि वङ्छुग गेलेग ग्यछो (प्राप्त)
१०. सुहल्लेख संक्षिप्तार्थ - साक्य पण्डित (प्राप्त)
११. सुहल्लेख की स्फुटार्था टीका - आचार्य रेनदावा (प्राप्त)
१२. सुहल्लेख टिप्पणी - मिफम ग्याछो (प्राप्त)
१३. सुहल्लेखटीका - ङवङ् फुनछोग (प्राप्त)
१४. सुहल्लेखटीका - जमयङ् लोतेर वङ्पो (प्राप्त)
१५. सुहल्लेखटीका - चनङा लोडो ग्यलछन (प्राप्त)
१६. सुहल्लेखटीका - तगछङ् लोचावा (प्राप्त)
१७. सुहल्लेख पिण्डार्थ - लोसङ् पलदेन (प्राप्त)
१८. सुहल्लेख व्याख्या - रोङ् तोन शाक्य ग्यलछन (प्राप्त)

सुहल्लेख-टीका - चनङ लोडो ग्यलछन[1] :

इनका जन्म १४०२ ई. को ल्हासा के पूर्व ग्यामा-रिनछेन मठ के समीप हुआ। इनके पिता का नाम छोक्यब तथा माता जोमो लबुम थी। सात वर्ष की बाल्यावस्था में ही कुनगा-लोडो रिनपोछे से प्रव्रजित हुए और उनका भिक्षु नाम लोडो ग्यलछन रखा गया। चनङ उनके परिवार का नाम था। इन्होंने चोंखापा, ग्यलछब जे, खेडुब जे, विनयधर डाकपा ग्यलछन, क्योरमो गाँव के खनपो छोग्यल पलसङ् एवं तोगदन जमपल ग्याछो आदि अनेक प्रसिद्ध आचार्यों की शरण में जाकर गेलुग परम्परा एवं काग्युद् परम्परा के अनुसार अनेक धर्मग्रन्थों का श्रवण किया। पश्चात् रिनछेन मठ के मठाधीश के रूप में अठारह महीने तक कार्य किया तथा जीवन काल में भावना को प्रमुखता दी। समय-समय पर विनेय जनों को सूत्र एवं तन्त्र घर्मों का भी उपदेश देते रहे।

अन्त में इकहत्तर वर्ष की अवस्था में १४७२ ई. को उन्होंने इस भौतिक शरीर का त्याग किया। उनकी प्रमुख रचनाएं चित्तपरिशोधन, मार्गक्रम, दर्शनप्रवचन, विनयशिक्षा, तन्त्र के उत्पत्ति एवं सम्पन्नक्रम, गुरु की जीवनी, वचन एवं लेख आदि ग्रन्थ हैं, जो वर्तमान में तीन पुटों में विद्यमान हैं।

सुहल्लेखटिप्पणी - मिफम ग्याछो[2] :

इनका जन्म खम प्रान्त के देगे नामक स्थान के 'दा' नदी के किनारे यछु दिङछुङ् में सन् १८४६ में हुआ। इनके पिता का नाम गोनपो दरग्ये एवं माता का नाम सिङछुङ् था। छह वर्ष की अवस्था में माता-पिता से पढना-लिखना तथा शुक्ल एवं कृष्ण ज्योतिष के प्रारम्भिक पाठ का अध्ययन किया। दस वर्ष की अवस्था तक पढने एवं लिखने में प्रवीण हो गए और छोटा-छोटी रचनाएं भी करने लगे। बारह वर्ष की अवस्था में सङ-ङाग छोलिङ्ग (तन्त्रविद्याकेन्द्र) नामक ञिङमा मठ में दीक्षा ली। वे अपने मामा के साथ गादन मठ तथा ल्होडग खरछु आदि स्थलों में तीर्थ यात्रा पर गए। अपने मूल गुरु जमयङ् खेनचे वङ्पो तथा अन्य वङछेन ग्येरब दोर्जे,

---

[1] गङ्चेन खेडुब रिमजोन मिङ्जोद, भोट सं. पृ. १०३३ ।

[2] गङ्छेन खेडुब रिमजोन मिङ्जोद, भोट संस्करण, पृ. ६५२ ।

पलटुल जिग्मे छोवङ् आदि अनेक विद्वान् आचार्यों के समक्ष अध्ययन कर वे सभी विद्या स्थानों में पारंगत हुए और शिल्प, आयुर्वेद एवं ज्योतिष में विशेष विद्वत्ता हासिल की, जिससे तिब्बत के मध्य, चाङ् एवं खम प्रान्तों में सभी परम्पराओं के विद्वानों द्वारा प्रशंसित हुए। धीरे-धीरे समस्त भोट देश में उनकी विद्वत्ता की ख्याति फैल गई। उन्होंने अधिकांश जीवन तगछङ् मठ, जू पर्वत एवं देनखोग, पर्वत के समीप व्यतीत किया। अन्त में ६७ वर्ष की आयु में सन् १९१२ ई. में जू पर्वत की तलहटी में उन्होंने अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया। दोटुल दोर्जे, तेरतोन सोग्यल, कथोग सितु आदि उनके अनेकों शिष्य हुए।

उनकी रचनाओं का विशाल संग्रह प्राप्त होता है। उनके द्वारा रचित ८०८ ग्रन्थों का ३२ पुटों में संकलन किया गया है। किन्तु वर्तमान में भारत में मात्र १८ पुट ही उपलब्ध होते हैं।

सुहृल्लेख-टीका - सोनम ग्यलछन[१] :

इनका जन्म तिब्बत के शालु नामक स्थान में सन् १३१२ ई. में हुआ। गर्भावस्था में माता को अद्भुत स्वप्न एवं लक्षण दिखाई दिए। अतः इनका नाम ञिमा देवइ लोडो रखा गया। ये अत्यन्त आकर्षक, सुन्दर एवं ओजस्वी थे। एकान्तवास प्रिय एवं विद्याप्रेमी थे। कुल मिलाकर इनकी प्रतिभा विलक्षण थी जो साधारण बालकों से सर्वथा भिन्न थी। तीन वर्ष की अवस्था में ही विद्वान् रोङ्पा शेरब से पाँच देवों का अभिषेक और लामा समदिङ् से अमितायु, तारा एवं मञ्जुश्री का आगम एवं अववाद ग्रहण किया। तीन माह तक मञ्जुश्री की साधना की तथा अनन्तर अपनी समस्त रचनाओं के प्रारम्भ में मञ्जुश्री को प्रणाम किया। गुरु रिनछेन साङपो से मूलतंत्र का श्रवण एवं अभ्यास किया। आठ वर्ष की अवस्था में रिनछेन गङ् में अनेक विनयधरों, भारतीय आचार्यों और विद्वानों के मध्य अपने परम्परागत आचार्यों के मत का अविपरीत रूप से विस्तारपूर्वक वर्णन किया। इससे सभी विद्वान् आश्चर्यचकित हो गए और उनकी कीर्ति चारों तरफ फैल गई। आचार्य रिनछेन सांगपो से ही हेवज्र की साधना विधि तथा साक्य परम्परा के सभी धर्मों का श्रवण

---

[१] Biographical Dictionary of Tibet and Tibetan Buddhism, Vol. X, page 294.

किया। जोनङ् परम्परा की कालचक्रविधि, षडयोगाववाद तथा अन्य प्रवचनों का श्रवण एवं अभ्यास कर मञ्जुश्री का साक्षात्कार किया। समाधि के अनेक द्वारों का चित्त में उत्पाद कर चक्रसंवर, हेवज्र, तारा आदि के अभिषेक, धर्मपालकों के अनुष्ठान तथा महायान चित्तोत्पाद आदि अनेक विषयों का श्रवण कर उन्हें अधिगत किया।

११ वर्ष की अवस्था में कुनगा लोडो से उपासक संवर ग्रहण किया। १३ वर्ष की अवस्था में आचार्य सेङ्गे से प्रमाणशास्त्र, प्रमाणवार्तिक, वज्रावलि, मार्गपथ का प्रवचन, अन्य अधिष्ठान, अववाद एवं तन्त्र आदि समस्त ग्रन्थों का श्रवण कर उन्हें अधिगत किया।

१७ वर्ष की अवस्था में आचार्य सोनम डाकपा से प्रव्रज्या ग्रहण की और उनका नाम सोनम ग्यलछन पडा। पश्चात् आचार्य जमयङ् दोचोद् ग्यलछन से उपसम्पदा ग्रहण की। आचार्य सोनम डाकपा एवं सोनम साङ्पो से विनय का सम्पूर्ण अध्ययन किया तथा भिक्षु नियम का पूर्णरूपेण पालन करते हुए अपराह्ण भोजन का परित्याग किया। महानुवादक स्थिरमति के चरणों में अभिधर्मसमुच्चय तथा चतुःस्तव, मध्यमककारिका, प्रसन्नपदाटीका, मध्यमकावतार, चतुःशतक आदि का टीकाओं सहित अध्ययन किया। इस तरह उन्होंने समस्त माध्यमिक ग्रन्थों का परिज्ञान किया। इसके अतिरिक्त चक्रसंवर, पाँच देवों तथा सोलह देवों के साधनोपाय का एवं यमान्तक तथा तारा की साधना आदि का श्रवण किया। पुनः इन्ही आचार्य से अभिधर्मसमुच्चयटीका, पाँच मैत्रेय ग्रन्थ, विंशतिका एवं त्रिंशिका के मूल एवं टीका का अध्ययन किया। एक वर्षोपरान्त पुनः आचार्य दिङ्नाग कृत प्रमाणसमुच्चय स्ववृति, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, वादन्याय, सन्तानान्तरसिद्धि आदि धर्मकीर्ति कृत प्रमाणशास्त्रों का अध्ययन किया तथा हेवज्रतंत्र की वज्रसारटीका आदि और सूत्र एवं तंत्र ग्रन्थों का श्रवण कर उन्हें अधिगत किया। पश्चात् महानुवादक के कहने पर उन्होंने कालचक्रतंत्र की टीका लिखी, जिससे आचार्य बहुत प्रसन्न हुए। ये महानुवादक स्थिरमति उनके पाँच परम श्रद्धेय गुरुओं में एक थे। समस्त आचार्यों से सूत्र एवं तंत्र ग्रन्थों का श्रवण एवं अधिगम कर वे तिब्बत में विख्यात हो गए। विशेष कर साक्य परम्परा में सर्वोच्च विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध हुए। अनेक स्थलों में भ्रमण करते हुए धर्मोपदेश देते हुए शासन की सेवा की और अनेक ग्रन्थों की रचना भी

की। अन्त में होर नामक स्थान में अनेक वर्षों तक धर्मोपदेश करते हुए १३७५ ई. में उन्होंने इस शरीर का परित्याग किया।

सुहृल्लेख-व्याख्या : रोङ् तोन शेजा कुनरिग (शाक्य ग्यलछन)[१] :

इनका जन्म बोन परिवार में ग्यलमो रिङ् नामक स्थान में सन् १३६७ ई. में हुआ। छोटी अवस्था में ही वे तिब्बत के चाङ् प्रान्त की ओर अध्ययन के लिए निकल पडे। वहाँ सङफु नामक स्थान पर सूत्र, तंत्र एवं व्याकरण सहित अनेक विद्याओं का अध्ययन किया और उसमें पारंगत हुए।

बीस वर्ष की अवस्था में प्रमाणविनिश्चय में पाण्डित्य प्राप्त कर नैयायिकों में अद्वितीय विद्वान् हुए और उन्हें 'वादिसिंह' की उपाधि दी गई। खोन कोनचोग ग्यल्पो से प्रतिमोक्ष संवर ग्रहण किया। पश्चात् अनेकों कल्याणमित्रों का सेवन करते हुए सभी पिटकों में अधिकार प्राप्त किया। वे चाङ् प्रदेश के चारों ओर तथा मध्य तिब्बत के अनेक मठों में गए तथा अनेकों बुद्धिमान शिष्यों को उनके सामर्थ्यानुसार पिटकों की शिक्षा दी। आचार्य बिलकुल निरासक्त थे। सदैव धर्म प्रवचन के लिए तत्पर रहते हुए भी निरन्तर योग में निरत रहते थे। उन्होंने तान्त्रिक विद्या के अभ्यास से वायु के पाँचों वर्णो का साक्षात्कार किया। इतना ही नहीं, जब उनके पैर के अंगूठे का नख गिर गया तो वह सीप में परिवर्तित हो गया।

सन् १४३५ ई. में उन्होंने तिब्बत में नालन्दा महाविहार की नींव रखी तथा बहुत से भिक्षु समूह का पालन-पोषण किया। इस प्रकार बुद्धशासन एवं जगत का कल्याण करते हुए एक पूर्ण जीवन व्यतीत किया और ८३ वर्ष की अवस्था में सन् १४४९ ई. में उन्होंने इस पार्थिव शरीर का त्याग किया।

सुहृल्लेख-टीका : तगछङ् लोचावा शेरब रिनछेन[२] :

इनका जन्म तिब्बत के यरडोग तगलुङ् नामक स्थान में सन् १४०५ ई को हुआ। उन्होंने अनेकों विख्यात गुरुओं के सांनिध्य में रहकर सूत्र एवं तंत्र विद्याओं का

---

[१] गङ्छेन खेडुब रिमजोन मिङ्जोद, भोट संस्करण, पृ. १६२८।

[२] गङ्छेन खेडुब रिमजोन मिङ्जोद, भोट संस्करण, पृ. ७४७।

अध्ययन किया। वे उत्तम एवं प्रामाणिक विद्वान् के रूप में प्रख्यात हुए। उनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने सभी विद्यास्थानों में विशेषज्ञता हासिल की तथा समस्त भ्रान्तियों का निराकरण भी किया। इसी वजह से उनका नाम 'तगछङ् लोचावा' पडा, जो एक उच्च स्तरीय उपाधि है। उन्हें चिकित्सा शास्त्र में निपुणता प्राप्त थी। अनन्तर तगलुङ् में साक्य महाविहार की शाखा थरलिङ् मठ की स्थापना की। यहाँ लगभग एक हजार भिक्षु निवास एवं अध्ययन किया करते थे। उन्होंने पचास वर्ष की अवस्था में कालचक्र का सामान्यार्थ नामक ग्रन्थ की रचना की। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में औषधि-सामान्यार्थ, चिकित्सा-परीक्षणविधि का इतिहास, रोग-निदान आदि हैं। उनके द्वारा अनूदित काव्यशास्त्र सहित अनेकों ग्रन्थ तनग्युर संग्रह में उपलब्ध होते हैं।

सुहल्लेख-संक्षिप्तार्थ : साक्य पण्डित[1] :

इनका जन्म ११८२ ई. में तिब्बत की पाण्डुभूमि नामक प्राचीन राज़धानी के खोन नामक राजवंश में हुआ था। जन्म के समय एक विशेष ज्योति से वहाँ का समस्त भूमण्डल आलोकित हो गया। आकाश इन्द्रधनुष से सुशोभित हो गया।

प्रारम्भ में उन्होंने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया और अतिशीघ्र ही लिखने एवं बोलने में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर ली। इनमें एक विचित्र बात यह थी कि ये जन्मजात संस्कृतज्ञ थे। जब वे बोलने की अवस्था के हो गए तो अपनी तुतली बोली में भी संस्कृत बोलते थे। पश्चात् उन्होंने काश्मीरी महापण्डित शाक्य श्रीभद्र तथा अन्य भारतीय पण्डितों दानशील, सुगतश्री, संघश्री आदि से विधिवत् पञ्चविद्या स्थानों और आध्यात्मिक विद्या आदि का अध्ययन किया। तदनन्तर डागपा ग्यलछन आदि धर्मगुरुओं के सानिध्य में अचिन्त्य समाधि तथा अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की।

भोटदेशीय विद्या परम्पराओं के तो वे विद्वान् थे ही, संस्कृत भाषा और उसके वाङ्मय का उन्हें विपुल ज्ञान था। हिन्दुओं के धर्मशास्त्र और पुराणों के भी ज्ञाता

---

[1] गङ्छेन खेडुब रिमजोन मिङ्जोद, भोट संस्करण, पृ. १७२३; एवं प्रो. सेम्पा दोर्जे सम्पादित व साक्य छात्रसंघ समिति द्वारा प्रकाशित एक लेख, १९७९।

थे। इन्हीं सब कारणों से २५ वर्ष की अवस्था में ही काश्मीरी महापण्डित शाक्यश्रीभद्र ने उन्हें 'महापण्डित' की उपाधि प्रदान कर दी थी।

सभी विद्याओं में पारंगत होने के बाद एक बार आर्यवटी नामक विहार में रहते हुए महर्षि हरिनन्द एवं दक्षिण भारत से पहुँचे छः महापण्डितों से शास्त्रार्थ हुआ और ऋद्धि प्रदर्शन की प्रतियोगिता भी हुई। इसमें महर्षि हरिनन्द और छः पण्डित उनसे परास्त हो गए। इस घटना से उनकी कीर्ति तिब्बत, भारत, मंगोलिया, चीन आदि सुदूर देशों तक फैल गई। मंगोलिया के सम्राट् ने उन्हें अपना धर्मगुरु माना तथा अपनी राजधानी में आमन्त्रित कर उन्हें दक्षिणा और पद देकर अनेक प्रकार से सम्मानित किया। उन्होंने मंगोलिया की लिपि का भी निर्माण किया, जो आज भी उपलब्ध मंगोल लिपि का मूल है।

अन्त में सन् १२५१ ई. में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। उनके दाहसंस्कार के समय भी अलौकिक प्राकृतिक घटनाएं हुई। उनके द्वारा रचित लगभग १४ प्रमुख ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनमें से प्रमाणयुक्तिनिधि, मुनिमतप्रकाश, त्रिसंवरप्रभेद, विद्वद्-अवतारद्वार एवं सुभाषित-रत्ननिधि आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनके प्रमाणयुक्तिनिधि नामक ग्रन्थ का नालन्दा विद्यापीठ से पहुँचे उनके शिष्यों द्वारा संस्कृत में अनुवाद किया गया। किसी तिब्बती विद्वान् द्वारा लिखित ग्रन्थ का संस्कृत मे अनूदित यह एकमात्र ग्रन्थ है। उन्होंने भारतीय आचार्यों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का भोटभाषा में अनुवाद किया तथा दर्शन, तन्त्र, चिकित्साशास्त्र, संगीत, व्याकरण एवं नाटक आदि विभिन्न शास्त्रों पर गम्भीर टीकाएं लिखी।

सुहल्लेखभाष्य : गेशे लोसङ् जिनपा[1] :

इनका जन्म तिब्बत के चङ् प्रान्त के तोदथङ् नामक स्थल पर सन् १८२१ में हुआ था। इनके पिता एक व्यापारी थे उनका नाम पासङ् तथा माता का नाम छुङ्क्ये था। आठ वर्ष की अवस्था में ही वे ल्हासा के निकट टाशी ल्हुनपो मठ में दीक्षित हो गए। पनछेन रिनपोछे के समक्ष प्रव्रज्या ग्रहण की तथा बाद में श्रामणेर संवर ग्रहण किया। १३ वर्ष की अवस्था में प्रमाण का अध्ययन प्रारम्भ किया। उस समय मठ में

---

[1] सुङ्बुम करछग, भोट संस्करण, पृ. ७२० ।

अनुशासन बहुत ही कठोर था, जिसकी वजह से उन्हें वहाँ रहने की इच्छा नहीं हुई और वे पैदल ही मध्य तिब्बत की ओर चले गए। कुछ समयोपरान्त वे पुनः अपने मठ में लौट आए। पाँच विद्याशास्त्रों- विनय, माध्यमिक, प्रज्ञापारमिता, प्रमाण एवं अभिधर्म पर उन्होंने गहन अध्ययन किया तथा 'काचु' (आचार्य) की उपाधि प्राप्त की। २७ वर्ष में उन्होंने पनछेन रिनपोछे से उपसम्पदा ग्रहण की। २९ वर्ष में उन्हें 'रबजम वाक्सिंह' की उपाधि प्रदान की गई।

तत्पश्चात् उन्होंने ग्युतोद् तान्त्रिक मठ में बारह वर्षों तक तन्त्र विद्याओं का अध्ययन किया। उस समय योङ्ल्हो छेनपो तथा काछेन श्यबङुङ् दोनों ने विचार-विमर्श करके उनहें मठ के पूर्व गुरु लोसङ् तेनजिन का पुनर्जन्म माना और यह बात सर्वत्र मध्य तिब्बत एवं चङ् प्रान्त में फैल गई। ४१ वर्ष में उन्हें मठ के किलसुर विभाग के विभागाध्यक्ष पद पर नियुक्त किया गया। ५७ वर्ष में वे पनछेन रिनपोछे के साथ डेपुङ् महाविहार, सेरा महाविहार आदि में गये और वहाँ जाकर उन्होंने विद्वानों से शास्त्रार्थ एवं धार्मिक चर्चाएं की और एक प्रसिद्ध विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ सम्प्रति तीन पुटों में विद्यमान हैं।

सुहल्लेख-टिप्पणी : चोने डाकपा शेड्डुब[1] :

इनका जन्म सन् १६७५ ई. में आम्दो प्रान्त के चोने नामक स्थान के एक छोटे गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम क्यबबुम तथा माता का नाम केलसङ् था। सात वर्ष में ठ्रिछेन गेदुन डाकपा से पढना-लिखना प्रारम्भ कर उन्हीं से ही प्रव्रज्या ग्रहण की और कुछ वर्ष पर्यन्त धार्मिक पूजा ग्रन्थों को कण्ठस्थ किया। आयुर्वेद के बारे में थोडा बहुत अध्ययन कर रोग-उपचार का अभ्यास किया। २१ वर्ष में वे मध्य तिब्बत की ओर चले गए तथा वहाँ सेरा महाविहार में प्रविष्ट हो गए और स्वामी टाशी पलसङ् को गुरु बनाकर पाँचों महाशास्त्रों का श्रवण एवं चिन्तन किया। पश्चात् ३१ वर्ष की अवस्था में वे गादन में चलने वाले महाप्रार्थना में सम्मिलित हुए। इसी समय प्रार्थना के अन्त में अपने गुरु आचार्य छुलठ्रिम रिनछेन के

---

[1] सुङ्बुम करछग, भोट संस्करण, पृ. २८६ ।

आदेशानुसार लगभग बीस हजार भिक्षुसंघ की उपस्थिति में गेशे की उपाधि ग्रहण की।

अनन्तर गादन एवं डेपुङ महाविहारों में जाकर अपने शास्त्रार्थ से सबको आश्चर्य में डाल दिया। पुनः अपने मठ में पहुँचकर वहाँ के मठाधीश हो गए और छह वर्षों तक मठ की सेवा कर अवकाश ग्रहण कर लिया। तत्पश्चात् सात वर्षों तक 'लमचो नम सुम' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना करते रहे। वे पुनः चोने मठ के मठाधीश बनाये गए और उन्होंने इस दौरान वहाँ तन्त्र विभाग की स्थापना की। वे ७२ वर्ष तक जीवित रहे। उनकी रचनाओं का संग्रह १३ पुटों में आबद्ध है।

सुहल्लेख-स्फुटार्था टीका : आचार्य रेनदावा[1] : (1349-1412)

इनका जन्म तिब्बत के साक्य जनपद के समीप रेनदा खबसोर नामक स्थान पर १३४९ ई. को हुआ था। वे प्रसिद्ध मंत्री गर के वंशज थे। उनके पिता का नाम टाशी ग्यलछन एवं माता वङ्छुग क्यि थी। जब वे गर्भ में थे तब माता को स्वप्न में सूर्य का उदय होना, दीप प्रज्वलित होना, मन्दिर निर्माण आदि अनेक शुभ लक्षण दिखाई दिए। जन्म के समय भी अनेक आश्चर्यजनक लक्षण परिलक्षित हुए। बाल्यावस्था में उनकी माता का स्वर्गवास हो गया था। अतः उनका पालन-पोषण उनकी एक रिश्तेदार भिक्षुणी टाशीबुम ने किया। पश्चात् श्रामणेर दीक्षा ग्रहण कर साक्य-परम्परा के दो विद्वानों से प्रमाणवार्तिक का अध्ययन तथा आचार्य धर्मकीर्ति के सप्तवर्गीय प्रमाण शास्त्रों का टीका सहित अध्ययन कर उसमें पारंगतता प्राप्त की। उन्होंने अभिसमयालंकार, पञ्चविंशतिसाहस्रिकालोक तथा अष्टसाहस्रिकालोक का अध्ययन कर आर्य विमुक्तिसेन एवं आचार्य हरिभद्र के अभिप्रायों को भी अधिगत किया।

महान अनुवादक जङछुब चेमो से अभिधर्मपिटक, पाँचों योगाचार भूमियों, महायानसंग्रह, अभिधर्मसमुच्चय तथा अष्टप्रकरण ग्रन्थों का भाष्य सहित अध्ययन किया और आचार्य असंग एवं वसुबन्धु के अभिप्रायों को अधिगत किया।

---

[1] गङ्चेन खेडुब रिमजोन मिङ्जोद, भोट संस्करण, पृ. १६१९; Biographical Dictionary of Tibet and Tibetan Buddhism, Vol. X, page 351; आचार्य रेनदावा कृत सुहल्लेख की स्फुटार्था टीका का हिन्दी अनुवाद, तिब्बती संस्थान, १९९६।

खनपो कुनगा सङपो से उपसम्पदा ग्रहण कर विनयसूत्र का न केवल अध्ययन किया बल्कि उसमें पारंगत हो उस पर एक टीका की रचना करके नियमपूर्वक वर्षावास, उपोसथ एवं अपराह्ण भोजन के परित्याग का निरन्तर पालन किया।

अनन्तर गुरु छोजे जङसेङपा से आचार्य नागार्जुन के सभी माध्यमिक ग्रन्थों तथा चतुःशतक एवं मध्यमकावतार आदि ग्रन्थों का श्रवण किया। बाद में वज्रयान में प्रविष्ट हो गए और हेवज्र, वज्रावलि, गुह्यसमाज, मञ्जुवज्र आदि अनेक अभिषेक प्राप्त किये।

आचार्य ने प्रमाणवार्तिकवृति, विनयव्याख्या, अभिधर्मकोशटीका, अभिधर्मसमुच्चयटीका, मध्यमकशास्त्रटीका, मध्यमकावतारटीका, चतुःशतकटीका, महायानोत्तरतन्त्रटीका, अभिसमयालंकारटीका, गुह्यसमाजवृत्ति आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की हैं।

उनके द्वारा रचित सुहृल्लेख की स्फुटार्था टीका पूरे तिब्बत में प्राप्त टीकाओं मे सबसे अधिक प्रामाणिक एवं लोकप्रिय है। आज भी सर्वत्र भारत में केन्द्रीय तिब्बती स्कूलों, तिब्बती शिक्षा केन्द्रों, लद्दाख बौद्ध विद्या केन्द्रों, कतिपय विश्वविद्यालयों तथा बौद्ध विद्या संस्थाओं में इस ग्रन्थ का इस टीका के साथ पठन-पाठन होता है। इस टीका ग्रन्थ का अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मनी एवं हिन्दी आदि अनेक भाषाओं में हो चुका है।

यहाँ मैंने कुछ प्रसिद्ध भोट टीकाकारों की ही संक्षिप्त जीवनी दी है। कतिपय अन्य आचार्यों की जीवनी के बारे में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इसलिए उन्हें यहाँ नहीं दिया जा सका है। इनमें से आचार्य नागार्जुन के संक्षिप्त अवदान एवं सुहृल्लेख की विस्तृत टीका के लेखक भोट आचार्य ङग गि वङ्छुग गेलेग ग्याछो की जीवनी भी अप्राप्त है।

ग्रन्थ की विषय-वस्तु :

आचार्य नागार्जुन द्वारा रचित इस लघु ग्रन्थ में तीन मुख्य बातों पर प्रकाश डाला गया है-

क. सामान्य कुशल साधना शिक्षा,

ख. सांसारिक दोषों से खिन्न होना तथा

ग. निर्वाण लाभ के लिए मार्ग प्रतिपत्ति की शिक्षा।

प्रथम को भी पुनः तीन प्रकार से उपदेशित किया गया है -

१. गृहस्थ एवं प्रव्रजित,
२. केवल गृहस्थ तथा
३. दोनों पक्षों के लिए अभ्युदय एवं निःश्रेयस धर्म की देशना।

इस प्रकार ग्रन्थ को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है-

१. गृहस्थ एवं प्रव्रजित दोनों को उपदेश।
२. केवल गृहस्थों को उपदेश।
३. गृहस्थों एवं प्रव्रजितों के लिए अभ्युदय एवं निःश्रेयस धर्म की देशना।
४. सांसारिक दोषों से खिन्नता।
५. निर्वाण लाभ के लिए मार्ग प्रतिपत्ति की शिक्षा।

आचार्य सातवाहन राजा को सम्बोधित करते हुए स्वयं कहते हैं कि- हे राजन्! आप तो स्वभाव से ही कुशल योग्य हैं। मैंने पुण्य की आकांक्षा से तथागत के वचनों से उद्भूत कतिपय आर्यागीति छन्दों की रचना की है। अतएव, आपको इनका श्रवण करना चाहिए।

प्रकृतिसुकृतार्हगुणाढ्य सुगतवचोभ्यः समुदानीताश्च मया।
शुभमालक्ष्य कृता वै काश्चिदार्यागीतयस्त्वया च श्रव्याः ।।[1]

आचार्य कहते हैं कि इतना ही नहीं, तथागत की किसी भी प्रकार के धातु, पत्थर, मिट्टी एवं लकडी से निर्मित प्रतिमा का अनादर नहीं करना चाहिए, चाहे उसकी बनावट कैसी ही क्यों न हो। वैसे तो आप जानकार हैं और मेरे द्वारा रचित काव्य उतने मधुर नहीं हैं, फिर भी, चूँकि वे भगवान् के उपदेशों पर आश्रित हैं। इसलिए इनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। वरन् भगवान् के वचनों का पुनः पुनः श्रवण करने से आपके ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि ही होगी जैसे एक सफेद भवन शीत ऋतु में चन्द्रमा की रोशनी में और भी अधिक सफेद दिखाई देती है।

---

[1] सुहल्लेख, १ कारिका ।

प्रथम अध्याय में दोनों पक्षों अर्थात् गृहस्थों एवं प्रव्रजितों को ध्यान में रखकर सर्वप्रथम षडनुस्मृतियों की शिक्षा देते हुए बुद्ध, धर्म, संघ, त्याग, शील एवं देवताओं के गुणों एवं माहात्म्य का वर्णन करते हुए बौद्धधर्म की मौलिकता का उपदेश दिया तथा तदनुसार शील एवं त्याग की चर्चा करते हुए बुद्ध, धर्म एवं संघ के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास रखने, स्वयं के चित्त की परिशुद्धि एवं पुण्य संचय के लिए सर्वप्रथम षडनुस्मरणों का उपदेश दिया।

जिनैर्बुद्धधर्मसंघशीलत्यागदेवादिषडनुस्मृतयः ।
प्रदर्शितास्तास्तु तद्गुणसम्भारैः पृथगनुस्मरणीयाश्च ।।[१]

तत्पश्चात् काय, वाणी एवं चित्त के दश अकुशल कर्मों से विरत रहते हुए दश कुशल कर्मों के प्रति सदैव संलग्न रहना तथा तीनों द्वारों के कर्मों का परिशोधन कर व्यक्ति को धन-सम्पत्ति आदि का दान देना चाहिए, जिससे भविष्य में बृहत्फल की प्राप्ति होगी। इस प्रकार उन्होंने बताया कि जन्मान्तर में दान से बढकर कोई श्रेष्ठ मित्र नहीं होता है। दान के साथ शील का होना भी अत्यावश्यक है।

ज्ञात्वा चलामसारां सम्पत्तिं द्विजभिक्षुदीनमित्रेभ्यः ।
दानं देयं विधिना जन्मान्तरेषु न दानात् परं मित्रम् ।।[२]

मध्यमकावतार में भी कहा गया है- "शीलरूपी पैर के टूट जाने पर पूर्व जन्म के दान से सम्पन्न होते हुए भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त होता है। शीलयुक्त दान द्वारा देव एवं मनुष्यों के जीवन में बृहत् फल का उत्पाद होता है।"[३]

इसलिए आचार्य शील को सभी गुणों का आधार बताते हुए सम्यक् शील के पालन का उपदेश देते हैं।

बोधिचित्त का उत्पाद कर छह पारमिताओं में स्थित रहने का उपदेश दिया। इनमें दान, शील एवं क्षान्ति पारमिताएं तो पुण्यसम्भार हैं, क्योंकि इनके द्वारा बोधिसत्त्व संसार में रहकर अभ्युदय अर्थात् लौकिक सुख-सम्पत्ति की साधना करता है और यही पुण्यसम्भार अभिसम्बुद्ध होने पर परार्थसम्पत् रूपी रूपकाय का हेतु होता है।

---

[१] वही, ४ कारिका ।

[२] वही, ६ कारिका ।

[३] मध्यमकावतार, २:६ कारिका ।

ध्यान और प्रज्ञा तो ज्ञानसम्भार हैं। इसके द्वारा बोधिसत्त्व संसार में रहते हुए सासांरिक दोषों से लिप्त नहीं होते हैं। यही ज्ञानसम्भार परानुग्रह का हेतु भी होता है। अभिसम्बुद्ध होने पर यह ज्ञानसम्भार स्वार्थसम्पत् रूपी धर्मकाय का हेतु होता है।[१]

वीर्य पारमिता तो पुण्यसम्भार एवं ज्ञानसम्भार दोनों का हेतु है। जहाँ वीर्य प्रखर होता है, वह चौथी भूमि अर्चिष्मती कहलाती है। इस प्रकार छह पारमिताओं द्वारा दो सम्भार संगृहीत होते हैं। दोनों सम्भारों द्वारा बोधिसत्त्व संसार एवं निर्वाण की अवस्था की सभी सम्पदाओं को पूर्णरूप से सम्पन्न करता है, इसलिए इन्हें (दोनों सम्भारों को) महायान मार्गों की छह पारमिताओं में संगृहीत किया जाता है।

षडिमा दानं शीलं क्षान्तिवीर्यध्यानप्रज्ञाः पारमिताः ।
अप्रमेया संबर्ध्य भवसागरपारगो जिनेन्द्रः ।।[२]

द्वितीय अध्याय में प्रधानरूप से गृहस्थों के लिए शिक्षा देते हुए आचार्य कहते हैं कि व्यक्ति को अपने माता-पिता, कुलगुरु का आदर सत्कार करना चाहिए, जिससे दृष्टधर्म (इस जन्म) में न केवल ख्याति प्राप्त होगी, वरन् दूसरे जन्मों में उत्तम फल अभ्युदय की प्राप्ति भी होगी। इसके लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य के पालन को दुष्कर बताते हुए मात्र एक दिन भी ब्रह्मचर्य व्रत रखते हुए उपोसथ करने को कहा, जिससे पुरुषों एवं स्त्रियों को मनोरम कामावचर देवकाय प्राप्त हो सके।

यत्र पूजा पितृणां कुलं तदाचार्यब्रह्मभिः समृद्धम् ।
तत्पूजया च कीर्तिस्तदनन्तरं चाधिगम्यतेऽभ्युदयोऽपि ।।[३]

दुष्कृत्य में अनुराग होने के कारण गृहस्थों में कृपणता, धूर्तता, वञ्चना, आसक्ति, अभिमान, राग, द्वेष आदि अनेक दोष होते हैं। ये सभी दुर्गति के हेतु होने के कारण उन्हें शत्रु के समान मानकर उनके निराकरण करने के लिए कहा गया है।

मात्सर्यशाठ्यमायाभिमानासक्तिकौसीद्यरागद्वेषान् ।
कुलरूपयौवनश्रुतबलादिजं मदं रिपुमिव परिपश्येच्च ।।[४]

---

[१] बुद्धानां रूपिकायो हि पुण्यं सम्भृत्य जायते ।
धर्मकायः समासेन ज्ञानसम्भारजो नृपः ।। -रत्नावलि, ३/१२ पुनरुद्धार, ति.सं.सं. ।

[२] वही, ८ कारिका ।

[३] वही, ९ कारिका ।

सभी कुशल धर्मों का मूल अप्रमाद है। अलोभ, अद्वेष, अमोह एवं वीर्य ये चार चैतसिक अप्रमाद हैं, जिनकी वजह से अलोभ आदि का आश्रय कर पुरुष अकुशल धर्मों का परित्याग करता है और अकुशल धर्मों के प्रतिपक्ष कुशल धर्मों की भावना करता है, वे अलोभ आदि ही अप्रमाद हैं। इसलिए अप्रमाद प्रमाद का प्रतिपक्ष है, क्योंकि प्रमाद इस अप्रमाद से विपरीत है। यह लौकिक एवं लोकोत्तर सम्पत्ति को परिपूर्ण करने वाला कर्म है।[१]

कुछ व्यक्ति पहले क्लेशों के प्रभाव से बुरी संगति में पडकर प्रमादग्रस्त होकर अकुशल आचरण करते हैं। पश्चात् कल्याणमित्र के सम्पर्क से हेय और उपादेय धर्मों में प्रयत्नपूर्वक अप्रमादयुक्त होते हैं। भगवान् बुद्ध के समय नन्द, अंगुलिमाल एवं अजातशत्रु ऐसे ही व्यक्तियों के उदाहरण हैं। पश्चात् भी उदयन आदि अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

पूर्वप्रमत्तः कोऽपि मेघान्निर्गतेन्दुरिव ततोऽप्रमादी ।
स हि नन्दाङ्गुलिमालोदयनाजातशत्रुसदृशः सुशोभेत ।।[२]

तिब्बत के प्रसिद्ध मिलारेपा इसके एक ज्वलन्त उदाहरण हैं, जिन्होंने पूर्व बाल्यावस्था में काला जादू सीखकर घोर पापकर्म किया अनन्तर पश्चाताप से एक ही जीवन में कठोर तपस्या कर निर्वाण प्राप्त किया।

जब अनेक अनिच्छित वस्तुएं अपने ऊपर आ पडती हैं तो गृहस्थ बहुधा क्रोधित हो जाते हैं। अत एव उसके विपरीत क्षान्ति के गुणों को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि क्षान्ति के समान कोई तप नहीं हैं इसलिए क्रोध का परित्याग करना चाहिए। स्वयं भगवान् ने कहा है कि- "क्षान्ति सेवन के द्वारा क्रोध का परित्याग करने से व्यक्ति कामधातु में पुनः नहीं लौटता है अर्थात् अवैवर्तिक पद को प्राप्त कर लेता है।"[३]

---

४ वही, १२ कारिका ।

[१] द्र.- वि.मा.सि., पृ. १९७, सं.वि.प्र. ;
अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं ।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता ।। -धम्मपद, अप्पमाद् वग्ग, १ का.

[२] वही, १४ कारिका ।

[३] न द्वेषसमं पापं न क्षान्तिसमं तपः ।

क्रोध तथा काम दोनों कामधातु के कारण हैं। काम का परित्याग किए बिना क्रोध का परिहार नहीं किया जा सकता। तथा क्रोध का परित्याग किए बिना कामधातु से निवृत्ति नहीं हो सकती। वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता है, अवैर से ही वैर शान्त होता है।[१]

इस प्रकार गृहस्थों को क्षान्ति का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त गृहस्थों को अनेक सत्त्वों से मित्रता करनी पडती है। इसलिए आचार्य उनके लक्षणों को बताते हुए हेय एवं उपादेय जनों का यथोचित विवेचन करने को कहते हैं।

क्षान्तिसमं नैव तपस्ततस्त्वया न क्रोधावसरो देयः ।
बुद्धेनानुमतं वै पदमवैवर्तिकं क्रोधप्रहाणेन ।।[२]

गृहस्थों में काममिथ्याचार की अधिकता पायी जाती है, जो न केवल स्वयं के लिए हानिकारक है बल्कि सामाजिक जीवन के लिए तो यह जहर के समान है। अतएव आचार्य उसकी निवृत्ति के लिए कहते हैं कि पर स्त्री को नहीं देखना चाहिए। यदि किन्हीं कारणवश दिखाई पड भी जाए तो उम्र के अनुरूप उसमें मातां, कन्या एवं बहिन की भावना का उत्पाद करना चाहिए। वैसा न होने पर यदि आसक्ति हो जाए तो उनका अशुचि के रूप में सम्यक् चिन्तन करना चाहिए।

परदारान्न तु पश्येद् दृष्टे च ज्ञेया अवस्थानुरूप्येण ।
कन्याम्बाभगिनीवद् आसक्तावप्यशुचिमेव चिन्तयेच्च ।।[३]

इस प्रकार अशुचि की भावना करते हुए चित्त की रक्षा कर इन्द्रियों को नियंत्रण में रखना चाहिए, क्योंकि काम का सेवन तो अन्ततः अनर्थ का उत्पादक होता है।[४]

रक्षेच्चञ्चलचित्तं श्रुति-पुत्र-निधि-प्राणसदृशं च नितराम् ।

तस्मात्क्षान्तिं प्रयत्नेन भावयेद्विविधैर्नयैः ।। -बो.च. ६/२

[१] न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचन ।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ।। धम्मपद, १/५

[२] वही, १५ कारिका ।

[३] वही, २१ कारिका ।

[४] कामा ह्यनर्थजनका इह लोके परत्र च ।
इह बन्धवधच्छेदैर्नरकादौ परत्र च ।। - बो.च. ८/४०

चित्तं परिहर्त्तव्यं शत्रुसर्पविषायुधाग्निसमात् कामात् ।।[१]

इसलिए इसका प्रहाण अत्यावश्यक है। काम पहले आनन्ददायी तथा अनन्तर कष्टकारी होने के कारण भगवान् ने इसे किम्पाक फल (इन्द्रायणी अथवा इन्द्राणी) की भाँति कहा है। काम के प्रति आसक्त व्यक्ति विषयों पर आश्रित होने लगता है, जो उसकी काम आसक्ति को शान्त करने के बजाय और बढा देता है। जिस प्रकार कुष्ठ रोगी रोग के कीटाणुओं से पीडित होकर सुख की कामना से आग का आश्रय लेता है किन्तु उसकी पीडा शान्त न होकर और बढ जाती है। उसी प्रकार काम में आसक्त व्यक्ति भी काम-पीडा से निवृत्ति के लिए विषयों का आश्रय लेते हैं, किन्तु उनकी पीडा शान्त न होकर अधिकाधिक वृद्धि को प्राप्त होती है।[२]

कृमिपीडितो हि कुष्ठी सुखलिप्सया च यथा वह्निमाश्रयते ।
पीडा न याति शान्तिं तथैव हि कामासक्तिरपि बोद्धव्या ।।[३]

उपर्युक्त अशुचि की भावना आदि से कुछ कामरागों का निषेध मात्र होता है, किन्तु यह भावना कामराग का समूल उन्मूलन नहीं करती है। इसलिए धर्मों की वास्तविक स्थिति जानने के लिए वस्तुओं की पारमार्थिक स्थिति की भावना करनी चाहिए। धर्म का वास्तविक तत्त्व ही परमार्थ है।[४]

परमार्थं प्रतिवेत्तुं सर्वभावेषु सविधि मनसि निधायैव ।
स च खलु भावयितव्यो न हि तत्तुल्योऽपरो गुणयुतो धर्मः।।[५]

शब्द एवं कल्पना द्वारा सामान्य रूप से तत्त्व ज्ञेय नहीं है तथा अन्य के द्वारा दिखाए जाने से भी अवबोध्य नहीं है, बल्कि योगी के द्वारा प्रत्यात्मसंविद् ज्ञान से अनभिलाप्य रूप में जानने योग्य है। इन रूपादि प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों के स्वरूप का यथावत् अवबोध न होने से बालपृथग्जन आबद्ध होते हैं। बाह्य एवं आभ्यन्तर रूपादि

---

[१] वही, २२ कारिका ।

[२] कच्छ्र्वाकण्डूयने सौख्यं कच्छ्र्वाऽभावस्ततः सुखम्।
रागिलोके सुखं तद्वत् रागाभावस्ततः सुखम् ।। -रत्ना., २/६९, पुनरुद्धार, ति.सं.सं. ।

[३] वही, २६ कारिका ।

[४] अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् ।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम् ।। - म.शा., १८/९

[५] वही, २७ कारिका ।

वस्तुओं में अभिनिविष्ट पृथग्जन पुद्गलात्मग्राह तथा धर्मात्मग्राह के वशीभूत होकर समस्त बन्धनों, क्लेशों एवं विकल्पों का उत्पाद करते हैं। जब तक स्कन्धग्राह विद्यमान होता है, तब तक उनमें आत्मग्राह भी होता है। अहंकार के होने पर ही कर्म होते हैं और कर्म से संसार में जन्म होता है।[१]

प्रतीत्यसमुत्पन्न रूपादि धर्मों का अनभिलाप्य रूप में अर्थात् शून्यता स्वभाव में अवबोध होने से समस्त क्लेश एवं विकल्पों का प्रहाण हो जाता है, जिससे व्यक्ति मुक्त हो जाता है। धर्मों के इस तत्त्व को नैरात्म्य भी कहा जाता है। इसके ज्ञान के बिना मोक्ष प्राप्ति का अन्य उपाय नहीं है। इसके अवबोध से सभी अन्तग्राह दृष्टियों का विनाश हो जाता है, इसलिए यही मध्यम मार्ग है, क्योंकि बुद्ध के अतिरिक्त अन्य धर्मगुरुओं में इसके उपदेश का सामर्थ्य नहीं होता है।[२]

अन्य तार्किक लोग वस्तुओं का उत्पाद स्वतः, परतः, उभयतः एवं अहेतुतः होना प्रज्ञप्त करते हैं, किन्तु भगवान् बुद्ध इससे भिन्न प्रतीत्यसमुत्पाद नियम से धर्मों (वस्तुओं) की उत्पत्ति मानते हैं। वस्तुएं स्वतः उत्पन्न नहीं होती हैं, क्योंकि स्वयं से उत्पन्न होने में कर्म-कर्तृ विरोध होता है तथा कृतविप्रणाश व अकृताभ्युपगम दोष होते हैं। इस कारण जन्म के निरर्थक होने और अनवस्था दोष होने का प्रसंग होता है। वस्तुएं परतः भी उत्पन्न नहीं हैं, क्योंकि सबके द्वारा सभी के उत्पाद का एवं परस्पर विरोधी धर्मों में भी कार्यकारणभाव होने का प्रसंग होता है। उभयतः भी नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में पृथग्-पृथग् उक्त दोष एक साथ उपस्थित होते हैं तथा विरोध भी होता है। अहेतुतः भी उत्पाद नहीं होता है, क्योंकि इस पक्ष में या तो धर्मों की सदैव उत्पत्ति होगी या फिर कभी भी नहीं। फल के लिए हेतु के उपादान का प्रयत्न निरर्थक हो जाता है। अतएव चतुष्कोटिक उत्पाद से रहित वस्तुएं 'इदम्प्रत्ययतः' हेतु एवं प्रत्ययों पर आश्रित होकर उत्पन्न होती हैं। सभी अन्तग्राह दृष्टियों का प्रतिपक्ष यही प्रतीत्यसमुत्पाद है, जिसे मध्यम मार्ग कहा जाता है।[३]

---

[१] स्कन्धग्राहो यावदस्ति तावदेवाहमित्यपि ।
अहंकारे सति पुनः कर्म जन्म ततः पुनः ।। -रत्ना. १/३५

[२] अद्वितीयं शिवद्वारं कुदृष्टीनां भयङ्करम् ।
विषयः सर्वबुद्धानामिति नैरात्म्यमुच्यते ।। -चतु.शतक, १२/१३ ।

[३] यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।

प्रतीत्यसमुत्पाद के अवबोध से श्रेष्ठ दर्शन अन्य कोई भी नहीं है, फिर भी यह अत्यन्त दुर्बोध है।

इसलिए माध्यमिक शास्त्रों का चिरकाल तक अध्ययन करके जानना चाहिए। सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न एवं प्रपञ्चरहित वस्तुओं का श्रुतमयी प्रज्ञा एवं चिन्तामयी प्रज्ञा द्वारा परीक्षण कर उनके अर्थों की पुनः-पुनः भावना करना, भावनामयी प्रज्ञा है।[१]

शील एवं प्रज्ञा के महत्त्व को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि शीलवान व्यक्ति अकुशल कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता है तथा सम्यक् प्रज्ञावान् कुशल में प्रवृत्त होता है। उसके लिए आठ सांसारिक धर्मों से विरत होना, ब्राह्मण से लेकर परिवार पर्यन्त अन्य सत्त्वों के लिए भी पाप न करना, सप्त प्रकार के आर्यधनों से युक्त होना[२] तथा आर्यधनों के विरोधी प्रत्ययों का प्रहाण करना तथा स्त्रियों के गुण-दोषों को जानकर उनका सम्यक् सेवन करना आदि शिक्षाओं का उपदेश करते हैं।

अष्टसु लोकधर्मेषु लोकवित् समतया प्रवर्तयेच्चित्तम् ।
हानिलाभयशोऽनुसंसानिन्दासुखदुखेष्वशोच्येषु ।।[३]

सप्तधनान्युक्तानि श्रद्धाशीलत्यागामलश्रुतधियः ।
अपत्रपा ह्री मूनिना मुधैवापरधनानि हि साधारणानि ।।[४]

तृतीय अध्याय में प्रव्रजित एवं गृहस्थ दोनों पक्षों में अभ्युदय एवं निःश्रेयस धर्म का उपदेश करते हुए आचार्य सर्वप्रथम साधारण धर्म की प्रतिपत्ति करने हेतु कहते हैं कि जैसे सन्निपात व्याधि के प्रतिपक्ष के रूप में न बहुत अधिक, न बहुत कम अपितु

सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा ।
[१] अस्तिनास्तिव्यतिक्रान्ता बुद्धिर्येषां निराश्रया ।
गम्भीरस्तैर्निरालम्बः प्रत्ययार्थो विभाव्यते ।। - यु.ष.का., (नागार्जुनियाना), कोपेनहगन, पृ. १०२ ।

[२] सर्वामिषं परित्यज्य आर्यवित्तेन भूषयेत् ।
श्रद्धाशीलधनञ्चापि त्वत्रपाहीधनं तथा ।।
श्रुतत्यागधनं चापि प्रज्ञा सप्तधनानि हि ।
धनान्येवंविधानीति सप्ताक्षयनिधिरियम् ।। -बोधिसत्त्व मण्यावलि (पुनरुद्धार), ७-८ का० ति.सं.।

[३] वही, २९ कारिका ।

[४] वही, ३२ कारिका ।

औसत मात्रा में, बीमारी के अनुपात में औषधि का सेवन किया जाता है, जिससे भली-भाँति रोग की निवृत्ति हो जाती है। वैसे ही क्षुधा एवं व्याधि के प्रतिपक्ष के रूप में भोजन भी अधिक या कम मात्रा में न लेकर उचित मात्रा में ग्रहण करना चाहिए।[१]

विहाय रागद्वेषौ भोजनमौषधिवदगत्य सेवेत ।
कायस्थित्यै नितरां न च सौन्दर्यगर्वमानार्थं सेव्यम् ।।[२]

वह भी राग, द्वेष की भावना से रहित हो सेवन करना चाहिए, न कि मान, गर्व, सुन्दरता एवं शक्ति उत्पाद के लिए। कुशल धर्मों के प्रतिपादन के आधार शरीर मात्र की स्थिति के लिए निश्चित मात्रा में भोजन का सेवन करना चाहिए। भगवान् की भाँति अल्प शयन करना चाहिए तथा स्मरण युक्त हो संप्रजन्य के साथ निद्रा करनी चाहिए। सदैव मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा इन चार अप्रमाणों की सम्यक् भावना करनी चाहिए।

मैत्रीकरुणोपेक्षामुदिताश्च सदा सम्यग् भावयितव्याः ।
अलब्धेऽनुत्तरपदे ध्रुवमेव ब्रह्मलोके सुखावाप्तिः ।।[३]

सभी सत्त्वों को आलम्बन बनाकर उनके सुख की कामना करना मैत्री है। उनकी दुःखों से वियोग की कामना करुणा है। उनके सुख से युक्त होने पर सौमनस्य (प्रीति) होना मुदिता है तथा अनुनय एवं प्रतिघ दोनों का समान रूप से अभाव उपेक्षा है। नैरात्म्यद्वय की प्रज्ञा से गृहीत इन मैत्री आदि चार अप्रमाणों की भावना से निर्वाण प्राप्त होता है। अनुत्तर निर्वाण प्राप्त न होने पर भी रूपधातु के प्रथम ध्यान आदि से ब्रह्मलोक में दिव्य सुख प्राप्त होता है, क्योंकि उनकी भावना से क्रोध के ताप से रहित, दोषहीन ध्यान या शान्ति का अनुभव होता है।

कामान् प्रीतिविचारौ सुखञ्च दुःखञ्च विहाय चतुर्भिरेव ।
ध्यानैर्ब्रह्माभास्वरशुभकृत्स्नबृहत्फलभागिनश्च भवन्ति ।।[४]

---

[१] विनिपातगतानाथव्रतस्थान् संविभज्य च ।
भुञ्जीत मध्यमां मात्रां त्रिचीवरबहिस्त्यजेत् ।। - बो.च. ५/८५

[२] वही, ३८ कारिका ।

[३] वही, ४० कारिका ।

[४] वही, ४१ कारिका ।

इस प्रकार मैत्री आदि अप्रमाणों की भावना से चार ध्यान प्राप्त होते हैं तथा चारों ध्यान समापत्तियों की भावना करने से क्रमशः महाब्रह्मा, आभास्वर, शुभकृत्स्न एवं बृहत्फल रूपी देवताओं के रूप में जन्म प्राप्त होगा, ऐसा प्रधान रूप से कहा गया है। सूक्ष्मतः मृदु, मध्य एवं अधिमात्र प्रथम ध्यान की पूर्ण भावना से क्रमशः ब्रह्मकायिक, ब्रह्मपुरोहित तथा महाब्रह्मा में जन्म होता है और मृदु, मध्य एवं अधिमात्र चतुर्थ ध्यान की भावना करने से परीत्तशुभ, अप्रमाणशुभ एवं शुभकृत्स्न में जन्म ग्रहण होता है- ऐसा जानना चाहिए। गुरु एवं लघु कर्म के भेद से शुभ एवं अशुभ की हेयोपादेयता का वर्णन करते हुए औद्धत्य आदि पाँच नीवरणों के प्रहाण की शिक्षा देते हुए वे कहते हैं कि- क्योंकि ये (नीवरण) ध्यान एवं विमोक्ष आदि अथवा त्रिशिक्षा की प्राप्ति में बाधक होते हैं। कामच्छन्द एवं व्यापादचित्त दोनों अधिशील शिक्षा को हानि पहुँचाते हैं। स्त्यान एवं मिद्ध दोनों अधिचित्त में हानि पहुँचाते हैं तथा औद्धत्य एवं कौकृत्य दोनों अधिप्रज्ञा में हानि पहुँचाते हैं। विचिकित्सा अधिचित्त एवं अधिप्रज्ञा दोनों में हानि पहुँचाती है। अतः इन्हें कुशलधन हर्ता चोर के रूप में जानें तथा इनका प्रहाण करें।

औद्धत्यं कौकृत्यं व्यापादः स्त्यानमिद्धे च कामेच्छा ।
विचिकित्सेति पञ्चैव कुशलधनहारकाणीमानि ज्ञेयानि ।।[१]

विशिष्ट निःश्रेयस धर्म की प्रतिपत्ति के लिए श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा इन पाँचों इन्द्रिय अथवा पाँचों बलों की भावना करने की शिक्षा दी गई है, क्योंकि ये आर्यमार्ग के साक्षात् हेतु होते हैं। इनके विरोधी प्रत्यय गर्व की परिहाणि के लिए कर्म-कर्मफल नियम को स्वीकार करने की बात कही गई है, क्योंकि कर्म से कोई मुक्त नहीं है। जिस प्रकार व्यक्ति व्याधि, जरा, मरण एवं प्रिय-वियोग आदि से रहित नहीं है अर्थात् मुक्त नहीं है उसी प्रकार कर्म से भी वियुक्त नहीं है। सुख-दुःख तो पूर्वकृत कर्मों पर आधारित होते हैं। सामान्यतः व्यक्ति स्वयं में पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। इस प्रकार बारम्बार विचार द्वारा गर्व के प्रतिपक्ष का अभ्यास करना चाहिए। इसलिए अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए सम्यक् दृष्टि की भावना अत्यन्त आवश्यक है।

---

[१] वही, ४४ कारिका ।

यहाँ आचार्य ने संवृति विषयक एवं परमार्थ विषयक दो सम्यक् दृष्टियों का वर्णन करते हुए कहा है कि प्रथम दृष्टि कर्म एवं फल के सम्बन्ध में विश्वास करना है तथा वह स्वर्ग प्राप्ति का हेतु है। द्वितीय दृष्टि सर्वधर्मशून्यता तत्त्व की अवबोधिका है तथा यह मोक्ष का हेतु है। अतएव यदि आवस्थिक रूप से स्वर्ग एवं वास्तविक रूप से मोक्ष सुख की अभिलाषा हो, तो उपर्युक्त दोनों दृष्टियों की सदैव भावना करें।

स्वर्गं मोक्षं चेच्छेत् सम्यग्दृष्टिस्तावद् भावनीयैव ।
कृतानि मिथ्यादृष्ट्या पुरुषैः सुचरितान्यपि विषमविपाकानि।।[१]

इसका विस्तार से वर्णन करते हुए आचार्य चार स्मृत्युपस्थानों की भावना, उसमें भी विशेष रूप से धर्मस्मृत्युपस्थान की भावना, उनके विरोधी प्रत्यय तीन संयोजनों-शीलव्रतपरामर्श, सत्कायदृष्टि तथा विचिकित्सा का प्रहाण तथा इनके अनुकूल तीन शिक्षाओं का अभ्यास करने की शिक्षा देते हुए कहते हैं कि चित्त को क्लेशरूपी बन्धनों से मुक्त करने के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्ष नहीं है। वह मोक्ष तो स्वयं के अभ्यास पर निर्भर है। इसमें अन्य पुद्गल कुछ भी सहायता नहीं कर सकते हैं, अतः स्वयं को ही प्रयत्न करना पडता है।

आत्मोपेक्षो मोक्षः परस्मान्न लभ्यते किमपि साहाय्यम् ।
चत्वार्यार्यसत्यानि वृत्तस्थः श्रुतचिन्ताभिरभ्येच्च ।।[२]

निर्वाण की अवस्था की प्राप्ति हेतु सात अकुशलों से विरति अधिशील है। आर्यमार्ग की उत्पत्ति के अनुरूप चारों ध्यान अवस्थाएं अधिचित्त है और नैरात्म्यद्वय का अवबोध अधिप्रज्ञा शिक्षा है। इनका सदैव अभ्यास करना चाहिए। ये तीनों शिक्षाएं मोक्ष प्राप्ति के पूर्ण, अविपरीत अथवा सम्यक् उपाय हैं। इस प्रकार शील अपरिपक्व सन्तति को परिपक्व करता है। समाधि क्लेशों का दमन करती है। प्रज्ञा क्लेशों को समूल नष्टकर परिपक्व सत्त्व को मुक्त करती है।

अधिशीलचित्तप्रज्ञास्तिस्रोऽपि शिक्षाः सदैव शिक्षणीयाः ।
एतास्वन्तर्भूतानि शतमेकपञ्चाशच्च शिक्षापदानि ।।[३]

---

[१] वही, ४७ कारिका ।
[२] वही, ५२ कारिका ।
[३] वही, ५३ कारिका ।

मनुष्य का जीवन तो अनेक प्रकार की बाधाओं से युक्त होता है। इसलिए इसे हवा से उठे पानी के बुलबुले से भी अधिक अनित्य कहा गया है। शरीर का अन्त तो खाक हो जाना, शुष्क हो जाना एवं सड जाना है।[1] नश्वर, जीर्ण-शीर्ण एवं पूति होने के कारण शरीर में आसक्त होने लायक कोई सार तत्त्व नहीं है। जब कोई दृढ एवं कठोर पदार्थ जैसे पृथ्वी, सुमेरु एवं समुद्र भी सात सूर्यों के उदय होने पर भस्म होकर धूलिमात्र भी अवशिष्ट नहीं रह जाते हैं तो फिर इस दुर्बल मनुष्य शरीर के बारे में तो कहना ही क्या है। आचार्य मनुष्य जीवन को अत्यन्त दुर्लभ बताते हुए अपने सुहृद् सातवाहन राजा गौतमीपुत्र को विशिष्ट आधार मनुष्य जीवन की प्राप्ति का एहसास दिलाते हुए मार्ग की साधना में प्रयत्न करने की शिक्षा देते हैं। आठ अक्षणों में से किसी भी एक अवस्था में जन्म ग्रहण करने पर व्यक्ति को मोक्ष सिद्ध करने का अवसर प्राप्त नहीं होता है। चूँकि सम्प्रति आपने आठ अक्षणों से रहित मोक्ष प्राप्ति के विशिष्ट आधार मनुष्य जीवन को प्राप्त किया है। अतएव इसे सार्थक बनाने हेतु पुर्नजन्म के निवारण के लिए मार्ग की प्रतिपत्ति में प्रयत्न करें।

महार्णवयुगच्छिद्रे हि कूर्मग्रीवार्पणाच्च मानुषं जन्म ।
तिर्यगादिसुदुर्लभं सफलीकुरु सद्धर्माभ्यासान्नरेन्द्र ।।[2]

चतुर्थ अध्याय में आचार्य सांसारिक दोषों से खिन्नता के उत्पाद हेतु संसार के दोषों का वर्णन करते हुए संसार में चित्त न लगाने की शिक्षा देते हुए कहते हैं कि यह संसार मृत्यु, व्याधि, जरा एवं इच्छित वस्तुओं के न मिलने आदि अनेक दुःखों का आकर है। इसमें अनियत दोष, अतृप्तिदोष, शरीर के बारम्बार परित्याग का दोष, पुनः पुनः प्रतिसन्धिदोष, असंगतिदोष, नारकीयदुःख, तिर्यग् योनि के दुःख, प्रेतदुःख, देवों का दुःख तथा असुरों का दुःख अर्थात् पाँचों गतियों के नियत दुःखों

---

[1] भगवान् ने कहा है- हे भिक्षुओं ! शरीर समयातीत हो चुका है अर्थात् जो मर चुका है, वह बान्धवों द्वारा आग में जलाया जाता है । पानी में फेंका जाता है । जमीन के नीचे गाढ़ा जाता है । अथवा वायु एवं सूर्य द्वारा सुखाया जाता है । अथवा तिर्यग् योनि के अन्तर्गत आने वाले नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं द्वारा खाया जाता है। -(उद्धृत), सुहल्लेख-स्फुटार्थाटीका (हिन्दी), आचार्य रेनदावा, पृ. २२३, ति.सं.सं. १९९६ ।

[2] वही, ५९ कारिका ।

के अनुभव का दोष होता है। चूँकि संसार उक्त प्रकार के अनेक दोषों से समन्वित होता है, इसलिए देव, मनुष्य आदि गतियों में जन्म लेना भी उचित नहीं है।

इष्टविघातव्याधिमृत्युजरादिदुःखावहः संसारः ।
विरज्य ततः शृणु तावद् दोषानेतस्यावगच्छन् नरदेव ।।[१]

दुष्टाचरणे लग्नाः सत्त्वाः संजीवकालसूत्रतपनेषु ।
रौरवावीच्यादौ हि संघाते चापि नरके सदा दुःखम् ।।[२]

अनिष्टफलबीजानि तु कायवाक्चित्तानां हि दुराचरणानि ।
भवतैवं यतनीयं शक्त्या येन तदणुमत्रं न शिष्येत।।[३]

यच्च लभन्ते प्रेता नानादुःखास्वादमेकविधमित्थम् ।
प्रीतिरत्र कार्पण्ये मात्सर्यमनार्यमुक्तमतो बुद्धेन ।।[४]

दुःखं स्यान्मानसिकं देवैश्वर्यं प्रतीर्ष्ययाऽसुरेष्वपि ।
न कुर्वन्ति धीमन्तो जन्मावरणाच्च ते सत्यदर्शनानि ।।[५]

संसारेऽस्मिन्नेवं देवनरकप्रेततिर्यग्योनिषु ।
जन्मग्रहणमयुक्तं बहुबाधं जन्म तत्रेति विज्ञेयम् ।।[६]

पाँचवें अध्याय में निर्वाण की अनुशंसा का विचार कर मार्ग की प्रतिपत्ति हेतु सप्त बोध्यंग, शमथ एवं विपश्यना की युगनद्धता, प्रतीत्यसमुत्पाद का अवबोध, आर्य अष्टाङ्गिक मार्गों की भावना, आर्यसत्यों की भावना आदि विषयों की शिक्षा देते हुए आचार्य कहते हैं कि इनके अभ्यास से निर्वाण की प्राप्ति होती है, क्योंकि ये निर्वाण प्राप्ति के लिए कुशल सम्भार हैं। ध्यान के अभाव में प्रज्ञा स्थिर नहीं होती है, जिसके कारण वह क्लेशों का उन्मूलन नहीं कर सकती। उसी प्रकार प्रज्ञा के अभाव

---

[१] वही, ६५ कारिका ।
[२] वही, ७७ कारिका ।
[३] वही, ८८ कारिका ।
[४] वही, ९७ कारिका ।
[५] वही, १०२ कारिका ।
[६] वही, १०३ कारिका ।

में ध्यान मात्र पर्युत्थित क्लेशों को दबा सकता है, किन्तु क्लेशों का बीजसहित उन्मूलन नहीं कर पाता है। इसलिए शमथ एवं विपश्यना युगनद्ध मार्ग के द्वारा निर्वाण प्राप्त होता है।

प्रज्ञाभावे ध्यानं ध्यानाभावेऽपि न जायते सा प्रज्ञा ।
यत्रोभे विद्येते ज्ञेयस्तस्य भवसागरो गोष्पदवत् ।।[१]

प्रतीत्यसमुत्पाद तो बुद्ध के वचनों में प्रधान है अर्थात् सबसे प्रिय वचन है, क्योंकि यह सभी वचनों का सार है। जो इसे सम्यक् रूप से देखता है वह तत्त्व के द्रष्टा श्रेष्ठ बुद्ध को देखता है।

गम्भीरोऽनर्घकोशः प्रियः प्रतीत्योत्पादो जिनवचनानाम् ।
सम्यगिमं यः पश्यति स च पश्यति तत्त्वदर्शिनं बुद्धमेव ।।[२]

अन्त में बुद्ध के उपदेश के सार को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि अकुशल कर्मों से विरत हो कुशल कर्मों में प्रवृत्त हो अपने चित्त का दमन करें। भगवान् ने चित्त को धर्म का मूल कहा है। चित्त से लोक की उत्पत्ति होती है। चित्त सभी को ले जाता है। एक चित्त-धर्म के प्रभाव से सभी धर्म उसका अनुगमन करते हैं।[३]

चित्तं हि धर्ममूलं भगवतोक्तमतस्तदपि साधु दमयेच्च ।
भो निर्भय, किं बहुना कथनेन यतोऽयमेव हितोपदेशः ।।[४]

अन्त में आचार्य पुनः कहते हैं कि इस प्रकार के उपदेश का पूर्णतया पालन एक प्रयत्नशील, कुशलपरायण पूर्ण भिक्षु के द्वारा भी दुर्लभ है तो अनेक कार्यों में व्यस्त गृहस्थों के द्वारा तो कहना ही क्या है? फिर भी इनमें से किसी एक शिक्षापद का आचरण करेंगे तो इस प्रकार की प्रतिपत्ति से दोषों का प्रहाण कर गुणों का प्रतिलाभ कर भावना द्वारा जीवन को सार्थक बना सकेंगे। इस प्रकार बुद्ध शासन में स्थित होंगे तथा क्रमशः और भी गुण प्राप्त होंगे।

---

[१] वही, १०७ कारिका ।

[२] वही, ११२ कारिका ।

[३] चित्तेन नीयते लोकः चित्तेन परिकृष्यते ।
एकधर्मस्य चित्तस्य सर्वधर्मा वशानुगाः ।। - सं.नि. १.२.७; अभि.को. (उद्धृत) पृ. १३८, बौ.भा.प्र. १९८७; चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दान्तं सुखावहम् ।। -धम्मपद, ३/३

[४] वही, ११७ कारिका ।

यन्मयोपदिष्टं तत्सप्रयासैरपि भिक्षुभिर्दुःसाध्यम् ।
चर्यागुणान् सेवस्व शिक्षामाचर जीवनं च कुरु सार्थम् ।।[१]

इस प्रकार की धर्मदेशना से संतुष्ट चित्त वाले व्यक्ति को महायान मार्ग में प्रवेश कराने के आशय से आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार बुद्ध एवं बोधिसत्त्व समस्त पृथग्जन तथा आर्यों के सास्रव एवं अनास्रव सभी कुशलों का अनुमोदन करते हैं, उसी प्रकार अपने द्वारा किए गए सभी कुशल कर्मों का सभी के लिए अनुमोदन करना चाहिए तथा स्वयं के द्वारा अच्छी तरह से की गई काय, वाणी एवं चित्त की चर्याओं की भी बुद्धत्व प्राप्ति हेतु परिणामना करनी चाहिए।[२]

सर्वेषां कुशलानि तु सर्वार्थमनुमोद्य स्वचर्यात्रयीं च ।
बुद्धत्वाय परिणाम्य ततस्तदनेन पुण्यराशिना भवता।।[३]

अपरिमित जन्मों में समस्त देव एवं मनुष्य लोक के योगियों को वश में करके तथा अवलोकितेश्वर के समान चर्या करके अनेक असहाय दुःखी जनों को अनुगृहीत करना चाहिए। तथा अन्तिम जन्म लेकर व्याधि, जरा, राग और द्वेष का निराकरण कर बुद्ध क्षेत्र में भगवान् अमिताभ के सदृश अपरिमित आयु वाले जगन्नाथ होवें।

चरमं भवं गृहीत्वा व्याधिजरारागद्वेषांश्च प्रहाय ।
बुद्धक्षेत्रे भगवानमिताभ इव लोकेशोऽमितायुर्भव ।।[४]

ग्रन्थ के अन्तिम भाग में आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बुद्धत्व प्राप्त करके उचित सत्त्वार्थ करते हुए शान्तिमय, क्लेशहीन, लोकोत्तर एवं अनुपधिशेषनिर्वाण पद को प्राप्त करना चाहिए।

।। भवतु सर्वमङ्गलम्।।

---

[१] वही, ११८ कारिका ।

[२] दशदिग्व्योमपर्यन्तसर्वसत्त्वार्थसाधने ।
यथा चरति मञ्जुश्रीः सैव चर्या भवेन्मम ।। -बो.च. १०/५४;
पारंपर्येण साक्षाद्वा सत्त्वार्थं नान्यदाचरेत् ।
सत्त्वानामेव चार्थाय सर्वं बोधाय नामयेत् ।। -बो.च. ५/१०१

[३] वही, ११९ कारिका ।

[४] वही, १२१ कारिका ।

आचार्यनागार्जुनविरचितः

सुहृल्लेखः

आचार्यमहामतिविरचित-

व्यक्तपदाटीका-समलङ्कृतः

सर्वदृष्टिप्रहाणाय यः सद्धर्ममदेशयत् ।
अनुकम्पामुपादाय तं नमस्यामि गौतमम् ।।

--मूलमध्यमककारिका, २७/३०

आचार्यनागार्जुनविरचितः

सुहृल्लेखः

प्रकृतिसुकृतार्हगुणाढ्य सुगतवचोभ्यः समुदानीताश्च मया ।
शुभमालक्ष्य कृता वै काश्चिदार्यागीतयस्त्वया च श्रव्याः ।।१।।

आचार्यमहामतिविरचित-

व्यक्तपदाटीका-समलङ्कृतः

आचार्यनागार्जुनेन[1] राज्ञे सातवाहनगौतमीपुत्राय[2] गुणगणान्वितोऽयं लेखः प्रेषितस्तस्मादयं 'सुहृल्लेखः' इत्युच्यते। **प्रकृतिगुणाढ्येति** सम्बोधनम्।

---

[1] निवृते सुगते पश्चात्कालोऽतीतो भविष्यति।
महामते, निबोध त्वं यो नेत्रीं धारयिष्यति।।
दक्षिणापथवेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः।
नागाह्वयः स नाम्ना तु सदसत्पक्षदारकः।।
प्रकाश्य लोके मद्यानं महायानमनुत्तरम्।
आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम्।। -लं.अ.सू., १०/१६४-६६, पृ. ११८, मि.प्र.।

पुनश्च मञ्जुश्रीमूलकल्पतंत्रेऽपि भगवता उक्तम्-
नागाह्वयो नाम सौ भिक्षुः शासनेऽस्मिं हिते रतः।
मुदितां भूमिलब्धस्तु जीवेद् वर्षशतानि षट्।।
मायूरी नामतो विद्या सिद्धा तस्य महात्मनः।
नानाशास्त्रार्थधात्वर्थनिःस्वभावार्थतत्त्ववित्।।
सुखावत्यां चोपपद्येत यदासौ त्यक्तकलेवरः।
सोऽनुपूर्वेण नियतं संप्रपत्स्यते .... ।।
-मञ्जुश्रीमूलकल्पतंत्रम्, म.सू.सं. भाग-२, ५३/४४०-४५१, मि.प्र. १९६४।

[2] अयं सातवाहनवंशस्य महत्त्वपूर्णः शासकः आसीत्। अनेन स्वकुलस्य विलुप्तप्रतिष्ठा पुनः स्थापिता। स्वपूर्वजैः युद्धे पराजितान् प्रदेशान् विजित्य पूर्वतः पश्चिमसमुद्रपर्यन्तं राज्यस्य विस्तारः कृतः। नासिकाभिलेखेन ज्ञायते यत् तस्य अश्वैः त्रयाणां समुद्राणां जलं पीतम्। अयमेव

पूर्वकुशलमूलवशान्नियतोत्पादात्। प्रकृतिरिति हेतुः। अत एव सुकृतार्हेत्युक्तम्। यो ह्यतीते कुशलकारी, स सम्प्रति कुशलभाग् भवति। अत एव स सद्धर्मश्रवणयोग्य इति। तत एव **त्वया आर्यागीतय** इमाः श्रोतव्याः। केन किमर्थं प्रणीता इति चेत्? **सुगतवचोभ्यः समुदानीताश्च मया** (नागार्जुनेन) **शुभमालक्ष्य कृता वै काश्चिदार्यागीतयः** इति। सुगतवचस्तावदत्यन्तं मनोहारि। ततः समुदानात् पुण्यस्याभिकाङ्क्षया मयेमा आर्यगीतयः रचितास्तास्त्वया श्रोतव्या इति। **आर्यगीतिः** इत्येतत् छन्दनाम। कियत्यस्ता इति चेत्? काश्चिदित्युक्तम्। अनेन तावच्छब्दबाहुल्यभयं प्रहीयते।

अथवा प्रकृतिगुणाढ्य इति स्वभावेन गुणगणान्वितः। अनेन कुशललक्षणान्युक्तानि। सुकृतार्हत्वमिति कुशलयोग्यत्वम्। यो हि कुशलाशयः सः सुकृतार्ह इति। अत एव स सद्धर्मश्रवणोचितः, सुकृतपूर्वगामित्वादिति।। शेषं पूर्ववत्।।१।।

दारुमयी ह्यपि प्रतिमा सम्पूज्यते काऽपि सुगतस्य विद्वद्भिः ।
तथाऽमनोज्ञं काव्यं सद्धर्माश्रयाच्च ममेदं न निन्द्यम् ।।२।।

अमनोज्ञं भवदीयं काव्यमिति न श्रोष्यामीति चेत्? उच्यते **दारुमयी ह्यपि प्रतिमा...** इत्यादि। **'अपि'** शब्देन पाषाणमृत्तिकादीनां संग्रहः। **काऽपि** इत्यनेन मनोज्ञं वा अमनोज्ञं वा भवेदित्यर्थः। यथा दार्वादिविनिर्मितः कीदृशोऽपि तथागतकायश्चतुर्विशेषण[1]निरपेक्षतया विद्वत्प्रवरैः सम्पूज्यते तथा अमनोज्ञमपि ममेदं काव्यं सद्धर्माश्रितत्वात् प्रशंसनीयमेवेति।[2] प्रशस्यत्वाद् श्रवणीयमपीत्यभिप्रायः।।२।।

सातवाहनगौतमीपुत्रनाम्ना प्रसिद्धो जातः। स सातवाहनवंशस्य सर्वाधिको बलवान् राजा मन्यते। बौद्धधर्मं प्रति तस्य सविशेषा रुचिरासीत्। नासिकात्प्राप्ताभिलेखाद् एवं ज्ञायते यत् तेन बौद्धभिक्षूणां कृते भूमिदानादिपुण्यकार्याणि कृतानि। सातवाहनगौतमीपुत्रः (१०६-१३० ई. सन्) चतुर्विंशति-वर्षाणिपर्यन्तं सफलं शासनं कृत्वा पश्चात् १३०तमे ईसवीये वर्षे स्वदेहं तत्याज।

-द्र. माध्यमिकभारत-भूमेरितिहासः, पृ. ११६।

[1] द्रष्टव्यम्-- १. मृष्टगात्रता, २. विशुद्धगात्रता, ३. विशुद्धनेत्रता, ४. व्यपगततिलकगात्रता।

महामुनेरतिमधुरं मन्ये वचनं भवताऽवगतमेव स्यात् ।
आकल्पितं तु सुधया नन्वतिधवलं न दृश्यते चन्द्रिकया? ।।३।।

अथावगतमेव मया तथागतवचनं किमिति पुनरनेन काव्येनेति चेत्? उच्यते- **महामुनेरतिमधुरं मन्ये वचनं भवतावगतमेव स्यात्**, इत्यादि। **'एव'**- शब्देन श्रुत-चिन्ता-भावनानां संग्रहः। यद्यपि महामुनेर्भगवतो बुद्धस्य मधुरवचनानि दृष्टान्यवगतानि च तथापि काव्यमिदं नोपेक्षणीयमेव। तत् कस्य हेतोः?

आकल्पितं तु सुधया नन्वतिधवलं न दृश्यते चन्द्रिकया? तु इत्येवमित्यर्थः। यथा सुधाविनिर्मितः प्रासादः प्रकृत्या धवलोऽपि चन्द्रकिरणैरधिकं धवलीक्रियते तथोपदिष्टानामपि वचनानां पौनःपुन्येनावृत्त्या तान्यत्यन्तं स्पष्टतराण्येव भवन्ति। तस्मात् काव्यमिदं नोपेक्षणीयमिति। सवासनक्लेशोत्पादाभावात् महामुनिस्तावत्तथागतः। सुभाषितत्वात्तद् (वचनं) मधुरमिति।।३।।

जिनैर्बुद्धधर्मसंघशीलत्यागदेवादिषडनुस्मृतयः ।
प्रदर्शितास्तास्तु तद्गुणसम्भारैः पृथगनुस्मरणीयाश्च ।।४।।

इतः परं **जिनैर्बुद्धधर्मे**त्यादिना धर्मदेशनामाह। पापधर्मविजेतृत्वाज्जिनास्तु भगवन्तो बुद्धाः। यथोक्तम्--

पापधर्मादहं जेताऽहमुपसंक्रमणाच्च ।।

--ध.सं.(म.सू.सं.), पृ. ३३४ ;

अ.वि.सू., पृ. ६४ ; १. प्रमृष्टपापधर्मतया मृष्टगात्रता, २. विशुद्धचित्तत्वात् विशुद्धगात्रता, ३. सुविशुद्धधर्मदेशनात् विशुद्धनेत्रता, ४. व्यपगतकालधर्मविनयत्वेन व्यपगततिलकालकगात्रता।

--आलोक, पृ. ५३९।

२ ग्रन्थज्ञो देवानां प्रियो न त्वर्थज्ञः। अर्थश्च प्रतिसरणमुक्तं भगवता। .... ;
अर्थश्च प्रतिसरणमुक्तं भगवतेति। "चत्वारीमानि भिक्षवः प्रतिसरणानि। कतमानि चत्वारि? धर्मः प्रतिसरणं न पुद्गलः, अर्थः प्रतिसरणं न व्यञ्जनम्, नीतार्थसूत्रं प्रतिसरणं न नेयार्थम्, ज्ञानं प्रतिसरणं न विज्ञानम्।" इति।

--अभि.को.स्फु., पृ. २५७, बौ.भा.प्र. १९८७ ।

षडनुस्मृतय उपदिष्टाः, कतमाः षट्? तद्यथा- बुद्धानुस्मृतिः धर्मानुस्मृतिः संघानुस्मृतिः त्यागानुस्मृतिः, शीलानुस्मृतिः देवतानुस्मृतिश्च।[१]

तत्र बुद्धालम्बनानुस्मरणमेव अनुस्मृतिः। एवमेव सर्वत्र योजनीयम्। कथं पुनस्ता अनुस्मृतयो भावनीया इति चेत्? **'पृथग्'**- इत्युक्तं। बुद्धादयः प्रत्येकं गुणैरनुस्मरणीया मनसि करणीया इत्यर्थः। इह तावद् बुद्धाद्यनुस्मृतय एवोच्यन्ते, अनुस्मरणस्थानत्वात्। अतो बुद्धादिषु प्रत्येकं तद्गुणसम्भारैरनुस्मृतेषु सत्सु साधु योगो भवति।

के तावद् बुद्धादीनां गुणाः? बुद्धगुणास्तु "इत्यपि स भगवांस्तथागतोऽर्हन् सम्यक्संबुद्धो विद्याचरणसम्पन्नः सुगतो लोकविदनुत्तरः पुरुषदम्यसारथिः शास्ता देवानां च मनुष्याणां च बुद्धो भगवानिति"[२]।

---

[१] बुद्धं आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति बुद्धानुस्सति। बुद्धगुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। धम्मं आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति धम्मानुस्सति। स्वाक्खातादिधम्मगुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। संघ आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति संघानुस्सति। सुपटिपन्नतादिसंघगुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। सीलं आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति सीलानुस्सति। अखण्डतादिसीलगुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। चागं आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति चागानुस्सति। मुत्तचागतादिचागगुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। देवता आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति देवतानुस्सति। देवता सक्खिट्ठाने ठपेत्वा अत्तनो सद्धादिगुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। ---वि.मग्ग, ७ परि०, भाग-१, पृ. ४०९, स.सं.वि.वि.सं. १९६९ ; अ.वि.सू., पृ. ४५, के.पी.जा.शो.सं.।

[२] अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितायामुक्तम्- यदाहं देवपुत्रा दीपंकरस्य तथागतस्यार्हतः सम्यक्संबुद्धस्यान्तिके दीपवत्यां राजधान्यामन्तरायणमध्यगतोऽनया प्रज्ञापारमितया अविरहितोऽभूवम्, तदाहं दीपंकरेण तथागतेनार्हता सम्यक्संबुद्धेन व्याकृतोऽनुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ- 'भविष्यसि त्वं माणव, अनागतेऽध्वनि असंख्येयैः कल्पैः शाक्यमुनिर्नाम तथागतोऽर्हन् सम्यक्संबुद्धो विद्याचरणसम्पन्नः सुगतो लोकविदनुत्तरः पुरुषदम्यसारथिः शास्ता देवानां च मनुष्याणां च बुद्धो भगवानिति'।

-अ.प्र.सू., पृ. २४, मि.सं. १९६० ;

इह भिक्षव आर्यश्रावको बुद्धेऽवेत्यप्रसादेन समन्वागतो भवति- इत्यपि स भगवांस्तथागतोऽर्हन् सम्यक्सम्बुद्धो विद्याचरणसम्पन्नः सुगतो लोकविदनुत्तरः पुरुषदम्यसारथिः शास्ता देवानां च मनुष्याणां च बुद्धो भगवानिति।

-अ.वि.सू., पृ. ४५, के.पी.जा.सं., १९७१ ;

इत्यपीत्यादयस्तथागतगुणाः। स भगवान् इति यो लोके ख्यातः प्रसिद्धः, स भगवान् स तथागत इति सर्वैः पदैः सह योगः करणीयः, स एवम्, स एवमित्यर्थः।

तत्र रागादिहन्तृत्वेन **भगवान्**। बोधिमण्डप्रस्थानकाले विघ्नकरणार्थं प्रत्युपस्थितानां माराणां हननाद् वा **भगवान्**।[1] इतरथा तावद् भगोऽस्मिन्निति भगवान्, ऐश्वर्यादिगुणोपेतत्वात्। **तथागत** इति यथा भावानां स्थितिः, तथाऽधिगतत्वाज्ज्ञातत्वाच्च तथागतः। यथा वस्तुस्थितिस्तथैव गदनाद् वा तथागतः।[2]

इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा' ति। -महापरित्राणसूत्रम्, नागपुर-संस्करणम्, १९८७ ; वि.मग्ग, ७/२, पृ. ४१०, स.सं.वि.वि.प्र. १९६९।

[१] क्लेश-स्कन्ध-मृत्यु-देवपुत्ररूपाणां चतुर्णां माराणां भञ्जकत्वान्निरुक्त्या भगवान् इति स्मर्यते। अथवा ऐश्वर्यादिमत्त्वात् भगवान् इत्युच्यते। यथोक्तम्-

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इति श्रुतिः।। -वज्र.टीका (पुनरुद्धार), पृ. ९९, ति.सं. १९९४ ;
क्लेशकर्म तथा जन्म क्लेशज्ञेयावृती तथा।
येन वैपक्षिका भग्नास्तेनेह भगवान् स्मृतः।।
इत्यार्षोक्त्या नैरुक्तविधानेन क्लेशादिकं भग्नवानिति भगवान्।
-आलोकः, पृ. २७२, मि.सं. ;

इत्यपि स भगवानित्यादि विस्तरः। एभिश्च पदैर्यथाक्रमं गुणमाहात्म्यमभिद्योतितम्। विबन्धभङ्गाच्छास्तृत्वसम्पत् वक्तृत्वप्रतिपत्तृत्वलक्षणा, येन हेतुना यथा स भगवान् भव्याभव्यान् सत्त्वानवलोक्य भव्यान् विनयति, तच्च शास्तृत्वं येषु प्रतिष्ठितं तस्याभिद्योतनात्। तत्र भगवानित्यनेन विबन्धभङ्गं दर्शयति, भग्नवानिति कृत्वा नैरुक्तेन विधिना भगवान्। कः पुनरत्र शास्तृत्वसम्पदो विबन्धः? देवपुत्रमारः। तद्भङ्गेन प्रथमतः शास्तृत्वसम्पदो लाभात्।
-अ.वि.सू.नि., पृ. २४१, के.पी.जा.सं., १९७१ ।

[२] प्रज्ञापारमिता ज्ञानमद्वयं सा तथागतः।
-प्र.पि., १ कारिका ;

अचलिता हि तथता। .... या च तथता, स तथागतः, ...या च भूतकोटिः स तथागतः, ...या चा शून्यता, स तथागतः। ....या च यथावत्ता, स च तथागतः। .....यश्च निरोधः स तथागतः। ...यश्च आकाशधातुः, स तथागतः।
---अ.प्र.सू., ३१ परि. पृ. २५३ ;

भूतवादी सुभूतेः तथागतः, सत्यवादी तथावादी अनन्यथावादी तथागतः, न वितथवादी तथागतः।
-वज्र.सू., पृ. ३६, ति.सं. १९७८ ।

अर्हन् इति क्लेशारीणां हननात्, संसारचक्रस्य अराणां वा हननाद् अर्हन्, लाभ-सत्कारादिभिः पूजार्हत्वाद् वा अर्हन्निति।[१]

सम्यक्सम्बुद्ध इति सम्यगविपरीतं समन्ताद् धर्मान् बुद्धवानिति सम्यक्संबुद्धः।[२] **विद्याचरणसम्पन्न** इति विद्याचरणाभ्यां युक्तः। ज्ञानचरणवच्छीलसमाधिभ्यां च युक्त इति विद्याचरणसम्पन्नः।[३]

---

१ पूजादक्षिणागुणप्रकर्षाद्यर्हतया अर्हन्तः ; ... हतारित्वात् अर्हन्तः। -आलोकः, पृ. २७३ मि.सं. ;

ध्यानध्येयसमाधिविमोक्षवलाभिज्ञानक्लेशदुःखविकल्पाभावादर्हन्नित्युच्यते। -लं.सू., पृ. ४९, मि.सं. ;

यस्मा रागादिसङ्खाता सब्बे पि अरयो हता।
पञ्ञासत्थेन नाथे तस्मा पि अरहं मतो ति।। -वि.मग्ग, ७/६ ;

सम्यक् समाधिवशात् सकलविकल्पक्लेशानरीन् हतवान् (इत्यर्हन्)। --अ.क., पृ. २४०

२ सर्वाकाराविपरीतधर्मदैशिकत्वेन परार्थसंपदा तथागताः। सवासनक्लेशज्ञेयावरणप्रहाणयोगात् स्वार्थसंपदा अर्हन्तः। सम्यक्संपद्वयावाहकमार्गाधिगमात् सम्यक्संबुद्धाः। -आलोकः, पृ. ३००, मि.सं. ;

तथागतोऽर्हन् सम्यक्संबुद्धः इत्येभिस्त्रिभिः पदैः शास्तृत्वसम्पदं दर्शयति। सा च शास्तृत्वसंपत् द्विधा-वक्तृत्वलक्षणा प्रतिपत्तृत्वलक्षणा च। तत्र यथैव ते धर्मा व्यवस्थितास्तथैव गदनात्तथागत इत्यनेन अविपरीतधर्मदैशिकत्वात् वक्तृत्वसंपदुक्ता। प्रतिपत्तृत्वलक्षणा च ज्ञानप्रहाणसंपद्भेदेन द्विविधा। तत्र अरीन् हतवानर्हन् इत्यनेन प्रहाणसंपदुक्ता। अरयश्च रागादयः क्लेशाः सर्वकुशलधर्मोपघातार्थेन। इयं च प्रहाणसंपत्पूर्वमुक्ता, तत्पूर्वकत्वाज्ज्ञानसंपदः। सम्यक् अविपरीतं समन्ताद्धर्मावबोधात् सम्यक्संबुद्धः इत्यनेन ज्ञानसंपदुक्ता अविपरीतसर्वज्ञज्ञानाधिगमयोगात्। तदेवमविपरीतधर्मदैशिकत्वेन सर्वक्लेशप्रहाणेन सर्वाकारधर्मावबोधेन च शास्तृत्वसंपदसाधारणा परिपूर्णा च भगवतः कथिता। तथा हि-बाह्यानामविपरीतधर्मदैशिकत्वप्राप्तिः, सर्वक्लेशाप्रहाणात्। तस्मादेते न भूतशास्तारः। श्रावकप्रत्येकबुद्धास्तु यद्यपि भूतशास्तारः सर्वक्लेशप्रहाणात्, न तु सर्वाकारसर्वधर्मशास्तारः सर्वाकारसर्वधर्मानवबोधात्। भगवान् भूतशास्ता सर्वाकारशास्ता चेति प्रतिपादितम्।

-आलोकः, पृ. ३५१, मि.सं. ;

तथागतोऽर्हन् सम्यक्सम्बुद्ध इति। एभिः पदैः शास्तृत्वसम्पदं दर्शयति। सा च शास्तृत्वसम्पद् द्विविधा। वक्तृत्वलक्षणा प्रतिपत्तृत्वलक्षणा च। वक्तृत्वमविपरीतधर्मदेशकत्वं येन भगवान् तथागत इत्युच्यते, तथैवाविपरीतधर्मं गदतीति कृत्वा। प्रतिपत्तृत्वं प्रहाणसम्पत् ज्ञानसम्पच्च। प्रहाणसम्पदा भगवानर्हन्नित्युच्यते, अरीन् हतवानिति कृत्वा नैरुक्तेन विधिना। अरयो हि क्लेशाः, सर्वकुशलधर्मोपघातार्थेन। ज्ञानसम्पदा सम्यक्सम्बुद्ध इत्युच्यते, सम्यगविपरीतं समन्ताद् धर्मान् बुद्धवानिति कृत्वा। एतावता च शास्तृत्वसम्पत् परिपूर्णा भवति- अविपरीतधर्मदेशकत्वेन, सर्वक्लेशप्रहाणेन सर्वधर्माभिसम्बोधेन च। एतच्च त्रयं भगवत्येवोपलभ्यते। अतो भगवानेवंभूतां

सुगत इति प्रशस्तं शोभनं गतवान् इति सुगतः,[१] अपुनरावृत्त्या च गत इति सुगतः सुनष्टज्वरवदिति। **लोकविद्** इति नश्यते विनश्यत इति लोकः, स च द्विविधः

सर्वाकारां शास्तृत्वसंपदं प्राप्त इति निर्दिश्यते।

---अ.वि.सू.नि., पृ. २४२, के.पी.जा.सं. ;

यथावद्वस्तुतत्त्वदेशनात् तथागतः। अथवा यथा पूर्वका नैरात्म्यद्वयमार्गेण गताः, क्लेशज्ञेयावरणप्रहाणमधिगताः, अत्रापि तथा गतत्वात् तथागतः। सर्वलोकाभ्यर्हणीयत्वात्, अरीणां क्लेशानां वा हन्तृत्वाद् अर्हन्। समस्तज्ञेयानां सम्यगववोधात् सम्यकसम्बुद्धः। एभिः पदैर्भगवतः प्रहाणज्ञानरूपा स्व-परार्थसम्पदुपदर्शिता भवति। -

-वज्र.टी.(पुनरुद्धार), पृ, १०६, ति.सं. १९९४ ;

वस्तुतत्त्वं यथास्थितिः, तथैवाधिगम्यते, अधिगतत्वात् तथागतः। अथवा पूर्वकैर्बुद्धैर्यथा वस्तुतत्त्वमधिगतमविपर्ययेण तथैवानेनाप्यधिगतमित्यधिगतत्वात् तथागतः। स च तथ्यसंवृतौ ज्ञानकायत्वेन युज्यते, न चान्यत्राविकल्पितत्वात्। तच्च गमनादि क्वचित् संवृतावपि न सम्भवति, अमूर्तत्वात्। परमार्थे तु न सम्भवतितराम्, अनुत्पन्नत्वात्। ततः स वस्तुस्वभावाधिगत्या समस्तलोकस्य ज्येष्ठत्वात् पूजनीयत्वात् अर्हन् इत्युच्यते, सम्यगवबुद्धत्वात् सम्यक्सम्बुद्धः इत्युच्यते।

--वज्र.टी.(पुनरुद्धार), पृ. २१७, ति.सं. ;

[३] अनेन शास्तृत्वसंपदः प्राप्तिहेतुं दर्शयति। तत्र विद्या सम्यग्दृष्टिः। सम्यक्संकल्पादीनि शेषाण्यङ्गानि चरणम्। यतः सम्यग्दृष्ट्या तत्त्वं दृष्ट्वा सम्यक्संकल्पादिभिश्चरणभूतैर्गच्छति। अन्यथा अपश्यन्नचरणो गन्तुमसमर्थ इति भावः। ताभ्यां सम्पन्नो युक्तः। अधिप्रज्ञं वा शिक्षा विद्या। अधिचित्तमधिशीलं च शिक्षा चरणम्। प्रज्ञायाः पूर्वपरिकर्मभूतत्वेन पुरश्चरणं चरणमिति कृत्वा। विद्यायास्तु पूर्वग्रहणं तत्परिशुद्ध्या शीलसमाध्योः परिशुद्धितः। तथा हि प्रज्ञया चक्षुषेव पश्यंस्ताभ्यां च शीलसमाधिभ्यां चरणाभ्यामिव गच्छन् गन्तव्यमनुप्राप्नोतीति विद्याचरणशब्देन तिस्रः शिक्षा निर्दिश्यन्ते।

--आलोक, पृ. ३५२, मि.सं. ;

विद्याचरणसम्पन्न इत्यनेन तस्याः शास्तृत्वसम्पदः प्राप्तिहेतुत्वं दर्शयति। विद्याचरणमार्याष्टाङ्गो मार्गः। सम्यग्दृष्टिर्विद्या। शेषाण्यङ्गानि चरणम्, न ह्यपश्यन्नचरणो वा गन्तुं समर्थो भवतीति कृत्वा। तिस्रो वा शिक्षा विद्याचरणम्। अधिप्रज्ञशिक्षा विद्या, अधिशीलमधिचित्तं च शिक्षे चरणम्, प्रज्ञायाः पूर्वपरिकर्मत्वात् पुरश्चरणं चरणमिति कृत्वा। विद्यायास्तु पूर्वग्रहणं तत्परिशुद्ध्या शीलसमाधिपरिशुद्धितः। तथा हि प्रज्ञया चक्षुषेव पश्यन् ताभ्यां शीलसमाधिभ्यां चरणाभ्यामिव गच्छन् गन्तव्यमनुप्राप्नोति (इति) विद्याचरणशब्देन तिस्रः शिक्षा निर्दिश्यन्ते।

-अ.वि.सू.नि., पृ. २४३, के.पी.जा.सं., १९७१ ।

[१] सुगत इत्यनेन यथागन्तव्यं गतस्तं दर्शयति। सुष्ठु गतः सुगतोऽपुनरावृत्त्यर्थेन, सुनष्टज्वरवत्। निःशेषं वा गतः सुगतः निःशेषज्ञेयगमनार्थेन, सुपूर्णघटवत्। एतच्चार्थद्वयं बाह्यश्रावकादिभ्यो विशेषणार्थम्। बाह्या हि न सुष्ठु गताः पुनरावृत्तितः। श्रावकादयो यद्यपि सुष्ठु गताः, पुनः पृथग्जनताया अभव्यत्वात्,

सत्त्वलोको भाजनलोकश्च।[1] तयोः परिज्ञानाद् लोकविदिति। द्वादशाङ्गप्रतीत्यसमुत्पादव्यवस्थायाः[2] परिज्ञानात् सत्त्वलोकवित्, भूमिपर्वतादिमहाभूतादीनां स्थितिपरिमाणादिपरिज्ञानाच्च भाजनलोकविदिति

न तु निःशेषं गताः, सर्वज्ञेयेषु ज्ञानविबन्धत्वात्।

--अ.वि.सू.नि., पृ. २४४, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

हेतोः प्रहाणं त्रिगुणं सुगतत्वमनिःश्रयात्।।
दुःखस्य शस्तं नैरात्म्यदृष्टेश्च युक्तितोऽपि वा।
पुनरावृत्तिरित्युक्तो जन्मदोषसमुद्भवौ ।।

सुगतत्वं व्याचिख्यासुराह- हेतोः समुदयस्य प्रहाणं निरोधः सुगतत्वम्, तच्च त्रिगुणं गुणत्रययुक्तम्। सुशब्दस्य त्रिविधोऽर्थः -- १. प्रशस्ता सुरूपवत्, २. अपुनरावृत्तिः सुनष्टज्वरवत्, ३. निःशेषता च सुपूर्णघटवत्। तत्र प्रशस्तं भगवान् ज्ञातवान्, सुगतः इति प्रशस्तार्थमाह-- अनिःश्रयाद् अनाश्रयणाद् दुःखस्य शस्तं सुगतत्वम्। तत् पुनर्दुःखानाश्रयणं नैरात्म्यदृष्टेः। आत्मदर्शी ह्यात्मनि स्निह्यन् तद्दुःखसुखपरिहारप्राप्तीच्छया जन्म दुःखरूपमादत्ते, प्रहीणात्मदर्शनस्तु नैतादृश इति प्रहीणदुःखोपायो युक्तितोऽपि वा युक्तिपरिदृष्टेनोपायेन वा गमनात् तत्सुगतत्वं प्रशस्तम्।। अथवा-- अपुनरावृत्त्या गमनं सुगतत्वम्, तदाख्यातुमाह-- जन्मनो रागादेश्च दोषस्य समुद्भवौ पुनः पुनरावर्तनात् पुनरावृत्तिरित्युक्तौ।।

--प्र.वा. १/१४१,१४२ का., प्र,वा.वृ., पृ. ४४-४५, बौ,भा.प्र., १९९४ ;

तथा हि-- लोकत्तरेण मार्गेण शोभनं ज्ञानप्रहाणसंपदं गतः सुगतः सुरूपवत्। अपुनरावृत्त्या वा सुष्ठु गतः सुगतः सुनष्टज्वरवत्। निःशेषं वा गतः सुगतः सुपरिपूर्णघटवत्। अर्थत्रयं चैतद्बाह्यवीतरागशैक्षाशैक्षेभ्यो विशेषणार्थम्। तथा हि-- आत्मविपर्यासेन बाह्यवीतरागा न शोभनं गताः। शैक्षास्तु संसारे पुनर्जन्मग्रहणान्न सुष्ठु गताः। अशैक्षाः पुनः सर्वज्ञेयेषु ज्ञानविबन्धान्न निःशेषं गताः।

--आलोकः, पृ. ३५२, मि.सं. ;

नैरात्म्यद्वयमार्गेण सम्यग् गत इति सुष्ठुरूपेण गतः सुगतः, सुरूपवदिति। अथवा निखिलसवासनाशेषक्लेशज्ञेयावरणानि प्रहाय गतः सुगतः, सुपूर्णघटवत्। अथवा अपुनरावृत्त्या गतः सुगतः, सुनष्टज्वरवत्। --वज्र.टी.(पुनरुद्धार), पृ. १०६, ति.सं. १९९४।

[1] नरकप्रेततिर्यञ्चो मनुष्याः षट् दिवौकसः।
कामधातुः ....।।
तत्र भाजनलोकस्य सन्निवेशमुशन्त्यधः।
लक्षषोडशकोद्वेधमसंख्यं वायुमण्डलम्।।

---अभि.को., ३/१, ४५ कारिका।

[2] द्रष्टव्यम्--- धर्मसंग्रहः, पृ. ३३१(म.सू.सं.), मि.सं. ; अभि.को., ३/२०, पृ. ४३५, बौ.भा.प्र., १९८७ ; अ.वि.सू., पृ. ५, के.पी.जा.सं. १९७१ ; प्रतीत्यसमुत्पादो नाम-म.सू., पृ. ११९(म.सू.सं.), मि.सं. ; अभि.समु., पृ. २६, वि.भा.प्र. १९५०।

लोकविदुच्यते। इतरथापि भद्रलोकव्यवहारपरिज्ञानाद् वा लोकविदिति।[1] **अनुत्तरः पुरुषदम्यसारथिः**[2] इत्यत्र दमयितुं योग्या दम्याः। पुरुषा एव दमनार्हा इति पुरुषदम्याः,

---

[1] अस्याश्च शास्तृत्वसंपदो द्विविधं कर्मेति प्रथमं भव्याभव्यलोकावलोकनं कर्म दर्शयति-- लोकविद् इति। भव्याभव्यलोकपरिज्ञानादसौ लोकविदुच्यते। तथा हि-- भगवान् त्रिःकृत्वो रात्रेस्त्रिःकृत्वो दिवसस्य सम्यग् बुद्धचक्षुषा लोकं व्यवलोकयति।

--आलोकः, पृ. ३५२, मि.सं. ;

लोकविदित्यनेन भव्याभव्यलोकावलोकनं दर्शयति। लोकं वेत्तीति लोकवित्। भव्याभव्यलोकपरिज्ञानादसौ लोकविदित्युच्यते। तथा हि भगवांस्त्रिः कृत्वा रात्रेस्त्रिः कृत्वा दिवसस्य च बुद्धचक्षुषा लोकं व्यवलोकयति-- को हीयते, को वर्धते, कः कृच्छ्रप्राप्तः, कः सङ्कटप्राप्तः, कोऽपाये निमग्नः, कमहमपायादुद्धृत्य स्वर्गे मोक्षे च प्रतिष्ठापयेयम्, कस्यानवरोपितानि कुशलमूलान्यवरोपयेयम्, कस्यावरोपितानि परिपाचयेयम्, कस्य परिपक्वानि परिमोचयेयमिति।

--अ.वि.सू.नि., पृ. २४५, के.पी.जा.सं. १९७१।

[2] अनुत्तरः पुरुषदम्यसारथिरित्यनेन भव्यविनयं दर्शयति। भव्याभव्यांल्लोकानवलोक्य भगवान् ये पुरुषदम्या दमनार्हा दमयितुं वा शक्यास्तान् विनयति, सारथिभावगमनात्। दमनं हि सारथिभावः। अनुत्तरग्रहणं सारथिभावविशेषणार्थम्। दुर्दमानामपि केषांचित् पुरुषदम्यानां तीव्ररागद्वेषमोहानामार्यसुन्दरानन्दाङ्गुलिमालोरुविल्वकाश्यपप्रभृतीनां दमनात्। उत्तमार्थे निर्वाणेऽपुनरावृत्तितो दमनादिति अनुत्तरः पुरुषदम्यसारथिरित्युच्यते। भव्यानां विनयादेवमुच्यते। ये पुनरभव्याः तेषु कथं प्रवर्तते? तानपि दारिद्र्यदुर्गतिदुःखपरित्राणेन भोगसुगत्यादिसुखे प्रतिष्ठापयति। भव्यांस्तु नियतगोत्रकान् श्रावकादिबोधौ यथाभव्यतया प्रतिष्ठापयति। अनियतान् पुनः प्रत्ययबलेन हीनाद् व्यावर्त्य प्रणीते प्रतिष्ठापयति।

---अ.वि.सू.नि., पृ. २४५-२४६, के,पी.जा.सं., १९७१ ;

भव्याभव्यांल्लोकान् व्यवलोक्य भगवान् ये पुरुषा एव दम्या दमानार्हा दमयितुं वा शक्या भव्यास्तान् विनयति। तेषां सारथिभावगमनात्। विनयनं हि सारथिभावः, असन्मार्गादपनीय सन्मार्गे प्रतिष्ठापकत्वात् गुणविशेषाधायकत्वाच्च, अश्वादिसारथिवत्। अनुत्तरग्रहणं सारथिभावविशेषणार्थम्। दुर्दमानामपि केषांचित् पुरुषदम्यानां तीव्ररागद्वेषमोहमानानामार्यसुन्दरानन्दाङ्गुलीमालोरुविल्वकाश्यपमहाराजकप्फिणप्रभृतीनां विनायक इति प्रदर्शनार्थम्। --आलोक, पृ ३५२, मि.सं. ;

द्रष्टव्यम्--

स्थायिनां त्वं परिक्षेप्ता विनियन्तापहरिणाम्।
समाधाता विजिह्मामानां प्रेरको मन्दगामिनाम्।। १०२।।

नियोक्ता धुरि दान्तानां खटुङ्कानामुपेक्षकः।
अतोऽसि नरदम्यानां सत्सारथिरनुत्तरः ।। १०३।।

--बुद्धस्तोत्रशतपञ्चशत्कः, लद्दाखरत्नश्रीदीपिका, १९९८।

तेषां सारथिः पुरुषदम्यसारथिस्तेषां दमनात्। **अनुत्तरः** श्रावकप्रत्येकबुद्धेभ्यो विशिष्टत्वात्। अत्र दम्यास्तावद् अप्राप्तार्यमार्गाः, तेषां सम्यग् दमनं भवति, ते नैव पुनः खटुङ्कस्वभावतया (तीव्ररागद्वेषादिस्वभावेन) परिवर्तन्ते।

शास्ता देवानां च मनुष्याणां च[१] इत्यत्र प्रशस्यत्वाद् आर्यमार्गस्य भाजनत्वाच्च देवमनुष्यौ कथितौ, अविपरीतानुशासनाद् शास्ता, यथाशयं धर्मदेशनया तथागतस्येमे गुणा विभज्यन्ते।

बुद्धो भगवानिति[२] तत्त्वावबोधाद् बुद्धः। अप्रकटितोऽत्र पदान्तरः (तत्त्वशब्दः)। अथवा बुद्धेः पर्यन्तविकासाद् वा बुद्धः, अवबुद्धानि पद्मानि यथा। अविद्यानिद्रातो विबुद्धत्वाद् वा बुद्धः, अवबुद्धपुरुष इव। एते पदार्था अत्र संगृह्यन्ते । विस्तरस्तु अन्यशास्त्रेभ्योऽवगन्तव्यम्। उक्ता बुद्धानुस्मृतिः।

---

[१] शास्ता देवानां च मनुष्याणां च इत्यनेन येषु तच्छास्तृकर्म प्रतिष्ठितं तान् दर्शयति। यद्यपि भगवान् विशेषेण सत्त्वानां स्वर्गापवर्गमार्गोपदेशाच्छास्ता, यत्र त्वार्यदर्शनं श्रामण्यफलप्राप्तिश्च प्रज्ञायते तेषामिहाधिकारः। यथार्थानुशासनमत्र शास्तृकर्माभिप्रेतम्। तस्य च देवमनुष्या भाजनम्। अतो देवमनुष्याणामित्युच्यते।

---अ.वि.सू.नि., पृ. २४६, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

यद्यपि भगवान् न विशेषेण सर्वसत्त्वानां स्वर्गापवर्गमार्गोपदेशेन शास्ता, तथापि यत्र त्वार्यसत्यदर्शनं श्रामण्यफलप्राप्तिश्च प्रज्ञायते, तत्र मुख्यतो यथार्थानुशासनं भगवतः शास्तृकर्मस्थितिः। तस्य च देवमनुष्या भाजनम्। अतः शास्ता देवानां च मनुष्याणां चेत्युच्यते। --आलोकः, पृ. ३५२, मि.सं. ।

[२] बुद्धो भगवानिति पुनरेतत्पदद्वयं किमर्थम्? नवभिरेव पदैर्यथोक्तैः सकलं विवक्षितं गुणमाहात्म्यमभिद्योतितम्। यत्रैतद् गुणमाहात्म्यं स बुद्धो भगवानिति प्रदर्शनार्थम्। पदानां पुनः पिण्डार्थः ---

भङ्क्त्वा विबन्धं शास्तृत्वसम्पदं यो हि येन सः।
तथागतः शास्तृकर्म यच्च यैश्च परिग्रहः।।
इत्येतत्परिदीपितमिति। ---अ.वि.सू.नि., पृ. २४७, मि.सं. १९७१ ;

तत्र सकलपदार्थावबोधेन प्रकृष्टा बुद्धिरस्येति बुद्धः। अकारप्रत्ययोऽत्र अर्शआदेराकृतिगणत्वेन कार्यः। प्रकृष्टा च बुद्धिर्नवभिराकारैः -- सर्वज्ञानेन, अयत्नज्ञानेन, अनुपदिष्टज्ञानेन, सवासनक्लेशावरणप्रहाणज्ञानेन, निखिलज्ञेयावरणप्रहाणज्ञानेन, सर्वाकारसर्वसत्त्वार्थकरणशक्त्या, करुणासम्पत्त्या, अक्षयतासम्पत्त्या, अतुलतासम्पत्त्या च। समग्रैश्वर्यादियोगेन भगवान्।

---आलोकः, पृ. २५२-२५३, मि.सं. ।

धर्मगुणाः - स्वाख्यातादयः, तद्यथा- स्वाख्यातो भगवतो धर्मः सान्दृष्टिको निर्ज्वर आकालिक औपनयिक ऐहिपश्यिकः प्रत्यात्मवेद्यो विज्ञैरिति।[1]

द्विविधो धर्मः- देशनाधर्मः अधिगमधर्मश्च।[2] तत्र स्वाख्यात इत्यनेन आदि-मध्य-पर्यवसान-कल्याणतया देशनाधर्म उक्तः, अवशिष्टैः पदैः अधिगमधर्मो भाषित इति संग्रहार्थः। पदबाहुल्यभयान्नात्र विस्तारोऽनुष्ठितः।

---

[1] धर्मेऽवेत्य प्रसादेन समन्वागतो भवति-- स्वाख्यातो भगवता धर्मः सांदृष्टिको निर्ज्वर आकालिक औपनयिक ऐहिपश्यिकः प्रत्यात्मवेद्यो विज्ञैः यदुत-- मदनिर्मदनः, पिपासाप्रतिविनयः, आलयसमुद्घातः, धर्मोपच्छेदः, शून्यतोपलम्भः, तृष्णाक्षयः, विरागः, निरोधः, निर्वाणम्।

--अ.वि.सू., पृ. ४५, मि.सं. ;

स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चतं वेदितब्बो विञ्ञूही' ति एवं परियत्तिधम्मस्स चेव नवविधस्स च लोकुत्तरधम्मस्स गुणा अनुस्सरितब्बा।

--वि.मग्ग, ७/४७, भाग-१, पृ. ४६८, स.सं.वि.वि.सं. १९६९ ;

स्वाख्यातो भगवता धर्मः सांदृष्टिक इत्यादि। यथासूत्रं स्वाख्यात इत्युद्देशः। शेषोऽस्य निर्देशः। तत्राविपरीतधर्मसमाख्यानात् स्वाख्यातः। दृष्टार्थत्वात् सांदृष्टिकः, न तु श्रद्धामात्रगम्यः। क्लेशानुशयप्रतिपक्षत्वान्निर्ज्वरः। अपरिहाणीयत्वादाकालिकः, सर्वकालं परिहाण्यसम्भवात्, क्लेशप्रहाणं प्रति कालनियमा-भावाद्वा। अशेषदुःखनिर्याणोपनयनादौपनायिकः। असाधारणत्वादैहिपश्यिकः ; इहपश्येषु भावादिहपश्यः, इहधार्मिकः, इहैव तथात्वं पश्यन्तीति कृत्वा। अतर्क्यत्वात् प्रत्यात्मवेदनीयः। विज्ञैरित्यार्यैः। अनभिलाप्यत्वाद्वा प्रत्यात्मवेदनीयो विज्ञैरित्युच्यते। एभिश्चाष्टाङ्गो मार्गः समाख्यातः। बाह्यधर्माद्वा बौद्धधर्मस्य विशेषः परिदीपितः। बाह्यकानां धर्मा दुराख्यत्वात् न स्वाख्याताः। अदृष्टार्थत्वान्न सांदृष्टिक इत्येवमन्यत्रापि योज्यम्।

---अ.वि.सू.नि., पृ. २४८-२४९, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

महायानोत्तरतन्त्रेऽपि धर्ममाहात्म्यमेवमुक्तम्---

यो नासन्न च सन्न चापि सदसन्नान्यः सतो नासतो-
ऽशक्यस्तर्कयितुं निरुक्त्यपगतः प्रत्यात्मवेद्यः शिवः।
तस्मै धर्मदिवाकराय विमलज्ञानावभासत्विषे
सर्वालम्बन-रागद्वेषतिमिर-व्याघातकर्त्रे नमः।। ---म.उ.तं., १/९

[2] सद्धर्मो द्विविधः शास्तुरागमाधिगमात्मकः।
धातारस्तस्य वक्तारः प्रतिपत्तार एव च ।।

तत्रागमः सूत्रविनयाभिधर्माः, अधिगमो बोधिपक्ष्याः --इत्येष द्विविधः सद्धर्मः। आगमस्य हि धारयितारो वक्तारः। अधिगमस्य प्रतिपत्तारः। अतो यावदेते स्थास्यन्ति तावत् सद्धर्म इति वेदितव्यम्। तेषां तु वर्षसहस्रमवस्थानमाहुः। अधिगमस्यैवम्। आगमस्य तु भूयांसं कालमित्यपरे।

--अभि.को.भा. ८/३९, पृ. ११८६, बौ.भा.प्र. १९८७ ।

संघगुणाः - सुप्रतिपन्नादयः, तद्यथा- सुप्रतिपन्नो भगवतः श्रावकसंघः, न्यायप्रतिपन्नः ऋजुप्रतिपन्नः सामीचीप्रतिपन्नः, यदुत चत्वारि पुरुषयुगानि अष्टौ पुरुषपुद्गलाः, एष भगवतः श्रावकसंघः आहवनीयः प्राहवनीयः अञ्जलिकरणीयः दक्षिणीयः अनुत्तरं पुण्यक्षेत्रं लोकस्येति।[१]

संग्रहार्थस्तावदत्र आर्यसंघस्य शैक्षाशैक्षद्विविधगुणनिर्देशः। सुप्रतिपन्नादिभिः पदचतुष्कैः प्रतिपत्तिगुणाः, आहवनीयादिभिः सर्वदा पूज्यत्वादिगुणाश्च प्रदर्शिताः।

त्यागगुणाः - अहो, मात्सर्यमलसमुत्थानानां जनानां मध्ये मात्सर्यमलरहितेन चित्तेन स्थित्वा योऽहं यायजूकः प्रसृतपाणिः व्यवसर्गरतः दानसंविभागरतश्चास्मि, सोऽहं तान् गुणान् सम्प्राप्तोऽस्मीति। अत्र तावत् स्वसन्तानान्तर्गतो दानगुणः, मात्सर्यमलप्रहाणं, दानशीलता, वीर्यारब्धकायता, वस्तुपरित्यागः त्यागाभिरतिश्चेति (गुणाः) सन्दर्शिताः।[२]

---

[१] सङ्घेऽवेत्यप्रसादेन समन्वागतो भवति। सुप्रतिपन्नो भगवतः श्रावकसंघः, न्यायप्रतिपन्नः, ऋजुप्रतिपन्नः, सामीचीप्रतिपन्नः, धर्मानुधर्मप्रतिपन्नः, अनुधर्मचारी। सन्ति संघे स्रोतआपत्तिफलसाक्षात्क्रियायै प्रतिपन्नकाः, सन्ति संघे स्रोतआपन्नाः, सन्ति संघे सकृदागामिफलसाक्षात्क्रियायै प्रतिपन्नकाः, सन्ति संघे सकृदागामिनः, सन्ति संघे अनागामिफलसाक्षात्क्रियायै प्रतिपन्नकाः, सन्ति संघे अनागामिनः, सन्ति संघे अर्हत्वफलसाक्षात्क्रियायै प्रतिपन्नकाः, सन्ति संघे अर्हन्तः ; यदुत्-- चत्वारि पुरुषयुगानि, अष्टौ पुरुषपुद्गलाः। एष भगवतः श्रावकसंघः शीलसम्पन्नः, समाधिसम्पन्नः, श्रद्धासम्पन्नः, श्रुतसम्पन्नः, विमुक्तिसम्पन्नः, विमुक्तिज्ञानदर्शनसम्पन्नः, आहवनीयः, प्राहवनीयः, अञ्जलिकरणीयः, सामीचीकरणीयः, अनुत्तरं पुण्यक्षेत्रं दक्षिणीयो लोकस्य। --अ.वि.सू., पृ. ४६-४७, के.पी.जा.सं. १९७१ ; पुनश्च द्रष्टव्यम्--अ.वि.सू.नि., पृ. २५०-२५५, के.पी.जा.सं., १९७१ ;

सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, उजुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, ञायप्पटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, सामीचिप्पटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, यदिदं चत्तारि पुरिसयुगानि अट्ठ पुरिसपुग्गला, एस भगवतो सावकसंघो आहुनेय्यो, पाहुनेय्यो, दक्खिणेय्यो, अञ्जलिकरणीयो, अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्सा' ति एवं अरियसंघगुणा अनुस्सरितब्बा।

--वि.मग्ग, ७/६४, पृ.४८४, भाग-१, स.सं.वि.वि.सं. १९६९।

[२] चागानुस्सतिं भावेतुकामेन पन पकतिया चागाधिमुत्तेन निच्चप्पवत्तदानसंविभागेन भवितब्बं। अथ वा पन भावनं आरभन्तेन इतो दानि पभुति सति पटिग्गाहके अन्तमसो एकालोपमत्तम्पि दानं अदत्वा न भुञ्जिस्सामी ति समादानं कत्वा तंदिवसं गुणविसिट्ठेसु पटिग्गाहकेसु यथासत्ति यथाबलं दानं दत्वा तत्थ निमित्तं गण्हित्वा रहोगतेन पटिसल्लीनेन "लाभा वत मे, सुलद्धं वत मे, योहं

शीलगुणाः - शीलं तावन्मामकीनम् अखण्डम् अपरामृष्टम् अशबलम् अकल्मषं भुजिष्यं विज्ञप्रशस्तं समाधिप्रतिपन्नं चेति। अत्रापि स्वसन्तानान्तर्गतः शीलगुण एव निर्दिष्टः। पदव्याख्यानं त्वधस्तात् प्रदर्शयिष्यते।[1]

देवगुणाः - चातुर्माहाराजिक-त्रायस्त्रिंशदेवेभ्य आरभ्य परनिर्मितवशवर्तिदेवपर्यन्ताः। तेषां देवानां तदीयानां गुणानां च यदनुस्मरणं (सा देवानुस्मृतिः) तत् क्रियते। तत्रोपपन्नानां देवानां उत्पाद-सन्तत्यादयः, तेषां शील-समाधि-प्रज्ञादयश्च गुणा देवगुणा इत्युच्यन्ते। अर्थतोऽत्र स्वगुणानेव देवगुणसमान्

मच्छेरमलपरियुट्ठिताय पजाय विगतमलमच्छेरेन चेतसा विहरामि, मुत्तचागो पयतपाणि वोस्सग्गरतो याचयोगो दानसंविभागरतो" ति एवं विगतमलमच्छेरतादिगुणवसेन अत्तनो चागो अनुस्सरितब्बो।

--वि.मग्ग, ७/७९, पृ. ४९३, भाग-१, स.सं.वि.वि. १९६९ ;

एवं नारायणपरिपृच्छायामप्युक्तम्-- न तद्वस्तूपादातव्यं यस्मिन् वस्तुनि नास्य त्यागचित्तमुत्पद्यते। न त्यागबुद्धिः क्रमेत। न स परिग्रहः परिग्रहीतव्यो यस्मिन् परिग्रहे नोत्सर्जनचित्तमुत्पादयेत्, न स परिवार उपादातव्यो यस्मिन् याचनकैर्याच्यमानस्य परिग्रहबुद्धिरुत्पद्यते। न तद्राज्यमुपादातव्यम्, न ते भोगाः, न तद्रत्नमुपादातव्यम्, यावन्न तत्किंचिद्वस्तूपादातव्यम्, यस्मिन् वस्तुनि बोधिसत्त्वस्यापरित्यागबुद्धिरुत्पद्यते। अपि तु खलु पुनः कुलपुत्र बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेनैवं चित्तमुत्पादयितव्यम्-- अयं ममात्मभावः सर्वसत्त्वेभ्यः परित्यक्तः उत्सृष्टः, प्रागेव बाह्यानि वस्तूनि। यस्य यस्य सत्त्वस्य येन येन यद्यत्कार्यं भविष्यति, तस्मै तस्मै तद्दास्यामि सत्संविद्यमानम्। हस्तं हस्तार्थिकेभ्यो दास्यामि, पादं पादार्थिकेभ्यो नेत्रं नेत्रार्थिकेभ्यो दास्यामि, मासं मांसार्थिकेभ्यः, शोणितं शोणितार्थिकेभ्यो मज्जानं मज्जार्थिकेभ्योऽङ्गप्रत्यङ्गान्यङ्गप्रत्यङ्गार्थिकेभ्यः, शिरः शिरोऽर्थिकेभ्यः परित्यक्ष्यामि। कः पुनर्वादो बाह्येषु वस्तुषु यदुत धनधान्य-- ....।

--शि.समु.(उद्धृतं), पृ. १६, मि.सं. १९६० ।

[1] आर्यकान्तैः शीलैः समन्वागतो भवति। यानि च तानि शीलानि अखण्डानि, अच्छिद्राणि, अशबलानि, अकल्मषाणि, भुजिष्याणि, अपरामृष्टानि, सुमाप्तानि, सुसमारब्धानि, विज्ञप्रशस्तानि, अगर्हितानि च विज्ञैरिति। --अ.वि.सू., पृ. ४७, के.पी.जा.सं. ;

सीलानुस्सतिं भावेतुकामेन पन रहोगतेन पटिसल्लीनेन "अहो वत मे सीलानि अखण्डानि अच्छिद्दानि असबलानि अकम्मासानि भुजिस्सानि विञ्ञुप्पसत्थानि अपरामट्ठानि समाधिसंवत्तनीकानी" ति एवं अखण्डतादिगुणवसेन अत्तनो सीलानि अनुस्सरितब्बानि। तानि च गहट्ठेन गहट्ठसीलानि, पब्बजितेन पब्बजितसीलानि।

--वि.मग्ग, ७/७६, पृ. ४९०, भाग-१, स.सं.वि.वि. १९६९ ;

शीलादपि वरं भ्रंशो न तु दृष्टेः कदाचन।
शीलेन गम्यते स्वर्गो दृष्ट्या याति परं पदम्।। --चतु., १२/११ ।

विधाय तदनुस्मरणमेवानुस्मृतिरिति।[१] षडनुस्मृतिस्थानानां चित्तविशोधकत्वात् बहुतरपुण्यहेतुकत्वाच्च आदावेव निर्देशः।

तत्र श्रद्धायुक्तेन चित्तेन सदा कुशलमेवाचरणीयमिति निर्देष्टुमुक्तम्--

दशकुशलाः कर्मपथाः कायवाक्चित्तैः सर्वदाऽभ्यसनीयाः ।
मद्यादिभिर्निवृते पुण्यमयैश्चाजीवैः सुप्रसन्नः स्याः ।।५।।

दशकुशलाः कर्मपथा[२] इत्यादि। अभीष्टफलदायकत्वात् कुशलम्, क्रियास्वरूपत्वात् कर्म, सुगतीनां मार्गत्वात् कर्मपथाः। कतमे च ते दश

---

[१] देवतानुस्सर्तिं भावेतुकामेन पन अरियमग्गवसेन समुदागतेहि सद्धादीहि गुणेहि समन्नागतेन भवितब्बं। ततो रहोगतेन पटिसल्लीनेन "सन्ति देवा चातुमहाराजिका, सन्ति देवा तावतिंसा, यामा, तुसिता, निम्मानरतिनो, परनिम्मितवसवत्तिनो, सन्ति देवा ब्रह्मकायिका, सन्ति देवा ततुत्तरि, यथारूपाय सद्धाय समन्नागता ता देवता इतो चुता तत्थ उपपन्ना, मय्हम्पि तथारूपा सद्धा संविज्जति। यथारूपेन सीलेन। यथारूपेन सुतेन। यथारूपेन चागेन। यथारूपाय पञ्ञाय समन्नागता ता देवता इतो चुता तत्थ उपपन्ना, मय्हम्पि तथारूपा पञ्ञा संविज्जती" ति एवं देवता सक्खिट्ठाने ठपेत्वा अत्तनो सद्धादिगुणा अनुस्सरितब्बा। --वि.मग्ग, ७/८४, पृ. ४९६, भाग-१, स.सं.वि.वि.सं. १९६९।

[२] प्राणातिपातः कतमः। वधाभिप्रायस्य क्लिष्टचेतसः परप्राणिनि तत्रैव वधयोगे वधनिष्ठायां यत्कायकर्म। अदत्तादानं कतमत्। अपहाराभिप्रायस्य क्लिष्टचेतसः परपरिगृहीते वस्तुनि तत्रैवाहारप्रयोगे तत्रैवापहारनिष्ठायां यत्कायकर्म। काममिथ्याचारः कतमः। सेवाभिप्रायस्य क्लिष्टचेतसः अगम्यानङ्गादेशाकालेषु तत्रैव काममिथ्याचारप्रयोगः काममिथ्याचारनिष्ठायां च यत्कायकर्म।

मृषावादः कतमः। विनिधाय संज्ञां वक्तुकामस्य क्लिष्टचेतसः परसत्त्वे तत्रैव कूटसाक्षिप्रयोगे कूटसाक्षिनिष्ठायां च यद्वाक्कर्म। पैशुन्यं कतमत्। भेदाभिप्रायस्य क्लिष्टचेतसः परसत्त्वेषु तत्रैव भेदप्रयोगे भेदनिष्ठायां च यद्वाक्कर्म। पारुष्यं कतमत्। परुषं वक्तुकामस्य क्लिष्टचेतसः परसत्त्वेषु तत्रैव परुषवचनप्रयोगे परुषवचननिष्ठायां च यद्वाक्कर्म। संभिन्नप्रलापः कतमः। प्रलपितुकामस्य क्लिष्टचेतसोऽबद्धप्रलापप्रयोगेऽबद्धप्रलापनिष्ठायां च यद्वाक्कर्म।

अभिध्या कतमा। परस्वीकरणाभिप्रायस्य क्लिष्टचेतसः परस्वीकरणाभिप्राये निश्चयप्रयोगे तन्निष्ठायां च यन्मनस्कर्म। व्यापादः कतमः। परव्यापादाभिप्रायस्य क्लिष्टचेतसः परव्यापादाभिप्रायनिश्चयप्रयोगे तन्निष्ठायां च यन्मनस्कर्म। मिथ्यादृष्टिः कतमा। अपवादाभिप्रायस्य क्लिष्टचेतसोऽपवादाभिप्रायनिश्चयप्रयोगे तन्निष्ठायां च यन्मनस्कर्म।

प्राणातिपातविरतिः कतमा। प्राणातिपात आदीनवाभिप्रायस्य कुशलचेतसस्तत्संयमप्रयोगे तत् संयमनिष्ठायां च यत्कायकर्म। यथा प्राणातिपातविरतिरेवमदत्तादानकाममिथ्याचार-

मृषावादपैशुन्यपारुष्यसंभिन्नप्रलापाभिध्याव्यापाद-मिथ्यादृष्टिविरतयो वेदितव्याः।

--यो.भू., पृ. १८१-१८२, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५७ ;

तत्र प्राणातिपातः परेषां जीवितक्षयः। स्थानाच्चौर्येण परद्रव्यावर्जनमदत्तादानम्। अनङ्गादौ स्त्र्याद्यभिगमनं काममिथ्याचारः।

वल्कलैः सगुडैः काचित्क्रियते मधुनापरा।
पिष्टकिण्वजलैरन्या सुरा ज्ञेया त्रिधा बुधैः।।

मैरेयं गुडधात्र्यम्बुधातकीसंस्कृतं विदुः।
मदयेदशितं पीतं यत्तन्मद्यमिति स्मृतम्।।

तदेतत् त्रिविधं सर्वं शुक्लधर्मविपक्षतः।
प्रमादस्थानमित्याह प्रसङ्गादागतं पुनः।।

अभूताभिधानमनृतवचनम्। परभेदकं वचः पिशुनवचनम्। अप्रियाभिधानं परुषवचनम्। सर्वक्लेशजनितं वाक्यं संभिन्नप्रलापः। अभिध्या परद्रव्येषु विषमस्पृहा। व्यापादः सत्त्वविद्वेषः। नास्तीति दृष्टिर्मिथ्यादर्शनम्।

---आलोकः, पृ. ४७५, मि.सं. ;

दशकर्मपथा उक्ता यथायोगं शुभाशुभाः। --अभि.को., ४/६६ ;

कायवाङ्मनसां दशकुशलेषु कर्मपथेषु व्यापारः। तत्र कायिकं त्रिविधम्-- प्राणातिपातादत्तादानकाममिथ्याचाराद् विरतिः। वाचिकं चतुर्विधम्-- अनृतपैशुन्यपारुष्यसम्भिन्नप्रलापाद् विरतिः। मानसं त्रिविधम्-- अभिध्याव्यापादमिथ्यादृष्टिभ्यो विरतिः।

--अ.वि.सू., पृ. ३६, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

प्राणातिपातस्याकुशलकर्मपथस्य विपाकेन पृथिव्या ओजश्च तेजश्चान्तर्धीयते। तस्यैव च कर्मणो विपाकेनाल्पायु- र्भवति। अदत्तादानस्याकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन पृथिव्यामशनिशुकशलभमूषिककीट-प्रभृतयः(सस्यघातका) उत्पद्यन्ते। तस्यैव कर्मणो विपाकेन भोगव्यसनमधिगच्छति। काममिथ्याचारस्याकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन पृथिव्यां तृणदर्भादीनि दुर्गन्धीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्यैव कर्मणो विपाकेन सम्पन्नगृहावासं प्रविशन्ति। अत्रावदानं श्वभ्रपदस्य सुसुधी दारिका काशिराज्ञःपत्नी। देवावतरणे कालोदयिनः पूर्वजन्मन्यवदानं वक्तव्यम्।

मृषावादस्याकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन मुखरोगदन्तरोगगलरोगमुखदौर्गन्ध्यादीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्यैव कर्मणो विपाकेनाभूताख्यानं प्रतिलभते। पिशुनवचनस्याकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन पृथिव्यां शर्करकठल्यादीनि दुःखसंस्पर्शादीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्यैव कर्मणो विपाकेन जातिव्यसना मित्रव्यसना भवन्ति, भेद्यः परिवारश्च भवति। परुषवचसोऽकुशलकर्मपथस्य विपाकेन पांशुरजोधूलिवातवृष्ट्यादीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्यैव कर्मणो विपाकेनामनोज्ञशब्दश्रवणदर्शनान्यनुभवन्ति। संभिन्नप्रलापस्याकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन ....कंदरश्वभ्रादीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्यैव कर्मणो विपाकेनानादेयवचना भवन्ति।

कुशलकर्मपथाः? तद्यथा- प्राणातिपातविरतिः अदत्तादानविरतिः काममिथ्याचारविरतिः मृषावादविरतिः पैशुन्यात् प्रतिविरतिः, पारुष्यवादात् प्रतिविरतिः सम्भिन्नप्रलापविरतिः, अभिध्यातः प्रतिविरतिः, व्यापादात् प्रतिविरतिः मिथ्यादृष्टेः प्रतिविरतिः, इत्येते दश कुशलकर्मपथा नित्यं सेवितव्याः। कथं ते सेवितव्या इति चेत्? **कायवाक्चित्तैः सर्वदा** इत्युक्तम्। तत्र प्राणातिपातविरत्यादयस्त्रयः सदैव कायेन सेवितव्याः। मृषावादविरत्यादयश्चत्वारः सदैव वाचा सेवनीयाः। अभिध्यातो

अभिध्याया अकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन व्रीहियवगोधूमादीनां सस्यानां तुषपलालादीनि प्रादुर्भवन्ति। तस्यैव कर्मणो विपाकेन परप्रार्थनीयभोगा भवन्ति। व्यापादस्याकुशलकर्मपथस्य विपाकेन प्रभूते उप्ते निष्फलं सस्यं भवति। तस्यैव कर्मणो विपाकेन प्रतिकूलदर्शनो भवति। मिथ्यादृष्टेरकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन तिक्तकटुकभावान्यपि पिचुमन्दकोषातकीविषतिक्तालाबु-प्रभृतीनि फलानि प्रादुर्भवन्ति। मिथ्यादृष्टेरकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन नास्तिक्यवादी भवति, उच्छेददृष्टिः।

--महा.क.वि.सू.(म.सू.सं.) पृ. २०१, मि.सं. १९६१ ;

श्रेष्ठा गतिर्भवति चापि महाशयानां देवेषु चैव मनुजेषु च मूर्ध्नप्राप्ताः।
संबोधिमार्ग सद सत्त्व समादयन्ति संयोजयन्ति कुशलेषु दशस्वथापि ।।

--रा.परि.सू.(म.सू.सं. भाग-१), ७०का. मि.सं. ;

तत्थ अकुसलं कायकम्मं वचीकम्मं मनोकम्मञ्चेति कम्मद्वारवसेन तिविधं होति। कथं? पाणातिपातो अदिन्नादानं कामेसु मिच्छाचारो चेति कायविञ्जत्तिसङ्खाते कायद्वारे बाहुल्लवुत्तितो कायकम्मं नाम। मुसावादो पिसुणवाचा फरुसवाचा सम्फप्पलापो चेति वचीविञ्जत्तिसङ्खाते वचीद्वारे बाहुल्लवुत्तितो वचीकम्मं नाम। अभिज्झा, व्यापादो मिच्छादिट्ठि चेति अञ्ञत्रापि विञ्जत्तिया मनसिं येव बाहुल्लवुत्तितो मनोकम्मं नाम।

---अभि.संग. ५/४५-४८, पृ. ५३०, स.सं.वि.सं., १९९२ ;

इमे खलु पुनर्दशाकुशलाः कर्मपथा अधिमात्रत्वादासेविता भाविता बहुलीकृता निरयहेतुर्मध्यत्वात् तिर्यग्योनिहेतुर्मृदुत्वाद्यमलोकहेतुः। तत्र प्राणातिपातो निरयमुपनयति, तिर्यग्योनिमुपनयति, यमलोकमुपनयति। अथ चेत्पुनर्मनुष्येषु उपपद्यते, द्वौ विपाकावभिनिर्वर्तयति, अल्पायुष्कतां च बहुग्लान्यतां च। अदत्तादानं ... पेयालं .... परीत्तभोगतां च साधारणभोगतां च। काममिथ्याचारो .... अनाजानेयपरिवारतां च ससपत्नदारतां च। मृषावादो ..... अभ्याख्यानबहुलतां च परैर्विसंवादनतां च। पैशुन्यं .... भिन्नपरिवारतां च हीनपरिवारतां च। पारुष्यं .... अमनापश्रवणतां च कलहवचनतां च। संभिन्नप्रलापो ..... अनादेयवचनतां च अनिश्चितभानतां च। अभिध्या ... असंतुष्टितां च महेच्छतां च। व्यापादो .... अहितैषितां च परोत्पीडनतां च। मिथ्यादृष्टिः ...... कुदृष्टिपतितश्च भवति शठश्च संवर्तते।

--द.भू.सू., पृ. १६-१७, मि.सं. १९६७।

विरत्यादयस्त्रयस्तावच्चित्तेन सदैव सेवनीयाः। सर्वदेत्यनेन कृतं सञ्चितं च कर्म व्यपदिश्यते।

तत्र कथं प्राणातिपातः कर्मपथः? प्राणी स्यात्, प्राणिसंज्ञा च स्यात्, हननचित्तं प्रत्युपस्थितं भवेत्, तदर्थमुपक्रमोऽपि स्यात्, तथा सति यदि मरणं स्यात्तदा प्राणातिपातः कर्मपथो भवति।[१] पापस्य गुरु-लाघवं पुनः वस्त्वाशयप्रयोगविशेषैर्वेदितव्यम्।

अदत्तादानं कथं कर्मपथः? परपरिगृहीतत्वं तथासञ्जाननं चौरचित्तप्रत्युपस्थानं तथाविधेन स्तेयचित्तेन स्वायत्तीकरणे अदत्तादानं (निष्पन्नं) भवति।[२] पापस्य गुरुलाघवं पुनः यस्य तद्द्रव्यं तस्य वैशिष्ट्येन प्रयोगाशयविशेषैश्च वेदितव्यम्।

---

[१] तत्र प्राणातिपातः कतमः? प्राणी च भवति प्राणिसंज्ञा च भवति, बधकचित्तं चोत्पादयति। उपक्रमं च करोति। जीविताद् व्यपरोपयति। अयमुच्यते भिक्षवः प्राणातिपातः। अन्यत्र प्रमादाददृष्टाद्वा अप्राणिवधः। --अ.वि.सू., पृ. ३६, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

प्राणातिपातात्प्रतिविरतो भवति निहतदण्डो निहतशस्त्रो निहतवैरो लज्जावान् दयापन्नः सर्वप्राणिभूतेषु हितसुखानुकम्पी मैत्रचित्तः। स संकल्पैरपि प्राणिविहिंसां न करोति, कः पुनर्वादः परसत्त्वेषु सत्त्वसंज्ञिनः संचिन्त्यौदारिककायविहेठनया। --द.भू.सू., पृ. १५, मि.सं. १९६७ ;

प्राणातिपातः सञ्चिन्त्य परस्याभ्रान्तिमारणम्। --अभि.को., ४/७३ ;

"तत्थ पाणस्स अतिपातो पाणातिपातो नामः, पाणवधो, पाणघातो ति वुत्तं होति। पाणो ति चेत्थ वोहारतो सत्तो, परमत्तो जीवितिन्द्रियं, तस्मिं पन पाणे पाणसञ्चिनो जीवितिन्द्रियुपच्छेदक-उपक्कमसमुट्ठापिका कायवचीद्वारानं अञ्ञतरद्वारप्पवत्ता वधकचेतना पाणातिपातो।"

--अट्ठ०(धम्मसङ्ग-अट्ठकथा), पृ. ८०, भण्डारकर ओरियन्टल सिरीज, पूना, १९४२ ।

[२] तत्रादत्तादानं कतमत्? स्तेयचित्तस्य परद्रव्यस्वीकरणमदत्तादानम्। अन्यत्र मातृपितृभ्रातृस्वजनमित्रद्रव्यस्य स्वल्पस्यानुपरोधिनो ग्रहणं नादत्तादानम्।

--अ.वि.सू., पृ. ३६, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

अदत्तादानात्प्रतिविरतः खलु पुनर्भवति स्वभोगसंतुष्टः परभोगानभिलाषी अनुकम्पकः। स परपरिगृहीतेभ्यो वस्तुभ्यः परपरिगृहीतसंज्ञी स्तेयचित्तमुपस्थाप्य अन्तशस्तृणपर्णमपि नादत्तमादाता भवति, कः पुनर्वादोऽन्येभ्यो जीवितोपकरणेभ्यः।

--द.भू.सू., पृ. १५. मि.सं. ९१६७ ;

अदत्तादानमन्यस्वस्वीक्रिया बलचौर्यतः। --अभि.को., ४/७३ ;

कथं काममिथ्याचारः कर्मपथः? धर्मरक्षितायां पररक्षितायां स्वस्त्रियां वा अकाले अस्थाने अदेशे अगमनीयावयवे वा कामधर्माचरणं काममिथ्याचारः।[1] अत्रापि गुरुलाघवं तावद् वस्त्वाशयप्रयोगविशेषैर्वेदितव्यम्।

कथं तावन्मृषावादः कर्मपथः? विसंवादाशयं वञ्चनादृष्टिं च मनसि निधाय अर्थमवबोधयितुं यदा वाग्विज्ञप्तिर्वा कायविज्ञप्तिर्वा प्रयुज्यते तदा मृषावादः कर्मपथो निष्पद्यते।[2] सन्दिग्धस्थलेषु निश्चित इव वादोऽपि मृषावाद एव। अत्रापि गुरुलाघवविशेषस्तु विसंवाद्यविशेषेण आशयविशेषेण च वेदितव्यः।

"अदिन्नस्स आदानं 'अदिन्नादानं' ; परस्सहरणं थेय्यं, चोरितं ति वुत्तं होति। .... तस्मिं पन परपरिग्गहितसञ्ञिनो तदादायक-उपक्कमसमुट्ठापिका थेय्यचेतना अदिन्नादानं।"

--अट्ठ०(धम्मसङ्ग-अट्ठकथा), पृ. ८१, भण्डारकर ओरियन्टल सिरीज, पूना, १९४२ ।

१ तत्र काममिथ्याचारः कतमः? परस्त्रीणामुपभोगः भर्तृराजमातृपितृरक्षितानामथवा अस्थानगम्यादेशकालेषु विप्रतिपत्तिः। अयमुच्यते काममिथ्याचारः। कायिकमेतत् त्रिविधम्।

--अ.वि.सू., पृ. ३६, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

काममिथ्याचारात्प्रतिविरतः खलु पुनर्भवति स्वदारसंतुष्टः परदारानभिलाषी। स परपरिगृहीतासु स्त्रीषु परभार्यासु गोत्रध्वजधर्मरक्षितासु अभिध्यामपि नोत्पादयति, कः पुनर्वादो द्वीन्द्रियसमापत्या वा अनङ्गविज्ञप्त्या वा।

--द.भू.सू., पृ. १५, मि.सं. १९६७ ;

अगम्यगमनं काममिथ्याचारश्चतुर्विधः। --अभि.को., ४/७४ ;

"कामेसुमिच्छाचारो ति एत्थ पन 'कामेसू' ति मेथुनसमाचारेसु। 'मिच्छाचारो' एकन्तनिन्दितो लामकाचारो। लक्खणतो पन असद्धम्माधिप्पायेन कायद्वारप्पवत्ता अगमनीयट्ठान-वीतिक्कमचेतना 'कामेसुमिच्छाचारो'।"

--अट्ठ०(धम्मसङ्ग-अट्ठकथा), पृ. ८१, भण्डारकर ओरियन्टल सिरीज, पूना, १९४२ ।

२ अनृतं कतमत्? साक्षिप्रश्ने यथाभूताद् वितथवचनमनृतम्। अनर्हतो वा अर्हन्नस्मीति परिहासवर्जम्। इदमुच्यते अनृतम्। --अ.वि.सू., पृ. ३६, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

अनृतवचनात्प्रतिविरतः खलु पुनर्भवति सत्यवादी भूतवादी कालवादी, यथावादी तथावादी। सोऽन्तशः स्वप्नान्तरगतोऽपि विनिधाय दृष्टिं क्षान्तिं रुचिं मतिं प्रेक्षां विसंवादनाभिप्रायो नानृतां वाचं निश्चारयति, कः पुनर्वादः समन्वाहृत्य। --द.भू.सू., पृ. १५, मि.सं. ;

अन्यसंज्ञोदितं वाक्यमर्थाभिज्ञे मृषावचः। --अभि.को., ४/७४ ;

कथं तावत् पैशुन्यवाक् कर्मपथः? प्रहृष्टुकामतया भेदाशयेन वा कस्माच्चित् पुरुषात् कञ्चित् पुरुषं प्रति निगदितमप्रियं वचनं श्रुत्वा तमारोचयति, ततोऽपि श्रुत्वा इमं (पूर्वपुरुषं) कथयति, तच्च वचनं सत्यं वा भवेद् अभूतं वा भवेत् पैशुन्यं स्यात्।[1] अभूतेन कथनेन कथं न तन्मृषावाद इति चेत्? भवत्येवेति केचित्, किन्तु तन्न तथा ग्रहीतव्यम्। कस्मादिति चेत्? अत्र (पैशुन्यावस्थायां) भेदाशयो भवति, न तु विसंवादाशयः। एवं सति यदि कश्चिद् अभूतं च परुषं च वदेत्, ततोऽपि न मृषावादः, आशयद्वयस्य युगपत् सम्भवाभावात्।

कथं परुषवचनं कर्मपथः? श्रावणाशयेन परदुःखकामनया साक्षादर्थबोधकवचनोच्चारणं परुषवचनम्।[2] साक्षादर्थानवबोधे सम्भिन्नप्रलापः स्यात्।

" 'मुसा' ति विसंवादनपुरेक्खारस्स अत्थभञ्जको वचीपयोगी, कायप्पयोगी वा। विसंवादनाधिप्पायेन परस्स परं विसंवादका कायवचीपयोगसमुट्ठापिका चेतना मुसावादो। अपरो नयो- 'मुसा' ति अभूतं अतच्छं वत्थु। 'वादो' ति तस्स भूततो तच्छतो विञ्ञापनं। लक्खणतो पन अतथं वत्थु तथतो परं विञ्ञापेतुकामस्स तथाविञ्ञत्तिसमुट्ठापिका चेतना मुसावादो ति।''

--अट्ठ०(धम्मसङ्ग-अट्ठकथा), पृ. ८१, भण्डारकर ओरियन्टल सिरीज, पूना, १९४२ ।

[1] पैशुन्यं कतमत्? अभूतेन सत्येन वा भेदकरं वचनं पैशुन्यं तत्। इदमुच्यते पैशुन्यम्।

--अ.वि.सू., पृ. ३६, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

पिशुनवचनात्प्रतिविरतः खलु पुनर्भवति अभेदाविहेठाप्रतिपन्नः सत्त्वानाम्। स नेतः श्रुत्वा अमुत्राख्याता भवत्यमीषां भेदाय। न अमुतः श्रुत्वा इहाख्याता भवत्येषां भेदाय। न संहितान् भिनत्ति, न भिन्नानामनुप्रदानं करोति। न व्यग्रारामो भवति न व्यग्ररतो न व्यग्रकरणीं वाचं भाषते सद्भूतामसद्भूतां वा। --द.भू.सू., पृ, १५, मि.सं. ;

पैशुन्यं क्लिष्टचित्तस्य वचनं परभेदने। --अभि.को., ४/७६ ;

''तत्थ सङ्किट्ठचित्तस्स परेसं वा भेदाय अत्तनो पियकम्यताय वा कायवचीपयोगसमुट्ठापिका पिसुणा वाचा नाम।'' --अट्ठ०(धम्मसङ्ग-अट्ठकथा), पृ. ८२, भण्डारकर ओरियन्टल सिरीज, पूना, १९४२ ।

[2] तत्र पारुष्यं कतमत्? परदुःखचिकीर्षोरनिष्टवचनश्रावणं पारुष्यम्। दुःखमस्य भवत्वित्यनया बुद्ध्या यदनिष्टवचनश्रावणं क्रियते तत्पारुष्यम्। इमदुच्यते पारुष्यम्।

--अ.वि.सू., पृ. ३६, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

परुषवचनात्प्रतिविरतः खलु पुनर्भवति। स येयं वागदेशा कर्कशा परकटुका पराभिसंजननी अन्वक्षान्वक्षप्राग्भारा ग्राम्या पार्थग्जनकी अनेला अकर्णसुखा क्रोधरोषनिश्चारिता हृदयपरिदहनी

कथं सम्भिन्नप्रलापः कर्मपथः? मृषावादादित्रयातिरिक्तं किमप्यन्यविधं वचनं क्लिष्टचित्तेन प्रयुक्तं सम्भिन्नप्रलापः।[१] एते त्रयोऽपि कर्मपथाः मृषावाद इव कायेनापि निष्पाद्यन्ते। गुरुलाघवविशेषोऽपि मृषावादवद् वेदितव्यः।

कथं अभिध्या कर्मपथः? यदि परवित्तस्पृहा, तस्यां सत्यामभिध्याचित्तोत्पादः।[२]

मनःसंतापकरी अप्रिया अमनापा अमनोज्ञा स्वसंतानपरसंतानविनाशनी। तथारूपां वाचं प्रहाय येयं वाक् स्निग्धा मृद्वी मनोज्ञा मधुरा प्रियकरणी मनापकरणी हितकरणी नेला कर्णसुखा हृदयंगमा प्रेमणीया पौरी वर्णविस्पष्टा विज्ञेया श्रवणीया निश्चिता बहुजनेष्टा बहुजनकान्ता बहुजनप्रिया बहुजनमनापा विज्ञापन्ना सर्वसत्त्वहितसुखावहा समाहिता मनउत्प्लावनकरी मनःप्रह्लादनकरी स्वसंतानपरसंतानप्रसादनकरी तथारूपां वाचं निश्चारयति।

--द.भू.सू., पृ. १५, मि.सं. ;

पारुष्यमप्रियम् ....। --अभि.को., ४/७६ ;

"याय पन अत्तानं पि परं पि फरुसं करोति, या वाचा सयं पि फरुसा नेव कण्णसुखा, न हदयङ्गमा, अयं 'फरुसा वाचा' नाम। .....परस्स मम्मच्छेदककायवचीपयोगसमुट्ठापिका एकन्तफरुसचेतना 'फरुसावाचा'। --अट्ठ०(धम्मसङ्ग-अट्ठकथा), पृ. ८२, भण्डारकर ओरियन्टल सिरीज, पूना, १९४२ ।

[१] सम्भिन्नप्रलापः कतमः? तद्यथा-- राजकथा, चोरकथा, युद्धकथा, मद्यकथा, द्यूतकथा, स्त्रीकथा, आख्यायिककथा कथनं वा। अयमुच्यते सम्भिन्नप्रलापः। वाचिकमेतच्चतुर्विधम्।

--अ.वि.सू., पृ. ३६, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

संभिन्नप्रलापात्प्रतिविरतः खलु पुनर्भवति सुपरिहार्यवचनः कालवादी भूतवादी अर्थवादी धर्मवादी न्यायवादी विनयवादी। स निदानवतीं वाचं भाषते कालेन सावदानम्। स चान्तश इतिहासपूर्वकमपि वचनं परिहार्यं परिहरति, कः पुनर्वादो वाग्विक्षेपेण। --द.भू.सू., पृ. १६, मि.सं. १९६७ ;

.... सर्वं क्लिष्टं भिन्नप्रलापिता।।
अतोऽन्यत् क्लिष्टमित्यन्ये, लपनागीतनाट्यवत्।
कुशास्त्रवच्च, ... ।। --अभि.को., ४/७६-७७ ;

"येन सम्फं पलपति निरत्थकं सो 'सम्फप्पलापो'। ......अनत्थविञ्ञापिका कायवचीपयोगसमुट्ठापिका अकुसलचेतना 'सम्फप्पलापो'।" --अट्ठ०(धम्मसङ्ग-अट्ठकथा), पृ. ८२-८३, भ.ओ.सि., पूना, १९४२ ।

[२] तत्राभिध्या कतमा? परद्रव्यस्वीकरणेच्छा अभिध्या। यान्यस्य द्रव्याणि तानि मम स्युरिति। इदमुच्यतेऽभिध्या। --अ.वि.सू., पृ. ३६, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

कथं व्यापादः कर्मपथः? यदि परसत्त्वान् प्रति द्वेषः, तस्मिन् सति व्यापादचित्तोत्पादः।[१]

कथं मिथ्यादृष्टिः कर्मपथः? नास्ति किमपि फलं निश्चयेन कुशलाकुशलकर्मणामिति चिन्तनं मिथ्यादृष्टिः।[२] त्रयाणामेषां कर्मपथानां पापस्य

अनभिध्यालुः खलु पुनर्भवति परस्वेषु परकामेषु परभोगेषु परवित्तोपकरणेषु। परपरिगृहीतेषु स्पृहामपि नोत्पादयति, किमिति यत्परेषां तन्नाम स्यादिति नाभिध्यामुत्पादयति, न प्रार्थयते न प्रणिदधाति, न लोभचित्तमुत्पादयति। --द.भू.सू., पृ. १६, मि.सं. १९६७ ;

अभिध्या तु परस्वविषमस्पृहा।। --अभि.को., ४/७७ ;

"अभिज्झायतीति अभिज्झा। परभण्डाभिमुखी हुत्वा तन्निन्नताय पवत्ततीति अत्थो। सा 'अहो तव इदं ममस्सा' ति एवं परभण्डाभिज्झायनलक्खणा।" --अट्ठ०(धम्मसङ्ग-अट्ठकथा), पृ. ८३, भ.ओ.सि, पूना, १९४२ ।

[१] तत्र व्यापादः कतमः? परजीवितव्यपरोपणावच्छेदनपीडादिचिन्तनम्। अयमुच्यते व्यापादः।
--अ.वि.सू., पृ. ३६, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

अव्यापन्नचित्तः खलुः पुनर्भवति। सर्वसत्त्वेषु मैत्रचित्तो हितचित्तो दयाचित्तः सुखचित्तः स्निग्धचित्तः सर्वजगदनुग्रहचित्तः सर्वभूतहितानुकम्पाचित्तः। स यानीमानि क्रोधोपनाहखिलमलव्यापादपरिदाहसंधुक्षितप्रतिघाद्यानि तानि प्रहाय यानीमानि हितोपसंहितानि मैत्र्युपसंहितानि सर्वसत्त्वहितसुखाय वितर्कितविचारितानि, तान्यनुवितर्कयिता भवति।
--द.भू.सू., पृ. १६, मि.सं. १९६७ ;

व्यापादः सत्त्वविद्वेषः, ...। --अभि.को., ४/७८ ;

"हितसुखं व्यापादयतीति 'व्यापादो'। सो परविनासाय मनोपदोसलक्खणो।" --अट्ठ०(धम्मसङ्ग-अट्ठकथा), पृ. ८३, भ.ओ.सि., पूना, १९४२ ।

[२] तत्र मिथ्यादृष्टिः कतमा? नास्त्ययं लोकः, नास्ति परलोक इति पूर्ववत्। एतन्मानसं त्रिविधम्।
--अ.वि.सू., पृ. ३६, के.पी.जा.सं. १९७१ ;

सम्यग्दृष्टिः खलुः पुनर्भवति सम्यक्पथगतः कौतुकमङ्गलनानाप्रकारकुशीलदृष्टिविगत-ऋजुदृष्टिरशठोऽमायावी बुद्धधर्मसंघनियताशयः।
---द.भू.सू., पृ. १६, मि.सं. १९६७ ;

.... नास्तिदृष्टिः शुभाशुभे।
मिथ्यादृष्टिः, ... ।। --अभि.को., ४/७८ ;

"यथाभुच्चगहणाभावेन मिच्छा पस्सतीति 'मिच्छादिट्ठि'। सा 'नत्थि दिन्नं' ति आदिना नयेन विपरीतदस्सन- लक्खणा।"

--अट्ठ०(धम्मसङ्ग-अट्ठकथा), पृ. ८३, भ.ओ.सि, पूना, १९४२ ;

आत्मात्मीयध्रुवोच्छेदनास्तिहीनाग्रदृष्टयः।
अहेत्वमार्गे तद्दृष्टिरेतास्ता पञ्च दृष्टयः ।।

ईश्वरादिषु नित्यात्मविपर्यासात् प्रवर्तते।
कारणाभिनिवेशोऽतो दुःखदृग्घेय एव सा।।

--अभि.को. ५/७ ; अभि.दी. १६९-१७१ का., पृ. २२९-२३२ ;

तत्र सत्कायदृष्टिर्यत्पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वात्मात्मीयदर्शनम्। अन्तग्राहदृष्टिस्तेष्वेव पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वात्मात्मीयत्वेन गृहीतेषु यदुच्छेदतः शाश्वततो वा दर्शनम्। मिथ्यादृष्टिः- यया मिथ्यादृष्ट्या हेतुं वाऽपवदति फलं क्रियां वा सद् वा वस्तु नाशयति, सा सर्वदर्शनपापत्वात् मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते। दृष्टिपरामर्शः पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वग्रतो विशिष्टतः श्रेष्ठतः परमतश्च यद् दर्शनम्। शीलव्रतपरामर्शः पञ्चसूपादानस्कन्धेषु शुद्धितो मुक्तितो नैर्याणिकतश्च यद् दर्शनम्।

-- त्रिं.वि.मा.सि., पृ. २११, स.सं.वि., १९७२ ;

आत्मदृष्टिरात्मीयदृष्टिर्वा सत्कायदृष्टिः। सीदतीति सत्। चयः कायः संघात इत्यर्थः। सच्चायं कायश्चेति सत्कायः पञ्चोपादानस्कन्धाः। ...सत्काये दृष्टिः सत्कायदृष्टिः। सर्वैव सास्रवालम्बना दृष्टिः सत्काये। आत्मात्मीयदृष्टिरेव तु सत्कायदृष्टिरुक्ता। यथोक्तम्- 'ये केचिद् भिक्षवः श्रमणा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति, सर्वे त इमानेव पञ्चोपादानस्कन्धान्' इति। तस्यैवात्माभिमतस्य वस्तुनो ध्रुवदृष्टिरुच्छेददृष्टिर्वाऽन्तग्राहदृष्टिः, शाश्वतोच्छेदान्तग्रहणात्। सति दुःखादिसत्ये नास्तीति दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिः। सर्वैव हि विपरीतस्वभावप्रवृत्ता दृष्टिर्मिथ्यादृष्टिः एकैव तूक्ता, अतिशयवत्त्वात् दुर्गन्धक्षतवत्। एषा ह्यपवादिका अन्यास्तु समारोपिकाः। हीने अग्रदृष्टिर्दृष्टिपरामर्शः। किं हीनम्? सर्वं सास्रवम्, आर्यैः प्रहीणत्वात्। तस्याग्रतो ग्रहणं दृष्टिपरामर्शः। ...अहेतौ हेतुदृष्टिरमार्गे मार्गदृष्टिः शीलव्रतपरामर्शः, तद्यथा- महेश्वरो न हेतुर्लोकानाम्, तं च हेतुं पश्यति, प्रजापतिमन्यं वा। अग्निजलप्रवेशादयश्च न हेतुः स्वर्गस्य, तांश्च हेतुं पश्यति। शीलव्रतमात्रकं सांख्ययोगज्ञानादयश्च न मार्गो मोक्षस्य तांश्च मार्गं पश्यति। ...इत्येतास्ताः पञ्च दृष्टयो वेदितव्याः।

--अभि.को.भा., पृ. ७७२-७७३, बौ.भा.प्र., १९८७ ;

सत्कायदृष्टिः कतमा। पञ्चोपादानस्कन्धानात्मतः आत्मीयतो वा समनुपश्यतो या क्षान्ती रुचिर्मतिः प्रेक्षा दृष्टिः। सर्वदृष्टिगतसन्निश्रयदानकर्मिका। अन्तग्राहदृष्टिः कतमा। पञ्चोपादानस्कन्धान् शाश्वततो वा उच्छेदतो वा समनुपश्यतः या क्षान्ती रुचिर्मतिः प्रेक्षा दृष्टिः। मध्यमाप्रतिपन्निर्याणपरिपन्थकर्मिका। दृष्टिपरामर्शः कतमः। दृष्टिं दृष्ट्याश्रयांश्च पञ्चोपादानस्कन्धानग्रतः श्रेष्ठतो विशिष्टतः परमतश्च समनुपश्यतो या क्षान्ती रुचिर्मतिः प्रेक्षा दृष्टिः। असद्दृष्ट्यभिनिवेशसन्निश्रयदानकर्मकः। शीलव्रतपरामर्शः कतमः। शीलं व्रतं शीलव्रता(श्रयां)श्च पञ्चोपादानस्कन्धान् शुद्धितो मुक्तितो नैर्याणिकतश्च समनुपश्यतो या क्षान्ती रुचिर्मतिः प्रेक्षा दृष्टिः। श्रमवैफल्यसन्निश्रयदानकर्मकः। मिथ्यादृष्टिः कतमा। हेतुं वाऽपवदतः फलं वा क्रियां वा सद्वा वस्तु नाशयतः मिथ्या च विकल्पयतो या

गुरुलाघवं तावदाशयविशेषेण वेदितव्यम्। व्यापादचित्तस्य तु आलम्बनवशेनापि गुरुलाघवमिष्यते। एतेषां दशाकुशलपथानां प्रहाणार्थं दशकुशलपथाः सेवितव्याः।

मद्यप्रकारेभ्यो विरतिरित्यत्र मद्यं तावन्महतामवद्यानां हेतुः। नैव तत् केवलं सेवनमात्रेण अकुशलं भवति, अत एव कर्मपथेषु नोक्तम्, तस्य तावत् पृथग् निषेधो देशितः। मदजननेऽविशेषेऽपि हेतुविशेषेण तेषां मदप्रकाराणां भेदो ज्ञातव्यः। सुरा खलु इक्षुनिर्मितं मद्यम्, ब्रीहिनिर्मितं मद्यं मधूलिका, इतरं मधुमद्यम् इति प्रकारत्रयम्। मैरेयं तावत् पुष्पादिरसग्रहणनिर्मितं वेदितव्यम्।[1]

क्षान्ती रुचिर्मतिः प्रेक्षा दृष्टिः। कुशलमूलसमुच्छेदकर्मिका, अकुशलमूलदृढतासन्निश्रयदानकर्मिका। अकुशले प्रवृत्तिकर्मिका कुशले चाप्रवृत्तिकर्मिका वा।

--अभिधर्मसमुच्चय, पृ. ७, वि.भा.प्र., १९५०।

[1] प्रतिक्षेपणसावद्यान्मद्यादेव, ...
किं कारणं मद्यादेव, नान्यस्मात्?
......अन्यगुप्तये।।
मद्यं पिबतोऽन्यान्यप्यङ्गान्यगुप्तानि स्युः।
कथं पुनर्मद्यपानं प्रतिक्षेपणसावद्यं गम्यते? प्रकृतिसावद्यलक्षणाभावात्। प्रकृतिसावद्यं हि क्लिष्टेनैव चित्तेनाध्याचर्यते। शक्यं तु मद्यं प्रतीकारबुद्ध्यैव पातुम्, यावन्न मदयेत्। क्लिष्टमेव तच्चित्तं यन्मदनीयं ज्ञात्वा पिबति। न तत् क्लिष्टं यदमदनीयमात्रां विदित्वा पिबति। प्रकृतिसावद्यं मद्यमिति विनयधराः। कथं भदन्त ग्लान उपस्थातव्यः? शाक्येषु ग्लानेषु मद्यपानं नाभ्यनुज्ञातम्। इदं चोक्तम्-- "मा भिक्षवः शास्तारमुद्दिशद्भिः कुशाग्रेणापि मद्यं न पातव्यम्" इति। अतः प्रकृतिसावद्यमिति ज्ञायते।
आर्यैश्च जन्मान्तरगतैरप्यनध्याचारात्। प्राणिवधादिवत्। कायदुश्चरितवचनाद्, दुर्गतिगमनाच्चेति।
नेत्याभिधार्मिकाः। उत्सर्गविहितस्यापि ग्लानेषु प्रज्ञप्तिसावद्यस्य पुनर्मद्यस्यापवादः प्रसङ्गपरिहारार्थं मदनीयमात्रानियमनात्।
अत एव च कुशाग्रपानप्रतिषेधः। आर्यैरनध्याचरणं ह्रीमत्त्वात्, तेन च स्मृतिनाशात्। अल्पकस्याप्यपानमनियमाद् विषवत्। दुश्चरितवचनं प्रमादस्थानत्वात्।
अत एवात्रैव प्रमादस्थानग्रहणम्, नान्येषु, तेषां प्रकृतिसावद्यत्वात्। अत्यासेवितेन दुर्गतिगमनाभिधानम्। तत्प्रसङ्गेनाभीक्ष्णमकुशलसन्ततिप्रवृत्तेरापायिकस्य कर्मण आक्षेपाद्, वृत्तिलाभाद्वा।
सुरामैरेयमद्यप्रमादस्थानमिति कोऽर्थः? सुरा--अन्नास्रवः। मैरेयम्--द्रवास्रवः। ते वा कदाचिदप्राप्तप्रच्युतमद्यभावे भवत इति, अतो मद्यग्रहणम्। पूगफलकोद्रवादयोऽपि मदयन्तीति सुरामैरेयग्रहणम्। प्रज्ञप्तिसावद्यस्याप्यादरेण प्रहेयत्वे कारणज्ञापनार्थं प्रमादस्थानवचनम्, सर्वप्रमादास्पदत्वादिति।

---अभि.को.भा., ४/३४, पृ. ६३२, बौ.भा.प्र. १९८७।

पुण्यमयैश्चाजीवैरिति स्यादित्यनेन सम्बध्यते। कुशलाजीविका नाम या परपीडनाय न क्रमते। इत्येवं कुशलेषु कर्मसु स्थित्वा यथावत् द्रव्यदानं कर्त्तव्यमिति प्रतिपादयितुमाह-

ज्ञात्वा चलामसारां सम्पत्तिं द्विजभिक्षुदीनमित्रेभ्यः ।
दानं देयं विधिना[१] जन्मान्तरेषु न दानात् परं मित्रम् ।।६।।

उपभुज्यमानत्वात् सम्पत्तिः। अत्र देयवस्तुनः अन्नपानादीनां च भोग्यवस्तूनां ग्रहणम्। ते भोगा अपि चला अस्थिरत्वात्। सारहीना अतृप्तिकरत्वात्। अनेन

---

[१] दानं नाम महानिधानमनुगं चौराद्यसाधारणं
दानं मत्सरलोभदोषरजसः प्रक्षालनं चेतसः।
संसाराध्वपरिश्रमापनयनं दानं सुखं वाहनं
दानं नैकसुखोपधानसुमुखं सन्मित्रमात्यन्तिकम्।।
--जा.मा.(श्रेष्ठिजातकम्), ३/२१ ;

दीयते येन तद्दानम्, ...
भवति स्म। रागादिभिरपि दीयते, न चात्र तदिष्टम्, अतो विशेषार्थमाह्--
.... पूजानुग्रहकामया।
परेषां पूजानुग्रहकामताभ्यां येन दीयते। किं पुनस्तत् स्याद्येन दीयते?
कायवाक्कर्म सोत्थानम्, ...
किं पुनस्तदुत्थानम्? येन कलापेन तदुत्थाप्यते। आह चात्र--
शुभेन मनसा द्रव्यं स्वं ददाति यदा पुमान्।
तत् क्षणं कुशलाः स्कन्धाः दानमित्यभिधीयते।।
तच्चैतद् दानमयं पुण्यक्रियावस्तु महाभोग्यफलम्। स्वभावे चैष मयड् वेदितव्यः। तद्यथा-- तृणमयं गृहम्, पर्णमयं भाजनमिति।। तत् खल्वेतद् दानम्--
स्वपरार्थोभयार्थाय नोभयार्थाय दीयते।
तद्विशेषः पुनर्दातृवस्तुक्षेत्रविशेषतः ।।
दाता विशिष्टः श्रद्धाद्यैः, सत्कृत्यादि ददाति अतः।
सत्कारोदाररुचिता कालानाच्छेद्यलाभिता।।

वर्णादिसम्पदा वस्तु सुरूपत्वं यशस्वि वा।
प्रियता सुकुमारर्तुसुखस्पर्शाङ्गता ततः।। ---अभि.को.भा., ४/११३-११६, पृ. ७४०-७४३।

सब्बदानं धम्मदानं जिनाति, सब्बरसं धम्मरसो जिनाति।
सब्बरतिं धम्मरति जिनाति, तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति।। --धम्म. २४/२१

सर्वभोगेष्वासक्तिः निवर्तते। **ज्ञात्वेति** अवबुध्य। **'भिक्षु'**- इत्यादिना त्रीणि दानक्षेत्राणि प्रदर्शितानि। दानक्षेत्राणि श्रमणब्राह्मणाः। करुणाक्षेत्रं दीनाः। उपकारिक्षेत्रं मित्राणि।[1] **विधिना** इत्यनेन आदरः सत्कारो वा निर्दिश्यते। तत्तु (दानं) एकान्तेन इष्टविपाकहेतुः। उक्तं च भगवता-- **''ससत्कारं दानस्य भिक्षवः तावदिष्टो विपाकः, मनोऽनुरूपा अनुभूतिश्च पृथक् पृथग् जायते।'' न दानात् परं मित्रम्** इत्यनेन दानस्य महोपकारित्वं ज्ञापितम्। अतो दानमाश्रयणीयमिति वेदितव्यम्।

भोगेषु नैरपेक्ष्येण सम्यक् शीलमेव परिगृह्य आचरणीयमिति प्रदर्शनार्थमाह--

शीलं सेव्यममिश्रं त्वयानुपहतालंघितानुपलिप्तं च ।
चराचरप्रतिष्ठं तु गुणाश्रयं भूवच्च राजते शीलम् ।।७।।

अनुपहतमिति यथागृहीतम् अंशतोऽपि नैव स्खलितम्। एकेनापि शीलेन च्युतेरुपहतं भवति। अनेकेभ्यः शिक्षापदेभ्योऽतिक्रमेण दोषवद् भवति शीलम्। उभयोरभावं निर्देष्टुम् अनुपहतमनुल्लंघितं चेति। सदोषं शीलं तावदुल्लंघितमुच्यते। मिश्रितं शीलमकुशलं भवति। मिश्रितत्वाभावादमिश्रमिति। भवार्थं भवोपकरणार्थम् अपरिणामित्वान्निर्दोषम्। इदमेव शीलमन्याकारेणापरिवर्तनादनुपलिप्तमित्युच्यते। उपलिप्तं तावदन्याकारेण परिवर्तितमिति। अनुपहतादिगुणान्वितं शीलं स्वतन्त्रमपि भवति, तृष्णादासीभावान्मुक्तत्वात्। अतएव शीलमिदं विद्वद्भिः प्रशंसितं

---

१ गतिदुःखोपकारित्वगुणैः क्षेत्रं विशिष्यते।
गतिविशेषात् तावद् विशिष्यते। तथा ह्युक्तं भगवता-- ''तिर्यग्योनिगताय दानं दत्त्वा शतगुणो विपाकः प्रतिकाङ्क्षितव्यः। दुःशीलाय मनुष्यभूताय दानं दत्त्वा सहस्रगुणः'' इति।
दुःखविशेषाद् विशिष्यते। तथा ह्यौपधिकेषु पुण्यक्रियावस्तुषु, ग्लाने दानम्, ग्लानोपस्थापके दानम्, शीतलिकादिषु च दानमुक्त्वोक्तम्-- ''एभिः सप्तभिः औपधिकैः पुण्यक्रियावस्तुभिः समन्वागतस्य श्राद्धस्य कुलपुत्रस्य वा कुलदुहितुर्वा न लभ्यं पुण्यानां प्रमाणमुद्ग्रहीतुम्'' इति।
उपकारित्वविशेषाद् यथा-- मातापित्रोरन्येषां चोपकारिणाम् ; ऋक्षमृगजातकाद्युदाहरणात्।
मातृपितृग्लानधार्मकथिकेभ्योऽन्त्यजन्मने।
बोधिसत्त्वाय चामेया अनार्येभ्योऽपि दक्षिणा।।
--अभि.को.भा., ४/११७-११८, पृ. ७४३, बौ.भा.प्र.।

समाधिप्रापकमपि। शीलवतश्चित्तं समाधीयत इति।[1] तथाविधं शीलं त्वया सेवनीयमेव। कस्य हेतोः? **चराचरप्रतिष्ठं तु गुणाश्रयं भूवच्च राजते शीलम्** इत्युक्तम्। **'तु'** इति एवमित्यर्थः। यथा पृथ्वी चराचराणाम् उत्पादस्थितिवृद्धिहेतुभूता तथैव शीलमपि समाध्यादिसर्वगुणानामाश्रयभूतम्। अनेन तावदादरोत्पादनार्थं शीलवतः पुरुषस्य कारित्रफलं निर्दिष्टम्। एवं हि दानं शीलं च सामान्यतः प्रतिपादिते।

अधुना महायाने प्रवृत्त्यर्थं दानादिपारमितानां संग्रहनिर्देशमाह--

षडिमा दानं शीलं क्षान्तिवीर्यध्यानप्रज्ञाः पारमिताः ।[2]

---

[1] दौःशील्यतद्धेत्वहतं तद्विपक्षसमाश्रितम्।

दौःशील्येन तावदनुपहतं भवति यथोक्तेन दौःशील्येन। हेतुनाप्यनुपहतं भवति। लोभादिभिः क्लेशोपक्लेशैः दौःशील्यविपक्षाश्रितं च भवति। स्मृत्युपस्थानसन्निश्रितत्वात् समाश्रितं च भवति। नोपपत्तिविशेषाश्रितम्, निर्वाणपरिणामितत्वात्।

पञ्चभिः कारणैः इत्यपरे। १. मौलैः कर्मपथैर्विशुद्धं भवति, २. सामन्तकैर्विशुद्धम्, ३. वितर्कैरनुपहतम्, ४. स्मृत्यानुपरिगृहीतम्, ५. निर्वाणपरिणामितं चेति।

चतुर्विधं शीलमित्यपरे। १. भयशीलम्-- यदाजीविकाश्लोकदण्डदुर्गतिभयात् पाल्यते। २. आशास्तिशीलम्-- यद्भवभोगसत्कारतृष्णाकृतम्। ३. बोध्यङ्गानुलोमं शीलम्-- यन्मोक्षार्थं सम्यग्दृष्टिकानाम्। ४. परिशुद्धं शीलम्-- अनास्रवशीलम्, निर्मलत्वादिति।

--अभि.को.भा. ४/१२३, पृ. ७५०, बौ.भा.प्र. ;

विषकर्मणां विरतिसमादानाच्छीलम्, शीतलत्वादिति निरुक्तिः। "सुखशीलसमादानं कायो न परिदह्यते।"

--अभि.को.भा., पृ. ६०९, बौ.भा.प्र. १९८७ ;

शीलेन युक्तो श्रमणो तिरेति, शीलेन युक्तो ब्राह्मणो तिरेति।
शीलेन युक्तो नरदेवपूज्यो शीलेन युक्तस्य हि प्रातिमोक्षम्।

--प्र.मो.सू., पृ. १, गंगानाथ झा शोध संस्थान, इलाहाबाद, १९५६ ;

रक्षन्ति शीलममलं मणिरत्नतुल्यं न च ते भोति अनुशील सुसंयतो वा।
तत्रैव शीलि सद सत्त्व नियोजयन्ति आकाङ्क्षमाणमिममनुत्तमबुद्धशीलम्।।

--रा.परि.सू. (म.सू.सं., भाग-१), ६३ का., मि.सं. १९६१।

[2] षट्पारमितां परिपूर्य बुद्धत्वमवाप्यत इति। तत्कतमास्ताः षट्पारमिताः? कथं च परिपूरिं गच्छन्ति? भगवानाह-- त्रय एते महामते पारमिताभेदाः। कतमे त्रयः? यदुत लौकिकलोकोत्तरलोकोत्तरतमाः। तत्र महामते लौकिक्यः पारमिता आत्मात्मीयग्राहाभिनिवेशाभिनिविष्टाः। अन्तद्वयग्राहिणो विचित्रभवोपपत्त्यायतनार्थं रूपादिविषयाभिलाषिणो दानपारमितां परिपूरयन्ति। एवं शीलक्षान्तिवीर्यध्यानप्रज्ञापारमितां महामते परिपूरयन्ति बालाः। अभिज्ञाश्चाभिनिर्हरन्ति ब्रह्मत्वाय। तत्र

लोकोत्तराभिः पारमिताभिः श्रावकप्रत्येकबुद्ध- निर्वाणग्राहपतिताशया दानादिषु प्रयुज्यन्ते यथैव बाला आत्मसुखनिर्वाणाभिलाषिणः। लोकोत्तरतमाः पुनर्महामते स्वचित्तदृश्यविकल्पमात्रग्रहणात्स्वचित्तद्वयावबोधाप्रवृत्तेर्विकल्पस्य उपादानग्रहणाभावात्स्वचित्तरूपलक्षणानभिनिवेशाद् दानपारमिता सर्वसत्त्वहितसुखार्थमाजायते बोधिसत्त्वानां महासत्त्वानां परमयोगयोगिनाम्। यत्तत्रैवालम्बने विकल्पस्याप्रवृत्तिं शीलयन्ति, तच्छीलं पारमिता च सा। या तस्यैव विकल्पस्याप्रवृत्तिक्षमणता ग्राह्यग्राहकपरिज्ञया, सा क्षान्तिपारमिता। येन वीर्येण पूर्वरात्रापररात्रं घटते योगानुकूलदर्शनाद्विकल्पस्य व्यावृत्तेः, सा वीर्यपारमिता। यद्विकल्पनिवृत्तेस्तीर्थ्यनिर्वाणग्राहापतनं सा ध्यानपारमिता। तत्र प्रज्ञापारमिता यदा स्वचित्तविकल्पाभावादाबुद्धिप्रविचयात्प्रतिविचिन्वन् अन्तद्वये न पतति आश्रयपरावृत्तिपूर्वकर्मविनाशतः, स्वप्रत्यात्मार्यगतिप्रतिलम्भाय प्रयुज्यते, सा प्रज्ञापारमिता। --लं.अ.सू., पृ. ९६ ;

शिक्षात्रयमधिकृत्य च षट् पारमिता जिनैः समाख्याताः।
आद्या तिस्रो द्वेधा अन्त्यद्वयतस्तिसृष्वेका ।।

इति षष्ठः। तत्राद्या अधिशीलं शिक्षा तिस्रः पारमिताः ससंभारपरिवारग्रहणात्। दानेन हि भोगनिरपेक्षः शीलं समादत्ते समात्तं च क्षान्त्या रक्षत्याक्रुष्टाप्रत्याक्रोशनादिभिः। द्विधेत्यधिचित्तमधिप्रज्ञं च शिक्षा सा अन्तेन द्वयेन संगृहीता यथाक्रमं ध्यानेन प्रज्ञया च। तिसृष्वपि शिक्षास्वेका वीर्यपारमिता वेदितव्या। सर्वासां वीर्यसहायत्वात्। लक्षणविभागे श्लोकाः षट्।

दानं विपक्षहीनं ज्ञानेन गतं च निर्विकल्पेन।
सर्वेच्छापरिपूरकमपि सत्त्वविपाचकं त्रेधा।।

बोधिसत्त्वानां दानं चतुर्विधलक्षणम्। विपक्षहीनं मात्सर्यस्य प्रहीणत्वात्। निर्विकल्पज्ञानसहगतं धर्मनैरात्म्यप्रतिवेधयोगात्, सर्वेच्छापरिपूरकं यो यदिच्छति तस्मै तस्य दानात्। सत्त्वपरिपाचकं त्रेधा दानेन सत्त्वान् संगृह्य त्रिषु यानेषु यथाभव्यनियोजनात्। ...... यथा दानलक्षणं चतुर्विधमेव शीलादीनां वोदितव्यम्। पुनश्चोक्तम्--

दानं निष्प्रतिकाङ्क्षस्य निःस्पृहस्य पुनर्भवे।
शीलं क्षान्तिश्च सर्वत्र वीर्यं सर्वशुभोदये।।

विनारूप्यं तथा ध्यानं प्रज्ञा चोपायसंहिता।
सम्यक्प्रयोगो धीराणां षट्सु पारमितासु हि।। ---म.सू.अ., पृ. ९८-९९, १५८, मि.सं. ;

"षट्पारमितापूर्णाधिवचनमेतत् यदुत प्रज्ञापारमिता" इति प्राग्वचनात् प्रज्ञापारमिताचर्ययैव षट् पारमिता भावनापरिपूरिं गच्छन्तीत्यर्थः। इह पारमिता भावनानिष्पत्तिं प्रतिपद्यन्ते इत्यवगन्तव्यम्। तथा चोक्तं पञ्चविंशतिसाहस्रिकायाम्-- "इह सुभूते बोधिसत्त्वस्य दानं ददतः सत्त्वेषु मैत्रं कायवाङ्मनस्कर्म प्रत्युपस्थितं भवति, एवं शीलपारमिता। तस्यैव प्रतिग्राहकाणामाक्रोशपरिभाषादिक्षमणेन क्षान्तिपारमिता। तस्यैव याचकाक्रोशपरिभाषादिभिर्दानोत्साहापरित्यागात् वीर्यपारमिता। तस्यैव च तद्दानं सर्वाकारज्ञतायां परिणामयतः श्रावकप्रत्येकबुद्धभूमिविक्षेपचित्ताभावेन ध्यानपारमिता। तस्यैव दानं ददतो मायाबुद्धिप्रत्युपस्थानेन कस्यचिदुपकारापकारादर्शनात् प्रज्ञापारमिता" इति।

--आलोक, पृ. ५२३, मि.सं. ;

इयं कौशिक प्रज्ञापारमिता बोधिसत्त्वानां महासत्त्वानां दानपारमितामभिभवति, शीलपारमितामभिभवति, क्षान्तिपारमितामभिभवति, वीर्यपारमितामभिभवति, ध्यानपारमितामभिभवति। तद्यथापि नाम कौशिक जात्यन्धानां शतं वा सहस्रं वा अपरिणायकानामभव्यं मार्गावतरणाय, कुतः पुनर्नगरानुप्रवेशाय, एवमेव कौशिक अचक्षुष्काः पञ्च पारमिता जात्यन्धभूता भवन्ति विना प्रज्ञापारमितया अपरिणायकाः, विना प्रज्ञापारमितया अभव्या बोधिमार्गावतरणाय, कुत एव सर्वाकारज्ञतानगरानुप्रवेशाय। यदा पुनः कौशिक पञ्च पारमिताः प्रज्ञापारमितापरिगृहीता भवन्ति, तदा एताः पञ्च पारमिताः सचक्षुष्का भवन्ति। प्रज्ञापारमितापरिगृहीताश्चैताः पञ्च पारमिताः पारमितानामधेयं लभन्ते। इति विस्तरः।।

एवमन्यत्रापि यथासूत्रमवगन्तव्यम्। उक्तं च---

सर्वपारमिताभिस्त्वं निर्मलाभिरनिन्दिते।
चन्द्रलेखेव ताराभिरनुयातासि सर्वदा।। इति।। (प्रज्ञापारमितास्तवः, ८का.)

--बो.च.पं.(उद्धृतं), पृ. १६९, मि.सं. ;

जात्यन्धकोटिनियुतान्यविनायकानां मार्गे अकोविदु कुतो नगरप्रवेशे ।
विन प्रज्ञ पञ्च इमि पारमिता अचक्षुः अविनायका न प्रभवन्ति स्पृशेतु बोधिम्।।

--र.गु.सं.गा.(म.सू.सं.), ७५का. पृ. ३६३, मि.सं. ;

सर्वत्र सर्वं ददतः कारुण्याद् दानपूरणम्।

यदा सर्वस्मै सर्वं ददाति आ अक्ष्णः,' आ मज्जायाः, कारुण्यात् नाभ्युदयविशेषं लिप्समानः --इयता दानपारमिता परिपूर्णा भवति। **अङ्गच्छेदेऽप्यकोपात्तु रागिणः क्षान्तिशीलयोः।।** यदायमवीतरागोऽपि च्छिद्यमानेष्वङ्गेषु नाल्पमपि कुप्यति, तदा अस्य क्षान्तिशीलपारमिते परिपूर्णे भवतः। **तिष्यस्तोत्रेण वीर्यस्य, ...** । तिष्यं तथागतरत्नगुहायां तेजोधातुसमापन्नदृष्ट्या भगवान् बोधिसत्त्वभूत एकेन पादेन स्थित्वा सप्त दिवसान् स्तुतवानेकगाथया---

"न दिवि भुवि वा नास्मिन् लोके न वैश्रवणालये।
न मरुभवने दिव्यस्थाने न दिक्षु विदिक्षु च।।

चरतु वसुधां स्फीतां कृत्स्नां सपर्वतकाननाम्।
पुरुषवृषभस्त्वत्तुल्योऽन्यो महाश्रमणः कुतः ।।" इति।

तदा किल वीर्यपारमिता परिपूर्णा, नव च कल्पाः प्रत्युदावर्तिताः। .... **धीसमाध्योरनन्तरम्।** बोधेः पूर्वसमनन्तरं ध्यानप्रज्ञापारमितयोः परिपूरिः। वज्रोपमसमाधौ स्वस्याः सम्पदः पारगमनात् पारमिताः।

---अभि.को.भा., ४/१११-११२, पृ. ७३८-७३९, बौ.भा.प्र. ;

दानेन प्रेतगति छिन्दति बोधिसत्त्वो दारिद्रकं च छिनती तथ सर्वक्लेशान्।
भोगांश्चनन्तविपुलां लभते चरन्तो दानेन सत्त्व परिपाचयि कृच्छ्रप्राप्तान् ।।

शीलेन तीर्यगति वर्जयि नेकरूपामष्टौ च अक्षण क्षणां लभते स नित्यम्।
क्षान्तीय रूप लभते परमं उदारं सुवर्णच्छवि प्रियु जगस्य उदीक्षणीयो ।।

अप्रमेयाः संवर्ध्य भवेच्च भवसागरपारगो जिनेन्द्रः ।।८।।

सर्वसत्त्वानां हिताय बोधिचित्तोत्पादेन दानं तावद् दानपारमिता, शीलादिपारमिता अपि तथैव वेदितव्याः। क्षान्तिरत्र द्विविधा- परापकारमर्षणक्षान्तिः दुःखाधिवासनक्षान्तिश्च।

सत्त्वार्थं बुद्धधर्मपर्येषणे समुत्साहो वीर्यम्। सत्त्वार्थकराणि विधिसत्त्वसमाधिप्रतिपादकानि चत्वारि ध्यानानि ध्यानम्। सर्वधर्माणां सम्यग् यथावज्ज्ञानं सत्त्वेभ्योऽविपरीतार्थदेशको यो धर्मप्रविचयः स प्रज्ञा। तथाविधा सा प्रज्ञा अप्रमेया, श्रावकादिष्वभावात्। **इमाः पारमिताः संवर्ध्य** इति इमाः पारमिताः परिपूरयन्त्वित्यर्थः। कस्य हेतोः? **भवेच्च भवसागरपारगो जिनेन्द्रः** इत्युक्तम्। तत्र पारगो भवेदिति पारंगतः स्यादित्यर्थः। कस्येति चेत्? भवसागरस्य। श्रावकः प्रत्येकबुद्धोऽपि भवसागरपारग इति तस्माद् विशेषीकरणाय जिनेन्द्र इत्युक्तम्। एवमिमाः षट्पारमिताः परिपूर्य बुद्धत्वमवाप्यत इति हेतोस्त्वयाऽपि इमाः पारमिताः परिपूरयितव्याः, ततस्त्वमपि बुद्धो भवेत्युच्यते।

गृहस्था अपि दानादिष्वभियुक्ता दृश्यन्त इति तेषामपराणि कुशलकर्माणि प्रदर्शनार्थमाह-

यत्र पूजा पितॄणां कुलं तदाचार्यब्रह्मभिः समृद्धम् ।
तत्पूजया च कीर्तिस्तदनन्तरं चाधिगम्यतेऽभ्युदयोऽपि ।।९।।

यत्र पूजा पितॄणाम् इत्यनेन यस्मिन् कुले मातापितरौ पूज्येते तस्मिन् कुले मनुष्यैरमनुष्यैर्वा कृतो नैव कश्चनापकारो भवति। **तदाचार्यब्रह्मभिः समृद्धम्** इत्यनेन

वीर्येण शुक्लगुण हानि न अभ्युपैति ज्ञानं अनन्त लभते जिनकोशगञ्जम् ।
ध्यानेन कामगुण उत्सृजते जुगुप्स्यान् विद्या अभिज्ञ अभिनिर्हरते समादिम्।।

प्रज्ञाय धर्मप्रकृती परिजानयित्वा त्रैधातुकान्त समतिक्रमते अपायान् ।
वर्तित्व चक्ररतनं पुरुषर्षभाणां देसेति धर्म जगती दुखसंक्षयाये ।।
--र.गु.सं.गा.(म.सू.सं.), ३२/१-४, पृ. ३९६, मि.सं.।

तत्कुलस्य सब्रह्मभिर्देवैरधिष्ठितत्वं गुरुभिश्च विशिष्टैरधिष्ठितत्वं निर्दिष्टम्। अपि च, दृष्टधर्मानुशंसामपरजन्मानुशंसां च दर्शयितुं **तत्पूजया च** इत्याद्युक्तम्। तयोर्द्वयोः (मातापित्रोः) पूजा तत्पूजा। मातापितृपूजया दृष्टधर्मे तावत् सुकीर्तिस्तु भवेदेव, अपरजन्मन्यपि अभ्युदयः स्वर्गादिकमधिगम्यते। अत एव गृहस्थैः सप्रयत्नं मातापितरौ सत्कर्तव्याविति।[१]

गृहस्थानां सर्वदा ब्रह्मचर्याचरणस्यातिदुष्करत्वात् अहोरात्रस्यापि ब्रह्मचर्यस्य योगार्थम् अष्टाङ्गपोषधं दर्शयितुमाह--

हिंसाचौर्ये मदिरा कामातिचारमृषोक्तिनृत्यगीतानि ।
त्याज्यान्यकालभक्तं मालागन्धादिविशेषोच्चशयनानि ।।१०।।

तत्र प्राणातिपातस्तावद् **हिंसा**। अदत्तादानं हि **चौर्यम्**। **कामातिचार** इत्युच्चारप्रस्रावमुखाद्यमार्गेषु मैथुनरतिः। **मृषोक्ति**रिति मृषावादः। **मदिरा** इति सुरामैरेयादिमद्यभेदाः। **अकालभक्त**मिति विकाले भोज्यपदार्थानामादानम्। **उच्चशयनं**

---

[१] ब्रह्मा हि मातापितरौ पूर्वाचार्यो तथैव च।
आह्वनीयौ पुत्रस्य अग्निः स्याद् देवतानि च।।

तस्मादेतौ नमस्येत सत्कुर्याच्चैव पण्डितः।
उद्वर्तनेन स्नानेन पादानां धावनेन च।
अथ वा अन्नपानेन वस्त्रशय्यासनेन च।।

तया स परिचर्यया मातापितृषु पण्डितः।
इह चानिन्दितो भवति प्रेत्य स्वर्गे च मोदते।। -- अ.श.(मैत्रकन्यकम्), पृ. ८८ ;

येहि पूजित जिनान कोटियो, दानशीलचरिता विचक्षणाः।
पापमित्र पुरि येहि वर्जिता, तेष पैतृकधनं निरुत्तरम्।।

कल्याणमित्रास्य न भोन्ति दुर्लभा, बुद्धांश्च यो पश्यति श्रावकांश्च।
दृष्ट्वा च तान् पूजयते प्रसन्नो, अमत्सरिस्या इमि आनुशंसाः ।।

नित्य सगौरव चाचरियेषु मातु पितुस्तथ सर्वजगस्मिन्।
मा पुन मानवशानुग भोथा लप्स्यथ लक्षण त्रिंश दुवे च।।
--समाधि.सू., २०/८, २६/८ , ३७/९२ ।

तावत् अतिपरिमाणानि पीठसन्दिकादीनि। **नृत्यगीतानि** इति तु लोकप्रसिद्धान्येव। **मालागन्धादिविशेष** इत्येतेषां निषेधस्तु ये तावत् स्वमाहात्म्यख्यापनार्थं तान् धारयन्ति तस्यैव निषेधः, न तु व्याधिप्रतीकारार्थं धारणस्य निषेधः। एतान्यष्टौ पोषधाङ्गानि उक्तानि।[१] कस्येमानि अङ्गानि, किमेतदतिरिक्तोऽस्ति कश्चिदन्यः संवरः? नास्ति, तथापि सामान्याङ्गानीमान्युच्यन्ते, पश्चिमं पञ्चाङ्गवदिति।[२]

किं पुनः इमान्येवाङ्गानि अर्हतः शीलान्यनुकुर्वन्ति? अत आह--

अनुकृत्यार्हच्छीलं कुर्यादुपोषधमष्टाभिरङ्गैश्चेत् ।
लभते हि पुमान् स्त्री वा सुरम्यकामावचरादिदेवकायम् ।।११।।

---

[१] पञ्चाष्टदशसर्वेभ्यो वर्ज्येभ्यो विरतिग्रहात्।
उपासकोपवासस्थश्रमणोद्देशभिक्षुता ।।
यथासंख्यमनुदेशो वेदितव्यः। पञ्चभ्यो वर्जनीयेभ्यो धर्मेभ्यो विरतिसमापादनादुपवासकसंवरस्थो भवति-- प्राणातिपाताद्, अदत्तादानात्, कामिमिथ्याचारात्, मृषावादात् सुरामैरेयमद्यपानाच्च। अष्टाभ्यो विरतिसमादानादुपवासस्थः -- प्राणातिपाताद्, अदत्तादानाब्रह्मचर्यमृषावादमद्यपानेभ्यः, गन्धमाल्यविलेपननृत्यगीतवादित्राद्, उच्चशयनमहाशयनाद्, अकालभोजनाच्च। दशभ्यो विरति समादानाच्छ्रामणेरो भवति-- एभ्य एव, जातरूपरजतप्रतिग्रहाच्च। नृत्यगीतवादित्रगन्धमाल्यविलेपनं चात्र द्वयीकृत्य दश भवन्ति। सर्वेभ्य एव वर्जनीयेभ्यः कायवाक्कर्मभ्यः विरतिसमादानात् भिक्षुरित्युच्यते।
--अभि.को.भा., ४/१५, पृ. ६०८, बौ.भा.प्र., १९८७।

[२] तुलनीयम्--
शीलाङ्गान्यप्रमादाङ्गं व्रताङ्गानि यथाक्रमम्।
चत्वार्येकं तथा त्रीणि स्मृतिनाशो मदश्च तैः ।।
चत्वारि तावच्छीलाङ्गानि यावन्मृषावादविरतिः, प्रकृतिसावद्यविरतित्वात्। एकमप्रमादाङ्गं मद्यपानाद् विरतिः। समात्तशीलोऽपि मद्यपः प्रमाद्येत। त्रीणि व्रताङ्गानि यावदकालभोजनाद् विरतिः, संवेगानुगुणत्वात्। किं पुनरेभिरप्रमादाङ्गव्रताङ्गैरनुपात्तैः स्यात्? ... मद्यं हि पिबतः कार्याकार्यस्मृतिरेव नश्येत्। उच्चशयनमहाशयननृत्यगीतादिकं प्रतिसेवमानस्य मदः सम्भवेत्। मत्तस्य च दौःशील्यमदूरं भवेत्। काले पुनर्भुञ्जानस्योचितभक्तकालपरिहारादुपवासस्मृतिः संवेगश्चोपतिष्ठेत्। तदभावादुभयं न स्यादिति।
--अभि.को.भा ., ४/२९, पृ. ६२३, बौ.भा.प्र. ।

अनेन तावदुक्तेन प्रथमाङ्गेनाहम् आर्याणामर्हतां शीलमनुशिक्षे[1], अनुकरोमीत्यादिकं किं सम्भवति? अर्हच्छीलान्यत्र अङ्गानि, पुद्गलस्तावत्तदनुकरोतीति आधाराधेयभावोऽत्र यद्यपि प्रतीयते, किन्तु **'मञ्चाः क्रोशन्ति'**[2] इतिवन्नायं दोषः।

लभते हि सुरम्यकामावचरादिदेवकायम्[3] इत्यादिना पोषधसंवरस्य विपाकफलं दर्शितं भवति। तथोक्तम्-- **'अहोरात्रं पोषधसंवरेण'**[4] षट्सु

---

[1] अर्हतां समीपे वसन्त्यनेनेति उपवासः, तेषामनुशिक्षणात्। यावज्जीविकसंवरसमीपे वसन्त्यनेनेत्यपरे। अल्पकुशलमूलानां कुशलमूलपोषणात् पोषध इति वा। "पोषं दधाति मनसः कुशलस्य यस्मादुक्तस्ततो भगवता किल पोषधोऽयम्।" इति।

--अभि.को.भा., पृ. ६२३, बौ.भा.प्र. १९८७ ।

[2] द्रष्टव्यम्--

यथा मञ्चस्थेषु पुरुषेषु क्रोशत्सु मञ्चाः क्रोशन्तीत्युपचारः तद्वत्।

--अभि.को.टी., पृ. ११५, बौ.भा.प्र.।

[3] ये बुद्धं शरणं यान्ति न ते गच्छन्ति दुर्गतिम्।
प्रहाय मानुष्यान् कायान् दिव्यान् कायांल्लभन्ति ते ।। --बो.च., ५/९८ ;

"इहायुष्मन्तो भिक्षुः शीलसम्पन्नश्च भवति, समाधिसम्पन्नश्च प्रज्ञासम्पन्नश्च। सोऽभीक्ष्णं संज्ञावेदितनिरोधं समापद्यते व्युतिष्ठते च, अस्ति चैतत् स्थानमिति यथाभूतं प्रजानाति। स न हैव दृष्ट एव धर्मे प्रतिपद्येवाज्ञामारागयति। नापि मरणकालसमयं भेदाच्च। कायस्यातिक्रम्य देवान् कवडीकारभक्षानन्यतरस्मिन् दिव्ये मनोमये काय उपपद्यते। स तत्रोपपन्नोऽभीक्ष्णं संज्ञावेदितनिरोधं समापद्यते च व्युतिष्ठते च, अस्ति चैतत् स्थानमिति यथाभूतं प्रजानाति" इति।

--अभि.को.भा., पृ. २४१-२४३, बौ.भा.सं. ९१८७।

सूत्रोक्तम्-- ते भवन्ति रूपिणो मनोमयाः सर्वाङ्गप्रत्यङ्गोपेता अविकला अहीनेन्द्रियाः शुभा वर्णस्थायिनः स्वयम्प्रभा विहायसङ्गमाः प्रीतिभक्षाः प्रीत्याहारा दीर्घायुषो दीर्घमध्वानं तिष्ठन्ति।

--अभि.को.भा., पृ. ५५४ ;

यच्चक्रवर्तित्वमवाप्नुवन्ति भवन्ति शक्रास्त्रिदशेश्वराश्च।
ब्रह्माण ईशा वशवर्तिनश्च तद् ब्रह्मचर्यं विपुलं चरित्वा।।

क्षितीश्वराश्चैव भवन्त्युदग्राः सुश्रेष्ठिनो वै गृहपत्यमात्याः।
सुखसौमनस्येन च यान्ति वृद्धिं ये ब्रह्मचर्यं विपुलं चरति।।

--शि.समु., पृ. ४८, मि.सं. १९६०।

कामावचरदेवेषु यथेच्छमुत्पत्स्यते’ इत्युच्यते। **पुमान् वा स्त्री** वेति पुरुषाय वा स्त्रियै वा (देवकायं) प्रापयति, न तु षण्ढादिभ्यः, तेषु संवरोत्पादस्य असम्भवात्। **लभत** इति प्रापयति।

गृहस्थेषु दुष्कृतासक्तिरागदोषवशाद् मात्सर्यादीनि सम्भवन्ति, तानि च दुर्गतिहेतुकानि, अतस्तानि निवर्तयितुमाह--

मात्सर्यशाठ्यमायाभिमानासक्तिकौसीद्यरागद्वेषान् ।
कुलरूपयौवनश्रुतबलादिजं मदं रिपुमिव परिपश्येच्च ।।१२।।

तत्र **मात्सर्यं**[1] तावद् दानविरोधी स्वसम्पत्तौ चेतस आग्रहः। **शाठ्यं**[2] स्वाशयं काक्वा प्रच्छादयति। **माया**[3] परवञ्चना। अनया परस्याशयं परिज्ञाय चातुर्येण परं

---

४ यावज्जीवं समादानमहोरात्रं च संवृत्तेः। सप्तवैकायिकस्य प्रतिमोक्षसंवरस्य यावज्जीवं समादानम्, उपवाससंवरस्य अहोरात्रमित्येष नियमः ।

--अभि.को.भा., पृ. ६२०।

१ मात्सर्यं कतमत्? लाभसत्काराध्यवसितस्य परिष्कारेषु रागांशिश्चेतस आग्रहः। असंलेखसन्निश्रयदानकर्मकम्।

--अभि.समु., पृ. ८, वि.भा.प्र. १९५० ;

मात्सर्यं दानविरोधी चेतस आग्रहः। उपात्तं वस्तु धर्मामिषकौशलात्मकम्। येन पूजानुग्रहकाम्ययाऽर्थिनेऽनर्थिने वा दीयते तद् दानम्, तस्मिन् सति दानाभावात् तद्विरोधीत्युच्यते। लाभसत्काराध्यवसितस्य जीवितोपकरणेषु रागांशिकश्चेतस आग्रहोऽपरित्यागेच्छा मात्सर्यम्। इदं चासंलेखनिश्रयदानकर्मकम्। असंलेखः पुनर्मात्सर्येणानुपयुज्यमानानामप्युपकरणानां संचयाद् वेदितव्यः।

--वि.मा.सि., पृ. २१९, प्रथम संस्करण, १९७२ ;

धर्मामिषकौशलप्रदानविरोधी चित्ताग्रहो मात्सर्यम्। --अभि.को.भा., पृ ८४४।

धर्मस्यामिषस्य च प्रदाने विरोधी चित्तस्याग्रहो मात्सर्यम्। मा मत्तः सरतु इत्याकारो मत्सरः। मत्सर एव मात्सर्यम्। मत्सरिणो वा भावो मात्सर्यम्।

--अभि.को.स्फु., पृ. ८४४, बौ.भा.प्र.।

२ शाठ्यं कतमत्? लाभसत्काराध्यवसितस्य रागमोहांशिका भूतदोषविमालना। सम्यगववादलाभपरिपन्थकरम्।

--अभि.समु., पृ. ८, वि.भा.प्र. १९५० ;

शाठ्यं स्वदोषप्रच्छादनोपायसंगृहीतं चेतसः कौटिल्यम्। स्वदोषप्रच्छादनोपायः परव्यामोहनम्। तत्पुनरन्येनान्यत् प्रतिसरन् विक्षिपति, अपरिस्फुटं वा प्रतिपद्यते। अत एव शाठ्यं म्रक्षाद् भिद्यते। स हि

व्यामोहयति। **आसक्तिर्हि** तृष्णा, सा च आत्मभोगयोरध्यवसानं प्रार्थना च। **कौसीद्यं**[१] वीर्यविपक्षो धर्मः, आलस्यमित्युच्यते। **अभिमानः**[२] अप्राप्ते प्राप्यविशेषे प्राप्तो मयेति

स्फुटमेव प्रच्छादयति, न काक्वा। इदमपि लाभसत्काराध्यवसितोपायाभ्यां रागमोहाभ्यां स्वदोषप्रच्छादनार्थं परव्यामोहनाय प्रवर्तते। तयोरेव सहितयोः प्रज्ञप्यते। इदं च सम्यगववादलाभपरिपन्थिकर्मकम्। सम्यगववादस्य यो लाभो योनिशोमनसिकारस्तस्यान्तरायं करोति।
--वि.मा.सि., पृ, २२२, सं.सं.वि.वि. १९७२।

३ माया कतमा? लाभसत्काराध्यवसितस्य रागमोहांशिका अभूतगुणसंदर्शना। मिथ्याजीवसन्निश्रयदानकर्मिका।
--अभि.समु., पृ. ८, वि.भा.प्र. ;

मायापरवञ्चना, या अभूतार्थसंदर्शनता। लाभसत्काराध्यवसितस्य परवञ्चनाभिप्रायेणान्यथावस्थितस्य शीलादेरर्थस्यान्यथा प्रकाशना। इयं च सहिताभ्यां रागमोहाभ्यां अभूतान् गुणान् प्रकाशयतस्तयोः समुदितयोः प्रज्ञप्यत इति क्रोधादिवत् प्रज्ञप्तित एव, न द्रव्यत इति मिथ्याजीवसंनिश्रयदानकर्मिका।
--वि.मा.सि., पृ. २२१।

१ कौसीद्यं कतमत्? निद्रापार्श्वशयनसुखमल्लिकामागम्य मोहांशिकश्चेतसोऽनभ्युत्साहः। कुशलपक्षप्रयोगपरिपन्थकर्मकम्। --अभि.समु., पृ. ९, वि.भा.प्र. ;

कौसीद्यं कुशले चेतसोऽनभ्युत्साहो वीर्यविपक्ष। कुशले कायवाङ्मनःकर्मणि निद्रापार्श्वशयनसुखमागम्य यो मोहांशिकश्चेतसोऽनभ्युत्साहः। एतच्च कुशलपक्षप्रयोगपरिपन्थिकर्मकम्।
--वि.मा.सि. पृ, २२९ ;

कौसीद्यं चेतसो नाभ्युत्साहो वीर्यविपक्षः। --अभि.को.भा., पृ. १९१, बौ.भा.प्र.।

२ मानः कतमः? सत्कायदृष्टिसन्निश्रयेण चित्तस्योन्नतिः। अगौरवदुःखोत्पत्तिसन्निश्रयदानकर्मकः।
--अभि.समु., पृ. ७, वि.भा.प्र. ;

मानेन दुर्गतिं नीता मानुष्येऽपि हतोत्सवाः।
परपिण्डाशिनो दासा मूर्खा दुर्दर्शनाः कृशाः ।।

सर्वतः परिभूताश्च मानस्तब्धास्तपस्विनः ।
तेऽपि चेन्मानिनां मध्ये दीनास्तु वद कीदृशाः।।

सप्तविधमानेषु अन्यतमेन मानेन दुर्गतिं नीता नरकादिषु पातिताः। अथ कथंचिन्मनुष्यप्रतिलम्भो भवति तेषाम्, तदा तत्रापि तन्निन्दाफलेन हतोत्सवा निरानन्दा भवन्ति। हीनदीनमनस इत्यर्थः। परपिण्डाशिनः आहारवैकल्यात् परदत्तभिक्षाहारभुजः। दासाः परतन्त्रवृत्तयोः भृत्याः। मूर्खाः सर्वविवेकशून्याः। दुर्दर्शनाः विरूपात्मभावा अप्रीतिजनकाश्च। कृशाः दुर्बलशरीराः सामर्थ्यरहिताश्च। सर्वतः सर्वेभ्योऽकृतापराधा अपि कायवचःपरिभवलाभिनो भवन्ति। के पुनरेवम्? मानस्तब्धास्तपस्विनः मानेन स्तब्धाः अनम्राः। तपस्विनो वराकाः। तेऽपि चेत्, एवंभूता अपि यदि मानिनां मध्ये गण्यन्ते, तर्हि दीनाः कृपणाः कृपापात्रमित्यर्थः। --बो.च.पं., ७/५७-५८, पृ. १३०।

चित्तस्योन्नतिरिति। **रागस्तु**[1] मैथुनतृष्णा। **द्वेषः**[2] सर्वसत्त्वेष्वाघातचित्तता। एते अष्टौ धर्माः कुलादिपञ्चमदाश्चेति त्रयोदश अकुशलधर्माः शत्रुवद् द्रष्टव्याः। एतैः साकं संस्पर्शो न विधेय इत्यर्थः। तत्र मदस्तावत्तैर्धर्मैश्चित्तप्रहर्षः।[3] यैर्मत्तपुरुष इव

मानो हि नाम सर्व एव सत्कायदृष्टिसमाश्रयेण प्रवर्तते। स पुनश्चित्तस्योन्नतिलक्षणः, तथा ह्यात्मात्मीयभावं स्कन्धेष्वध्यारोप्य 'अयमहम्, इदं मम' इत्यात्मानं तेन तेन विशेषेणोन्नमयति, अन्येभ्योऽधिकं मन्यते। स चागौरवदुःखोत्पत्तिसंनिश्रयदानकर्मकः। अगौरवं गुरुषु गुणवत्सु च पुद्गलेषु स्तब्धता कायवाचोरप्रसृतता, दुःखोत्पत्तिः पुनरत्र पुनर्भवोत्पत्तिः। स च पुनश्चित्तोन्नतिस्वरूपाभेदेऽपि चित्तोन्नतिनिमित्तभेदात् सप्तधा भिद्यते, मानोऽतिमान इत्येवमादि।

--वि.मा.सि., पृ २०५-२०६, सं.सं.वि.वि., १९७२ ;

.... मान उन्नतिः ।

येन केनचित् परतो विशेषपरिकल्पेन चेतस उन्नतिः मानः। --अभि.को., २/३३, पृ. २०७ ।

[1] रागः कतमः? त्रैधातुकोऽनुनयः। दुःखसंजननकर्मकः। --अभि.समु., पृ, ७, वि.भा.प्र. ;

तत्र रागो भवभोगयोरध्यवसानं प्रार्थना च। स पुनर्दुःखसंयोजनकर्मकः। दुःखमत्रोपादानस्कन्धास्तेषां कामरूपारूप्यतृष्णावशादभिनिर्वृत्तिः। अतो रागस्य दुःखसंयोजनं कर्म निर्दिश्यते।

--वि.मा.सि., पृ. २०२, ;

न रूपवन्तो हि भवन्ति रागात् न रक्तचित्ताः सुगतिं व्रजन्ति।
न निर्वृतिं यान्ति च रक्तचित्ता रागो हि तस्मात्परिवर्जनीयः।।

--शि.समु., पृ. ४७, मि.सं. १९६०।

[2] प्रतिघः सत्त्वेष्वाघातः सत्त्वेषु रूक्षचित्तता, येनाविष्टः सत्त्वानां वधबन्धनादिकमनर्थं चिन्तयति। स पुनरस्पर्शविहारदुश्चरितसंनिश्रयदानकर्मकः। स्पर्शः सुखम्, तेन सहितो विहारः स्पर्शविहारः, न स्पर्शविहारः 'अस्पर्शविहारः' दुःखसहित इत्यर्थः। आघातचित्तस्यावश्यं दौर्मनस्यसमुदाचारात् चित्तं तप्यते। चित्तानुविधानाच्च कायोऽपि तप्यत एवेति सर्वेर्यापथेषु सदुःखसविघातोऽस्पर्शविहारो भवति। प्रतिहतचित्तस्य च न किंचिद् दुश्चरितं विदूर इति प्रतिघोऽस्पर्शविहारदुश्चरितसंनिश्रयदानकर्मक उक्तः।

--वि.मा.सि., पृ. २०३-२०४ ।

[3] मदः कतमः? आरोग्यं वा आगम्य यौवनं वा दीर्घायुष्कलक्षणं वोपलभ्यान्यतमान्यतमां वा सास्रवां संपत्तिं रागांशिकनन्दीसौमनस्यम्। सर्वक्लेशोपक्लेशसन्निश्रयदानकर्मकः। --अभि.समु., पृ. ९ ;

मदः स्वसम्पत्तौ रक्तस्योद्धर्षश्चेतसः पर्यादानम्। कुलारोग्ययौवनबलरूपैश्वर्यबुद्धिमेधाप्रकर्षः स्वसम्पत्तिः। उद्धर्षो हर्षविशेषः। येन हर्षविशेषेण चित्तमस्वतन्त्रीक्रियते तेन तदात्मतन्त्रीकरणात् पर्यात्तं भवतीत्येतदुक्तं चेतसः पर्यादानमिति। अयं च सर्वक्लेशोपक्लेशसंनिश्रयदानकर्मकः। --वि.मा.सि., पृ. २२३ ;

मदः स्वधर्मे रक्तस्य पर्यादानं तु चेतसः।।

धर्माधर्मप्रतिपत्तिर्नैव सम्भवति। अत एव मदः स्वसम्पत्तौ रक्तस्योद्धर्षश्चेतसः पर्यादानम्। स्वसम्पत्तौ रागवशेन तत्र चित्तं पर्यादत्तं भवति, न चान्यौ धर्माधर्मौ परिज्ञायेते इति वाक्यार्थः।

गृहस्थेष्वपि प्रायशोऽप्रमादबहुला इति तान् तत्र प्रतिष्ठापयितुमाह-

अप्रमादोऽमृतपदं प्रमादो मृत्युपदमिति मुनिनादिष्टम् ।
कुशलधर्मस्य वृद्धये सदाऽप्रमादोऽभ्यसनीयस्त्वया चैव ।।१३।।

अमृतनिर्वाणस्याधारो**ऽप्रमाद**[1] इत्यर्थः । मृत्युपदञ्च **प्रमादः**[2]। कथं ज्ञायत इति चेत्? मुनिनादिष्टम् इत्युक्तम्, तथागतेन तथा निर्देशादित्यर्थः। यथोक्तम् गाथया...

अप्रमादोऽमृतपदं प्रमादो मृत्योः पदम् ।
अप्रमत्ता न म्रियन्ते ये प्रमत्ता यथा मृताः ।।इति।।[3]

मदस्तु स्वधर्मेष्वेव रक्तस्य यच्चेतसः पर्यादानम्। यथा मद्यज एवं रागजः। सम्प्रहर्षणविशेषो मद इत्यपरे। --अभि.को. २/३३, पृ. २०७, बौ.भा.प्र. ।

[1] तत्राप्रमादः प्रमादप्रतिपक्षः। अलोभाद् यावद् वीर्यम् अप्रमादः। यैरलोभादीन् निश्रित्य अकुशलान् धर्मान् प्रजहाति, तत्प्रतिपक्षांश्च कुशलान् धर्मान् भावयति, तेऽलोभादयोऽप्रमादः। अत एव प्रमादप्रतिपक्षः, प्रमादस्यातो विपरीतत्वात्। स पुनर्लौकिकलोकोत्तरसम्पत्तिपरिपूरणकर्मकः।
--वि.मा.सि., पृ. १९७, सं.सं.वि.वि., १९७२ ;

मा कुमार भव सुप्रमत्तको मा प्रमादवशमभ्युपेष्यसे।
अप्रमाद सुगतेन वर्णितो निन्दिता हि सुगतैः प्रमत्तकाः।।

अप्रमत्त इह ये च सूरता दानसंयमरता अमत्सराः।
सर्वसत्त्वकृपमैत्रमानसा ते भवन्ति नचिरान्नरोत्तमाः।।

येऽप्रमेय सुगता अतीताः साम्प्रतं च हि येऽप्यनागताः।
सर्व एव कुशलैस्त उद्गता अप्रमादपथ एव सुस्थिताः।।
--रा.परि.सू.(म.सू.सं.भाग-१) २२९-२३१ का.।

[2] बहुकल्पकोटीभि कदाचि बुद्धो उत्पद्यते लोकहितो महर्षिः।
लब्धोऽधुना स प्रवरः क्षणोऽद्य त्यज प्रमादं यदि मोक्षकामः।।
--रा.परि.सू.(म.सू.सं.भाग-१), ९१ का.।

[3] अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।

तत्र अप्रमादस्तावत् कुशलानां धर्माणां भावना, तद्विपरीतः प्रमाद इति ज्ञेयः। अत एव **कुशलधर्मस्य वृद्धये** इति निर्दिष्टम्। यतो हि महानुशंसोऽप्रमादस्ततस्त्वया कुशलधर्माणां विकासाय सदैव अप्रमत्तेन भाव्यम्। कुशलधर्माभ्यासो नैव परिवर्जनीय इत्यर्थः।

अथ ममार्थाय आदावेव प्रमादावस्थायां त्वया किं नोक्तम्, अधुना अप्रमादेन किं स्यादिति चेत्? आह....

पूर्वप्रमत्तः कोऽपि मेघान्निर्गतेन्दुरिव ततोऽप्रमादी ।[1]
स हि नन्दाङ्गुलिमालोदयनाजातशत्रुसदृशः सुशोभेत ।।१४।।

अप्पमत्ता न मियन्ते, ये पमत्ता यथा मता।। --धम्मपद (अप्पमादवग्ग), १ का० ;

यथोक्तमार्यचन्द्रप्रदीपसूत्रे--
यावन्ति धर्माः कुशलाः प्रकीर्तिताः शील श्रुतं त्यागु क्षान्तिः।
सर्वेष मूलं ह्ययमप्रमादो निधानलम्भः सुगतेन देशितः ।।
उक्तं हि आर्यतथागतगुह्यसूत्रे-- तत्र कतमोऽप्रमादः? यदिन्द्रियसंवरः। स चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा न निमित्तग्राही भवति, नानुव्यञ्जनग्राही। एवं यावन्मनसा धर्मान् विज्ञाय न निमित्तग्राही भवति, नानुव्यञ्जनग्राही। सर्वधर्मेष्वास्वादं चादीनवं च निःशरणं च यथाभूतं प्रजानाति। अयमुच्यते अप्रमादः। पुनरपरम्-- अप्रमादो यत्स्वचित्तस्य दमनम्, परचित्तस्यारक्षा, क्लेशरतेरपरिकर्मणा, धर्मरतेरनुवर्तनम्, यावदयमुच्यतेऽप्रमादः। ....तथा अत्रैवाह--
सदाऽप्रमादो ह्यमृतस्य मूलं सत्त्वार्थयुक्तस्य च बोधिचित्तम्।
यद्योनिशश्चैव विवेकचित्तमपरिग्रहः सर्वसुखस्य मूलम् ।। ---शि.समु., पृ. १९१, मि.सं.।

[1] यो च पुब्बे पमज्जित्वा, पच्छा सो नप्पमज्जति।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा।। --धम्मपद, १३/४ ;

तुलनीयम्-
मा पमादमनुयुञ्जेथ मा कामरतिसन्थवं।
अप्पमत्तो हि झायन्तो पप्पोति विपुलं सुखं।। --धम्मपद, २/७ ;

बहुकल्पकोटीभि कदाचि बुद्धो उत्पद्यते लोकहितो महर्षिः।
लब्धोऽधुना स प्रवरः क्षणोऽद्य त्यज प्रमादं यदि मोक्षकामः।।
--रा.परि.सू.(म.सू.सं.), ९१ का. मि.सं.।

तथा हि, यः कश्चित् पूर्वं प्रमत्तः, सोऽपि यदि पश्चाद् अप्रमादं सेवेत, शोभनमेव तत्, विघनेन्दुवत्। किमेवंविधाः केचन सत्त्वा दृश्यन्ते? तन्निर्देष्टुं **नन्दाङ्गुलिमाले**त्याद्युक्तम्। नन्दो हि एकः शाक्ययुवा महाकामुकः, सोऽत्यन्तं स्वपत्नीरागवशात् तदभावे क्षणमात्रमपि सुखं स्थातुं नैव शशाक। तथाविधः स तथागतेन गृहान्नीत्वा बलेन प्रव्राजितः। प्रव्रजितोऽपि स नक्तन्दिवं तामेव अनुचिन्तयति, नैव धर्मम्। तथाविधोऽपि स तथागतेन अर्हत्पदं प्रापितः।[१]

अङ्गुलिमालो ब्राह्मणबटुरासीन्मन्दबुद्धिः। तस्य गुरुणोपदिष्टं यदि त्वं सहस्रमेकं मानवान् हनिष्यसि तदा धर्मः स्यादिति । सोऽपि गुरोर्व्याकरणमनुसृत्य एकोनसहस्रमनुष्यान् हतवान्। तथाविधोऽपि स पश्चात् तथागतान्तिके प्रव्रज्य त्रिभ्यो धातुभ्यो वीतरागो बभूव।

अजातशत्रुर्हि अजातशत्रुः। स क्रोधन आसीत्। अकल्याणमित्रसंसर्गेण पूर्ववैरानुबन्धवशाच्च तेन धार्मिकः स्वपिता महाराजो (विम्बसारः) घातितः। सोऽपि कल्याणमित्रतथागतस्य शासनाश्रयेणैव नरकानलेन्धनीभावान्मुक्तः।[२]

---

[१] द्रष्टव्यम्--

यथा आर्यसुनन्दरनन्देन किल क्रकुच्छन्दे सम्यक्संबुद्धे भिक्षुसंघे जेन्ताकस्नानं कृतम्। तांश्च दृष्ट्वा चित्तं प्रसादितम्। भूयश्च सुवर्णेन हरितालेन प्रत्येकबुद्धस्तूपे लेपो दत्तः। इदमपि दृष्ट्वा चित्तं प्रसादितम्, अभिरूपतायां च परिणामितम्। भूयश्च स्तूपे क्रियमाणे प्रथमं छत्रं कारितम्। यथा पश्चमभवे स एव व्याकरोति-

जेन्ताकस्य च स्नानेन हरितालस्य लेपनेन च।
एकच्छत्रप्रदानाच्च प्राप्ता मे सुवर्णवर्णता।।

तथैवायं शोभितवान्। इदं कर्म प्रासादिकसंवर्तनीयम्। --महा.क.वि.(म.सू.सं), पृ. १८४ ;

[२] द्रष्टव्यम्--

यथा राजा अजातशत्रुः। तेन देवदत्तसहायेन आनन्तर्यं कर्म कृतम्। पितृवधः। संघभेदः। धनपालमोक्षणम्। शिलायन्त्रमोक्षणं देवदत्तस्यादेशेन। तस्मादवीचिनरकगमनं श्रुत्वा तेन संविग्नेन भगवति चित्तं प्रसादितम्। श्रामण्यफलसूत्रेऽत्ययदेशनं कृतम्। प्रतिसंदधाति कुशलमूलानि। तेन मरणकाले चित्तं प्रसादितम्। अस्थिभिरपि बुद्धं भगवन्तं शरणं गच्छामि। स उपपन्नमात्र एव च्यवति। इदं कर्म येन समन्वागतः पुद्गलो नरकेषूपपन्नमात्र एव च्यवति।

--महा.क.वि.(म.सू.सं.), पृ. १८९ ;

उदयनस्तावत् कुलपुत्रोऽयोनिशोमनस्कारवशतया परस्त्रीसहवासविरोधमाचरन्तीं स्वमातरं हतवान्। सोऽपि पश्चात् तथागतशासनमाश्रित्य कन्दुकोत्प्लवनमिव वज्र(अवीचि)-नरकान्निःसृत्य स्वर्गसुखमनुभूतवानिति श्रुतिः।

एवं नन्दादयस्ते पूर्वं प्रमत्ताः (प्रमादरताः) आसन्, पश्चाद् अप्रमादवशात् तत्तद्दुःखविशेषान्मुक्ता अभूवन्। अतस्त्वयापि पूर्वमाचरितेऽपि प्रमादेऽधुना अप्रमादोऽनुष्ठेय इति।

गृहस्था हि अनेकेच्छाविघातानीप्सितसंगमनवशेन प्रायः क्रोधबहुला भवन्ति, तेषां तच्छन्दादिनिवारणार्थं क्षान्तिं प्रतिपादयितुमाह-

क्षान्तिसमं नैव तपस्ततस्त्वया न क्रोधावसरो देयः ।
बुद्धेनानुमतं वै पदमवैवर्तिकं क्रोधप्रहाणेन ।।१५।।

क्षान्तिसदृशं नास्त्येव तपः[१], तस्मात् क्षान्तिरेव सर्वेषु तपःसु गरिष्ठा "**क्षान्तिः परमं तपः तितिक्षा**"[२] इति गाथावचनात्। क्षान्तिवान् एव तपस्वी, न तु प्रतिघचित्तो यः वायूदकमूलफलादीनि भुक्त्वा शुष्ककायः, न च जटा-पत्र-वल्कलजीर्णवसनः। इत्येवं क्षान्त्या तावत् क्लेशान् सन्तापयति, अन्याचरणैस्तु केवलं

---

[१] न द्वेषसमं पापं न क्षान्तिसमं तपः।
तस्मात्क्षान्तिं प्रयत्नेन भावयेद्विविधैर्नयैः।।

न च द्वेषेण समं पापमशुभं पुण्याभिभवहेतुरस्ति। न च क्षान्त्या तितिक्षया समं तुल्यं तपः। सुमहत्परिश्रमसाध्यत्वात् सुकृतम्। यत एवम्, तस्मात् क्षान्तिं क्षमां सर्वतात्पर्येण भावयेदभ्यसेत्। विविधैर्नानाप्रकारैरुपायैर्वक्ष्यमाणैः। --बो.च.पं., ६/२, पृ. ८१ ;

पुनश्च उक्तम्--

पुण्यविघ्नः कृतोऽनेनेत्यत्र कोपो न युज्यते।
क्षान्त्या समं तपो नास्ति नन्वेतत्तदुपस्थितम् ।। --बो.च. ६/१०२ ;

तत्र क्षान्तिस्त्रिविधा धर्मसंगीतिसूत्रेऽभिहिता-- दुःखाधिवासनक्षान्तिः, धर्मनिध्यानक्षान्तिः परापकारमर्षणक्षान्तिश्चेति। --शि.समु., पृ. १००. मि.सं. ; द्रष्टव्यम्-- म.सू.सं., पृ. ३३७, मि.सं.।

[२] खन्ती परमं तपो तितिक्खा, निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा।
न हि पब्बजितो परूपघाती, समणो होति परं विहेठयन्तो।।
--धम्मपद (बुद्धवग्ग), १४/६

कायसन्तापः। कायसन्तापेन तु सुगतिरपि नावाप्यते, किं पुनर्मोक्षः। एवं महोपकारित्वात् क्षान्तेः **त्वया न क्रोधावसरो देयः।** अपि च क्षान्त्यानुशंस्यप्रतिपादनाय **पदमवैवर्तिकं क्रोधप्रहाणेन** इत्यादिकमुक्तम्। यस्य क्रोधस्य प्रहाणेन बहुदुःखे कामधातौ अनागामी भवति पुद्गलः, अवैवर्तिकपदं प्राप्नोतीत्यर्थः। तथ्यमिदं स्वयं बुद्धेनाङ्गीकृतम्, साक्षी अस्मीत्यर्थः। यथोक्तं- भगवता **''क्रोधः परिहर्त्तव्यः, अवैवर्तिकपदप्राप्तये साक्षिभूतोऽस्म्यहम्''** इति। का क्षान्तिरिति चेत्? अक्रोधः, उत्पन्नेऽपि क्रोधे तत्क्षणमेव तस्य शमनम्, न तु द्वेषोपादानम्। कः क्रोधः? वर्तमानमपकारमागम्य सत्त्वासत्त्वविषयः यश्चेतस आघातः सत्त्वेषु रूक्षचित्तता क्रोध[१] इत्युच्यते।

---

[१] न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो।। --धम्मपद, १/५ ;

मनः शमं न गृह्णाति न प्रीतिसुखमश्नुते।
न निद्रां न धृतिं याति द्वेषशल्ये हृदि स्थिते।।

पूजयत्यर्थमानैर्यान् येऽपि चैनं समाश्रिताः।
तेऽप्येनं हन्तुमिच्छन्ति स्वामिनं द्वेषदुर्भगम्।।

सुहृदोऽप्युद्विजन्तेऽस्माद् ददाति न च सेव्यते।
संक्षेपान्नास्ति तत्किंचित् क्रोधनो येन सुस्थितः।।

शमं प्रशमं न गृह्णाति नाश्रयते। अनुपशान्तं एव सदा द्वेषानलप्रज्वलितत्वात् न प्रीतिसुखं सौमनस्यसुखमश्नुते आप्नोति, तेनैवाक्रान्तत्वात्। न निद्रां न धृतिं चित्तसुखं लभते कायचित्तसंतापकारिणि द्वेषशल्ये हृदयनिवासिनि। पूजयति सत्करोति लाभसत्कारैर्यान्। येऽपि चानुजीविनः, एवं द्वेषिणं स्वामिनमपकर्तुमिच्छन्ति। किमिति? द्वेषदुर्भगम् अप्रियमिति हेतुपदमेतत्। सुहृदो मित्राण्यपि उद्विजन्ते उत्त्रसन्ति अस्माद् द्वेषिणः। दानोन्मुखोऽपि भृत्यवर्गैर्न सेव्यते नोपगम्यते। किं वहुना? इदमिह संक्षेपेणावधार्यताम्-- नास्ति तदुपशमकारणं किंचिद्येन कोपनः सुखं लभेत। ... एवमिह दृष्टधर्मेऽपि द्वेषदोषानवगम्य तत्परित्यागाय यत्नवता भवितव्यमित्याह--
एवमादीनि दुःखानि करोतीत्यरिसंज्ञया ।
यः क्रोधं हन्ति निर्बन्धात् स सुखीह परत्र च।। ---बो.च.पं., ६/३-६, पृ. ८२, मि.सं. ;

व्यापादविहिंसावर्जितः सत्त्वासत्त्वयोराघातः क्रोधः। --अभि.को.भा., ५/४८, पृ. ८४४ ;

अक्रोशीदवधीन्मामजैषीन्मामहार्षीद् वै वित्तं मे ।
वैरैरेभिः कलहस्त्यजति य एतद् वैरं स सुखं शेते ।।१६।।

इत्यनेन क्षान्तिरेवोपदिष्टा। चत्वारो वैरग्रहणप्रकाराः- अनेनाहं अपमानितः, अनेनाहं नाशितः, अनेनाहं पराजितः, अनेन मे धनं हृतमित्येवं वैरमुपनह्यते। यश्चतुर एतान् गृह्णाति, स प्रतीकारमारभते, तेन च कलहो जायते।[1] यस्मिन् एतादृशं ग्रहणं न भवति, स वैरं त्यक्त्वा दुःखाभावात् सुखं शेते।[2] एतद्विपरीतस्तु दुःखचित्तत्वात् सदुःखं शेते।

जलेऽवनौ पाषाणे चित्रमिव चित्तं त्रिधा खलु सत्त्वानाम् ।
क्लेशवतां हि प्रथमो धर्माभिलाषिणामन्तिमो ज्यायान् ।।१७।।

अनेन सर्वेषु पृथग्जनेषु पूर्वोक्तानि कुशलाकुशलचित्तानि समुद्भवन्तीति निर्दिष्टम्। अतस्त्वया कुशलं प्रति चित्तं द्रढयितुं यतनीयम्, न त्वकुशलं प्रति इत्युपदिष्टम्।[3] त्रिधा खलु सत्त्वानां चितम्, यथा- जले चित्रलेखनमिव, भूमौ

तत्र क्रोधो वर्तमानमपकारमागम्य यश्चतेस आघातः। अयं चाघातस्वरूपत्वात् प्रतिघात् न भिद्यते, किन्त्वस्य प्रतिघस्यावस्थाविशेषे प्रज्ञप्तत्वात् प्रतिघांशिकः। वर्तमानमपकारमागम्य यश्चेतस आघातः सत्त्वासत्त्वविषयो दण्डदानादिसंनिश्रयदानकर्मकश्च स क्रोध इति प्रज्ञप्यते।

--वि.मा.सि., पृ. २१५ ;

अनत्थं मे अचरीति आघातो जायति, अनत्थं मे चरतीति आघातो जायति, अनत्थं मे चरिस्सतीति आघातो जायति, पियस्स मे मनापस्स अनत्थं अचरि...प०... अनत्थं चरति....प०....अनत्थं चरिस्सतीति आघातो जायति, अप्पियस्स मे अमनापस्स अत्थं अचरि... प......अत्थं चरति....प....अत्थं चरिस्सतीति आघातो जायति, अट्ठाने पन आघातो जायति।

---ध.सं., पृ. २४१ नालन्दा संस्करण ।

[1] अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति, वेरं तेसं न सम्मति ।। -- धम्मपद, १/३

[2] अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं नूपनय्हन्ति, वेरं तेसूपसम्मति ।। --धम्मपद, १/४

[3] तुलनीयम्--
फन्दनं चपलं चित्तं, दुरक्खं दुन्निवारयं।

चित्रलेखनमिव, पाषाणे चित्रलेखनमिव च। फलतः पुरुषा अपि त्रिविधा वेदितव्याः। कानिचिद् अकुशलानि कुशलानि वा जले चित्रलेखनवद् भवन्ति, पाषाणे चित्रलेखनवदपि तथैव। तत्र क्लेशवतां कृते प्रथमं जले चित्रलेखनमिव तावदुचितम्, धर्मिष्ठानां कृते तु अन्तिमं पाषाणे चित्रलेखनमिवोत्तमम्। अतस्त्वया अकुशलं चित्तं जले चित्रलेखनमिव विधेयम्, कुशलं तु पाषाणे चित्रलेखनमिव विधातव्यमित्यभिप्रायः।

यथा सत्त्वानां त्रिविधं चित्तं तथैव वागपि त्रिविधेति निर्देष्टुमाह-

वाचस्त्रिधा जनेभ्यः प्रोक्ता जिनेन मधुरसत्यमिथ्याख्या ।
क्रमशो मधुः पुष्पाशुचितुल्याश्चरमा च परिहर्त्तव्यैतासु ।।१८।।

त्रिविधा जिनेन वाक् समुपदिष्टेत्यनेन योजनीयम्। कथं ताः? **मधुः पुष्पाशुचितुल्याः** इति। कास्ताः? **मधुर-सत्य-मिथ्याख्याः जनेभ्यः प्रोक्ताः**।[१] मधुरवचनं मधुवत्। अत एव आह्लादकत्वाद् रमणीयत्वाच्च हृदयङ्गममिति। सत्यवचनं पुष्पवत् प्रशंसनीयत्वात्। मिथ्यावचनम् अशुचिवद् निन्दनीयत्वाद्। इत्येतेषु त्रिषु वचनेषु अन्तिमं तावद् अशुचिसदृशम्, अतस्त्वया तत् प्रहातव्यमित्यर्थः।

उजुं करोति मेधावी, उसुकारो व तेजनं।। --धम्मपद, ३/१

[१] आर्यदशभूमकसूत्रेऽप्युक्तम्-- येयं वागमनोज्ञा स्वसंतानपरसंतानविनाशनी तथारूपां वाचं प्रहाय, येयं वाक् स्निग्धा मृद्वी मनोज्ञा मधुरा प्रियकरणी मनआपकरणी हितकरणी कर्णसुखा हृदयंगमा प्रेमणी वर्णविष्पष्टा विज्ञेया श्रवणीया अनिश्रिता बहुजनकान्ता बहुजनप्रिया बहुजनमनआपा विज्ञप्रशस्ता सर्वसत्त्वहितसुखावहा मनउत्प्लावकरी मनःप्रह्लादनकरी स्वपरसंतानप्रमोदनकरी रागद्वेषमोहसर्वक्लेशप्रशमनी, तथारूपां वाचं निश्चारयति। यावदितिहासपूर्वकमपि वचनं परिहार्य परिहरतीति।

आर्यगगनगञ्जसूत्रे तूक्तम्-- गुरुवचनानवमर्दनतया, परवचनानाच्छिन्दनतया चादेयग्राह्यवचनो भवतीति। धर्मसंगीतिसूत्रेऽप्युक्तम्-- गगनगञ्जो बोधिसत्त्व आह-- न बोधिसत्त्वेनैषा वाग्भाषितव्या यया परो व्यापद्येत। न सा वाग्भाषितव्या यया परं तापयेत्। न बोधिसत्त्वेन सा वाग्भाषितव्या यत्परो जानीयात्। न सा वाग्भाषितव्या यापार्था निरर्था। न बोधिसत्त्वेन सा वाग्भाषितव्या यया न विद्यामुत्पादयेत्। न सा वाग्भाषितव्या या सत्त्वानां न हृदयंगमा न पौरी न कर्णसुखा, न सा वाग्भाषितव्येति।

--शि.समु., पृ. ७१, मि.सं.।

संसारे संसरतां चतुर्विधास्तावच्चर्याः। अतस्त्वया श्रेष्ठायां चर्यायां स्थातव्यमित्यत्र योजनार्थमाह-

चतुर्विधा वै पुरुषाः प्रकाशात्प्रकाशे तमसस्तमसि पुनः ।
तमः प्रकाशाद् गच्छति तमसस्तेजसि पुद्गलो वरः प्रथमः ।।१९।।

यथा सूत्रे प्रकाशात् प्रकाशमनुगमनम्। तत्र **प्रकाशात् प्रकाशे** तावत् सुभगेषु मनुष्येषु देवेषु चोत्पद्य पुनस्तत्रैवोत्पद्यन्ते। **तमसस्तमसि** तु ये दुर्गतिषु दुर्भगेषु मनुष्येषु चोत्पद्य पुनस्तत्रैवोत्पद्यन्ते। **प्रकाशात् तमः गच्छती**ति तावत् सुभगेषु मनुष्येषु देवेषु चोत्पद्य पुनस्तिसृषु दुर्गतिषु वा अल्पभाग्येषु मनुष्येषु उत्पद्यन्ते, यथा- मात्सर्यानुरक्ताः। **तमसस्तेजसि** तु ये तिसृषु दुर्गतिषु दुर्भगेषु मनुष्येषु चोत्पद्य देवलोकेषु सुभगेषु मनुष्येषु चोत्पद्यन्ते, यथा- देवपुत्रः मण्डूकः। एते चत्वारः पुद्गलाः। तेषु तावत् प्रथमः श्रेष्ठ :। अतः प्रकाशात् प्रकाशे गन्तव्यमिति।

गृहस्थाः सम्प्रति बहुभिः सत्त्वैः सह संवसन्ति, तेषु कः समीचीन इति युक्त्या प्रतिपादनाय तेषां चर्याविशेषं दर्शयितुमाह-

जनानां त्वाम्रफलमिव पक्वमपक्वे पक्वेऽपक्वतुल्यं च ।
अपक्वेऽपक्वं तथा पक्वे पक्वमिव भाति चातुर्विध्यम् ।।२०।।

इति। चतुर्विधमाम्रफलम्। अपक्वेऽपि किमपि बहिः पक्वमिव भाति, कानिचित् पक्वानि अपि बहिः हरीतिमाऽवियोगाद् अपक्वानीव प्रतीयन्ते। कानिचिद् अपक्वानि अपक्वानीव च दृश्यन्ते तथा कतिपयानि पक्वानि पक्वानीव च लक्ष्यन्ते। तथैव पुद्गला अपि चतुर्विधा वेदितव्याः। प्रथमः आशयहीनोऽपि प्रयोगसम्पन्नः, द्वितीयः प्रयोगहीनोऽप्याशयसम्पन्नः, तृतीयस्तावत् उभाभ्यां हीनः, चतुर्थस्तु उभयसम्पन्न इति।

गृहस्थेषु काममिथ्याचारविरतिर्दुष्करा, तथा सति परस्त्रीदर्शने तत्पूर्वगामिनो भवन्ति, अतस्तन्निवृत्त्यर्थमाह-

परदारान्न तु पश्येद् दृष्टे च ज्ञेया अवस्थानुरूप्येण ।
कन्याम्बाभगिनीवद् आसक्तावप्यशुचिमेव चिन्तयेच्च ।।२१।।

इति। यथोक्तं सूत्रे- "**भदन्त, स्त्रीषु कथं प्रतिपत्तव्यमिति पृष्टे आनन्द, अदर्शनेन**" इति। गृहस्थानामत्र प्रसङ्गात् 'परस्त्री' एव ज्ञातव्या। दर्शने सति तासु मातृ-दुहितृ-भगिनीसंज्ञा उत्पादनीया। सापि नैवाक्रमेण, अपि तु वयोऽनुरूपतया।[1] तथा चिन्तनेऽपि सति राग उत्पद्येत अथवा दृष्टौ सत्यामासक्तिर्भवेत् तदा ताः स्त्रियः 'दुर्गन्धशरीरा नवाशुचिद्वाराः' इत्यादिरूपेण अशुचिमेव तासां सम्यक् चिन्तयेत्।

अशुचिचिन्तायामपि यदि शुचिचित्तमेव समुद्भवेत्तदा कथं वर्तितव्यमिति चेत्? चित्तमेव रक्षणीयमिति निर्देष्टुमाह-

रक्षेच्चञ्चलचित्तं श्रुति-पुत्र-निधि-प्राणसदृशं च नितराम् ।
चित्तं परिहर्त्तव्यं शत्रुसर्पविषायुधाग्निसमात् कामात् ।।२२।।

इति। यथोच्यते- लोके यथा श्रवणादिकं महार्थत्वेन रक्ष्यते तथैव चित्तं त्वया संरक्षणीयमिति। अत्रापि यदि रक्षिष्यते तदा नूनं सुखं प्राप्स्यते।[2] यथोक्तं भगवता-

---

[1] दृष्ट्वा च दारान् हि परस्य ये वै कुर्वन्ति माताभगिनीति संज्ञाम्।
प्रासादिकास्ते हि सुदर्शनीया भवन्ति नित्यं परमं मनोज्ञाः।। --शि.समु., पृ. ४७, मि.सं. ;
द्रष्टव्यम्-

चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो, आपज्जति परदारसेवी।
अपुञ्ञलाभं न निकामसेय्यं, निन्दं ततीयं निरयं चतुत्थं।। --धम्म. २२/४ ;

नैकयान्यस्त्रिया कुर्याद्यानं शयनमासनम्।
एकया अद्वितीयया अन्यस्त्रिया। गृहिप्रव्रजितयोरिदमिह साधारणमित्यन्यग्रहणम्। न कुर्याद्यानादि।
--बो.च.पं., पृ. ७४, मि.सं.।

[2] व्याघ्राः सिंहा गजा ऋक्षाः सर्पाः सर्वे च शत्रवः।
सर्वे नरकपालाश्च डाकिन्यो राक्षसास्तथा।।

सर्वे बद्धा भवन्त्येते चित्तस्यैकस्य बन्धनात्।
चित्तस्यैकस्य दमनात् सर्वे दान्ता भवन्ति च।।
सुबोधम्। कुतः पुनरेवमित्याह--

''चित्तं दान्तं सुखावहम्''[1] इति। अन्यच्च विषादिभ्य इव कामसुखेभ्य उद्विजेत्। सर्प इति आशीविषः। स चण्डत्वेन चित्तोद्वेगस्य हेतुः। हननात्मकत्वेन विषम्। दुःखोत्पादहेतुत्वेन शस्त्रम्। दहनात्मकत्वेन अग्निः। स्वपरबाधकत्वेन इमे सर्प इव अनिष्टकरा एव। कुशलकर्मविप्रणाशकत्वेन इमे विषमिव हननस्वभावा एव। दुर्गतिप्रापकत्वेन इमे दुःखोत्पादकायुधवदिति। देवमनुष्याणां सम्पत्तेर्दूरीकरणाद् इमे शत्रुवत् सुखान्तरायकरा एव। कौकृत्योपसंहारकत्वेन अग्निवत् सन्तापकरा एव। अत एव कामसुखेभ्यश्चित्तमुद्वेजनीयम्।[2] अन्यच्च कामास्तावदनर्थोत्पादकाः, तस्मात् कामसुखेभ्यः उद्विग्नमना भूयात्।

कथं सर्पादिभ्य इव कामसुखेभ्यश्चित्तोद्वेगः सम्पादनीय इति चेदाह-

कामस्त्वनर्थजनकः प्रोक्तः किम्पाकफलसमो जिनेन्द्रेण ।

यस्माद् भयानि सर्वाणि दुःखान्यप्रमितानि च।
चित्तादेव भवन्तीति कथितं तत्त्ववादिना।।

सर्वे ह्येते कर्माक्षेपवशादनिष्टदायका भवन्ति। कर्म च चित्तमेव। चेतना कर्मेति वचनात्। वाक्कायकर्मणोरपि चित्तमेव समुत्थापकम्। तदन्तरेण तयोरनुत्पत्तेः। चेतयित्वा कर्मेति वचनात्। तस्मात् सर्वमिह कर्मनिर्मितमेव। तच्च चित्तान्नान्यत्। तदाह--

कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत्।
चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी ।। इति।। (अभि.को., ४/१)

न च अनपकारचित्तस्य केचिदपकारिणो नाम। यस्मात्--

निवृत्तपापचित्तस्य नास्ति लोके भयं द्विषः।
सुखहानिर्न तस्यास्ति यस्य चित्तं वशे स्थितम्।।

--बो.च.पं., ५/४,५,६, पृ. ५१, मि.सं.।

[1] चित्तस्स दमनं साधु चित्तं दन्तं सुखावहं। --धम्मपद, ३/३

[2] तुलनीयम्-

न शस्त्रं न विषं नाग्निर्न प्रपातो न वैरिणः।
कामानामुपमां यान्ति नरकादिव्यथास्मृतेः ।।

अमी शस्त्रादयो दुःखजनकत्वेन प्रसिद्धा न सादृश्यं भजन्ते प्रति कामानाम्। कस्मात्? नरकादिदुर्गतिदुःखस्य आगमात् प्रतिपन्नस्य स्मरणात् स्मरणेनामुखीकरणात्। शस्त्रादयो हि नियतकालं मरणमात्रदुःखदायकाः, कामास्तु दीर्घकालिकतीव्रनरकादिदुःखहेतव इति कीदृशी तैरुपमा भवेत्?

--बो.च.पं, ८/८४, पृ. १५४, मि.सं. १९६०।

पाशैस्तस्य हि बद्धो भवचारके लोकः स प्रहातव्यः ।।२३।।

इति। 'तु'- शब्दो यस्मादित्यर्थः। उपभोगकाले कामं सुखमनुभूयते, तथापि परिणामे ह्यनर्थजनक एव, तस्माद् विद्वद्भिर्नूनं विषयुक्तभोजनमिव स प्रहातव्य एव।[1]

---

[१] यतश्चैते कामा एवं स्मरणप्रार्थनाविषयमपि गता एवमनर्थकराः, तेनैव कामापवादकसूत्रेऽभिहितम्-- निवारय भिक्षो चित्तं कामेभ्यः। सभयश्चैष मार्गः सप्रतिभयः सकण्टकः सगहन; उन्मार्गः कुमार्गो वेदनापथः असत्पुरुषसंसेवितः। नैष मार्गः सत्पुरुषसंसेवितः। ....

कामस्य हेतोर्निरयं पतन्ति प्रेतास्तिरश्चोऽथ भवन्ति रागात्।
कुम्भाण्डयक्षा असुराः पिशाचा भवन्ति ये रागपरीत्तचित्ताः।।

काणाश्च खञ्जाश्च विजिह्वकाश्च विरूपकाश्चैव भवन्ति रागात्।
भवन्ति नानाविधदोषभाजश्चरन्ति ये कामचर्ीं जघन्याम् ।।

---शि.समु., पृ ४६, ४८, मि.सं. ;

कामा ह्यनर्थजनका इह लोके परत्र च।
इह बन्धवधोच्छेदैर्नरकादौ परत्र च।। बो.च., ८/४० ;

आर्यरत्नमेघेऽप्यनर्थवर्जनमुक्तम्-- तावत्पिण्डाय चरति यावदस्य कार्यस्य प्राप्तिर्भवति। अन्यत्र येषु स्थानेषु चण्डा वा कुक्कुरास्तरुणवत्सा वा गावः प्रकृतिदुःशीला वा तिर्यग्योनिगता विहेठनाभिप्राया वा स्त्रीपुरुषदारकदारिकाः, जुगुप्सितानि वा स्थानानि, तानि सर्वेण सर्वं वर्जयतीति।

--शि.समु.(उद्धृतः), पृ. ६६, मि.सं. ;

संकल्पप्रभवो रागो द्वेषो मोहश्च कथ्यते।
शुभाशुभविपर्यासान् सम्भवति प्रतीत्य हि।।

कामं जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि ततो मे न भविष्यसि ।।

--म.शा. २३/१, (उद्धृतं), पृ. १४९, बौ.भा.प्र. १९८३ ;

तत्रैव रज्यते कश्चित् कश्चित्तत्रैव दुष्यति।
कश्चिन्मुह्यति तत्रैव तस्मात् कामो निरर्थकः।।

रञ्जनीयवस्त्वायत्तोदयो हि रागः। तच्च रञ्जनीयं वस्तु स्वरूपासिद्धम्। तथाहि-- यदेव ह्येकस्य रञ्जनीयं तदेवापरस्य द्वेषणीयं मोहनीयं वोपलभ्यते। यदि च रञ्जनीयं वस्तु स्वरूपतः स्यात् सर्वदा सर्वस्य च तथैव स्यात्। न त्वेष नियमो दृष्टः। तथाहि-- रज्यति तत्रैवापरो दुष्यति तत्रैवापरो मुह्यति। तस्माद् विषयकामः स्वरूपासिद्धत्वाच्छून्यः। न चैवं रञ्जनीयवस्तुशून्यताभावनातत्परस्य योगिनो रागप्रहाणं न सम्भाव्यत् इति।

--चतु.श.वृ., ८/२, पृ. १२-१३, आलोक, प्र., नागपुर, १९७१।

आदौ प्रहर्षकरत्वात् परिणामे परितापकत्वाच्च कामाः जिनेन्द्रेण किम्पाक (इन्द्रायणी)-फलसदृशाः प्रोक्ताः, यस्य बही रूपमात्रमेव शोभनम्, न त्वभ्यन्तरे स्वादु। अपिच, कामाः संसारबन्धहेतुत्वात् सुतरां प्रहातव्या एवेति निर्दिश्य **पाशैस्तस्य हि बद्धो भवचारके लोकः** इति संसारकारागारे विषयलौहश्रृङ्खलाभिर्बद्धोऽयं सत्त्वलोक इत्यर्थः।

य इन्द्रियाणि निगृह्णाति, तस्य प्रशंसामुखेन क्षान्त्युत्पादनार्थमाह-

चलाध्रुवाणि षडक्षाणि जयन्ति समरे वा शत्रूनपि चैके ।
तयोश्च सुधियः प्रथमं वरमिन्द्रियविजेतारं च मन्यन्ते ।।२४।।

इति। विषयसंस्पर्शेन विकारित्वादस्थिराणि, विषयाधिरागेण च चलानि। केचित् षडिन्द्रियाणि पराजयन्ति, केचिच्च संग्रामे शत्रुगणं पराजयन्ति, तेषु विद्वांसो मनीषिणः प्रथमान् ये जितेन्द्रियास्तान् श्रेष्ठा इत्यभ्युपगच्छन्तीत्यर्थः।[1] पशवोऽपि शत्रून् विजयमाना दृश्यन्ते, किन्तु न हि ते इन्द्रियाणि जेतुं शक्नुवन्ति।

अशुचिरेव सम्यक् चिन्तनीयेति प्रतिपादनार्थमाह-

युवतिशरीरं हि पूति यन्नवाशुचिद्वारमशुचिभाण्डसमम् ।
चर्मावृतदुष्पूरं भूषितमपि भूषणैः पृथग् द्रष्टव्यम् ।।२५।।

इति। तत्र शरीरेतिशब्दस्य पूतीत्यादिप्रत्येकशब्देन सह योगः करणीयः। अत्र शरीरमिति कुरूपम्, अशुचि दुर्गन्धाश्रयम्, तृप्तिरहितम्, अन्तःसारहीनमिति पञ्चभिरभद्रैः समन्वितम्।[2] एवमिदं युवतिशरीरं सुनिपुणं निरीक्षणीयम्। अलङ्कृतमपि

---

[1] सिंहनादं नदि बुद्धः सिंहविक्रान्तविक्रमः ।
जितास्ते तीर्थिकाः सर्वे सिंहेन क्रोष्टुका यथा।। --समाधि.सू., १४/२०

[2] मारस्य गोचरो ह्येष प्रस्थिता येन दुर्गतिः।
आस्वादसंज्ञिनो गृद्धा मीढस्थाने यथा क्रिमिः।।

कीटकुम्भो यथा चित्रो यत्र यत्रैव दृश्यते।
पूर्णो मूत्रपुरीषेण दृतिर्वा वातपूरिता।।

अलङ्कारैः पृथक्कृत्य निभालयेत्। अनेन दर्शनविधिना कामाग्निं तावदुपशमयेत्। यदा अलङ्कारालङ्कृतशरीरम् अभिन्नं दृश्यते, तदा कामाग्निर्वर्धत एव। तेन त्वया मैवं द्रष्टव्यमित्यभिप्रायः।[१]

सिङ्घाणककफा लालाः श्लेष्मणि क्लिन्नमस्तकाः।
दौर्गन्ध्यं स्रवते कायाद् बालानां तद्यथा मधु।।

अस्थिपूर्णं मुखद्वारं मांसचर्मादिभिश्चित्तम्।
गण्डभूतो ह्ययं कायः कुत्सितो’ह्यामगन्धिकः।। --शि.समु., पृ. ४८, मि.सं.।

[१] न स्वीकरोषि हे मूढ काष्ठपुत्तलकं शुचिम्।
अमेध्यघटितं यन्त्रं कस्माद्रक्षसि पूतिकम्।।

हे मूढ, मोहविजृम्भितमेतद् भवतः। शुचिं पवित्रम्। अयं च अशुचिः। इदमेवाह-- अमेध्येति। पूतिकं शतनधर्मकम्। स्यादेतत्-- किमन्यस्मिन्नसन्नपि दोष उच्यते इत्यत्राह--

इमं चर्मपुटं तावत्स्वबुद्ध्यैव पृथक्कुरु।
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय।।

अस्थीन्यपि पृथक्कृत्वा पश्य मज्जानमन्ततः।
किमत्रसारमस्तीति स्वयमेव विचारय ।।

चर्ममयं पुटम्। स्वमतिविशेषेण पृथक् कुरु स्वकायादपसारय। अस्थिघटितपञ्जराद् यन्त्रात् प्रज्ञात्मकेन शस्त्रेण मांसकर्तनेन। तदनन्तरमस्थीन्यपि खण्डशः पृथग् भिन्नानि कृत्वा मज्जानं पश्य अवलोकय। यदि अन्तरं कायः चतुर्महाभूतिकः मातापित्रशुचिकललसंभूतः दुःखमयः कृतघ्नश्चेति विस्तरेण प्रतिपादयिष्यतीति किमत्र सारमस्ति विज्ञप्रशस्तं न्याय्यं वा, इत्यात्मनैव विचारय।
--बो.च.पं., ५/६१-६३, पृ. ६५, मि.सं. ;

तूलगर्भैर्मृदुस्पर्शै रमन्ते नोपधानकै :।
दुर्गन्धं न स्रवन्तीति कामिनोऽमेध्यमोहिताः।।

यत्र च्छन्नेऽप्ययं रागस्तदच्छन्नं किमप्रियम्।
न चेत्प्रयोजनं तेन कस्माच्छन्नं विमृद्यते।।

यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिङ्गसेऽपरम्।
मांसकर्दमसंलिप्तं स्नायुबद्धास्थिपञ्जरम्।।

मांसमेव कर्दम इव लेपनसाधर्म्यात्, तेन लिप्तमुपदिग्धम्। किमेवंभूतमिति चेत्, स्नायुबद्धास्थिपञ्जरम्, स्नाय्वाबद्धं सङ्गीकृतम्, आयत्तीकृतम् अस्थिपञ्जरम् अस्थिसंकलम्। अन्यथा खण्डशो विशकलितं स्यात्, इति विरागविषयतामस्य दर्शयति। अथ शुचौ राग इति द्वितीयो विकल्पः स्वीक्रियते, तत्राह-- स्वमेवेत्यादि। अथवा। अन्यथावतार्यते-- यदुक्तं परेण-- छन्ने चर्मादिना रागो भवति नाच्छन्ने। तत्राह--

अपि च, कामभोगतृप्त्यर्थं यदि कश्चिद् शरीरं सेवेत, तदा सहस्रकल्पपर्यन्तमपि कामसेवनेन तृप्तेरभावात् किं तावत् तत्सेवनेनेति प्रतिपादयितुमाह-

कृमिपीडितो हि कुष्ठी सुखलिप्सया च यथा वह्निमाश्रयते ।
पीडा न याति शान्तिं तथैव हि कामासक्तिरपि बोद्धव्या ।।२६।।

इति। यथा हि कुष्ठरोगी कृमिजनितां पीडां निराकर्तुम् अग्निं सेवते, तथापि सा नैवोपशान्ता भवति, तथैव बाला अपि कामपीडां निवारयितुं विषयान् सेवन्ते, तथापि तृप्तिं नानुभवन्ति, अपि तु भूयसा हानिरेव।[१] अयं तावत् कामरागपर्यवदानप्रयोग आख्यातः।

नैतावता सर्वस्य कामरागस्योपच्छेदः। सर्वमुन्मूलयितुकामेन मार्गोऽयं त्वया भावनीय इत्यावेदयितुमाह-

परमार्थं प्रतिवेत्तुं सर्वभावेषु सविधि मनसि निधायैव ।
स च खलु भावयितव्यो न हि तत्तुल्योऽपरो गुणयुतो धर्मः ।।२७।।

इति। **परमार्थस्**तावदविपरीतो धर्मस्वभावः।[२] **प्रतिवेत्तुमिति** तद्विषयकज्ञानोत्पादनायेत्यर्थः। **सर्वभावेषु सविधि मनसि निधायैव** इति रूपादिस्कन्धान् आलम्ब्य

यदीत्यादि। यदि तेन हेतुना चर्मादिना पिहितत्वादिति कृत्वा अशुचौ रागो भवति भवतः, तदा कस्मादालिङ्गसे परमन्यदीयं पञ्जरम्।

---बो.च.पं., ८/५०-५२, पृ. १४६-१४७, मि.सं. ;

एताः स्त्रियो हि छविमात्रकरूपरम्याः, स्नाय्वस्थियन्त्रमशुचीभि निरर्थकोऽहम्।
प्रस्राविणी रुधिरमूत्रशकृन्मलानां व्यक्तं श्मशानसदृशीषु कथं रमेयम् ।।

--राष्ट्र.परि.(म.सू.सं.), २५७का., पृ. १४७, मि.सं.।

[१] कच्छ्वाकण्डूयेन सौख्यं कच्छ्वाऽभावस्ततः सुखम्।
रागिलोके सुखं तद्वत् रागाभावस्ततः सुखम्।।

--रत्ना. (पुनरुद्धार), २/६९, ति.सं.।

[२] अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्।।

योनिशो मनस्करणम्। अर्थात् परमार्थज्ञानोत्पादानुरूपं मनसि करणीयमित्यर्थः। अत्र योनिशो 'मनसिकार'-शब्देन चित्त-चैतसिकसमूहः संगृह्यते। अर्थादत्रायं प्रधानत्वेन देशितः। मनसि निधायैव **स च खलु भावयितव्यः** इति अविपरीतत्वेन पुनः पुनः अभिमुखीकृत्य समुद्गृह्णीयादिति। किमनया भावनयेति चेत्? न हि **तत्तुल्योऽपरो गुणयुतः** इत्यादिकमुक्तम्। परमार्थज्ञानमुत्पाद्य यः क्लेशोपशमक्रमेण सत्त्वान् निर्वाणसुखं प्रापयति, स गुणयुतो धर्मः। ईदृशोऽपरो धर्मो लोके कश्चिन्नास्त्यतोऽयमेव सर्वधर्मेषु गुणवत्तमः। योनिशो मनसिकारोऽपि निर्वेधभागीयावस्थायामनित्य-दुःखशून्यानात्मस्वभावो वेदयितव्यः, आर्यमार्गोत्पादानुकूलत्वात्।

सम्प्रति अस्याः प्रज्ञायाः माहात्म्यख्यापनार्थमाह-

सुकुलीनोऽपि न पूज्यो ज्ञानशीलविमुखो श्रुतिरूपवान् पुमान् ।
गुणद्वयैतद्युक्तः पूज्यते सोऽन्यगुणैर्हीनोऽपि सततम् ।।२८।।

इति। महाशालविटपवत् राजकुलादिसमुत्पन्नाः रूप-वर्ण-संस्थान-लक्षणसम्पन्नाः सर्वशास्त्रविशारदाः श्रुतवन्तो वा ये तेऽपि समुदीरितप्रज्ञाशीलविरहिताश्चेद् लोके नैव सत्करणीया न समादरणीयाः, नैव च विश्वसनीयाः। कुलादिगुणानामभावेऽपि यदि प्रज्ञावन्तः शीलवन्तश्च तदा ते पूजनीया एव। अत एतयोर्गुणयोराधाने यत्न आस्थेयः। कुलादिभिर्नैव मानो विधातव्य इत्यभिप्रायः।

तत्र नास्मिन् परप्रत्ययोऽस्तीति अपरप्रत्ययम्। परोपदेशागम्यम्। स्वयमेवाधिगन्तव्यमित्यर्थः। यथा हि तैमिरिका वितथं केशमशकमक्षिकादिरूपं पश्यन्तो वितिमिरोपदेशेनापि न शक्नुवन्ति केशानां यथावदवस्थितं स्वरूपदर्शनन्यायेन अधिगन्तव्यमतैमिरिका इवाधिगन्तुम्, किं तर्हि? अतैमिरिकोपदेशान्मिथ्यैतदित्येतावन्मात्रकमेव प्रतिपद्यन्ते। यदा तु तिमिरोपघात्यविपरीतशून्यतादर्शनाञ्जनाञ्जितबुद्धिनयनाः सन्तः समुत्पन्नतत्त्वज्ञाना भवन्ति, तदा तत् तत्त्वमनधिगमनयोगेन स्वयमधिगच्छन्तीति। एवमपरप्रत्ययं भावानां यत् स्वरूपं तत् तत्त्वम्। एतच्च शान्तस्वभावमतैमिरिककेशादर्शनवत् स्वभावविरहितमित्यर्थः। अत एव तत् प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्। प्रपञ्चो हि वाक्, प्रपञ्चयति अर्थानिति कृत्वा। प्रपञ्चैरप्रपञ्चितं वाग्भिरव्याहृतमित्यर्थः।

--म.शा.वृ., १८/९, पृ. १५८-१५९, बौ.भा.प्र., १९८३।

अष्टसु लोकधर्मेषु लोकवित् समतया प्रवर्तयेच्चित्तम् ।
हानिलाभयशोऽयशोऽनुशंसानिन्दासुखदुःखेष्वशोच्येषु ।।२९।।

इति। अनेन आर्यमार्गोत्पादानुरूपता प्रदर्श्यते। लोकधर्मावस्थितौ आर्यमार्गानुत्पादात्। अतोऽवश्यमेव लोकधर्मेषु समताऽवाप्यते। इमे लोकधर्मास्तु लाभालाभादिकमवलम्ब्य सौमनस्यदौर्मनस्यादयः, न तु लाभालाभादयः, आर्येष्वपि तेषां विद्यमानत्वात्। अत एवालम्बनवशतया अष्टौ लौकिकधर्माः वेदितव्याः।[१] तत्रापयशोनिन्दे तावत् परोक्षापरोक्षविशेषेण ज्ञातव्ये। एतेष्वष्टलोकधर्मेषु समता न विखण्डनीयेति तेषु सौमनस्यदौर्मनस्ये नोत्पादनीये इत्यर्थः। ते सन्ति अशोच्याः, यतो हि एतानाश्रित्य चित्तविक्षोभकाः क्लेशाः समुत्पद्यन्त इति लाभालाभादीनि वस्तूनि नैव विषयीकर्तव्यानीत्यर्थः।

पुनश्च, अधर्मोऽपि तावल्लोके धर्मवत् प्रसिध्यतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह-

भवद्भिर्ब्राह्मणभिक्षुदेवातिथिमातापितृकुलमहिषीभ्यः ।
पापं नाचरणीयं यतः कतमोऽपि न नरकफलस्य भागी ।।३०।।

इति। नैव त्वया ब्राह्मण-भिक्षु-देवातिथिमात्रादीनां कृते पापमाचरणीयम् । तत्कस्य हेतोः? **कतमोऽपि न भागी नरकफलस्य**[२] इत्युक्तम्। एतेषां कृते विहितेन

---

[१] लाभ अथ अलाभे सौख्यदुःखे जिनस्य, अयशसि यश एवं निन्दशंसासु चैवम्।
जलरुहमिव तोयैः सर्वतो नोपलिप्तः एवमिह नृसिंहो नास्ति सत्त्वः समोऽस्य ।।
--रा.परि.सू.(म.सू.सं. भाग-१), पृ. १५१, मि.सं. ;

अपि च द्रष्टव्यम्-- धर्मसंग्रह(म.सू.सं. भाग-१), पृ. ३३२ ; महाव्युत्पत्ति, दे.तन. 'चो' पृ. ४५ ; समाधि.सू., पृ. ३७३ ; अभि.को., ४/४, पृ. ५८८, बौ.भा.प्र., १९८७।

[२] नेह मात्र न पिता न बान्धवा धारयन्ति यतमान दुर्गतिम्।
यत्कृतं हि मनुजैः शुभाशुभं तत्प्रयान्तमनुयाति पृष्ठतः ।।
--रा.परि.सू.(म.सू.सं भा-१), २३६का., पृ. १४३, मि.सं.।

पापेन केवलं भवत एव नरकदुःखेन योगः स्यात्।[1] मात्रादयस्ते नैव नरकदुःखभाजो भविष्यन्ति।

ब्रात्मणादीनां कृते आचरितस्य पापस्य विपाकमनिष्यमाणा यदि विचारयेयुर्यत् कथं तेषां विपाकोऽनन्तरमेव तत्क्षणं न भवतीति चेदाह-

न च कृन्तति पापकर्म तत्क्षणमस्त्रपातवत् कमपि पापिनम् ।
मृत्योर्हि समये किन्तु तत्कर्मणः फलमभिमुखीभवत्येव ।।३१।।

इति। यद्यपि यथोक्तेन पापकर्मणा न हि छिद्यते शस्त्रपातेनेव तत्क्षणमेव कश्चित्[2], अथापि समुपस्थितायां मरणावस्थायां तत्पापकर्मणः फलं

---

[१] अनेनैवं कृतं कर्म, कोऽन्यः प्रत्यनुभविष्यति? न हि भिक्षवः कृतोपचितानि कर्माणि पृथिवीधातौ विपच्यन्ते नाब्धातौ न तेजोधातौ न वायुधातौ। उपात्तेष्वेव स्कन्धधात्वायतनेषु इति विस्तरः।
--बो.च.प., पृ. २२०, मि.सं. ; त.सं.पं., भाग-१, पृ. २०८, बौ.भा.प्र. १९८१ ;

न प्रणश्यन्ति कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि।
सामग्रीं प्राप्यकालं न फलन्ति खलु देहिनाम्।। --अवदानशतकम्, १३/२ ;

जन्मभूमौ जनेनाप्तं यद्यत्कर्म शुभाशुभम्।
तस्य तस्य स तद्रूपं भुङ्क्ते परिणतं फलम्।। --मुक्तालता, ८५ का., ति.सं., १९८९।

[२] यदि पापकर्मणो विपाकफलमनिष्टमेव तर्हि कथं तेषां विपाकोऽनन्तरमेव तत्क्षणं न भवतीत्यत्र त्रिविधं कर्म वेदितव्यम्। तद्यथा--
.... नियतं त्रिविधं पुनः।
दृष्टधर्मादिवेद्यत्वात् ....।।
दृष्टधर्मवेदनीयम्, उपपद्यवेदनीयम्, अपरपर्यायवेदनीयं च इत्येतत् त्रिविधं कर्म नियतमिति। .... तत्र दृष्टधर्मवेदनीयम्-- यत्र जन्मनि कृतं तत्रैव विपच्यते। उपपद्यवेदनीयम्-- द्वितीये जन्मनि। अपरपर्यायवेदनीयम्-- तस्मात् परेण।
--अभि.को.भा., ४/५०, पृ. ६५७, बौ.भा.प्र. १९८७ ;

कर्मप्रभेदः पुनस्त्रिविधः। दृष्टधर्मवेदनीयं कर्म उपपद्यवेदनीयं कर्म अपरपर्यायवेदनीयं कर्म च। दृष्टधर्मवेदनीयं कर्म कतमत्। तत्कर्म दृष्टे धर्मे यस्य विपाको विपच्यते। तच्च मैत्रीसमापत्तेरुच्चलितस्य परिहाणिं वृद्धिं वा कुर्वतः दृष्टे धर्मे विपाको लभ्यते। यथा मैत्रीसमापत्तेरुच्चलितस्य तथा अरणसमापत्तेरुच्चलितस्य निरोधसमापत्तेरुच्चलितस्य स्रोतापत्तिफलादुच्चलितस्य अर्हत्त्वफलादुच्चलितस्य च। बुद्धप्रमुखे संघे कुशलमकुशलं च कुर्वतः दृष्टे धर्मे विपाको लभ्यते। अन्येषां तीव्राशयप्रयोगेण कुशलाकुशलकर्मप्रतिपन्नानामपि दृष्टे धर्मे विपाको लभ्यते।। उपपद्यवेदनीयं

साक्षादुपतिष्ठत्येवेत्युक्तम्।[1] तस्मिन् खलु समये कृतानि कुशलाकुशलकर्माणि अभिमुखानि भवन्त्येव अपराह्णे पर्वतच्छायेव। तं मृत्युं दृष्ट्वा केचन स्मितमुखवर्णेन सह मृत्युं प्राप्नुवन्ति, अन्ये तु विवर्णमुखाः तमभिमुखीभवन्ति। तानि कर्माण्यालम्ब्य

कर्म कतमत्। तत्कर्म अनन्तरे जन्मनि यस्य विपाको विपच्यते। तद्यथा पञ्चानन्तर्यकर्माणि। अपि च यान्यन्यानि कुशलाकुशलानि कर्माणि येषामनन्तरे जन्मनि विपाको विपच्यते तत्सर्वमुच्यते उपपद्यवेदनीयं कर्म।। अपरपर्यायवेदनीयं कर्म कतमत्। तत्कर्म यस्यानन्तरजन्मनोऽपरपर्यायेषु विपाको विपच्यते। तदुच्यतेऽपरपर्यायवेदनीयं कर्म।।

--अभि.समु., पृ. ५८, वि.भा.प्र., १९५०।

[1] तुलनीयम्--

पापो पि पस्सति भद्रं याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं अथ पापो पापानि पस्सति।। --धम्मपद, ९/४ का. ;

इदं न प्राप्तमारब्धमिदमर्द्धकृतं स्थितम्।
अकस्मान्मृत्युरायातो हा हतोऽस्मीति चिन्तयन्।।

शोकवेगसमुच्छूनसाश्रुरक्तेक्षणाननान्।
बन्धून्निराशान् संपश्यन् यमदूतमुखानि च।।

स्वपापस्मृतिसंतप्तः श्रृण्वन्नादांश्च नारकान्।
त्रासोच्चारविलिप्ताङ्गो विह्वलः किं करिष्यसि।।

इदं यदनागते कर्तव्यतया मनसिकृतं तन्न प्राप्तम्। इदमारब्धं यत्कार्यमादित एव कर्तुमिष्टम्। इदमर्धकृतं स्थितम्, यत् कियन्निष्पन्नं कियदनिष्पन्नम्। इति कार्यपर्यन्तमगतस्यैव अकस्मान्मृत्युरागतो मम। अहो बत अतिकष्टम्, हतोऽस्मीति विचिन्तयन् विह्वलः किं करिष्यसीत्यनागतेन संबन्धः। शोकः प्रियविप्रयोगकृतश्चित्तपरितापः। तस्य वेगोऽनिवार्यप्रवृत्तिः। तेन संमुच्छूनानि समुन्नतानि साश्रूणि सवाष्पाणि रक्तानि ताम्रवर्णानि लोचनानि येषु आननेषु तानि तथा। तथाभूतानि आननानि मुखानि येषां बन्धूनां ते तथा। तान् संपश्यन् विलोकयन्। तत्राकर्मकाधिकारात् परस्मैपदं दृशः। किं भूतान्? निराशान्। क्व? प्रत्युज्जीवनं प्रति त्यक्ताशान्, तत्सानाथ्यविकलान् वा। मरणसमयोपस्थितकृतान्तानुचरमुखानि च सरोषपरुषभृकुटीनि संपश्यन् विह्वलः किं करिष्यसि? स्वयंकृतपापकर्मस्मरणेन मरणसमये किमित्येवं मया कृतमिति पश्चात्तापेन तापितः। नैतावन्मात्रमेव, किं तु श्रृण्वन्नादांश्च नारकान् तीव्रकारणानुभवनदुःखनिर्मुक्तान् विक्रोशितशब्दान् नरकसमुद्भूतान् अर्थान्तरकोपाणामेव। तच्छुत्वा ममाप्येवमेवावस्था इति संत्रासेन यः पुरीषोत्सर्गो विट्प्रवृत्तिः, तेनोपलिप्तगात्रः। विह्वलः अनायत्तकायवाक्चित्तप्रचारः। किं करिष्यसि सर्वक्रियासु निवृत्तव्यापारः।

---बो.च.पं., ७/८,९,१०, पृ. ११७-११८, मि.सं.।

च्युतिचित्तानन्तरं प्रतिसन्धिचित्तमुत्पद्यते। तदा कर्म विपच्यते इत्यर्थः। विपाक एव फलम्।

एवं लौकिकधर्मान् विहाय सम्प्रति आर्यधर्मानधिकृत्याह-

सप्तधनान्युक्तानि[1] श्रद्धाशीलत्यागामलश्रुतधियः ।
अपत्रपा ह्री मुनिना मुधैवापरधनानि हि साधारणानि ।।३२।।

इति। कर्म-फल-सत्य-रत्नेषु श्रद्धधानं हि **श्रद्धा**[2]। अकुशलप्रहाणार्थं सम्यक् कुशलोपादानं **शीलम्**, तदपि अष्टविधसंवरसमादानं वेदितव्यम्, तद्यथा- भिक्षुसंवरः, भिक्षुणीसंवरः, श्रामणेरसंवरः, श्रामणेरीसंवरः, शिक्षमाणासंवरः, उपासकसंवरः, उपासिकासंवरः, उपवसथसंवरश्च। पूजानुग्रहकामनया यत् किञ्चिद् दीयते स **त्यागः**। कुशलाशयेन मोक्षानुकूलधर्मश्रवणं धारणं चेति **श्रुतम्**। अमलोक्त्या श्रवणपरिशुद्धिः परिदीपिता। आत्मानमधिकृत्य अवद्येन लज्जा **ह्रीः**[3]। परानधिकृत्य अवद्येन भयदर्शिता

---

[1] सर्वामिषं परित्यज्य आर्यवित्तेन भूषयेत्।
श्रद्धाशीलधनञ्चापि त्वत्रपाह्रीधनं तथा।।

श्रुतत्यागधनं चापि प्रज्ञा सप्तधनानि हि।
धनान्येवंविधानीति सप्ताक्षयनिधिरिरयम् ।।

--बो.मण्या.(पुनरुद्धार), ७-८ का., ति.सं.।

[2] श्रद्धा चेतसः प्रसादः। सत्यरत्नकर्मफलाभिसम्प्रत्यय इत्यपरे।

--अभि.को.भा. पृ. १८८, बौ.भा.प्र. ;

श्रद्धा कतमा। अस्तित्वगुणवत्त्वशक्तत्वेष्वभिसंप्रत्ययः प्रसादोऽभिलाषः। च्छन्दसन्निश्रयदानकर्मिका।

--अभि.समु., पृ. ६ ;

तत्र श्रद्धा कर्म-फल-सत्य-रत्नेष्वभिसम्प्रत्ययः प्रसादश्चेतसोऽभिलाषः। श्रद्धा हि त्रिधा प्रवर्तते-- सति वस्तुनि गुणवत्यगुणवति वा सम्प्रत्ययाकारा, सति गुणवति च प्रसादाकारा, सति गुणवति च प्राप्तुमुत्पादयितुं वा शक्येऽभिलाषाकारा। चेतसः प्रसाद इति-- श्रद्धा हि चित्तकालुष्यवैरोधिकीत्यतस्तत्सम्प्रयोगे क्लेशोपक्लेशमलकालुष्यविगमात् चित्तं प्रसीदतीति चेतसः प्रसाद उच्यते। सा पुनश्छन्दसंनिश्रयदानकर्मिका। --वि.मा.सि., पृ. १९०, सं.सं.वि.वि., १९७२।

[3] गुरुत्व ह्रीः ...।
गौरवं हि नाम सप्रतीशता। तत्पूर्विका च लज्जा ह्रीः। अतो न गौरवमेव ह्रीरित्यपरे।

--अभि.को.भा., २/३२, पृ. २०३ ;

अपत्राप्यम्[1] । धर्माणां विभागेन स्व-सामान्यलक्षणविभावनं धीः **प्रज्ञा**[2] वा। इमानि सप्त आर्यधनानि उक्तानि मुनिना बुद्धेन, अनास्रवसुखहेतुत्वादसाधारणत्वाच्च। लोकप्रसिद्धानि स्वर्णरजताख्यान्यन्यधनानि तु निरर्थकानि सारहीनानि तुच्छानि च क्लेशोपशमस्य अहेतुत्वात् साधारणत्वाच्च।

एवमार्यधनानां संग्रहमुक्त्वा तेषामविप्रणाशोपायप्रदर्शनार्थमाह-

द्यूतक्रीडा कौतुकदर्शनालस्यकुमित्रसङ्गमदिराश्च ।
निशाविहरणं षडिमे त्याज्या दुर्गतिदा यशोविनाशकाश्च ।।३३।।

इति। द्यूतक्रीडा हि पणैः पाशैश्च द्यूतक्रीडनाद्यनेकरूपा। **कौतुकदर्शनं** तावद् उत्सवादिषु जनसंमर्दजिगमिषा। **आलस्यं** हि कुशलकर्मण्यनुत्साहः। यस्य

ह्रीः कतमा। स्वयमवद्येन लज्जना। दुश्चरितसंयमसन्निश्रयदानकर्मिका।
--अभि.समु., पृ. ६ ;

ह्रीरात्मानं धर्मं वाधिपतिं कृत्वावद्येन लज्जा। सद्भिर्गर्हिततत्वाद् अनिष्टविपाकत्वाच्च पापमेवावद्यम्। तेनावद्येन कृतेनाकृतेन वा या चित्तस्यावलीनता लज्जा सा ह्रीः। इयं च दुश्चरितसंयमसंनिश्रयदानकर्मिका।
--वि.मा.सि., पृ. १९१।

[1] अवद्येष्वभयदर्शिता अपत्राप्यम्। --अभि.को.भा., पृ. २०२ ;

अपत्राप्यं कतमत्। परतोऽवद्येन लज्जना। तत्कर्मकमेव। --अभि.समु., पृ. ६ ;

अपत्राप्यं लोकमधिपतिं कृत्वावद्येन लज्जा। 'लोके ह्येतद् गर्हितम्, मां चैवंकर्माणं विदित्वा गर्हिष्यति'--इत्यश्लोकादिभयाद् येन लज्जते। इदमपि दुश्चरितसंयमसंनिश्रयदानकर्मकम्।
--वि.मा.सि., पृ. १९२।

[2] प्रज्ञा कतमा। उपपरीक्ष्य एव वस्तुनि धर्माणां प्रविचयः। संशयव्यावर्त्तनकर्मिका।
--अभि.समु., पृ. ६ ;

धीः प्रज्ञा। साऽप्युपरीक्ष्य एव वस्तुनि प्रविचयो योगायोगविहितोऽन्यथा वेति। प्रविचिनोतीति प्रविचयः, यः सम्यक् मिथ्या वा सङ्कीर्णस्वसामान्यलक्षणेष्विव धर्मेषु विवेकावबोधः। युक्तिर्योगः, स पुनराप्तोपदेशोऽनुमानं प्रत्यक्षं च। तेन त्रिप्रकारेण योगेन यो जनितः, स योगविहितः। स पुनः श्रुतमयश्चिन्तामयो भावनामयश्च। तत्राप्तवचनप्रामाण्याद् योऽवबोधः स श्रुतमयः, युक्तिनिध्यानजश्चिन्तामयः, समाधिजो भावनामयः।
--वि.मा.सि., पृ. १८८, सं.सं.वि.वि.प्र., १९७२।

पुरुषस्याश्रयेण न हि कुशलेऽपितु अकुशले प्रवृत्तिः स **कुमित्रम्** (पापमित्रम्)। अन्नास्रवं द्रव्यास्रवं चेति मद्यं द्विविधम्। अस्तंगते सूर्ये गृहान्तरं ग्रामान्तरं वा गमनं **निशाविहरणम्**। षडेते धर्मा एव दुर्गतयः। एतेषामाश्रयेण सम्पत्तेर्जीवनस्य कुशलधर्माणां च परिहाणिर्जायते। दुर्गतिहेतुरपि दुर्गतिरित्युच्यते, यथा- औषधिर्वै जीवनमिति। तथा सूत्रे चोक्तम्- **"गृहपतिपुत्र, एते षड् दुर्गतिद्वाराः"**। इति। तत्र हेत्वर्थः सुस्पष्टमेव ज्ञायते। **यशोविनाशकः** इत्यनेन अन्ये दोषाः परिदीप्यन्ते। यस्मादेवं तस्मात् तदधीनचर्यां परिजिहीर्षता ते परिहर्त्तव्याः।

पुनश्च, बाह्यधनानां प्रतिपक्षत्वेन अपरान् संक्लेशशमोपायान् दर्शयितुमाह-

सनरामरशासकेन सन्तोषः सर्वधनप्रधानमुक्तम् ।
सन्तोषोऽनुष्ठेयः धनं विनैव स धनिकः सति सन्तोषे ।।३४।।

इति । सुवर्णादिसर्वबाह्यधनेभ्यः सन्तोषधनं परमोत्कृष्टं विशिष्टत्वात् । केनोच्यत इति? देवमनुष्याणां शासकेन बुद्धेन भगवतेति। यस्माद् भगवतैवोक्तं तस्माद् भगवद्वचनानुयायिना त्वया सन्तोष आचरणीय इत्यभिप्रायः। के तावत्तत्र सन्तोषे गुणा इति चेद्? **सति सन्तोषे धनं विनैव स धनिकः** इत्युक्तम्। सतीति यस्मादित्यर्थः। धनं विनैवेति सुवर्णादिधनाभावेऽपीति। सन्तोषेणैव हि वस्तुतो धनिकः, धनफलत्वात् सन्तोषस्य। धनाभावेऽपि यदि सन्तोषस्तदा दारिद्र्येऽपि धनवान् एव स वेदितव्यः। कस्तावत् सन्तोषः? अतीतं प्रतीत्य नैव दुःखम्, अनागते नाभिकाङ्क्षा, प्रत्युत्पन्ने नैव अध्यासक्तिः, एवंविधो धर्मः सन्तोष इत्युच्यते।[१]

---

[१] दशाशुभान् परित्यज्य श्रद्धां च दृढयेत् सदा।
अल्पैषी चाथ सन्तृप्तः कृतवेदी कृतेष च ।।
--बो.मण्या.(पुनरुद्धार), ५ का. ति.सं., १९९९ ;

आरोग्य परमा लाभा सन्तुट्ठिपरमं धनं।
विस्सासपरमा ञाति निर्वाणं परमं सुखम्।। --धम्मपद, १५/८

इत्येवं सन्तोषगुणानभिधाय असन्तुष्टिदोषदर्शनार्थमाह-

यथा समृद्धाः पुरुषा दुःखिनो भवन्ति नैव तथाऽल्पेच्छुकाः ।
यावत्यः सन्ति फणा आर्य, दुःखकराः नागस्य तावत्यः ।।३५।।

इति। **आर्य** इति सम्बोधनम्। भाण्डोपभोगोपकरणानि बहूनि यथा रक्ष्यन्ते, गोप्यन्ते च, तेषां पुनर्विनाशे दुःखमनुभूयते, न तथा येषां सविधे अल्पकानि भोगोपकरणानि ते दुःखमनुभवन्ति।[१] तत् कथं ज्ञायते? **यावत्यः सन्ति फणा नागस्य** इत्याद्युक्तम्। यथा नागराजस्य सप्त शिरांसि, तेभ्यः समुद्भूतानि दुःखान्यपि तावन्ति विद्यन्त एव। यस्मिन् पुनस्त्रीणि तस्य ततोऽल्पकानि भवन्ति। यस्य तु एकमेव तस्मिन् अल्पतरमेव, तथैव उपकरणादिविशेषेण दुःखविशेषो ज्ञातव्यः।

गृहस्थानां स्त्रीपरिग्रहणं नैव विरुद्धम्, अतस्तासां गुणदोषपरीक्षया असंक्लिष्टोपायं प्रदर्शयितुमाह--

पत्नी त्याज्या त्रिविधा प्रकृत्या रिपुसम्बद्धा स्वघातिकेव ।
पत्युरपमानकर्त्री स्वैरा लघुवस्तुचौर्यरता स्तेयीव ।।३६।।

इति। **प्रकृत्या रिपुसम्बद्धे**ति स्वभावेन रिपुणा सह प्रतिबद्धा युक्तेत्यर्थः। तादृशी भार्या वधिकसदृशा, अतः सा परित्याज्यैव। यः खलु तस्याः पतिं हन्तुकामः,

---

[१] अर्जनरक्षणनाशविषादैरर्थमनर्थमनन्तमवेहि।
व्यग्रतया धनसक्तमतीनां नावसरो भवदुःखविमुक्तेः।।
अर्जनमनुत्पन्नस्योत्पादनं दुःखम्। उपार्जितस्यापि जलानलादिभ्यः पञ्चप्रत्यवायेभ्यः परिपालनं कष्टतरम्। तथा रक्षितस्यापि कथंचित् तस्करादिभिर्नाशाद् विषादो दौर्मनस्यं परितापहेतुरनर्थः। तदेवमनर्थपरंपरानिदानत्वात् कारणे कार्योपचारादर्थ एवानर्थ उक्तः। इत्येवमर्जनादिभिः सर्वदा व्याकुलत्वात् धनासक्तचेतसां क्षणमपि समाधानानवकाशत्वात् नावसरः संसाराश्रितजात्यादिदुःखनिर्मोक्षाय सदा तद्गतमनसिकारैरेव आयुःराणां क्षपणात्।
--बो.च.पं., ८/७९, पृ. १५३, मि.सं.।

स प्रकृत्या रिपुः। या स्वपतिम् अवमानयति सा स्वैरिणीव भार्या नूनं परिहर्तव्यैव। या काचित् स्त्री प्रायः क्षुद्र- क्षुद्रकाणि वस्तूनि चोरयति सा स्तेनसदृशा परिहर्तव्यैव ।[1]

कीदृशी पुनः स्त्री परिगृहीतव्येति चेद्? आह--

भगिनीसमानुकूला मित्रवद्हृदयङ्गमा च सेवनीया।
मातेवोपकारिणी पूज्या सेविकेवाज्ञाकृद् देवीव ।।३७।।

इति। यथा भगिनी भ्रातुः अनुकूलमाचरति, तद्वचनं नातिक्रमति तथैव या स्त्री पतिमनुसरति सा नूनं सत्करणीयेति योजनीयम्। यथा प्रेयस्यै स्वकीयः प्रियः हृदयङ्गमो भवति, तं विशेषेण सत्कृत्य हृदयतोषमनुभवति, तथा या पत्नी पत्युः हृदयाभिरामा साऽपि निश्चयेन सत्करणीयैव। यथा तावन्माता पुत्रस्य कायं चित्तं च निर्व्यथं कामयते तस्य हितं सुखं चाभिलषते, तथैव या पत्नी पत्युः हितकामा साऽपि सत्करणीयैव। यथा दासी स्वमिनो वशे तिष्ठति, तदिच्छानुरूपं च कार्यं करोति, तथैव या पत्नी दासीव स्वपत्युः वशे तिष्ठति, साऽपि ध्रुवं सत्करणीयैव। एताश्चतस्रः स्त्रियः कुलदेवीत्युच्यन्ते, वंशानुपच्छेदहेतुत्वात्।

एतदनन्तरम् एकाग्रतासम्प्रयुक्तो ध्यानयोगः प्रदर्श्यते। धर्मद्वयं तावद् ध्यानानुरूपम्, यथा- भोजने परिमाणज्ञता जागरणे चोत्साहप्रियता। तत्र भोजनपरिमाणमधिकृत्याह--

विहाय रागद्वेषौ भोजनमौषधिवदवगत्य सेवेत ।
कायस्थित्यै नितरां न च सौन्दर्यगर्वमानार्थं सेव्यम् ।।३८।।

---

[1] तुलनीयम्--
बोधिसत्त्वेन स्वभार्याया अन्तिके तिस्रः संज्ञा उत्पादयितव्याः। कतमास्तिस्रः? रतिक्रीडासहायिकैषा नैषा परलोकसहायिका। अन्नपानसहायिकैषा नैषा कर्मविपाकानुभवसहायिका। सुखसहायिकैषा नैषा दुःखसहायिका। यावदपरास्तिस्रः-- शीलान्तरायसंज्ञा ध्यानान्तरायसंज्ञा प्रज्ञान्तरायसंज्ञा। अपरास्तिस्रः-- चोरसंज्ञा वधकसंज्ञा नरकपालसंज्ञा इति।

--शि.समु., पृ. ४७, मि.सं.।

इति। कायस्तावद् व्रणमिव, तत्र यथौषधं नात्यल्पं नात्यधिकं हितकरं भवति, तथैव भोजनमपि नात्यल्पं नात्यधिकं मात्रया सेवनीयम्।[1] एवं सति कायस्यापि पोषणं भवति, न च कायः सन्तप्यते। अयमेवार्थः **औषधिवदवगत्य** इत्यादिना कथितः। **विहाय रागद्वेषौ सेवेत** इत्यनेन मात्रया यद् भुक्तं तदपि रागद्वेषनैरपेक्ष्येण भोक्तव्यम्। तत् कथं सेवनीयम्? **न च सौन्दर्यगर्वमानार्थम्** इत्याद्युक्तम्। दर्पशीलः कश्चित् मानं गर्वं सौन्दर्यं चाधिकृत्य भोजनं करोति तद् रागप्रभावितमिति। यस्तावद् मानार्थं भुङ्क्ते तद् परापकारफलत्वाद् द्वेषप्रभावितमिति। तत्र दर्पस्तावद् रागहेतुः कायचित्तविकार

---

[1] विनिपातगतानाथव्रतस्थान् संविभज्य च।
भुञ्जीत मध्यमां मात्रां त्रिचीवरबहिस्त्यजेत्।।

भैषज्यवसनादिभिरात्मभावो हि परिपालनीयः परार्थोपयोगित्वात्। यथोक्तं प्राक्-- तत्र द्विविधं भैषज्यं सततभैषज्यं ग्लानप्रत्ययभैषज्यं च। तत्र सततभैषज्यमोदनादि। तदर्थं पिण्डाय गोचरे चरता ग्रामप्रवेशे यथोक्तशिक्षायां स्मृतिमाधाय चरितव्यम्। ततो लब्धात् पिण्डपातात् चतुर्थभागविभक्तात् विनिपातगताननाथव्रतस्थान् संविभागिनः कुर्यात्। एकं प्रत्यङ्गं विनिपातिनाम्। द्वितीयमनाथानाम्। तृतीयं सब्रह्मचारिणां दत्वा चतुर्थमात्मना परिभुञ्जीत। स परिभुञ्जानो न रक्तः परिभुङ्क्ते असक्तः, अगृद्धः, अनध्यवसितः, अन्यत्र यावदेवास्य कायस्य स्थितये यापनायै। मध्यमां मात्राम्। तथा च परिभुङ्क्ते यथा नातिसंलिखितो भवति, नातिगुरुकायः। तत्कस्य हेतोः? अतिसंलिखितो हि कुशलपक्षपराङ्मुखो भवति, अतिगुरुकायो मिद्धावष्टब्धो भवति। तेन तं पिण्डपातं परिभुज्य कुशलपक्षाभिमुखेन भवितव्यम्। इति आर्यरत्नमेघेऽभिहितम्।

--बो.च.पं., ५/८५, पृ. ७०, मि.सं. ;

यथोक्तं चन्द्रप्रदीपसूत्रे--
ते भोजनं स्वादुरसं प्रणीतं लब्ध्वा च भुञ्जन्ति अयुक्तयोगाः ।
तेषां स आहारु वधाय भोति यथ हस्तिपोतान बिसा अधौतकाः।। समाधि.सू., ९/२९ ;

तुलनीयम्-- तथा बोधिसत्त्वप्रातिमोक्षेऽप्यप्रसादपरिहार उक्तः-- न पुरतो दन्तकाष्ठं खादितव्यं न पुरतः खेलो निक्षिप्तव्य इति। एष च गौरवलज्जाविधिः सर्वद्रष्टव्यो न ब्रह्मचारिष्वेव। अत्र तु सूत्रे ब्रह्मचार्यधिकारः तेषु गुरुतरापत्तिभयसंदर्शनार्थम्। यथा अत्रैवाह-- नोच्चैर्भाषिणा भवितव्यमिति। न चायं विधिः प्रादेशिकः। तथा ब्रह्मपरिपृच्छायामप्युक्तम्-- न च वधकसदृशेन बोधिसत्त्वेन भवितव्यमिति। तथा प्रातिमोक्षादपि लोकाप्रसादकरमन्वेष्य वर्जनीयम्। तत्र तावत्--
मुखपूरं न भुञ्जीत सशब्दं प्रसृताननः ।
प्रलम्बपादं नासीत न बाहुं मर्दयेत्समम्।। --शि.समु., पृ. ७०, मि.सं.।

एव। गर्वस्तु अङ्ग-प्रत्यङ्गविकासः, सौन्दर्यं हि रसजातीयं बलम्। एतेषामभावत्वेन कायस्थितिमात्रार्थम् अर्थात् जीवितेन्द्रियपरिहरणार्थं भोजनं कुर्यादित्यर्थः।

जागरणे चोत्साहप्रियतामधिकृत्य धीमन्नित्याद्याह--

दिनमखिलं शुभकार्ये यापयेद् रात्रेराद्यन्तौ यामौ च ।
धीमन्, मध्ये यामे शयीत यतो हि न भवेद् विफला निद्रा ।।३९।।

इति। तत्र **धीमन्** इति कुशले कर्मणि चोत्साहवानित्युच्यते। कुशलसम्प्रयुक्तेन चेतसा समस्तं दिनम् अतिक्रमणीयं व्यत्येतव्यमित्यर्थः। यथोक्तं भगवता-- **"दिवसे चङ्क्रमण-निषण्णाभ्यां आवरणधर्मेभ्यश्चित्तस्य शोधनं करोति, परिशोध्य"** इति। **रात्रेराद्यन्तौ यामौ** इत्यनेन धीमन्, त्वया न केवलं दिवस एव व्यत्येतव्यः, तदा किमिति चेत्? धीमन्, त्वया रात्रेरपि प्रथमान्तौ यामावपि (शुभकार्ये) यापनीयौ। यथोक्तं भगवता-- **"रात्रेः प्रथमे प्रहरे चङ्क्रमण-निषण्णाभ्यां चित्तपरिशोधनं करोति, परिशोध्य मध्यमे प्रहरे विहाराद् बहिः पादौ प्रक्षाल्य विहारे च प्रविश्य कायस्य दक्षिणपार्श्वेन पादस्योपरि पादं संस्थाप्य स्मृतिमभिमुखीं कृत्वा सम्प्रजानन् सिंहशयनवद् शयीत। पश्चिमे प्रहरे लघुसमुत्थाय चङ्क्रमण-निषण्णाभ्याम् आवरणधर्मेभ्यश्चित्तपरिशोधनं करोति"** इति।[१] **मध्ये यामे शयीत** इति प्रथमान्तयोरन्तराले मध्यमे प्रहरे निद्रां कुर्यात्, तत्रापि स्वच्छन्दतया (निर्विशङ्केन) न शयितव्यम्, अपितु शीघ्रमुत्थाय कुशलं कर्म करिष्य इति स्मृतिमान्

---

[१] तुलनीयम्--
नाथनिर्वाणशय्यावच्छयीतेप्सितया दिशा।
संप्रजानंल्लघूत्थानः प्रागवश्यं नियोगतः ।।
भगवतो महानिर्वाणशय्यामिव शय्यां परिकल्पयेत्। अभिमतया दिशा शिरो विधाय, दक्षिणेन पार्श्वेन, पादस्योपरि पादमाधाय, दक्षिणं बाहुमुपधानं कृत्वा, वामं च प्रसार्य जङ्घोपरि निवेश्य, चीवरैः सुसंवृतकायः, स्मृतः, संप्रजानानः, उत्थानसंज्ञी, आलोकसंज्ञी, शयितः, नाचित्तकमिद्धावष्टब्धः। न च निद्रासुखमास्वादयेत्, न च पार्श्वसुखम् अन्यत्र यावदेवैषां महाभूतानां स्थितये यापनायै इति। लघूत्थानः शीघ्रमेवोत्तिष्ठेत्। न तु जृम्भिकां गात्रमोटनं कुर्वन्नालस्योपहितश्चिरेण।
--बो.च.पं., ५/९६, पृ. ७४-७५, मि.सं.।

सन् (निद्रां सेवेत)। तादृशीं स्मृतिमुपस्थाय शयीतेत्यर्थः। कस्मादिति चेत्? **यतो हि निद्रा न भवेद् विफला** इत्युक्तम्।

एवं कायं कुशले कर्मणि प्रयोज्य पुनः जागरित्वा कुशलं करिष्य इत्येवंविधेन शयनेन कुशलचित्तपूर्वङ्गमेन निद्रावस्थायामपि निरन्तरं कुशलमेवोत्पद्यते, अतः सा शयनावस्थाऽपि निष्फला न स्यादित्युक्तम्।

एवं कायं चित्तं च कर्मण्यं कृत्वा ध्यानयोगोऽनुष्ठेय इत्यादर्शयितुमाह--

मैत्रीकरुणोपेक्षामुदिताश्च[1] सदा सम्यग् भावयितव्याः ।

---

[1] तत्र व्यापादबहुलानां तत्प्रहाणाय मैत्री प्रतिपक्षः। विहिंसाबहुलानां तत्प्रहाणाय करुणा। अरतिबहुलानां तत्प्रहाणाय मुदिता। कामरागव्यापादबहुलानां तत्प्रहाणायोपेक्षेति। ...... 'सुखिता वत सन्तु सत्त्वाः' इति मनसिकुर्वन् मैत्री समापद्यते। 'दुःखिता वत सत्त्वाः' इति मनसिकुर्वन् करुणाम्। 'मोदन्तां वत सत्त्वाः' इति मनसिकुर्वन् मुदिताम्। 'सत्त्वाः' इत्येव तु मनसिकुर्वन्नुपेक्षां सम्पद्यते।

--अ.वि.सू.नि., पृ. १९६, के.पी.जा.सं., १९७१ ;

एतासु हि मेत्ताकरुणामुदिताउपेक्खासु अत्थतो ताव, मेज्जती ति मेत्ता। सिनिय्हती ति अत्थो। मित्ते वा भवा, मित्तस्स वा एसा पवत्ती ति पि मेत्ता। परदुक्खे सति साधूनं हदयकम्पनं करोती ति करुणा। किणाति वा परदुक्खं, हिंसति विनासेती ति करुणा। दुक्खितेसु फरणवसेन पसारियती ति करुणा। मोदन्ति ताय तंसमङ्गिनो, सयं वा मोदति, मोदनमत्तमेव वा तं ति मुदिता। 'अवेरा होन्तू' ति आदिव्यापारपहानेन मज्झत्तभावूपगमनेन च उपेक्खती ति उपेक्खा।

--वि.मग्ग, ९/९२ ;

अप्रमाणानि कतमानि। चत्वारि अप्रमाणानि। मैत्री कतमा। ध्यानं निश्रित्य सत्त्वाः सुखेन संप्रयुज्येरन्निति विहारसमृद्धौ समाधिः प्रज्ञा तत्संप्रयुक्ताश्च चित्तचैतसिका धर्माः। करुणा कतमा। ध्यानं निश्रित्य सत्त्वा दुःखेन वियुज्येरन्निति विहारसमृद्धौ समाधिः प्रज्ञा शेषं पूर्ववत्। मुदिता कतमा। ध्यानं निश्रित्य सत्त्वाः सुखेन न वियुज्येरन्निति विहारसमृद्धौ समाधिः प्रज्ञा शेषं पूर्ववत्। उपेक्षा कतमा। ध्यानं निश्रित्य सत्त्वा हितं लभेरन्निति विहारसमृद्धौ समाधिः प्रज्ञा शेषं पूर्ववत्।

--अभि.समु., पृ. ९४, वि.भा.प्र., १९५० ;

अप्रमाणानि चत्वारि, व्यापादादिविपक्षतः ।
मैत्र्यद्वेषोऽपि करुणा मुदिता सुमनस्कता ।।

उपेक्षाऽलोभः आकारः सुखिता दुःखिता वत।
मोदन्तामिति सत्त्वाश्च, ... ।।
मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा च; अप्रमाणसत्त्वालम्बनत्वात्। किमर्थं चत्वार्येव?

अलब्धेऽनुत्तरपदे ध्रुवमेव ब्रह्मलोके सुखावाप्तिः ।।४०।।

इति। मैत्र्यादीनां ध्याने योगः, तासां भावनया प्रथमध्यानादीनामुत्पादः। तत्र वात्सल्यभावना **मैत्री**, स्नेहं करोतीत्यर्थः। करुणायति दुःखवियोगमभिलषत इति **करुणा**। मोदत इति **मुदिता**, हृष्यतीत्यर्थः। सम्यग्दर्शन**मुपेक्षा** पक्षेऽपतित्वा पश्यतीत्यर्थः। का तावन्मैत्री? मैत्री सत्त्वानां सुखार्थं कामयते। करुणा (सत्त्वानां) दुःखवैकल्यकामना। सुखितसत्त्वानां मा भवेत् सुखवियोग इति कामना मुदिता। माध्यस्थ्यावस्थितिरुपेक्षा। मैत्र्यादीनां चतसृणां सदैव भावना कर्तव्या ।

पतित्वा
१

तत्र मैत्रीभावनाभिलाषुकः शीलं परिशोध्य विविक्तदेशं सेवमानः बुद्धादिगुणानामनुस्मृत्या भद्रचित्तमुत्पादयति। सत्करणीयं गुरुस्थानीयं गुणवन्तं पुद्गलं प्रति श्रद्धामुत्पाद्य **'सुखी भवेदयं महापुरुषः'** इति मनसिकारं तं प्रति मृदुचित्तोत्पादपर्यन्तं प्रवर्तयति । ततः प्रियपुद्गलं प्रति चित्तं प्रहिणोति। तत्रापि पूर्वोक्तपुद्गलेन समं चित्तं नोत्पद्यते तावत्तत्र चित्तं प्रवर्तयति। ततोऽधमपुरुषमालम्बयति। यावदुपर्युक्तपुद्गलद्वयेन समं चित्तं नोत्पद्यते तावत् चित्तं प्रवर्तयति। तदनन्तरम् अप्रियपुद्गलं (शत्रुं) प्रति चित्तं प्रेषयति। तत्रापि तावच्चित्तमर्पयति यावत् प्रत्येकं शत्रुं प्रति **'अयं सुखी भवेद्'** इति चित्तं नोत्पद्यते। यदा तत्रापि पूर्वोक्तपुद्गलसमं चित्तमुत्पद्यते तदा भावना निष्पद्यते। इयता मात्रेण मैत्रीचित्तेन विमुक्तः विविधा सीमिता च भावना निर्दिष्टा ।

व्यापादविहिंसाऽरतिकामरागव्यापादबहुलानां तत्प्रहाणाय चत्वारि यथासंख्यम्। अशुभोपेक्षयोः कामरागप्रतिपक्षत्वे को विशेषः? वर्णरागस्याशुभा मैथुनरागस्योपेक्षेति वैभाषिकाः। एवं तु युज्यते-- मैथुनरागस्याशुभा, मातापितृपुत्रज्ञातिरागस्योपेक्षेति। ... तत्र अद्वेषस्वभावा मैत्री। .... करुणाप्येवम्। ... सौमनस्यस्वभावा मुदिता। .... अलोभात्मिकोपेक्षा। कथं व्यापादप्रतिपक्षः? तस्य लोभाकृष्टत्वात्। उभयस्वभावा त्वसौ युज्यते। एषां तु मैत्र्यादीनाम्। .... 'सुखिता बत सत्त्वाः' इति मनसिकुर्वन् मैत्रीं समापद्यते। 'दुःखिता बत सत्त्वाः' इति करुणाम्, 'मोदन्तां बत सत्त्वाः' इति मुदिताम्, 'सत्त्वाः' इत्येव मनसि कुर्वन्नुपेक्षां समापद्यते, माध्यस्थ्यात्।

--अभि.को.भा., ८/२९-३०, पृ. ११७०-११७१, बौ.भा.प्र. ९१८७।

अतः परं दिग्व्याप्यधिकारेण मनसिकारो वेदितव्यः। यथोक्तं भगवता-- **"न केवलं मैत्रीयुक्तेनैवापितु अद्वयेन एकां दिशं समधिमुच्य स्फुरित्वा उपसम्पद्य विहरति, (स्फुरित्वेति व्याप्नोतीत्यर्थः)।"**

करुणेति दुःखिनम् अनाथम् अशरणं पुद्गलमालम्ब्य पूर्वोक्तेनैव क्रमेण प्रवर्तनम्। मुदिता तावन्मुदितसत्त्वमालम्ब्य एतेनैव क्रमेण प्रवर्तनम्। उपेक्षा तु पूर्वमधमपुरुषमालम्ब्य ततः परं क्रमेण सर्वसत्त्वेषु प्रवर्तनम्। एवं सर्वदैव मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षा भावनीयाः । मैत्र्यादीनामासां भावनायाः किं फलमिति चेद्? **अनुत्तरपदे** इत्याद्युक्तम्। तथोक्तया मैत्र्यादीनां भावनया निर्वाणमधिगम्यते । अथ कदाचिन्निर्वाणं नाधिगम्येत, तथापि निश्चयेन ब्रह्मलोकसुखमवाप्यते। रूपधातौ कामक्रोधादिसन्तापरहितं शान्तं निर्मलं च ध्यानमनुभूयत इत्युक्तम्।

मैत्र्यादीनां परिनिष्पादनेन चत्वारि ध्यानान्यधिगम्यन्त इति दर्शयितुमाह--

कामान् प्रीतिविचारौ सुखञ्च दुःखञ्च विहाय चतुर्भिरेव ।
ध्यानैर्ब्रह्माभास्वरशुभकृत्स्नबृहत्फलभागिनश्च भवन्ति ।।४१।।

इति। **विहाय** इति शब्देन परिवर्जनमित्युक्तम्, कामपरिवर्जनं विचार-परिवर्जनं प्रीतिपरिवर्जनं सुखदुःखपरिवर्जनं चेति प्रत्येकेन सह योज्यम्। तानि क्रमशः चत्वारि ध्यानानि।[1] तेषां चतुर्णां ध्यानानां किं फलमिति चेद्? विपाकफलं प्रदर्शयितुमुच्यते

---

[1] तत्र भिक्षवः कतमानि चत्वारि ध्यानानि?
१. इह भिक्षवो भिक्षुः विविक्तं कामैः विविक्तं पापकैरकुशलैर्धर्मैः सवितर्कं सविचारं विवेकजं प्रीतिसुखं प्रथमं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। २. स वितर्कविचाराणां व्युपशमादध्यात्मसंप्रसादाच्चेतस एकोतीभावादवितर्कविचारं समाधिजं प्रीतिसुखं द्वितीयं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। ३. स प्रीतिर्विरागादुपेक्षको विहरति, स्मृतः संप्रजानन् सुखं च कायेन प्रतिसंवेदयति, यत्तदार्या आचक्षते "उपेक्षकः स्मृतिमान् सुखविहारी" ति तृतीयं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। ४. स सुखस्य च प्रहाणात् दुःखस्य च प्रहाणात् पूर्वमेव च सौमनस्यदौर्मनस्ययोरस्तङ्गमाददुःखासुखमुपेक्षास्मृतिपरिशुद्धं चतुर्थं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। इमानि भिक्षवश्चत्वारि ध्यानानि।
---अ.वि.सू., पृ. १७, को.पी.जा.प्र. १९७१ ;

विचारप्रीतिसुखवत्, ...

ब्रह्माभास्वरेत्यादि।[1] प्रथमध्यानभावनया ब्रह्मकायिकदेवानां सभागतायामुत्पद्यते। द्वितीयेन आभास्वराणां तृतीयेन शुभकृत्स्नानां चतुर्थेन बृहत्फलदेवानां सभागतायामुत्पद्यते। तत्र प्रथमध्यानादिना कामादिपरिवर्जनं तु यथासूत्रं वेदितव्यम्।

विचारप्रीतिसुखसंयुक्तं कुशलमैकाग्र्यं तत् प्रथमं ध्यानम्। विचारवचनाद् वितर्कोऽप्युक्तो भवति, साहचर्याद् धूमाग्निवत्। न हि विचारो विना वितर्केणास्ति। शेषं पुनर्ध्यानत्रयम्।

.... पूर्वपूर्वाङ्गवर्जितम्।

'शुभैकाग्र्यम्' वर्तते। विचारविवर्जितं प्रीतिसुखवत् द्वितीयम्, विचारप्रीतिवर्जितं तृतीयम्, विचारप्रीतिसुखवर्जितं चतुर्थमिति।

---अभि.को.भा., ८/२, पृ. ११२९, बौ.भा.प्र. ;

पुनश्च द्रष्टव्यम्--

पञ्चाद्ये तर्कचारौ च प्रीतिसौख्यसमाधयः ।
प्रीत्यादयः प्रसादश्च द्वितीयेऽङ्गचतुष्टयम्।।

तृतीये पञ्च तूपेक्षा स्मृतिः प्रज्ञा सुखं स्थितिः।
चत्वार्यन्तेऽसुखादुःखोपेक्षास्मृतिसमाधयः ।।

प्रथमे भागे पञ्चाङ्गानि। वितर्कः, विचारः, प्रीतिः, सुखम्, चित्तैकाग्रता च -- इत्येतानि पञ्चाङ्गानि। समाधिः किलाङ्गं ध्यानं च। शेषाण्यङ्गानीति। यथा तु चतुरङ्गसेना, एवं पञ्चाङ्गध्यानम्।

द्वितीये ध्यानं चत्वार्यङ्गानि-- अध्यात्मसम्प्रसादः, प्रीतिः, सुखम्, चित्तैकाग्रता च।

तृतीये तु ध्याने पञ्चाङ्गानि-- उपेक्षा, स्मृतिः, सम्प्रज्ञानम्, सुखम्, चित्तैकाग्रता च।

चतुर्थध्यानमन्त्यम्। तत्र चत्वार्यङ्गानि-- अदुःखासुखा वेदना, उपेक्षापरिशुद्धिः, स्मृतिपरिशुद्धिः, समाधिश्च।

---अभि.को.भा., ८/७-८, पृ. ११४०-११४१, बौ.भा.प्र. १९८७ ;

प्रथमं ध्यानं पञ्चाङ्गम्। पञ्चाङ्गानि वितर्को विचारः प्रीतिः सुखं चित्तैकाग्रता च। द्वितीयं ध्यानं चतुरङ्गम्। चत्वार्यङ्गानि अध्यात्मसंप्रसादः प्रीतिः सुखं चित्तैकाग्रता च। तृतीयं ध्यानं पञ्चाङ्गम्। पञ्चाङ्गानि उपेक्षा स्मृतिः संप्रजन्यं सुखं चित्तैकाग्रता च। चतुर्थं ध्यानं चतुरङ्गम्। चत्वार्यङ्गानि उपेक्षापरिशुद्धिः स्मृतिपरिशुद्धिः अदुःखासुखा वेदना चित्तैकाग्रता च।

--अभि.समु., पृ. ६८, वि.भा.प्र. १९५०।

[1] .... महाब्रह्मफलं च तत्।

तां हि ध्यानान्तरिकां भावयित्वा महाब्रह्मा भवति। पुनः सर्वसमाधीन् सङ्कलय्य त्रयः समाधयः उक्ताः सूत्रे-- १. सवितर्कः सविचारः समाधिः, २. अवितर्को विचारमात्रः, ३. अवितर्कोऽविचार इति।

--अभि.को.भा. ८/२३, पृ. ११६३, बौ.भा.प्र. ।

विचारपरिवर्जनं तु निर्विकल्पत्वमित्युच्यते। यत्र नास्ति विचारस्तत्र नियमेन विकल्पाभावः। सुखदुःखपरिवर्जनेन तावन्नैव सुखा नैव दुःखा वेदना निदर्श्यते।

सम्प्रति कामादिषु कुशलाकुशलयोः गुरुत्वलघुत्वविशेषं दर्शयितुमाह--

कुशलाकुशलं च कर्म सदाभिनिवेशाप्रतिपक्षवस्तुगुणैः ।
पञ्चभिश्चोत्पद्यते तस्माद् यतनीयं कुशलचर्यायाम् ।।४२।।

इति। तत्र कर्मगुरुत्वं तावच्चतुर्भिः हेतुविशेषैरुक्तम्, यथा-- प्रयोगविशेषः, आशयविशेषः प्रतिपक्षविशेषः वस्तुविशेषश्च। तत्र प्रयोगविशेषस्तु लघुकर्मार्थमपि निरवधिकालव्यापृतत्वम्। अल्पकालनिष्पाद्येऽपि कर्मणि गाढक्लेशेन अत्यन्तासक्त्या च युक्तेन आशयविशेषेण कर्मगुरुत्वं भवति। कृतमपि कर्म प्रतिपक्षबलेन योगे सति दुर्बलं पराभूतं च जायते, तदेव कर्म प्रतिपक्षबलरहितं सत् सबलं भवति। द्विविधः खलु वस्तुविशेषः -- गुणवांश्च सानुशंसश्च। तत्र गुणवान् वस्तुविशेषस्तावत् त्रीणि रत्नानि, निरोधादुत्थितः पुद्गलविशेषश्च। सानुशंसो वस्तुविशेषस्तु माता-पितरौ अन्ये चोपकारिणः सत्त्वाः, यथा-- ऋक्षहरिणवानरादयः। एवमेभिः पञ्चभिः कुशलाकुशलानि कर्माणि नियतफलत्वाद् बहुफलत्वाच्च महद्गतानि चोच्यन्ते। अत एव त्वया सर्वाण्यकुशलानि परित्यज्य कुशलाचरणेषु यत्न आस्थेयः।

यथाल्पक्षारनीरं परिवर्तयत्यल्पजलरसं न गाङ्गम् ।
पापं तथैव चाल्पं नाशयत्यल्पकुशलं न पूर्णकुशलम् ।।४३।।

इति। लघुकर्मणस्तु बलवता कर्मणा पराभवो भवतीत्यादर्शितम्। संक्षेपार्थस्तु तस्मात्त्वया अल्पकुशलं वा अकुशलाधिक्यं वा कृत्वा नैव निर्भयेन भाव्यम्। एवमेव कुशलाधिक्यम् अल्पम् अकुशलं च कृत्वाऽपि त्वयि मा भवेद् अत्यधिकः सन्त्रासः। सुगमोऽवयवार्थः।

औद्धत्यं कौकृत्यं व्यापादः स्त्यानमिद्धे च कामेच्छा ।
विचिकित्सेति पञ्चैव कुशलधनहारकाणीमानि ज्ञेयानि ।।४४।।

इत्यनेनेदानीं ध्यानविमोक्षविरुद्धा धर्माः प्रदर्श्यन्ते। ते सायासं प्रहातव्याः । **औद्धत्य-कौकृत्ये**[१] तावत् प्रथम् नीवरणम्, **व्यापादो** हि द्वितीयम्, **स्त्यानमिद्धे**[२] तु तृतीयम्, **कामाध्यवसानं** खलु चतुर्थम्, **विचिकित्सा**[३] च पञ्चमम्। एतानि हि पञ्च नीवरणानि, ध्यान-विमोक्षमार्गावरोधकत्वात्। तत्र औद्धत्यं चित्तस्य अप्रशमः, संसारं प्रति चित्ताविरागः। कौकृत्यं कुकृतमालम्ब्य चित्तविलेखः। कुकृतं प्रति चित्तपरिखेद इत्यर्थः। व्यापादो हि द्वेषः नव वस्तून्यालम्ब्य चित्ताघातः । एतानि नव वस्तूनि चित्तविघातस्य, यथा-- 'अनेन ममापकारः कृतः क्रियते करिष्यत इति प्रथमं त्रिकम्; ये मम प्रियाः हितकामाः, तेषामनेनापकारः कृतः, क्रियते करिष्यत इति द्वितीयं त्रिकम्; ये मम अप्रिया अहितकामाः अनुपकारकास्तेषामनेन उपकारः कृतः क्रियते करिष्यत इति

---

[१] औद्धत्यं कतमत्। शुभनिमित्तमनुसरतो रागांशिकश्चेतसोऽव्युपशमः। शमथपरिपन्थकर्मकम्। कौकृत्यं कतमत्। यदभिप्रेतानभिप्रेतं कारणाकारणमागम्य मोहांशिकश्चेतसो विप्रतिसारः। कुशलमकुशलमव्याकृतं काले अकाले युक्तमयुक्तञ्च। चित्तस्थितिपरिपन्थकर्मकः।

--अभि.समु., पृ. ९-१०, वि.भा.प्र. ;

औद्धत्यं चित्तस्याव्युपशमः। व्युपशमो हि शमथः, तद्विरुद्धोऽव्युपशमः। स पुनरेष रागानुकूलपूर्वहसितरसितक्रीडिताद्यनुस्मरतश्चेतसोऽव्युपशमहेतुः, शमथपरिपन्थकर्मकः। कौकृत्यं चेतसो विप्रतिसारः। कुत्सितं कृतमिति कुकृतम्, तद्भावः कौकृत्यम्। इह तु कुकृतविषयश्चेतसो विलेखः कौकृत्यम्, चैतसिकाधिकारात्। एतच्च चित्तस्थितिपरिपन्थकर्मकम्।

--वि.मा.सि., पृ. २२७, २३३, सं.सं.वि.वि.प्र.।

[२] स्त्यानं चित्तस्याकर्मण्यता स्तैमित्यम् स्तिमितस्य भावः स्तैमित्यम्, यद्योगात् चित्तं जडीभवति, स्तिमितं भवति, नालम्बनं प्रतिपत्तुं समुत्सहते। एतच्च सर्वक्लेशोपक्लेशसाहाय्यदानकर्मकम्। मोहांशे प्रज्ञप्तत्वाच्च मोहांशिकमेव, न पृथग् विद्यते। मिद्धम् अस्वतन्त्रवृत्तिचेतसोऽभिसंक्षेपः। वृत्तिरालम्बने प्रवृत्तिः। साऽस्वतन्त्रा चेतसो यतो भवति, तन्मिद्धम्। कायचित्तसन्धारणासमर्था वा वृत्तिश्चेतसोऽस्वतन्त्रा सा यतो भवति, तन्मिद्धम्। अभिसंक्षेपश्चेतसश्चक्षुरादीन्द्रियद्वारेणाप्रवृत्तिः। एतच्च मोहांशे प्रज्ञपनात् मोहांशिकम्, कृत्यातिपत्तिसंनिश्रयदानकर्मकं च।

--वि.मा.सि., पृ. २२६, २३४, सं.सं.वि.वि.प्र.।

[३] विचिकित्सा कतमा। सत्येषु विमतिः। कुशलपक्षाप्रवृत्तिसन्निश्रयदानकर्मिका। --अभि.समु., पृ. ७ ; विचिकित्सा कर्मफलसत्यरत्नेषु विमतिः। विविधा मतिर्विमतिः 'स्यान्न स्याद्' इति। प्रज्ञातश्चेयं जात्यन्तरमेवोक्ता।

--वि.मा.सि., पृ. २१३, सं.सं.वि.वि.प्र. ।

तृतीयं त्रिकम्। दशमं वस्तु 'अस्थाने कोपः' इत्युच्यते। तच्चाघातचित्तं तावत् पूर्ववैरानुबद्धं वेदितव्यम्।

कायचित्तयोरकर्मण्यता स्त्यानम्। मिद्धमिति तन्द्रा। कामाध्यवसानं (कामासक्तिः) कामच्छन्द इति, तृष्णा अभिकाङ्क्षेति पर्यायाः। मोक्षे मोक्षमार्गे च संशयो विचिकित्सा। एतानि पञ्च नीवरणानि[१] कुशलधनहारकाणीति कृत्वा चौराणीत्युच्यन्ते।

कथं द्वौ द्वौ धर्मौ एकावरणमिति? शाठ्यमूढ्यनुरूपत्वात्। औद्धत्यकौकृत्ये द्वे अपि शाठ्यम्, स्त्यानमिह मूढिः।[२]

एतावता आनन्तर्यधर्मान् देशयित्वा निर्वाणानुकूलधर्मान् देशयितुमाह--

उत्तमाः पञ्चधर्माः श्रद्धावीर्ये स्मृतिसमाधिप्रज्ञाश्च ।
बलेन्द्रियाणि चाग्र्याणि कथ्यन्ते यतनीयमेतेषु तस्माद् ।।४५।।

---

[१] यानि सूत्रे पञ्च निवरणानि उक्तानि-- कामच्छन्दः, व्यापादः, स्त्यानमिद्धम्, औद्धत्यकौकृत्यम्, विचिकित्सा च। किं त्रैधातुक्यः स्त्यानौद्धत्यविचिकित्सा गृह्यन्ते? अथ कामप्रतिसंयुक्ता एव? "केवलोऽयं परिपूर्णोऽकुशलराशिर्यदुत पञ्च निवरणानि" इत्येकान्ताः, कुशलत्ववचनात् सूत्रे।
--अभि.को.भा., पृ. ८५१, बौ.भा.प्र. ;

निवरणानि पञ्च। कामच्छन्दनिवरणम् व्यापादनिवरणम् स्त्यानमिद्धनिवरणम् औद्धत्यकौकृत्यनिवरणम् विचिकित्सानिवरणं च। कुशलपक्षस्यासंप्रख्यानं निवरणं द्रष्टव्यम्। तच्च प्रव्रज्यायामभिरतौ चोदनायां प्रतिपत्तौ शमथे प्रग्रहे उपेक्षायां च। --अभि.समु., पृ. ४८, वि.भा.प्र. १९५०।

[२] कामे निवरणानि एक विपक्षाहारकृत्यतः।
द्व्येकता .... ।।
द्वयोरेकता द्व्येकता। विपक्षः प्रतिपक्षोऽनाहार इत्येकोऽर्थः। स्त्यानमिद्धयोरेक आहारः सूत्रे, आनाहारश्च। कः स्त्यानमिद्धनिवरणस्याहारः? पञ्च धर्माः- तन्द्रा, अरति, विजृम्भिका, भक्तेऽसमता, चेतसो लीनत्वमिति। अथ स्त्यानमिद्धनिवरणस्यानाहारः? आलोकसंज्ञेति। कृत्यमनयोरप्येकम्। उभे अपि ह्येते चित्तं लयं चोदयतः। औद्धत्यकौकृत्ययोरप्येक आहार उक्तः, एकोऽनाहारः। कश्चौद्धत्यकौकृत्यनिवरणस्याहारः? चत्वारो धर्माः-- ज्ञातिवितर्कः, जनपदवितर्कः, अमरवितर्कः, पौराणस्य च हसितक्रीडितरमितपरिभावितस्यानुस्मर्ता भवतीति। कश्चौद्धत्यकौकृत्यनिवरणस्यानाहारः? शमथ इति। कृत्यमप्यनयोरेकम्। उभे अपि ह्येते चित्तमव्युपशान्तं वर्तयतः। अत एकविपक्षाहारकृत्यत्वात् द्वयोरप्येकत्वमुक्तम्।
--अभि.को.भा., ५/५९, पृ. ८५२, बौ.भा.प्र.।

इति। यथा निर्वाणविरोधिनः पञ्च धर्मास्तथैव निर्वाणानुकूला अपि पञ्च धर्माः[1] सन्ति। एतेषां श्रद्धादीनामनन्तरम् आर्यमार्ग उत्पद्यते, अतोऽवस्थान्तरे उत्तमधर्मा इत्यप्युच्यन्ते, न तु उत्तमधर्मेत्येव नामोपलभ्यते। तदा किमिति चेद्? बलानि इन्द्रियाणि

---

१ तत्र भिक्षवः कतमानि पञ्च बलानि? यदुत-- श्रद्धाबलम्, वीर्यबलम्, स्मृतिबलम्, समाधिबलम्, प्रज्ञाबलम्।

यस्मात्तद्विपक्षैरश्रद्धाकौसीद्यमुषितस्मृतिविक्षेपासम्प्रजन्यैरन्तरासमुदाचाराभावात् तानि नावमृद्यन्ते, तस्माद् बलान्युच्यन्ते। --अ.वि.सू., पृ. २२६, के.पी.जा.प्र. १९७१ ;

बुद्धाद्यालम्बना श्रद्धा वीर्यं दानादिगोचरम्।
स्मृतिराशयसम्पत्तिः समाधिरविकल्पना।।

धर्मेषु सर्वैराकारैर्ज्ञानं प्रज्ञेति पञ्चधा।
तीक्ष्णैः सुबोधा सम्बोधिर्दुर्बोधा मृदुभिर्मता।।

इति। अनिन्द्रियस्वभावाः श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिविशिष्टप्रज्ञाः यथासंख्यं बुद्ध-दान-आशयसम्पत्ति-अविकल्प-सर्वधर्मसर्वाकारपरिज्ञादिषु पञ्चविधविषयेषु कौशलम्। एवमपि न सर्वैरनुत्तरा सम्यक्सम्बोधिः प्राप्या। धर्मतेयं यतोऽधिमात्रैः श्रद्धादिभिः सम्यक्सम्बोधिः सुबोधा, मृदुभिस्तैरेव दुर्बोधेत्यर्थादिदमाक्षिप्तम्। मध्यैः प्रत्येकबुद्धबोधिर्मृदुभिः श्रावकबोधिश्चाधिगम्यत इति।
--अ.अ.स्फु., ४/३३-३४, पृ. ५४, ति.सं., १९७७ ;

श्रद्धा कतमा। अस्तित्वगुणवत्त्वशक्तत्वेष्वभिसंप्रत्ययः प्रसादोऽभिलाषः। छन्दसन्निश्रयदानकर्मिका। वीर्यं कतमत्। कुशले चेतसोऽभ्युत्साहः सन्नाहे वा प्रयोगे वा अलीनत्वे वा अव्यावृत्तौ वा असन्तुष्टौ वा। कुशलपक्षपरिपूरणपरिनिष्पादनकर्मकम्। स्मृतिः कतमा। संस्मृते वस्तुनि चेतसः असंप्रमोषोऽविक्षेपकर्मिका। समाधिः कतमः। उपपरीक्ष्ये वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता। ज्ञानसन्निश्रयदानकर्मकः। प्रज्ञा कतमा। उपपरीक्ष्य एव वस्तुनि धर्माणां प्रविचयः। संशयव्यावर्त्तनकर्मिका। .....

पञ्चेन्द्रियाणामालम्बनं कतमत्। चत्वार्यार्यसत्यानि। स्वभाव कतमः। श्रद्धा वीर्यं स्मृतिः समाधिः प्रज्ञा च। सहायः कतमः। तत्संप्रयुक्ताश्चित्तचैतसिका धर्माः। भावना कतमा। यत् श्रद्धेन्द्रियेण सत्येषु अभिसंप्रत्यसमुत्थानं प्रयोगभावना। वीर्येन्द्रियेण सत्येषु उत्पन्नाभिसंप्रत्ययस्याभिसंबोध्यर्थं व्यायामसमुत्थानप्रयोगभावना। स्मृतीन्द्रियेण सत्येषु आरब्धवीर्यस्य स्मृतिसंप्रयोगार्थमसंमोषसमुत्थानप्रयोगभावना। समधीन्द्रियेण सत्येषु संप्रयुक्तस्मृतेः चित्तैकाग्रतासमुत्थानप्रयोगभावना। प्रज्ञेन्द्रियेण सत्येषु समाहितचित्तस्य प्रविचयसमुत्थानप्रयोगभावना। भावनाफलं कतमत्। सत्याभिसमयसमुत्थानतः ऊष्मगतमूर्धपरिकर्मतश्च क्षान्तिलौकिकाग्रधर्मनिर्हारः। यथा पञ्चेन्द्रियाणि तथा पञ्च बलानि। एषां विशेषः तैः विपक्षान्तरायनिर्ल्लेखोऽनवमृद्यतेति बलानीत्युच्यन्ते। --अभि.समु., पृ. ६, ७४, वि.भा.प्र. १९५०।

अग्राण्यपि प्राप्यन्त इति। क्षान्त्यवस्थायां बलानि। ऊष्मावस्थायाम् इन्द्रियाणि। ऊष्मानन्तरं मूर्धावस्था उत्पद्यते।

मानप्रहाणपूर्वकाणि पञ्चेन्द्रियाणि, अतस्तत्प्रहाणार्थमाह--

व्याधिजरामरणप्रियवियोगवच्च कर्मपरायणाः सर्वे ।
पुनः पुनस्तु चिन्तया प्रतिपक्षेणैवं प्रहीयते मानः ।।४६।।

इति। यथा नाहं व्याधिजरामरणेभ्यस्त्रिभिः धर्मैः विरहितः, तथैव प्रियवियोगादिभिः कर्मस्वकतया च विरहितो नास्मि। इत्थं तावन्मुहुर्मुहुश्चिन्तनं प्रतिपक्षः। अनेन प्रतिपक्षेण नियतं मानस्य विनाशः सम्पद्यत इत्यर्थः। तत्र यथाकर्म सुखदुःखोत्पादस्तावत् कर्मस्वकता। शेषार्थाः सुगमत्वात्परिज्ञेयाः।

स्वर्गं मोक्षं चेच्छेत् सम्यग्दृष्टिस्तावद् भावनीयैव ।
कृतानि मिथ्यादृष्ट्या पुरुषैः सुचरितान्यपि विषमविपाकानि ।।४७।।

इति। अनेन तावद् श्रद्धादीन्द्रियाणामुत्पादको हेतुर्निर्दिष्टः। **सम्यग्दृष्टिस्तावद् भावनीयैव** पूर्वजन्मनि कृतानां सुकृतदुष्कृतानां कर्मणां फलविपाकोऽस्त्येवेति विश्वासः सम्यग्दृष्टिः। अस्ति परलोक इति विश्वास इत्यर्थः।[१] यद्येतादृशी सम्यग्दृष्टिर्न स्यात्तदा यानि तावद् दानादीनि सुचरितानि समाचरितानि विषमविपाकानि स्युरिति, अनिष्टविपाकानि भविष्यन्तीत्यर्थः। अत एव सम्यग्दृष्टिर्नियतं सर्वकुशलमूलोत्पादहेतुर्निर्दिष्टा।

---

[१] प्राग्धर्माभ्युदयो यत्र पश्चान्नैःश्रेयसोदयः ।
संप्राप्याभ्युदयं यस्मादेति नैःश्रेयसं क्रमात्।।

सुखमभ्युदयस्तत्र मोक्षो नैःश्रेयसो मतः ।
अस्य साधनसंक्षेपः श्रद्धाप्रज्ञे समासतः ।।

--रत्नावलि, १/३-४ ।

अनात्माऽशुचिर्दुःखी पुद्गलोऽनित्यश्च[1] सम्यग्विज्ञेयः ।
स्मृत्युपस्थानरहिता विनश्यन्ते च विपर्यासैश्चतुर्भिः ।।४८।।

इति। अनेन तावदुद्वेगहेतुर्निर्दिष्टः । **दुःखीति** असुखीत्यर्थः। **अनित्य** इति क्षणिक इत्यर्थः। **अनात्मेति** अन्तःपुरुषविरहित इति। **अशुचिरिति** पूतिकः। सम्यक्प्रज्ञया परीक्षणेन एतादृश एव मनुष्यः। ये स्मृतिं नोपस्थापयन्ति ते विपरीतग्राहिणः। तत्र को दोष इति चेत्?

स्मृत्युपस्थानरहिता विनश्यन्ते च विपर्यासैश्चतुर्भिरित्युक्तम्। चत्वारो विपर्यासाः[2] -- दुःखे सुखमिति संज्ञाविपर्यासः चित्तविपर्यासो दृष्टिविपर्यासश्च। तथैव अनित्ये

---

[1] स धर्मस्मृत्युपस्थाने समस्तालम्बने स्थितः।
अनित्यदुःखतः शून्यानात्मतस्तान् विपश्यति।।
सम्भिन्नालम्बने धर्मस्मृत्युपस्थाने स्थितस्तान् कायादीन् सर्वानभिसमस्य चतुर्भिराकारैः पश्यति-- अनित्यतः, दुःखतः, शून्यतः, अनात्मतश्च।
--अभि.को.भा., ६/१६, पृ. ९०७, बौ.भा.प्र., ९९८७।

[2] चत्वारो विपर्यासाः -- अनित्ये नित्यमिति, दुःखे सुखमिति, अशुचौ शुचीति, अनात्मन्यात्मेति। अथैतद् विपर्यासचतुष्कं किंस्वभावम्?
दृष्टित्रयाद् विपर्यासचतुष्कम् ....।
अन्तग्राहदृष्टेः शाश्वतदृष्टिर्नित्यविपर्यासः। दृष्टिपरामर्शात् सुखशुचिविपर्यासौ। सत्कायदृष्टेरात्मविपर्यासः।
--अभि.को.भा., ५/९, पृ. ७७७, बौ.भा.प्र. ;

अनित्ये नित्यमित्येवं यदि ग्राहो विपर्ययः।
नानित्यं विद्यते शून्ये कुतो ग्राहो विपर्ययः।।
इह चत्वारो विपर्यासा उच्यन्ते। तद्यथा-- अनित्ये प्रतिक्षणविनाशिनि स्कन्धपञ्चके यो नित्यमिति ग्राहः, स विपर्यासः। तथा--
अनित्यस्य ध्रुवा पीडा पीडा यस्य न तत् सुखम्।
तस्मादनित्यं यत् सर्वं दुःखं तदिति जायते।।
इत्यमुना न्यायेन यदनित्यं तद् दुःखम्, सर्वसंस्काराश्च अनित्याः तस्माद् दुःखात्मके स्कन्धपञ्चके यः सुखमिति विपरीतो ग्राहः सोऽपरो विपर्यासः। तथा--
शुक्रशोणितसम्पर्कबीजं विण्मूत्रवर्धितम्।
अमेध्यरूपमाजानन् रज्यसेऽत्र कयेच्छया।।

अमेध्यपुञ्जप्रच्छन्ने तत्क्लेदार्द्रेण चर्मणा ।

नित्यमिति अनात्मन्यात्मेति अशुचौ शुचिरिति संज्ञाविपर्यासः चित्तविपर्यासः दृष्टिविपर्यासश्च। विपर्यस्ता दृष्टिस्तावद् दुर्गतेः संसारस्य च हेतुः, अतस्ते विनश्यन्त एव। अत एव च पुद्गलो दुःखित्वादिभिर्विज्ञेयः।

यदि पुद्गलोऽप्रियोऽनित्योऽशुचिश्च तदा नैव शक्यते अनात्मता अधिगन्तुम्। यदि न स्यादेक आत्मपदार्थस्तदा कः परिभुङ्क्ते कुशलाकुशलकर्मणां फलविपाकम्? एवं विचार्यमाणे सति आचार्य आह--

उक्तं रूपं नात्मा रूपवांश्च नात्मा रूपे नैवात्मा ।
न चात्मन्यस्ति रूपं शून्यमेवं स्कन्धचतुष्कमपि ज्ञेयम् ।।४९।।

इति। एवमुच्यते-- यद्येकः स्यादात्मा तदा स रूपादिभिरेकस्वभावः, ततो वा भिन्नः? नैव हि रूपादिस्वभाव इत्यादर्शयितुमाह-- रूपं नैव आत्मा यावद् विज्ञानं नात्मेति।[1] रूपादिस्वभावे त्वात्मनि आगमबाधा। काऽत्र युक्तिबाधा। नात्मनः रूपादिस्वभावता, तथा सति रूपादिवद् अनित्यस्वभावप्रसङ्गः।[2] रूपादिभ्यो

यः शयीत स नारीणां शयीत जघनोदरे।। इत्यादि।
एवमिदं शरीरं सर्वात्मना सततमशुचिस्वभावम्। तत्र यो मोहाच्छुचित्वेन ग्राहोऽभिनिवेशः, स विपर्यासः। तथा पञ्चस्कन्धकमात्मलक्षणविलक्षणमस्थिरत्वादुदयव्ययधर्मित्वाच्च निरात्मकमात्मस्वभावशून्यम्, तस्मिन् य आत्मग्राहोऽभिनिवेशः, स विपर्यासः। इत्येते चत्वारो विपर्यासाः सम्मोहस्य हेतुभूताः।
---म.शा.वृ., २३/१३, पृ. २०१, बौ.भा.प्र. १९८३।

[1] स्कन्धेष्वात्मा विद्यते नैव चामी सन्ति स्कन्धा आत्मनीतीह यस्मात्।
सत्यन्यत्वे स्यादियं कल्पना वै तच्चान्यत्वं नास्त्यतः कल्पनैषा ।।

इष्टो नात्मा रूपवान्नास्ति यस्मादात्मा वत्त्वार्थोपयोगो हि नातः।
भेदे गोमान् रूपवानप्यभेदे तत्त्वान्यत्वेऽरूपतो नात्मनः स्तः ।।
--म.अ., ६/१४२, १४३ (म.शा.वृ., पृ. १८८) ; अपि च द्रष्टव्यम्-- वज्र.टीका.(पुनरुद्धार), पृ. ११८-११९, ति.सं. १९९४।

[2] स्कन्धा आत्मा चेदतस्तद्बहुत्वात् आत्मानः स्युस्तेऽपि भूयांस एव।
द्रव्यं चात्मा प्राप्नुयात् तादृशश्च द्रव्ये वृत्तौ वैपरीत्यं च न स्यात् ।।

आत्मोपच्छेदो निर्वृतौ स्यादवश्यं नाशोत्पादौ निर्वृतेः प्राक् क्षणेषु ।
कर्तुर्नाशात् तत्फलाभाव एव भुञ्जीतान्येनार्जितं कर्म चान्यः ।।

भिन्नस्वभाव इति चेद्? त्रयोऽत्र भेदाः - गोमान् देवदत्त इव रूपवान् सः, अथवा कटे देवदत्त इव रूपादिषु स्थितः, अथवा भूम्याश्रितलतागुल्मादिवत् रूपादय आत्माश्रिताः स्युरिति। एतेषां पक्षाणां समाधानाय **रूपवांश्च नात्मे**त्याद्यागमः। युक्तिरिदानीमुच्यते- आद्ये तावदात्मनि किमस्ति वशिता रूपादीनामुपरि? यथाऽस्ति देवदत्तस्य कर्मवशिता गवां दोहादिषु तथा नात्मनः स्वेच्छया रूपादीनां हेयोपादेयता। इच्छामृतेऽपि रूपादीनां विनाशो दृश्यते। तत्कथं रूपवान् आत्मेति वक्तुं युज्यते।

द्वितीयेऽपि पक्षे कथमात्मा रूपाद्याश्रितः? अरूपिणस्तावद् धर्मस्य (आत्मनः) कटे स्थितस्य देवदत्तस्येव प्रतिपादनं नैव युज्यते, येन तस्य रूपाद्याश्रयणं प्रतीयेत। तत्र (रूपादिषु) स्थितोऽपि नात्मा रूपादीन् किञ्चिदुपकरोति, नापि रूपादिभिरपि आत्मा कथञ्चिदुपक्रियते। अथापि रूपादीनारुह्य आत्मा तानि प्रवर्तयति, यथा अश्वमारुह्य अश्ववदिति चेत्? तदपि नैव युज्यते, अनीप्सयाऽपि प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा दृश्यते। नात्मा स्वेच्छया रूपादीन् प्रवर्तयति निवर्तयति वा।

तृतीये तावत् पक्षे यथा लतागुल्मादयो भूमिमाश्रिता एव। तामेवाश्रित्य यथा रूपादीनामुत्पादः स्थितिः वृद्धिश्च दृश्यन्ते तथा रूपादीनामुत्पादादयो नैव आत्मप्रतिबद्धाः। आत्मनोऽभावेऽपि बाह्यरूपादीनाम् उत्पादवृद्ध्यादयो दृश्यन्ते। सप्राणा वृक्षादय इति येषामभिमतं तत्तु लवणादिभिरनैकान्तिकम्। एवमेव पञ्चसु

--म.अ., ६/१२७-१२८ (म.शा.वृ., पृ. १४६) बौ.भा.प्र. १९८३ ;

एवं तावत् स्कन्धा आत्मा न भवति। स्कन्धव्यतिरिक्तोऽपि न युज्यते। यदि हि स्कन्धेभ्योऽन्य आत्मा भवेत्, अस्कन्धलक्षणो भवेत्। यथा हि गोरन्योऽश्वः न गोलक्षणो भवति, एवमात्मापि स्कन्धव्यतिरिक्तः परिकल्प्यमानः अस्कन्धलक्षणो भवेत्। तत्र स्कन्धाः संस्कृतत्वाद् हेतुप्रत्ययसम्भूता उत्पादस्थितिभङ्गलक्षणाः। तत्र अस्कन्धलक्षण आत्मा भवन् भवन्मतेन उत्पादस्थितिभङ्गलक्षणायुक्तः स्यात्। यश्चैवं भवति, सः अविद्यमानत्वादसंस्कृतत्वाद्वा खपुष्पवन्निर्वाणवद्वा नैव आत्मव्यपदेशं प्रतिलभते, नाप्यहंकारविषयत्वेन युज्यते, इति स्कन्धव्यतिरिक्तोऽप्यात्मा न युज्यते।

--म.शा.वृ. पृ. १४६, बौ.भा.प्र.।

स्कन्धेषु प्रत्येकं स्कन्धे चतुर्भिर्भेदैः विंशतिः सत्कायदृष्टिभेदा[१] व्याख्यायमाना दृश्यन्ते। विंशत्युन्नतशिखरसत्कायदृष्टिशैलं ज्ञानवज्रेण विदीर्य स्रोत-आपत्तिफलमवाप्यते।

सम्प्रति विषमहेतुमहेतुं वा निराकृत्य भावानां सम्यगुत्पादहेतुं दर्शयितुमाह--

स्कन्धा न हि जायन्ते यदृच्छया न प्रकृतीश्वरकालेभ्यः ।
नाहेतोः स्वभावतो ज्ञेया अज्ञानेन तृष्णया जाताः ।।५०।।

इति। **यदृच्छेति** आकाशपातसदृशा। काल इति कालवादिभिः सर्वधर्मोत्पादविनाशहेतुक एको नित्यो विभुश्च धर्मः परिकल्प्यते, यथोक्तम्--

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ।।[२]

इति। प्रकृतिरपि सांख्यैः सर्वधर्मोत्पादहेतुभूता सत्त्वरजस्तमःस्वभावा एका नित्या विभुश्च कल्प्यते। स्वभावो हि धर्मस्यात्मभावः स्व-स्वभाव इत्यर्थः। ईश्वरोऽपि तावत् इत्येवं- गुणगणविशिष्टः परिकल्प्यते। भावा हि तेभ्यो नितरां नोत्पद्यन्त इत्यनेन तावद् विषमहेतुवादिनो निषिध्यन्ते। **नाहेतोः** इत्यनेन अहेतुवादी निषिद्धः। शेषांशेन भावानामविपरीतहेतुः निर्दिश्यते।

तत्र कथं ज्ञायते **'न हि जायन्ते यदृच्छया'** भावा इति? पुरुषव्यापारसाफल्यस्य दृष्टत्वात्। ननु फलाभावोऽपि तावन्नैव दृश्यत इति? सत्यं दृश्यते, किन्तु स हेतुसाकल्यविकलत्वादिति। यावद्भिः हेतुभिर्भावा उत्पद्यन्ते तेषां साकल्ये (सामग्र्ये) अपि यदि नोत्पद्यन्ते भावास्तदा यदृच्छया जाता इति ज्ञातव्यम्।

कालोऽपि सर्वेषां (भावानां) उत्पादहेतुः। अन्वयेन व्यतिरेकेण चानुपलभ्यमानत्वात्तस्य खपुष्पवदिति। अन्यच्च, नित्यत्वात् कालस्य नोत्पत्तुं शक्यन्ते

---

[१] रूपं नात्मा रूपवान्नापि चात्मा रूपे नात्मा नात्मनि रूपं ....। एवं यावत् विज्ञानं नात्मा, विज्ञानवान्नात्मा विज्ञाने नात्मा नात्मंनि विज्ञानम् इति। तथा-- अनात्मानः सर्वधर्मा इति।
--म.शा.वृ., पृ. १५१, बौ.भा.प्र. १९८३।

[२] म.शा.वृ. (उद्धृत), पृ. १६५, बौ.भा.प्र. ९१८३।

तस्मात् क्रमेण भावाः। हेतुविकलत्वान्न तस्माद् भावानामुत्पादः सम्भवी। युगपदुत्पादविनाशप्रसङ्गोऽपि दुर्निवारः स्याद् अविशिष्टत्वाद् हेतोः। अथ विशिष्टो हेतुरुत्पादविनाशावस्थायामिति चेत्? न नित्यत्वं तस्य स्यात्। हेतौ नित्यत्वस्य कथञ्चिदप्यदर्शनात् काले सर्वथा हेतुत्वाभावः। न हि विनाशः सहेतुकः, अभावत्वाद् अत्यन्ताभाववदिति।

प्रकृतिरपि एवमेव यथायोग्यं निषिध्यत इति ज्ञातव्यम्। प्रकृतिर्न विपरिणामधर्मिणी, नित्यत्वात् पुरुषवत्। पुरुषार्थमपि प्रकृतिर्नैव विपरिणमते, नित्यत्वात्, प्रकृत्यर्थं पुरुषवत्। प्रकृतिर्नास्ति उपभोग्या नित्यत्वात् पुरुषवदेव। पुरुषोऽपि नास्ति उपभोक्ता, नित्यत्वात् प्रकृतिवदेव। न च प्रकृतिर्बीजाधारः सर्वधर्माणाम्, नित्यत्वात्, पुरुषवत्। नापि प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमःस्वभावा, नित्यत्वात्, पुरुषवदेव। अपि च, यदि प्रकृतिर्विपरिणामधर्मिणी तदा किं तावत् सा सर्वात्मना विपरिणमते, आहोस्विद् एकदेशेन? यदि सर्वात्मना तदा तत्स्वभावोच्छेद एव स्यात्। अथ एकदेशेन तदा अनित्यत्वं प्रसज्येत। स्वभावेनापि नोत्पद्यन्ते भावाः, विद्यमानत्वात्, उत्पन्नवत्।

ईश्वरोऽपि नास्ति हेतुः, पृथिव्यादिशरीरत्वात्, पृथिव्यादिवत्। नैकस्वभावोऽपि स युज्यते, परस्परविरोधात्। न चानेकात्मकोऽपि, पृथिव्यादिष्वनेकत्वस्यासम्भवात्। अत्यन्तं सूक्ष्मोऽपि नास्ति, उत्पन्नानां मूर्तत्वाद्, अतः (सोऽपि) तथैव (मूर्तः) स्यादिति।[1] नास्ति स सर्ववित् (सर्वज्ञः), अत्यन्तं प्रतनुत्वात् मुक्तात्मवत्। नास्ति च सर्वकर्ताऽपि सूक्ष्मत्वात् परमाणुवत्। न चायं नित्यः पृथिव्यादिमूर्तित्वात्

---

[1] यथोक्तम् तर्कज्वालायाम्--

सूक्ष्मोऽचिन्त्यतनूकरश्च निखिलज्ञाता च सर्वङ्करः
योगाभ्यासलभः सुधीश्च विषयो ध्यानस्य च ध्यायिनाम्।

चन्द्रार्कावनिवारिवह्निपवनाकाशकायस्तथा
शान्त्यानन्दसुखेप्सुभिस्तु सततं सम्भावितव्यो हरः।।

--ध.धा.द.गी.(पुनरुद्धार), १३३ का., ति.सं.।

पृथिव्यादिवत्। नैव तावदीश्वरः सर्वधर्माणामुत्पादहेतुः युगपदुत्पादाभावात्, कुम्भकारवत्। नास्ति रूपादीनामीश्वरेणोत्पादः सत्त्वाद् ईश्वरवत्। नास्ति सर्वकर्तृत्वमीश्वरस्य अनात्मकत्वाद् घटवत्, यद्येकः स्यादात्मरूपस्तदा बद्धपुरुषवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत। अहेतुवादिनस्तु लोकेनैव निराक्रियन्त इति तत्र न किञ्चिदपि वक्ष्यते।

अथ कथमुत्पद्यन्ते भावा इति चेद्? **अज्ञानेन तृष्णया जाताः** इत्युक्तम्। यथा अनुपहतबीजं खाद्यादिसहायम् उदकेन चार्द्रीकृतम् अङ्कुरमभिनिर्वर्तयति तथैव अज्ञानेनावृतं कर्म तृष्णोदकेनार्दीकृतं भवाङ्कुरमभिनिर्वर्तयति। तत्राज्ञानं सत्येषु सम्मोहः, अविद्या अन्धकारोऽदर्शनं चेति पर्यायाः। अविद्यान्धभूतो हि बालः इह अमुत्र च सुखावाप्तये कुशलाकुशलं कर्म करोति। इदमेव तावदस्य अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः।

त्रिविधं हि कर्म-कुशलम्, अकुशलम्, आनेञ्ज्यं च। रूपारूपावचरं कुशलं कर्म आनेञ्ज्यम्।[1] इमानि त्रीण्यपि कर्माणि अविद्याप्रत्ययजनितानि त्रैधातुकतृष्णया आर्द्रीकृतानि पुनः पुनर्भवाङ्कुरमभिनिष्पादयन्तीति वेदितव्यम्।

आत्मनि मिथ्यादृष्टिः[2] शीलव्रतपरामर्शो विचिकित्सा च ।
मुक्तिपुरद्वाराणां बाधकं संयोजनत्रयमवगच्छेत्[3] ।।५१।।

---

[1] यदुक्तं सूत्रे-- त्रिविधं कर्म पुण्यकर्म अपुण्यकर्म आनिंज्यकर्म च। पुण्यकर्म कतमत्। कामप्रतिसंयुक्तं कुशलं कर्म। अपुण्यकर्म कतमत्। अकुशलं कर्म। आनिंज्यकर्म कतमत्। रूपारूप्यप्रतिसंयुक्तं कुशलं कर्म।। यदुक्तं सूत्रे अविद्यालम्बनाः संस्काराः पुण्यानिंज्या अपुण्यानिंज्याश्चेति। कतमे पुण्यानिंज्या अविद्यालम्बनाः संस्काराः उत्पद्यन्ते। द्विविधः संमूढः। फलविपाकसंमूढः तत्त्वार्थसंमूढश्च। फलविपाकसंमूढस्यापुण्याः संस्काराः। तत्त्वार्थसंमूढस्य पुण्यानिंज्याः संस्काराः।

--अभि.समु., पृ. ५४, वि.भा.प्र. १९५०।

[2] सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्या विषयं च ज्ञात्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव।।

--म.अ., ६/१२० (म.शा.वृ., पृ. १४५)

[3] त्रयमेवाह-- सत्कायदृष्टिं शीलव्रतपरामर्शं विचिकित्सां च। ......अपरे पुनराहुः --
अगन्तुकामता मार्गविभ्रमो मार्गसंशयः।

Nepal Sanskrit University, Baluwatar

इत्यन्तराया मोक्षस्य गमनेऽतस्त्रिदेशना।।

त्रयोऽन्तराया देशान्तरगमने भवन्ति-- अगन्तुकामता, मार्गविभ्रमोऽन्यमार्गसंश्रयणात्, मार्गसंशयश्च। एवं मोक्षगमनेऽप्येत एव त्रयोऽन्तरायाः। तत्र सत्कायदृष्ट्या मोक्षादुत्त्रासमापन्नस्यागन्तुकामता भवति। शीलव्रतपरामर्शेनान्यमार्गसंश्रयणान्मोक्षविभ्रमः। विचिकित्सया मार्गसंशयः। एषां मोक्षगमनान्तरायाणां प्रहाणं द्योतयन् भगवान् क्लेशत्रयस्यैव प्रहाणं देशितवान्।

--अभि.को.भा., पृ. ८४२, ;

त्रयमेवाहेति। सत्कायदृष्टि-शीलव्रतपरामर्श-विचिकित्सात्रयमेवाह। क आह? भगवान्। तथा हि सूत्रे पठ्यते-- "कियता भदन्त स्रोतापन्नो भवति? यतश्च महानामन् आर्यश्रावकः 'इदं दुःखमार्यसत्यम्' इति यथाभूतं प्रजानाति, 'अयं दुःखसमुदय...', 'अयं दुःखनिरोधः....', 'इयं दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्यम्' इति यथाभूतं प्रजानाति, त्रीणि चास्य संयोजनानि प्रहीणानि भवन्ति, प्रज्ञातानि, तद्यथा-- सत्कायदृष्टिः, शीलव्रतपरामर्शः, विचिकित्सा च। स एषां त्रयाणां संयोजनानां प्रहाणात् स्रोतापन्नो भवति अविनिपातधर्मा सम्बोधिपरायणः सप्तकृद्भवपरमः सप्तकृत्वो देवाँश्च मनुष्याँश्च संसृत्य सन्धाव्य दुःखस्यान्तं करिष्यति" इति।

---अभि.को.स्फु., पृ. ८४१, बौ.भा.प्र. ;

संयोजनानि कति कथं संयोजनं कुत्र संयोजनम्। संयोजनानि नव। अनुनयसंयोजनम् प्रतिघसंयोजनम् मानसंयोजनम् अविद्यासंयोजनम् दृष्टिसंयोजनम् परामर्शसंयोजनम् विचिकित्सासंयोजनम् ईर्ष्यासंयोजनम् मात्सर्यसंयोजनं च।

अनुनयसंयोजनं कतमत्। त्रैधातुको रागः। अनुनयसंप्रयोजनेन संप्रयुक्तः त्रैधातुकं नोद्वेजयति। अनुद्वेगेन अकुशलसमुदाचारः कुशलासमुदाचारश्च। तेन आयत्यां दुःखाभिनिवृत्तौ दुःखेन संयुज्यते। प्रतिघसंयोजनं कतमत्। सत्त्वेषु दुःखे दुःखस्थानीयेषु च धर्मेषु चित्तस्य विहिंसा। प्रतिघसंयोजनेन संप्रयुक्तो प्रतिघनिमित्तेषु चित्तं नोपेक्षते। अनुपेक्षया च अकुशलसमुदाचारः कुशलासमुदाचारश्च। तेन आयत्यां लौकिकदुःखाभिनिवृत्तौ दुःखेन संयुज्यते। मानसंयोजनं कतमत्। सप्त मानः। मानोऽतिमानो मानातिमानोऽस्मिमानोऽभिमान् ऊनमानो मिथ्यामानश्च। .... मानसंयोजनेन संप्रयुक्त आत्मात्मीयौ न संजानाति। असंज्ञानात् आत्मात्मीयग्रहः अकुशलसमुदाचारः कुशलासमुदाचारश्च। तेन आयत्यां दुःखाभिनिवृत्तौ दुःखेन संयुज्यते। अविद्यासंयोजनं कतमत्। त्रैधातुकमज्ञानम्। अविद्यासंयोजनेन संप्रयुक्तो दुःखधर्मान् समुदयधर्मान् नाध्यवस्यति। अनध्यवसायेन अकुशलसमुदाचारः कुशलासमुदाचारश्च। तेन आयत्यां लौकिकदुःखाभिनिवृत्तौ दुःखेन संयुज्यते। दृष्टिसंयोजनं कतमत्। तिस्रो दृष्टयः। सत्कायदृष्टिरन्तग्राहदृष्टिर्मिथ्यादृष्टिश्च। दृष्टिसंयोजनेन संप्रयुक्तो मिथ्यानिःसरणं परिकल्पितविप्रतिसारं पर्येषते अभिनिविशते। मिथ्यानिःसरणाभिनिवेशेनाकुशलसमुदाचारः कुशलासमुदाचारश्च। तेन आयत्यां लौकिकदुःखाभिनिवृत्तौ दुःखेन संयुज्यते। परामर्शसंयोजनं कतमत्। दृष्टिपरामर्शः शीलव्रतपरामर्शश्च। परामर्शसंयोजनेन संप्रयुक्तो मिथ्यनिःसरणोपायं कल्पयत्यभिनिविशते। मिथ्यानिःसरणोपायाभिनिवेशेनाकुशलसमुदाचारः कुशलासमुदाचारश्च। तेन आयत्यां लौकिकदुःखाभिनिवृत्तौ दुःखेन संयुज्यते। विचिकित्सासंयोजनं कतमत्। सत्येषु विमतिः। विचिकित्सासंयोजनेन संप्रयुक्तो बुद्धधर्मसंघेषु रत्नेषु विचिकित्सते रत्नत्रयं न समुदाचरति।

(सुगममेतत्) इति। एवंविधेभ्यः स्कन्धेभ्यो विमोक्षार्थं को हि नाम सहायक इति चेत्?

(सुगममेतत्) एवं हि सति तादृशेभ्यः स्कन्धेभ्यो विमोक्षार्थं को हि नाम सहायकः स्यादिति चेदाह--

आत्मापेक्षो मोक्षः परस्मान्न लभ्यते किमपि साहाय्यम् ।
चत्वार्यार्यसत्यानि वृत्तस्थः श्रुतचिन्ताभिरभ्यस्येच्च ।।५२।।

इति। मोक्षस्तावत् निजचित्तनिर्भर इति न मोक्षाधिगतिः सहायकोपकारनिर्भरा।[1] तदा क उपाय इति चेद्? **वृत्तस्थः श्रुतचिन्ताभिः**[2]

रत्नत्रयासमुदाचारेणाकुशलसमुदाचारः कुशलासमुदाचारश्च। तेन आयत्यां लौकिकदुःखाभिनिवृत्तौ दुःखेन संयुज्यते। ईर्ष्यासंयोजनं कतमत्। लाभसत्काराध्यवसितस्य परसंपत्तावमर्षकृतः चेतसो व्यारोषः। ईर्ष्यासंयोजनेन संप्रयुक्तो लाभसत्कारान् अनुनयति धर्मं न गुरूकरोति। लाभसत्कारगुरुकारेणाकुशलसमुदाचारः कुशलासमुदाचारश्च। तेन आयत्यां लौकिकदुःखाभिनिवृत्तौ दुःखेन संयुज्यते। मात्सर्यसंयोजनं कतमत्। लाभसत्काराध्यवसितस्य परिष्कारेषु चेतस आग्रहः। मात्सर्यसंयोजनेन संप्रयुक्त उपचयमनुनयति तद्वर्जनतां च न सत्करोति। उपचयानुनयेनाकुशलसमुदाचारः कुशलासमुदाचारश्च। तेन आयत्यां लौकिकदुःखाभिनिवृत्तौ दुःखेन संयुज्यते।

---अभि.समु., पृ. ४५-४६, वि.भा.प्र. ;

तद्यथा-- संयोजनत्रयप्रहाणे सति षोडशे मार्गे अन्वयज्ञानक्षणे यत् क्लेशप्रहाणं तत् स्रोतआपत्तिफलम्।

--म.शा.वृ., पृ. २१०, बौ.भा.प्र. ;

सब्बसंयोजनं छेत्वा यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।। --धम्मपद, २६/१५ ।

[1] अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं।।

अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा संयमयत्तानं अस्सं भद्दं व वाणिजो।।

तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता।

--धम्मपद, १२/४, २५/२१, २०/४ ;

देशितो वो मया मार्गस्तृष्णाशल्यस्य कर्त्तनः।
युष्माभिरेव कर्त्तव्यमाख्यातारस्तथागतः।। --हेवज्र.पं.मुक्तावलि, पृ. ९१, ति.सं.सं. २०००।

[2] वृत्तस्थः श्रुतचिन्तावान् भावनायां प्रयुज्यते।

इत्याद्युक्तम्। श्रुतिस्तावद् युक्तियुक्ता अनुरूपा च वेदितव्या। शीलं (वृत्तं) हि अनुपहतत्वादियुक्तम्। चिन्ता तावत् निर्वेधभागीयपक्षा ज्ञेया। इत्येवं वृत्तश्रुतचिन्तान्वितो भूत्वा चतुरार्यसत्येष्वभ्यासो विधेयः। इत्थं निर्वाणमधिगतं भविष्यतीत्यभिप्रायः।

अधिशीलचित्तप्रज्ञास्तिस्त्रोऽपि शिक्षाः सदैव शिक्षणीयाः ।
एतास्वन्तर्भूतानि शतमेकपञ्चाशच्च शिक्षापदानि ।।५३।।

इति। **अधिशीलेत्यादिना** निर्वाणगामिनी प्रतिपदा निर्दिश्यते। अकुशलेभ्यो विरतिः निर्वाणपरिणामना चेत्यधिशीलम्। आर्यमार्गोत्पादहेतुभूतानि चत्वारि ध्यानान्यधिचित्तम्। निर्वेधभागीयानुरूप्येणाधिप्रज्ञा वेदितव्या। एतासु तिसृषु शिक्षासु सर्वाः शिक्षाः संगृह्यन्त इति दर्शयितुमाह-- अत्र **चान्तर्भूतानि शतमेकपञ्चाशच्च शिक्षापदानि**[1] एतासु तिसृषु सर्वेषामेकपञ्चाशदुत्तरैकशतशिक्षापदानामन्तर्गृहीतत्वादत्रैव

सत्यानि हि द्रष्टुकाम आदित एव शीलं पालयति। ततः सत्यदर्शनस्यानुलोमं श्रुतमुद्गृह्णाति, अर्थं वा श्रृणोति। श्रुत्वा चिन्तयति। अविपरीतं चिन्तयित्वा भावनायां प्रयुज्यते। समाधौ तस्य श्रुतमयीं प्रज्ञां निश्रित्य चिन्तामयी जायते। चिन्तामयीं निश्रित्य भावनामयी जायते।

--अभि.को.भा., ६/५, पृ. ८९१ ।

[1] द्रष्टव्यम् -- प्रतिमोक्षसूत्रम्, पृ. ५, गंगानाथ झा शोध संस्थानम्, इलाहाबाद, १९५६ ; विनयसूत्र, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्याङ्कः-७४, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९८१ ;

तुलनीयम्-- तत्रिमे चत्तारो पाराजिका धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति- मैथुनपरिसेवने, अदिन्नादाने, जीविता वोरोपने, उत्तरिमनुस्सधम्मालापने ; इमे को पनायस्मन्तो तेरस सङ्घादिसेस धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति- सुक्कविस्सट्ठियं, कायसंसग्गे, दुट्ठुल्लवाचायं, अत्तकामपारिचरियायं, सञ्चरित्तापज्ञने, कुटिमापने, बिहारमापने, अमूलकाधिकरणे, अञ्ञभागियाधिकरणे, संघभेदे, संघभेदकानुवत्तने, दुब्बचभूते, कुलदूसने ; इमे खो पनायस्मन्तो द्वे अनियता धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति- पटिच्छन्ने एको एकाय निसज्ञने, एको एकाय निसज्ञने ; इमे खो पनायस्मन्तो तिंस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति- अतिरेकचीवरधारणे, तिचीवरविप्पवासे, अकालुप्पन्नचीवरनिक्खिपने, पुराणचीवरधोबापने, अञ्ञातिकाय चीवरपटिग्गहे, अञ्ञातकं चीवरविञ्ञापने, बहुचीवरविञ्ञापने, अप्पवारितचीवरविकप्पापज्ञने, अप्पवारित- चीवरविकप्पापज्ञने, वेय्यावच्चकरस्स चीवरचेतापनदाने, कोसियमिस्सकसन्थतधारणे, सुद्धकाळकसन्थतधारणे, सुद्धकाळकसन्थतधारणे, नवसन्थतकारापने, निसीदनसन्थतकारापने, एळकलोमहरणे, एळकलोमधोबापने, जातरूपरजतसादने, रूपियसंबोहारसमापज्ञने, कयविक्कये, अनिसेकपत्तधारणे, ऊनपञ्चबन्धनपत्तधारणे, भेसज्ञसन्निधिकरणे, वस्सिकसाटिकचीवरपरियेसने, सामं दत्वा चीवर अच्छिन्दने, सुत्तं विज्ञापेत्वा चीवरवायापने,

शिक्षासु सायासमभ्यसनीयमिति। एतानि एकपञ्चाशदधिकैकशतं शिक्षापदानि प्रातिमोक्षसूत्रेणावगन्तव्यानि।

राजन्, बुद्धेनोक्तः कायगता स्मृतिश्चैकायनो मार्गः ।

चीवरविनने विकप्पापज्ञने, अञ्ञेकचीवरनिक्खिपने, अन्तरघरे चीवरनिक्खिपने, सङ्घिकलाभं अत्तनो परिणामने ; इमे खो पनायस्मन्तो द्वेनवुति पाचित्तिया धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति- मुसावादे, ओमसवादे, पेसुञ्ञे, पदसो धम्मवाचने, सहसेय्ये, सहसेय्ये, मातुगामस्स धम्मदेसने, अनुपसम्पन्नस्स भूतुत्तरिमनुस्सधम्मालपने, अनूपसम्पन्नस्स दुट्ठुल्लापत्तिरोचने, पथवीखणने, भूतगामपातव्ये, अञ्ञेनञ्ञं पटिचरणे, भिक्खु उज्झापने, सेनासननुद्धरणे, सन्थरित्वा सेय्ये अनुद्धरिते, अनुपखज्ञसेय्यकप्पने, भिक्खुनिक्कड्ढने, आहञ्च पादके मञ्चे अभिनिसीदने, महल्लकं विहारं कारयमाने, सप्पाणक उदक सिञ्चने, भिक्खुनोवादकसम्पन्ने, अत्थङ्गते सुरिये ओवादने, भिक्खुनुपस्सयुपसङ्कमने, भिक्खुनोवादकथेरानुधंसने, अञ्ञातिकाय भिक्खुनिया चीवरदाने, भिक्खुनिया चीवरसिञ्चने, भिक्खुनीहि एकतो अद्धानमग्गप्पटिपन्नो, भिक्खुनिया एकतो नावाभिरुहने, भिक्खुनिपरिपाचितभोजने, भिक्खुनिया रहो निसज्ञने, आवसथपिण्डभोजने, गणभोजने, परस्परभोजने, पूवमन्थपटिग्गहणे, पावारिते पुन खादने, भुत्ताविं पुन पवारणे, विकालभोजने, सन्निधिकारे, पणीतभोजनविञ्ञापने, दन्तपोनखादने, अञ्ञतित्थियानं भोजनदाने, भिक्खू उय्योजने, कुले अनुपखज्ञ निसज्ञने, एको एकाय रहो निसज्ञने, कुलानि पयिरुपासने, पच्चयपवारणासादियने, उय्युत्तसेनादस्सने, सेनाय वासे, उय्योधिकगमने, सुरापाने, अङ्गुलिपतोदके, उदके हसधम्मे, अनादरिये, भिसापने, जोतिविसिब्बने, नहाने, दुब्बण्णकारणे, चीवरविकप्पने, चीवरअपनिधाने, सञ्चिच्च पाणं जीविता वोरोपने, सप्पाणक उदकपाने, अधिकरणउक्कोटने, दुट्ठुल्लापत्तिपटिच्छादने, ऊनवीसतिवस्स उपसम्पादने, थेय्यसत्तेन मग्गपटिपज्ञने, मातुगामेन मग्गपटिपज्ञने, मिच्छादिट्ठियं, उक्खित्तसम्भोगे, नासित्तकसामणेरसम्भोगे, नासित्तक सामणेरसम्भोगे, सिक्खापदविवण्णके, मोहनके, पहारदाने, तलसत्तिकउग्गिरणे, कुक्कुच्च उपदहने, उपस्सुतिट्ठाने, कम्मपटिबाहने, छन्दं अदत्वा गते, चीवरं दिन्ने खिय्यने, सङ्घिकलाभपरिणामने, राजन्ते पुरप्पवेसने, रतन उग्गहणने, विकालगामप्पविसने, सूचिघरकारापने, मञ्चपीठकारापने, तूलोनद्धामञ्चपीठकारापने, निसीदनकारापने, कण्डुप्पटिच्छादिकारापने, वस्सिकसाटिककारापने, सुगतचीवरप्पमाण चीवर कारापने ; इमे खो पनायस्मन्तो चत्तारो पाटिदेसनीया धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति- भिक्खुनिहत्थतो खादनीयगहणे, भिक्खुनी-वोसासने, सहत्थाखादनीयपटिग्गहणे, अप्पसंविदितखादनीयपटिग्गहणे ; इमे खो पनायस्मन्तो सेखिया धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति- दसपरिमण्डलवग्गो, दसउज्ञग्घिकवग्गो, दसखम्भकवग्गो, दससक्कच्चवग्गो, दसकबळवग्गो, दससुरुसुरुवग्गो, पन्नरपादुकावग्गो ; इमे खो पनास्मन्ते सत्त अधिकरणसमथा धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति- उप्पन्नुपपन्नानं अधिकरणानं समथाय वूपसमाय सम्मुखाविनयो दातब्बो, सतिविनयो दातब्बो, अमूळ्हविनयो दातब्बो, परिञ्ञाय कारेतब्बं, येभुय्यसिका, तस्सपापियसिका, तिणवत्थारको ।
--पातिमोक्ख(पालि), आलोक प्रकाशन, नागपुर।

रक्षेदिमं सयत्नं स्मृतिनाशाच्च सर्वधर्मप्रध्वंसः ।।५४।।

इति। अनेन तावन्निर्वाणगामिनमेकमात्रमार्गं तथागतो निर्दिष्टवान्। कायगतेति कायोपलम्भनम्। सा तावत् कायस्योत्थानोपवेशनगमनशयनावस्थाम् ईर्यापथाख्यां प्रत्यवेक्षते।[1] सा हि कायगता स्मृतिः[2] सुगतेन एकायनमार्गत्वेनोपदिष्टा। यथोक्तम्-- **"भिक्षवः, अयं हि सत्त्वानां विशोधकः दुःखदौर्मनस्याद्यतिक्रान्तः प्रतिपत्तिधर्मावगमकः निर्वाणसाक्षात्कारी एकायनो मार्गः, तद्यथा कायगता**

---

[1] द्रष्टव्यम्-

एतदेव समासेन संप्रजन्यस्य लक्षणम्।
यत्कायचित्तावस्थायाः प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः।। --बो.च., ५/१०८

[2] इह भिक्षवो भिक्षुरिति। इहेति कामधातौ। अध्यात्मकाये प्रत्यात्मकाये कायानुदर्शीति। अनुदर्शनं प्रज्ञा। तद्यस्यास्ति सोऽनुदर्शी पुद्गलः। दण्डिवत्। ततः सप्तमीतत्पुरुषः। कायेऽनुदर्शी कायानुदर्शी। स्वसामान्यलक्षणोपलक्षणया। आतापीति वीर्यवान्। स्मृतिमानिति। स्मृतीन्द्रियवानित्यर्थः। संप्रजानन्निति। प्रज्ञासमन्वित इत्यर्थः। विनीय लोकेऽभिध्यादौर्मनस्ये इति। अपनीयेत्यर्थः।

--अ.वि.सू.नि., पृ. २०८-२०९, के.पी.जा.प्र. १९७१ ;

का पुनरनुपश्यना? प्रज्ञा। तया हि तद्वाननुपश्यः क्रियते। यतश्चोक्तम् 'अध्यात्मं काये कायानुपश्यी विहरति' इति। अनुपश्यमस्यास्ति दर्शनमित्यनुपश्यी, कायेऽनुपश्यी। ...(अभि.को.भा., पृ. ९०४) तया हि प्रज्ञया तद्वान् प्रज्ञावान्। अनुपश्यः क्रियत इति। अनुपश्यतीत्यनुपश्यः। "पाघ्राध्माधेट्दृशः शः" (पा.सू. ३.१.१३७) इति शप्रत्ययः। अनुपश्यं पुद्गले करोतीत्यनुपश्यति। प्रज्ञास्वभावे त्वेवं विग्रहः -- अनुपश्यस्य करणमनुपश्यनेति। तया हि प्रज्ञया तद्वान् प्रज्ञावाननुपश्यः क्रियते। यथा प्रज्ञायोगात् प्राज्ञः पुद्गल उच्यते, एवमनुपश्यनायोगादनुपश्य इत्यतोऽनुपश्यना प्रज्ञेति सिद्धम्। यतश्चोक्तं भगवता-- अध्यात्मं प्रत्यात्मं काये कायानुपश्यी कायानुदर्शी विहरतीति। तेनापि ज्ञायतेऽनुपश्यना प्रज्ञेति। कथमिति? साधयति-- अनुपस्यमस्यास्ति। किं तद्? दर्शनम्। दर्शनलक्षणं ह्यनुपश्यम्। अतोऽनुपश्यी पुद्गलः, दण्डिवत्। ततः सप्तमीतत्पुरुषः -- कायेऽनुपश्यी कायानुपश्यीति। कायमनुपश्यितुं शीलमस्येति कायानुपश्यीति णिनिरपि (पा.सू.३.२.७८) यदि विधीयेत, तथाप्येतद्रूपं सिद्ध्यतीति पश्यामः। ....

शुचिविपर्यासस्य प्रतिपक्षेण कायस्मृत्युपस्थानम्। सुखविपर्यासस्य प्रतिपक्षेण वेदनास्मृत्युपस्थानम्। यत्किञ्चिद् वेदितमिदमत्र दुःखस्येति। नित्यविपर्यासस्य प्रतिपक्षेण चित्तस्मृत्युपस्थानम्। चित्तस्य लघुपरिवर्तित्वात्। आत्मविपर्यासस्य प्रतिपक्षेण धर्मस्मृत्युपस्थानम्।

--अभि.को.स्फु., पृ. ९०४, ९०६ बौ.भा.प्र. १९८७।

स्मृतिरिति विस्तरः''।[1] तत्रैकायनमार्गत्वं नाम नैयत्येन ऋजुतया शैघ्र्येण च प्रापकंत्वम्। अत एव **एकायनः** इति मार्गानुशंसावचनः। एकेनैव अयत इति एकायनमार्गः, द्वयाकाराभावाद् एकस्वभावावस्थानाच्चेत्युक्तम्। **रक्षेदिमं सयत्नम्** इति तादृशी तावत् स्मृतिः प्रयोजनबाहुल्यात् त्वया प्रयत्नेन संरक्षणीयेति। तस्या उपघाते सति सर्वान्य(कुशल)धर्माणां विघातः, किमुत निर्वाणाधिगमः। एतद् दर्शयितुमाह-- 'स्मृतिनाशाच्च सर्वधर्मप्रध्वंसः'[2] इति। इत ऊर्ध्वम्

बहुबाधं तु जीवनं वायूद्भूतजलबुद्बुदवदनित्यं च।
आश्चर्यं जागर्तेः क्षणमिदं निःश्वासोच्छ्वासनिद्राभ्यः ।।५५।।

बहुबाधं तु जीवनम्[3] इत्यादिना मोक्षाधिगमहेतुः संवेगोत्पादिका मरणानुस्मृतिस्तावत् प्रस्तूयते। विघ्नबहुलमायुस्तु **वायूद्भूतजलबुद्बुदवदनित्यम्** इत्यनेन एकक्षणत्वेनायुर्निर्दिष्टम्।

आश्चर्यं जागर्तेः क्षणमिदं निःश्वासोच्छ्वासनिद्राभ्यः इत्यत अनेकानर्थमूलमायुरेकक्षणात्मकमेव। पुरुषस्य आश्वासस्ततः प्रश्वासः ततश्च स्वप्ननिद्रादितो यज्जागरणं

---

[1] तुलनीयम्--

यथोक्तम्-- तत्र अल्पदुःखाभ्यासपूर्वकं कष्टकष्टतराभ्यासः सिध्यति। यथा च अभ्यासवशात् सत्त्वानां दुःखसुखसंज्ञा, तया सर्वदुःखोत्पादेषु सुखसंज्ञाप्रत्युपस्थानाभ्यासात् सुखसंज्ञैव प्रत्युपतिष्ठते। एवं निष्पन्दफलं च सर्वधर्मसुखाक्रान्तं नाम समाधिं प्रतिलभते।

--बो.च.पं., पृ. ८४-८५, मि.सं.।

[2] बद्धश्चेच्चित्तमातङ्गः स्मृतिरज्वा समन्ततः।
भयमस्तंगतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम्।।

यदि बद्धः कथंचिद् भवेद्। स्मृतिर्वक्ष्यमाणलक्षणा। सैव रज्जुर्बन्धनोपायत्वात्। समन्ततः सर्वथा असत्पक्षे प्रचारनिरोधात्। तदा भयमस्तंगतं प्रत्यस्तमितं सर्वमशेषम्। सर्वं कल्याणमभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणम्। आगतं संप्राप्तम्। देवश्चेद् वृष्टो निष्पन्नाः शालय इति यथा।

--बो.च.पं., ५/३, पृ. ५०, मि.सं.।

[3] अध्रुवं त्रिभवं शरदभ्रनिभं नटरङ्गसमा जगि जन्मच्युतिः।
गिरिनद्यसमं लघुशीघ्रजवं व्रजतायु जगे यथ विद्यु नभे ।।

--शि.समु., पृ. ११३, मि.सं.।

तन्महदाश्चर्यकरम्।[1] द्विविधौ तावदनर्थौ। बाह्यास्तु वायु-सूर्य-सरीसृपादयः, आभ्यन्तरास्तु वाय्वादीनां प्रकोपात् समुत्थिता ज्वरादिव्याधयः।

विशरणगलनः पूतिः शोषासारशुचिस्वभावः कायः ।
रजःसधर्मी चान्ते सदा वियोगशीलो नश्वरो ज्ञेयः ।।५६।।

इत्यादिना काये सारबुद्धिप्रहाणाय प्रवर्त्यते। अथवा मरणानुस्मृतिं प्रति प्रेर्यत एव। **कायः रजःसधर्मी चान्ते** इत्यादीनामर्थस्तावत् सूत्रगतानां पञ्चपदानामानुरूप्येण बोद्धव्यः। यथोक्तं भगवता-- **"मृतः कालातीतो वा कायः सम्बन्धिभिरग्निना दग्धीक्रियते, जले वा विसर्ज्यते भूमौ वा निधीयते अथवा स वायुसूर्याभ्यां शुष्कीक्रियते, आहोस्वित् तिर्यग्योनिगतैर्नाना जन्तुभिर्भुज्यते"** इति। तत्र वियुज्यमानस्वभावात्मकः कायः **रजः** इत्यादिना अग्निना दग्धीभवतीत्यर्थः। **शोषः** इति भूमौ निधानेन अथवा वायुना सूर्येण वा शुष्यतीति पदद्वयार्थः। **पूतिः** इति जले उत्सर्जनेनेत्यर्थः। **अशुचिः** इति तिर्यग्योनिगतैर्नाना-जन्तुभिर्भक्ष्यते। कथं सारहीन इति चेद्? **विशरणगलनो वियोगशीलो नश्वरो ज्ञेयः** इत्यादिभिः नश्वरादिभिः साररहितत्वं[2] निर्दिश्यते। तत्र तावत् **नश्वरः** इत्यग्निना दाहात् वायुसूर्यादिभिः शोषाच्च विशरण-गलन-धर्मी, जलेन पूतित्वाद् वा विशरणशीलः। जन्तुभिः कवलीकरणेन विनाशाद् वा वियोगशील इति **ज्ञेयः** अवगन्तव्य इत्यर्थः।

पृथ्वीमेरुसमुद्राः सप्तार्कज्वालैर्नावशिष्यन्ते ।

---

[1] प्रश्वसित्ययमन्वक्षं यदुच्छ्वसिति मानवः ।
अवगच्छ तदाश्चर्यमविश्वास्यं हि जीवितं ।।

इदमाश्चर्यमपरं यत्सुप्तः प्रतिबुध्यते ।
स्वपित्युत्थाय वा भूयो बह्वमित्रा हि देहिनः।।

--सौन्दरनन्दम्, १५/५७-५८।

[2] न खादितव्यमशुचि त्वया पेयं न शोणितम्।
नान्त्राणि चूषितव्यानि किं कायेन करिष्यसि।।

--बो.च., ५/६५

धूलिमात्रं हि मूर्ताः का कथा दुर्बलवपुषां मानवानाम् ।।५७।।

पृथ्वीमेरुसमुद्राः इत्यादिना सुदृढानामप्येषाम् अनित्यतादर्शनात् स्वकायं प्रति सारहीनत्वं बुद्धौ समर्प्यते। अत एव पृथ्वीसुमेरुसमुद्रादयः पदेऽत्र संगृहीताः। ते च **सप्तार्कज्वालैर्नावशिष्यन्ते**[१] इति सप्तानां सूर्याणामुदयात् प्रज्वलनमभिहितम्। येषु

---

[१] संवर्तन्यः पुनस्तिस्रो भवन्त्यग्न्यम्बुवायुभिः।
एकत्र ध्याने सत्त्वाः समं संवर्तन्ते एतस्यामिति संवर्तनी। १. सप्तभिः सूर्यैस्तेजःसंवर्तनी भवति। २. वर्षोदकेनाप्संवर्तनी। ३. वायुप्रकोपाद् वायुसंवर्तनी। ताभिश्च भाजनानां सूक्ष्मोऽप्यवयवो नावशिष्यते।

--अभि.को.भा., ३/१००, पृ. ५५७-५५८, बौ.भा.प्र. ;

केन पुनः क्रमेणैताः संवर्तन्यो भवन्ति? **सप्ताग्निना**, सप्त संवर्तन्यस्तेजसा भवन्ति। ततः -- **अद्भिरेका**, सप्तानां तेजःसंवर्तनीनामनन्तरमद्भिः संवर्तनी भवति। **एवं गतेऽद्भिः सप्तके पुनः। तेजसा सप्तकः**, एतेन क्रमेणाप्संवर्तनीनां गते सप्तके पुनः तेजःसंवर्तनीनां सप्तको भवति। **पश्चाद् वायुसंवर्तनी ततः।। १०२।।** पश्चादेका वायुसंवर्तनी भवति। किं कारणम्? यथैव हि तेषां सत्त्वानां समापत्तिविशेषादात्मभावानां स्थितिविशेषः, तथा भाजनानामपामिति ता एता भवन्ति। एवं च कृत्वा-- षट्पञ्चाशत् तेजःसंवर्तन्यः, सप्त अप्संवर्त्तन्यः, एकावायुसंवर्तनी।

--अभि.को.भा. ३/१०२, पृ. ५६५-५६६, बौ.भा.प्र. ;

तेषां तथा सुचिरं महानिरयान्महानिरयं संक्रामतां तेजःसंवर्तनी प्रादुर्भविष्यति। तेजःसंवर्तन्यां प्रादुर्भूतायां येऽन्येषु लोकधातुषु महानिरयाः, तत्र ते क्षेप्स्यन्ते। ते तेषु महानिरयेषु उपपत्स्यन्ते। ते तत्र विक्षिप्तास्तेषु महानिरयेषूपपन्नाः समानास्तत्रापि महानिरयान्महानिरयं संक्रमिष्यन्ति। तेषां तत्रापि महानिरयान्महानिरयं संक्रामतां तत्रापि पुनरेव तथैव तेजःसंवर्तनी प्रादुर्भविष्यति। ते तस्यां तेजःसंवर्तन्यां प्रादुर्भूतायां ततश्च्युताः समानाः पुनरेव तथैव महानिरयान्महानिरयं संक्रमिष्यन्ति। तेषां तत्रापि सुचिरं महानिरयान्महानिरयं संक्रामतां तत्रापि तथैव तेजःसंवर्तनी प्रादुर्भविष्यति। ते तस्यां तेजःसंवर्तन्यां प्रादुर्भूतायां पुनरेव ततश्च्युतास्तेनैव अक्षीणेन सावशेषेण कर्मणा इहैव लोकधातौ पुनः क्षेप्स्यन्ते। क्षिप्ताः सन्तो महानिरयेषूपपत्स्यन्ते। ते पुनरेव तानि महानिरयेषु महान्ति महानिरयदुःखानि प्रत्यनुभविष्यन्ति। तावत्प्रत्यनुभविष्यन्ति, यावत्पुनरेव तेजःसंवर्तनी प्रादुर्भविष्यति। एवं ते बहुदुःखवेदनीयं कर्म प्रत्यनुभविष्यन्ति। --अ.प्र.सू., पृ. ९०-९१, मि.सं. ;

तेजःसंवर्तनी इति नरकगतिमुपादाय यावद्ब्रह्मलोके कश्चित् सत्त्वो नावशिष्टो भवति, तदा शून्यभाजने सप्तसूर्याः प्रादुर्भूय क्रमेण अप्मण्डलमारभ्य यावत् प्रथमं ध्यानं दहन्ति। अन्येषु लोकधातुषु इति त्रिसाहस्रमहासाहस्रेषु।। --आलोकः, पृ. ४०१, मि.सं. ;

सः पुनः संवर्तस्त्रिविधो वेदितव्यः। तेजःसंवर्तन्यवीचिमुपादाय यावद्ब्रह्मलोकात्संवर्तते। अप्संवर्तनी सकलं द्वितीयं ध्यानं संवर्तते। यावत्सकलं तृतीयं ध्यानं संवर्तते। चतुर्थे पुनर्ध्याने तेषां

तैर्दह्यमानकायो विद्यते, अतस्ते मूर्ताः कथिताः। तेऽपि पृथिव्यादयो मूर्तपदार्थाः सप्तानां सूर्याणामुदयेन दग्धीक्रियन्ते। तथा सति **धूलिमात्रं हि मूर्ताः का कथा दुर्बलवपुषां मानवानाम्** इति यदि दृढतराणामपि (महाभूतानां) तेषामीदृशी अवस्था जायते तदा किं पुनस्तावत् दुर्बलकायानां (मानवानां) कथा। तत्रानित्यत्वेन हन्तुमशक्या याऽवस्था, सा नास्त्येव। तत्र पृथिव्यादीनां सप्तसूर्योदयेन दहनं तु सूत्रानुसारेणावसेयम्, यथोक्तं भगवता--

भिक्षवः, कालो भविष्यति यदा चिरं वृष्टिर्न भविष्यति तदा महाभूमौ अस्यां ये बीजजातानि महाभूतजातानि कुनद्यश्च शोषमापत्स्यन्ते। भिक्षवः, चिरकालं यदा वृष्टिर्न भविष्यति तदा लोकेऽस्मिन् द्वितीयस्य सूर्यस्योदयो जायते। तस्योदयेऽस्यां महाभूमौ चतस्रो महानद्यो व्यतिरिच्यान्यासां सर्वासां नदीनामयं शोषकालो भवति। लोके तृतीयेन सूर्योदयेन चतस्रो महानद्योऽनवतप्तादिमहाह्रदा अपि शोषमाप्नुवन्ति। लोके चतुर्थेन सूर्योदयेन महासमुद्रमारभ्य तालवृक्षपर्यन्तं सर्वं शुष्कं जायते। लोके पञ्चमेन सूर्योदयेन शतद्वययोजनपर्यन्त जलं शुष्यति। लोके षष्ठेन सूर्योदयेन एकोऽपि जलबिन्दुर्नावशिष्यते। इयं महापृथिवी पर्वतराजः सुमेरुश्चापि धूमायितो भवति, यथा-- तृणाच्छन्नेन तप्तायःपिण्डेन धूम उद्गतो भवति। सर्वत्र धूम एव धूमो दृश्यते। लोके सप्तमेन सूर्योदयेन सर्वोऽयं त्रिसाहस्रमहासाहस्रो लोकधातुः ज्वलिष्यति, प्रज्वलिष्यति, यथा दग्धे नवनीते सर्पिषि वा छारिकाऽपि नावशिष्यते, एवमेव अशेषान् संस्कृतधर्मान् दग्ध्वा स्वयमपि शान्तिमापद्यन्ते।[1]

चतुर्थध्यानभूमिकानां देवानां सहैव विमानैरुत्पत्तिः। सहैव विमानैः प्रच्युतिर्भवति। तस्मात्तेषां नास्ति संवर्तो। नास्ति संवर्तकारणम्। त्रीणि संवर्तनीशीर्षाणि। द्वितीयं ध्यानं तृतीयं ध्यानं चतुर्थं ध्यानम्।
--यो.भू., पृ. ३१, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५७।

[१] तुलनीयम्-- यदा च पञ्चगतिके लोकसन्निवेश एकोऽपि सत्त्वो न प्रज्ञायते तदोपकरणसम्भवोऽपि न प्रज्ञायते। यदोपकरणसम्भवोऽपि न प्रज्ञायते तदा वृष्टिरपि न प्रज्ञायते। देवे खल्ववर्षति येऽस्यां महापृथिव्यां तृणौषधिवनस्पतयस्त उच्छुष्यन्ते। इदमेव च सूर्यमण्डलं सन्तापकतरं भवत्यकालवृष्टिपरिगृहीतं। षट्प्रकारदाह्यवस्त्वधिकारतश्चापरेषां सूर्यमण्डलानां प्रादुर्भावो भवति यदुत,

अस्यां तावत् तेजःसंवर्तन्यां पृथ्वीसुमेरुसमुद्रादीनां विलयो निदर्शितः। एतेषां सर्वेषां विलय अप्संवर्तन्यां वायुसंवर्तन्यामपि भवतीति वेदितव्यम्।[1] तत्रायं तावद् विशेषः- यथा (तेजःसंवर्तन्यां) द्वितीयस्य सूर्यस्योदयस्तथा अपसंवर्तन्यां क्षारजलवृष्टिः, वायुसंवर्तन्यां च विक्षेपको महावायुरुत्तिष्ठति।

इत्थं सर्वमनित्यं ह्यनात्मकमशरणमनाथमनिकेतम् ।
कदलीतरुरिव राजन् चित्तमपसारयासारसंसारात् ।।५८।।

इत्थं सर्वं इत्यादिना यथोक्तं सर्वमुपसंहृत्य अववादप्रदानं क्रियते। व्याख्यातमेव पूर्वमनित्यमनात्मं च। दुःखतस्त्रातुः कस्यचिदपि स्वामिनोऽभावाद् **अशरणम्**। तादृशस्य समूहस्य सामीप्याभावाद् **अनाथम्**। कुत्सितस्थानं विहाय कस्यचिदन्यस्य निवासस्याभावाद् **अनिकेतम्**। यस्मादेवं लोकश्चायमशरणस्तस्माद् हे नरश्रेष्ठ, त्वया कदलीतरोरिव निःसारात्[2] संसाराच्चित्तमुद्वेजनीयमिति।

सम्प्रति क्षणसम्पद्-रूपं दुर्लभमानवजीवनं दर्शयितुमाह--

सत्त्वानामेव संवर्तनीकर्माधिपत्यतः। तानि पुनः सूर्यमण्डलान्यस्मात्सूर्यमण्डलाच्चतुर्गुणसंतापानि प्रभावतः। ते पुनः सप्त भूत्वा सप्त गुणं तापयन्ति।

षड्वस्तूनि कतमानि। कु...(?) महा...द्रा(?) येषां द्वितीयेन सूर्यमण्डलेन शोषः। कुनद्यो महानद्यो यासां तृतीयेन सूर्यमण्डलेन शोषः। अनवतप्तं महासरो यस्य चतुर्थेन सूर्यमण्डलेन शोषः। महासमुद्रोऽस्य पञ्चमेन सूर्यमण्डलेन शोषः। षष्ठस्य चैकदेशेन शोषः। सुमेरुर्महापृथिवी च ययोः षष्ठेनैव सप्तमेन च सूर्यमण्डलेन सारतविग्रहतया दाहः। तत एव चार्चिर्वायुना प्रेरिता यावद् ब्रह्मलोकं दहन्ती परैति। --यो.भू. पृ. ३५, कल.वि., १९५७।

[1] अप्संवर्तनी कतमा। यतश्च सप्त तेजःसंवर्तन्यः समतिक्रान्ता भवन्ति ततो द्वितीये ध्याने सहजोऽब्धातुः सम्भवति यस्तं भाजनलोकं लवणमिवाब्धातुर्विलोपयति। स चाब्धातुस्तेनैव भाजनलोकेन सहान्तर्धीयते। अन्तर्हितश्च पुनस्तथैव विंशतिमन्तरकल्पांस्तिष्ठति।

वायुसंवर्तनी कतमा। यतश्च सप्ताप्संवर्तन्योऽतिवृत्ता भवन्ति ततः पुनरेका तेजःसंवर्तनी भवति। तदनन्तरं तृतीये ध्याने सहजो वायुधातुः सम्भवति। यस्तं भाजनलोकं वायुनेवाङ्गं शोषयन्नन्तर्धापयति। स च वायुस्तेनैव सहान्तर्धीयते। तथा हि दृश्यते। एकत्यस्य वायुधातौ प्रकुपिते यावदस्थ्यपि कार्श्यमापद्यते। संवृत्तश्च तथैव विंशतिमन्तरकल्पांस्तिष्ठति।

--यो.भू. पृ. ३६, कल.वि., १९५७।

[2] द्रष्टव्यम्-- बो.च.पं., ५/६१-६४, पृ. ६५, मि.सं.।

महार्णवयुगच्छिद्रे हि कूर्मग्रीवार्पणाच्च मानुषं जन्म[1] ।
तिर्यगादिसुदुर्लभं सफलीकुरु सद्धर्माभ्यासान्नरेन्द्र ।।५९।।

इति। एकस्मिन् सागरे निवसन् कच्छप एकसागरस्थितः कच्छप इत्युच्यते। सागरे स्थितः कच्छपो युगस्य छिद्रश्चेति महार्णवयुगच्छिद्र इति पदद्वयसंग्रहः। द्वयोरनयोः संयोगः कूर्मग्रीवार्पणमिति। मनुष्यत्वप्राप्तिस्तु ततोऽपि दुर्लभा। अर्थोऽयं सूत्रेषु विस्तरेण निर्दिष्टः, तथा हि- **''भिक्षवः, सागरगर्भे एकोऽन्धो दीर्घायुः कच्छपो निवसति। स शतवर्षानन्तरं सागरस्योपरितले सकृदागच्छति। तस्मिन् महासमुद्रे एकच्छिद्रको युगः प्लवति। स पूर्ववायुवेगेन पश्चिमे दिशि, पश्चिमवायुवेगेनेति विस्तरः। भिक्षवः, दिष्ट्या कदाचित् तस्य अन्धस्य कच्छपस्य उपरितलं समागच्छतो ग्रीवा तस्मिन् युगच्छिद्रे प्रविशति। तयोर्द्वयोः संयोगो नितरां दुर्लभः। भिक्षवः, मनुष्यजन्मप्राप्तिस्तु ततोऽपि दुर्लभेत्यहं कथयामीति।''**[2] **तिर्यगादि** इति तिर्यगादियोनितः अर्थात् ताभ्यो योनिभ्यो मनुष्यजन्मप्राप्तिस्तु सुदुर्लभा, अत्यन्तं मूढत्वात्। यस्मादेवं मानवजन्म दुर्लभं तस्मात् हे नरश्रेष्ठ , त्वया सद्धर्मचर्यया तन्मानुषं जन्म सफलीकरणीयम्।[3] अतश्चैवं त्वया न श्रवणमात्रेण सन्तोषो विधेयः, अपि तु सगौरवं यत्न आस्थेयः।

---

[1] अत एवाह भगवान् मानुष्यमतिदुर्लभम्।
महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमम् ।।
--बो.च., ४/२०

[2] दे.क. २२६. आर्यकुसुमसञ्चयनाम महायानसूत्रम्, 'ह' पृ. ३०२, भो.सं. ; दे.क. ५६. आर्यबोधिसत्त्वपिटकनाम महायानसूत्रम्, 'ग' पृ. ७०, भो.सं. ; दे.क. ३२८. नन्दप्रव्रजितसूत्रम्, 'स' पृ. २५६, भो.सं.।

[3] तुलनीयम्--

सोऽहं प्राप्य मनुष्यत्वं ससद्धर्ममहोत्सवम् ।
महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमम् ।।५।।

अनित्यताव्यनुसृतां कर्मच्छिद्रससंशयाम् ।
आत्तसारां करिष्यामि कथं नेमां सरस्वतीम्।। ६।।

--बुद्धस्तोत्रः शतपञ्चाशत्कः, लद्दाखरत्नश्रीदीपिका, १९९८ ;

केचिद् रत्नालङ्कृतकनकपात्रं च पूरयन्ति पुरीषेण ।
ततोऽप्यसावतिमूढो यश्च नृजन्म लब्ध्वापि पापमाचरति[1] ।।६०।।

'केचिद् रत्नालङ्कृतकनकपात्रम् इत्यादिना दुर्लभं मनुष्यभावं लब्ध्वाऽपि यः अकुशले कर्मणि प्रवर्तते तं विनिन्द्य कुशले कर्मणि नियोज्यते। रत्नैरलङ्कतं स्वर्णपात्रं न योग्यं पुरीषादिभिः पूरयितुम्, अतोऽस्थाने आचरणं हि लोके निन्दनीयमेव। मानुष्यं प्राप्यापि यः पापमाचरति स ततोऽप्यधिकं निन्दनीय एव, मनुष्यजीवनस्य रत्नपात्रादपि दुर्लभतरत्वात्।

प्रतिरूपदेशवासः सत्पुरुषसमाश्रयः शुभप्रणिधानं च ।
स्वकीयपूर्वकुशलं ह्येतच्चक्रचतुष्कं हि विद्यते त्वयि ।।६१।।

प्रतिरूपदेशवासः इत्यादिना राज्ञ आर्यमार्गस्यार्हत्त्वं दर्शितम्। तत्रानुकूलदेशवासः स यः समाध्यनुरूपः हिंसोपद्रवादिभिर्विकलत्वात्। **सत्पुरुषसमाश्रयः** कल्याणमित्राणां सम्यक् सेवनमिति। कल्याणमित्रम् हि आगमसम्पन्नो वा अधिगमसम्पन्नो वा, गुणैः समो विशिष्टो वा, मित्रं वा विश्वस्तो गुरुर्वा देशनाकुशलः, निरुक्तिक्षमः, गम्भीरार्थवक्ता, यः कश्चिद् अस्थाने न योजयतीति वा। अर्थात् यस्यानुसरणेन शील-श्रुत-त्याग-प्रज्ञादीनामभिवृद्धिर्भवेत्। तथाविधः स **सत्पुरुष** इत्युच्यते। स्वस्य सत्प्रणिधानं तु यथा विहितं तथा निष्पद्यते। **स्वकीयपूर्वकुशलम्** इत्यादिना सम्भार(पुण्य)- संचय एव दर्शितः। एतानि

अपि च--

अद्य मे सफलं जन्म सुलब्धो मानुषो भवः।
अद्य बुद्धकुले जातो बुद्धपुत्रोऽस्मि सांप्रतम्।।

तथाधुना मया कार्यं स्वकुलोचितकारिणाम्।
निर्मलस्य कुलस्यास्य कलङ्को न भवेद्यथा।। --बो.च., ३/२५-२६ ।

१ तुलनीयम्--
नातः परा वञ्चनास्ति न च मोहोऽस्त्यतः परः।
यदीदृशं क्षणं प्राप्य नाभ्यस्तं कुशलं मया।। --बो.च. ४/२३

चतुष्चक्रमित्युच्यन्ते[१], आर्यमार्गरथप्रवर्तनात्। त्वयि एतानि महाचक्राणि विद्यन्त इति संविद्यन्ते। तस्मादार्यमार्गमुत्पादयितुं यत्नो विधेय इत्यभिप्रायः।

कल्याणमित्रसेवा ब्रह्मचर्यपूर्तये देशिता मुनिना ।
सेव्यः सदा सुपुरुषः शमः प्राप्तो यतो जिनमपेक्ष्य बहुभिः।।६२।।

कल्याणमित्रसेवा इत्यादिना आर्यमार्गोत्पादनाय सत्पुरुषाणां सेवनं प्रधानमिति निर्दिष्टम्[२]। आर्यानन्दो भगवन्तमपृच्छत्। तद्यथा-- "कल्याणमित्रं यः

---

[१] सुलाभोऽथ स्वधिष्ठानः सुभूमिः सुसहायकः।
सुयोगो गुणवान् देशो यत्र धीमान् प्रपद्यते।।
चतुर्भिश्चक्रैरप्रमादक्रियां दर्शयति प्रतिरूपदेशवासादिभिः। तत्रानेन श्लोकेन प्रतिरूपदेशवासं दर्शयति। सुलाभश्चीवरपिण्डपातादीनां जीवितपरिष्काराणामकृच्छ्रेण लाभात्। स्वधिष्ठानो दुर्जनैर्दस्युप्रभृतिरनधिष्ठितत्वात्। सुभूमिरारोग्यभूमित्वात्। सुसहायकः सभागशीलदृष्टिसहायकत्वात्। सुयोगो दिवाल्पाकीर्णाभिलापकत्वात् रात्रौ चाल्पशब्दादिकत्वात्।
बहुश्रुतो दृष्टसत्यो वाग्मी समनुकम्पकः।
अखिन्नो बोधिसत्त्वश्च ज्ञेयः सत्पुरुषो महान्।।
अनेन द्वितीयेन सत्पुरुषं दर्शयति। आगमाधिगमवाक्करणनिरामिषचित्ताकिलासित्वगुणयोगात्।
स्वालम्बना मुसंभारा(सुसंस्तब्धा) सुभावनैव(सुपायाचैव) देशिता।
सुनिर्याणप्रयोगा च आत्मसम्यक्प्रधानता ।।
अनेन तृतीयेन योनिशोमनस्कारसंगृहीतामात्मनः सम्यक्प्रणिधानतां दर्शयति। सद्धर्मालम्बनतया सुसंभृतसंभारतया शमथादिनिमित्तानां कालेन कालं भावनया अल्पमात्रासंतुष्टितया सत्युत्तरकरणीये सातत्यसत्कृत्यप्रयोगतया च।
रतेः क्षणोपपत्तेश्च आरोग्यस्यापि कारणं।
समाधेर्विचयस्यापि पूर्वे हि कृतपुण्यता।।
अनेन चतुर्थेन पूर्वकृतपुण्यतां पञ्चविधेन हेतुत्वेन दर्शयति। रतिहेतुत्वेन यतः प्रतिरूपदेशवासेऽभिरमते। क्षणोपपत्तिहेतुत्वेन यतः सत्पुरुषायाश्रयं लभते। आरोग्यसमाधिप्रज्ञाहेतुत्वेन च यत आत्मनः सम्यक्प्रणिधानं सम्पद्यते। --म.सू., पृ. ८४-८५, मि.सं. १९७०।

[२] द्रष्टव्यम्--
न सज्जनाद् दूरचरः क्वचिद् भवेद् भजेत साधून् विनयक्रमानुगः।
स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपगं विसर्पिणस्तद्गुणपुष्परेणवः।। --जा.मा., ३१/७२ ;

सदा कल्याणमित्रं च जीवितार्थेऽपि न त्यजेत्।
बोधिसत्त्वव्रतधरं महायानार्थकोविदम्।। --बो.च. ५/१०२ ;

कुशलसहायः स किमर्धब्रह्मचर्य इति?" भगवान् आह-- **"मा त्वम् आनन्द, अयं कल्याणमित्रं कुशलसहायश्च अर्धब्रह्मचर्य इति भाषेथाः। आनन्द, कल्याणमित्राणि[1] कुशलसहायाश्चेमे नितरां ब्रह्मचर्यस्य परिपूरयितारः। तत्कस्य हेतोः? उत्पत्तिमन्तः (प्राणिनः) कल्याणमित्रमाश्रित्य जन्मादितः परिमुक्ता**

मित्ते भजस्सु कल्याणे सुद्धाजीवे अतन्दिते।। --धम्मपद, २१/१६ ;

यो आदिकर्म स्थितु भूमिय बोधसत्त्वो अध्याशयेन वर प्रस्थित बुद्धबोधिम्।
तेही सुशिष्यगुरुगौरवसंप्रयुक्तो कल्याणमित्र सद सेवितव्य विज्ञैः ।।

किं कारणं ततु गुणागमु पण्डितानां प्रज्ञाय पारमित ते अनुशासयन्ति ।
एवं जिनो भणति सर्वगुणाग्रधारी कल्याणमित्रमुपनिश्रित बुद्धधर्माः ।।
--रत्न.सं.गा.(म.सू.सं.), १५/१-२, पृ. ३७१, मि.सं. ;

साहु दस्सनमरियानं सन्निवासो सदा सुखो।
अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया।। -१५/१०

धीरं च पञ्ञं च बहुस्सुतं च, धोरय्हसीलं वतवन्तमारियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं, भजेथ नक्खत्तपथं व चान्दिमा।। १५/१२ --धम्मपदम् ।

[1] द्रष्टव्यम्--

चित्तानवलीनत्वानुत्रासादिना उपाकौशल्येन यथाशयं "क्षितीशेष्टराज्ञीमरणनिवेदनन्यायेन" मात्सर्यादिधर्मवियुक्तः समस्तवस्तुनैरात्म्यादिदेशकः सुगतिफलादिप्रापकत्वेन कल्याणमित्रम्।
--आलोक, पृ. ३०५ ; ग.व्यू.सू., ५/३०, पृ. ३६४, मि.सं. ;

मित्रं श्रयेद्दान्तशमोपशान्तं गुणाधिकं सोद्यममागमाढ्यं।
प्रबुद्धतत्त्वं वचसाभ्युपेतं कृपात्मकं खेदविवर्जितं च।।
--म.सू., १७/१०, पृ. ११६, मि.सं. ;

कल्याणमित्रसंधारिताः कुलपुत्र बोधिसत्त्वा न पतन्ति दुर्गतिषु। कल्याणमित्रसमन्वाहृता नातिक्रामन्ति बोधिसत्त्वशिक्षाम्। कल्याणमित्रप्रतिच्छन्ना अभ्युद्गता भवन्ति लोकात्। कल्याणमित्रपर्युपासिता बोधिसत्त्वा असंप्रमोषचारिणो भवन्ति सर्वबोधिसत्त्वचर्यासु। कल्याणमित्रपरिगृहीता बोधिसत्त्वा दुर्धर्षा भवन्ति कर्मक्लेशैः। संबोधकाः कल्याणमित्रा अकरणीयानां संनिवारकाः प्रमादस्थानात्। निष्कासयितारः संसारपुरात्। तस्मात्तर्हि कुलपुत्र एवं मनसिकारात् प्रतिप्रश्रब्धेन कल्याणमित्राण्युपसंक्रमितव्यानि। ......अत एवं चतुर्धर्मकसूत्रेऽप्युक्तम्-- कल्याणमित्रं भिक्षवो बोधिसत्त्वेन यावज्जीवं न परित्यक्तव्यमपि जीवितहेतोरिति। तदेवम्- **कल्याणमित्रानुत्सर्गात्,** आत्मभावादीनां रक्षादिकं कार्यम्।
--शि.समु., पृ. २३, २६, मि.सं.।

भवन्तीति।'' यतो हि भगवता निर्दिष्टम्, अतः सत्पुरुषाः सेवितव्याः। पुनश्च सत्पुरुषाश्रयेण कथं तावत् ब्रह्मचर्यस्य पूर्णत्वं ज्ञायत इति चेद्?

शमः प्राप्तो जिनमपेक्ष्य बहुभिः इत्याह। तत्र ब्रह्मेति दुःखातीतं (निर्वाणं), तदर्थमाचरणं ब्रह्मचर्यम् अर्थात् मार्ग इति। तस्माद् परिपूर्णं **ब्रह्मचर्यं** हि समस्तदुःखानां प्रहाणस्य हेतुभूतम्, कल्याणमित्रं च आर्यमार्गस्य हेतुरित्यायातम्।

मिथ्यादृक् प्रत्यन्ते नरकप्रेततिर्यक्षूत्पद्यमानः ।
म्लेच्छो जडश्च सत्त्वो यो ह्युत्पन्नो बुद्धविरहिते ।६३।।

दीर्घायुषि देवकुले जनिलब्धश्चाष्टाक्षणा इमे दोषाः ।
एभी रहितो भूत्वा क्षणं लब्ध्वा जन्मनिवृत्तौ प्रयतेत ।।६४।।

मिथ्यादृग् इत्यादिना कुशलकर्मसु अपात्रत्वं प्रदर्शितम्। तत्र मिथ्यादृष्टिस्तावन्नास्ति परलोक इत्याकारो ग्राहः। तिर्यग्यौनावुत्पन्नस्तिर्यक्, प्रेतयोनावुत्पन्नः प्रेतः, नरकेषु चोत्पन्न नारक इति। बुद्धोत्पादविकलत्वाज्जिनोपदेशाभावः। प्रत्यन्तजनपदेषु म्लेच्छरूपोपपत्तिः। सत्यपि बुद्धोत्पादे जडो मूकस्तु हस्तसंचालनेन संकेतयति।

दीर्घायुषि देवकुले असंज्ञिदेवा अरूपिणो देवाश्च। एतेष्वष्टसु स्थानेषु कुशलं सम्पादयितुं क्षणाभावाद् **अक्षणाः** इमान्युंच्यन्ते[1], आदीनवाधिक्याद् दोषा अपि।

---

[1] नरकप्रेततिर्यञ्चो म्लेच्छा दीर्घायुषोऽमराः ।
मिथ्यादृग्बुद्धकान्तारो मूकताष्टाविहाक्षणाः ।।
--बो.च.पं., पृ. ५, मि.सं. ; द्रष्टव्यम् पुनश्च ध.सं.(म.सू.सं.), पृ. ३३९ ; म.व्यु., 'चो' पृ. ७ भो.सं. ; समाधि.सू., पृ. ३७१, मि.सं. ;

पुनश्च-- अक्षणावस्थायां धर्मप्रविचयस्य कर्तुमशक्यत्वात्, इत्यभिप्रायः। यथोक्तमार्यगण्डव्यूहसूत्रे आर्यजयोष्मायतनविमोक्षे--

दुर्लभा अष्टाक्षणविनिवृत्तिः। दुर्लभो मनुष्यभावप्रतिलम्भः। दुर्लभा क्षणसंपद्विशुद्धिः। दुर्लभो बुद्धोत्पादः। दुर्लभा अविकलेन्द्रियता। दुर्लभो बुद्धधर्मश्रवणः। दुर्लभं सत्पुरुषसमवधानम्। दुर्लभानि भूतकल्याणमित्राणि। दुर्लभो भूतनयानुशासन्युपसंहारः। दुर्लभं सम्यग्जीवितं मनुष्यलोके इति। (ग.व्यू.सू.-११६) इदमेवाभिसंधायोक्तम्--

अत एव अक्षणदोषाः कथ्यन्ते। तैर्विरहितं क्षणं (मानवजीवनं) प्राप्य पुनः जन्मनिवृत्तये यत्नः करणीयः। अनेन इतः प्रभृति अक्षणस्थानेषु जन्मनिवृत्यर्थं यत्न आस्थेय इत्यर्थः।

इष्टविघातव्याधिमृत्युजरादिदुःखावहः संसारः ।
विरज्य ततः शृणु तावद् दोषानेतस्यावगच्छन् नरदेव ।।६५।।

इष्टविघातेत्यादि यदुक्तं तेन सर्वलोकान् प्रति अनभिरतिसंज्ञाम् अभिनिर्वृत्य निर्वाणैकपरायणश्चित्तसन्ततिप्रवाहो विधीयते। दुःखमितिशब्दस्तु इष्टविघातमृत्युजरादिषु प्रत्येकेन सह योजनीयम्। इष्टविघातादयस्तावद् दुःखहेतुत्वेन दुःखमित्युक्ताः, न तु वेदनास्वभावत्वेन। **आदि** इत्यनेन शोक-परिदेवादयः संगृह्यन्ते। एवमनेकदुःखानामाश्रयस्य पञ्चोपादानस्कन्धस्वरूपत्वात् ततः खिद्यमानो मनसि संवेगमुत्पादयेदित्यर्थः[1]। संसारस्येमान् दोषान् खेदहेतुत्वं च परिजानन् अमुं (उपदेशं)

मानुष्यं दुर्लभं लोके बुद्धोत्पादोऽतिदुर्लभः ।
ततोऽपि श्रद्धाप्रव्रज्याप्रतिपत्तिः सुदुर्लभा ।।

बोधौ चित्तं दृढं सर्वसत्त्वानामनुकम्पया ।
सर्वदुःखप्रशान्त्यर्थं दुर्लभानां परम्परा ।। --बो.च.पं., पृ. ५, मि.सं.।

[1] तुलनीयम्-- साम्प्रतं संसारदोषोपलम्भसंदर्शनेन तत्रोत्पाद्योद्वेगार्थं कर्मप्रहाणोपायकथनकाम आह-
अस्य दुःखसमुद्रस्य सर्वशान्तो न विद्यते।
निमग्नस्येह बालस्य भीतास्ते किं न विद्यते।।
--चतु.श. ७/१, आलोक प्रकाशन, नागपुर, १९७१ ;
संसारमूलान् संस्कारानविद्वान् संस्करोत्यतः।
अविद्वान् कारकस्तस्मान्न विद्वांस्तत्त्वदर्शनात् ।।
तत्र संसारस्य विज्ञानादिप्रवृत्तिलक्षणस्य मूलं प्रधानं कारणं संस्काराः। ततश्च-- संसारमूलान् संस्कारानविद्वान् संस्करोति। "अविद्यानुगतो यः पुद्गलो भिक्षवः पुण्यानपि संस्कारानभिसंस्करोति, अपुण्यानपि संस्कारानभिसंस्करोति, आनेञ्ज्यानपि संस्कारानभिसंस्करोति।" इति भगवद्वचनात्। यतश्चैवमविद्वान् कारकः, तस्मादविद्वानेव पुद्गलः कारको भवति संस्काराणाम्, न विद्वांस्तत्त्वदर्शी प्रहीणाविद्यः। किं कारणम्? तत्त्वदर्शनात्। तत्त्वदर्शने हि सर्वपदार्थानामेवानुपलम्भात् नास्ति किञ्चिद् यदालम्ब्य कर्म कुर्यादिति। --म.शा.वृ. २६/१०, पृ. २४५, बौ.भा.प्र.।

श्रवणं कुरु । समग्राणां संसारदोषाणां दुरभिधानत्वादेकदेशेन तावन्निर्दिश्यते। सप्तप्रकारा हि संसारदोषाः, तथा हि-- अनियतत्वम्, अतृप्तिः, पुनः पुनः देहपरित्यागः, पुनः पुनश्च प्रतिसन्धिः, पुनः पुनरुन्नतावनतभावः, दुःसंगतिः, षड्गतिका नियतदुःखानुभूतिश्चेति[1]।

तत्र प्रथममनियतत्वदोषमधिकृत्याह--

मित्रत्वेन च शत्रुः पुत्रत्वेन पिताऽम्बा च भार्यात्वेन ।
परिवर्त्योत्पद्यन्ते तस्मान्न नियतं किमपीह संसारे ।।६६।।

इति। परिवर्त्येति पुत्रः पितृत्वेन[2], भार्या मातृत्वेन तथा मित्रं शत्रुत्वेन वा पुनर्जायन्ते। अतो नास्ति संसारे किञ्चिदपि नैयत्यम्।

अतृप्तिदोषमधिकृत्याह--

चतुःसमुद्रजलादपि जनैरधिकं जनन्याः स्तन्यं पीतम् ।
पृथग्जनाननुसृत्य हि पुनस्ततोऽप्यधिकञ्च पास्यन्ति लोकाः ।।६७।।

सुगम एव तावदस्या अर्थः।

पुनः पुनः देहपरित्यागदोषमधिकृत्याह--

आत्मनश्चास्थिपुञ्जं मेरुसमं ततोऽधिकमुच्चैर्जायेत ।

---

[1] तुलनीयम्--

तत्र मनुष्येषूपपन्नाः सत्त्वा एवंरूपं विघातदुःखं प्रत्यनुभवन्ति। सहजं तावत्क्षुत्पिपासाविघातदुःखं। इच्छाविघातिकं कदशनविघातदुःखं। औपक्रमिकं पर्येष्टिपरिश्रमादिविघातदुःखं ऋतुपरिणामिकं शीतोष्णविघातदुःखं पारिस्रविकमगाराद्य-नावरणकृतं विघातदुःखं। व्यवहारसमुच्छेदिकमन्धकाराद्यावरणकृतं विघातदुःखं। तथा परिभोगजरादुःखं व्याधिदुःखं मरणदुःखं। तथा हि नरकेषु मरणमेव सुखं मन्यते। अतस्तत्र तन् न दुःखं व्यवस्थाप्यते।

--यो.भू., पृ. ८८-८९, कल.वि., १९५७।

[2] तुलनीयम्--

पिता चेन्न विना पुत्रात्कुतः पुत्रस्य संभवः।
पुत्राभावे पिता नास्ति तथासत्त्वं तयोर्द्वयोः।। --बो.च. ९/११४

भूमिमृदा बदराणां गुलिकाभिर्न गणना सम्भवाऽम्बानाम् ।।६८।।

इत्यत्र **आत्मनश्चास्थिपुञ्जमिति** शरीररस्य अस्थिसञ्चय इत्यर्थः। पुनः पुनः प्रतिसन्धिदोषमधिकृत्याह-- **भूमिमृदा बदराणामित्यादि**। यथोक्तं भगवता-- **''यदि कश्चित् पुरुषो भिक्षवः, महापृथिव्याः मृत्तिकया बदरीफलतुल्या गुलिकाः कुर्यात्। एकैकां गुलिकां 'इयं मे माता' 'इयं मे मातुर्माता' इति गणनां कृत्वा निदध्यात्, तथापि भिक्षवः, महाभूमेरस्या मृत्तिका प्रागेव समाप्तिमियात् न तु तथैव मानवानां मातुः सन्ततिरित्यहं वदामि ।''**

पुनः पुनरुन्नतावनतभावदोषमधिकृत्याह--

लोकपूज्योऽपि शक्रः पतति च पुनः कर्मवशाद्धि संसारे[1] ।
तद्वच्च चक्रवर्ती राजाऽपि[2] पुनर्भवति हि दासो लोके ।।६९।।

---

[1] द्रष्टव्यम्--

भ्रमन्ति चक्रवन्मूढा लोकधर्मसमावृताः ।
परमार्थं न जानन्ति भवो यत्र निरुध्यते ।
वेष्टिता भवजालेन संसरन्ति पुनः पुनः ।।५।।....
शक्रत्वं चक्रवर्तित्वं संप्राप्य चोत्तमं पदम्।
तिर्यग्योनौ पुनर्जन्म तत्सर्वं संवृतेः फलम् ।। १०।।

--नैरा.परि.महा.सू.(म.सू.सं.), पृ. १७५, मि.सं.।

[2] चक्रवर्तिनां सप्तरत्नानि। तद्यथा- चक्ररत्नम्, अश्वरत्नम्, हस्तिरत्नम्, मणिरत्नम्, स्त्रीरत्नम्, खड्गरत्नम्, परिणायकरत्नं चेति। -- ध.सं. (म.सू.सं.), पृ. ३३५, मि.सं. ;

तत्र मनुष्येषु चक्रवर्तिसुखमग्र्यं श्रेष्ठं प्रणीतम्। चक्रवर्ती पुनर्लोक उत्पद्यमानः सप्तरत्नसमन्वागत उत्पद्यते। यस्येमान्येवंभूतानि सप्तरत्नानि भवन्ति। तद्यथा चक्ररत्नं हस्तिरत्नमश्वरत्नं मणिरत्नं स्त्रीरत्नं गृहपतिरत्नं परिणायकरत्नमेव सप्तमम्।।

--योगा.भूमि, पृ. ९१, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५७ ;

चक्रवर्तिसमुत्पत्तिर्नाधोऽशीतिसहस्रकात्।
सुवर्णरूप्यताम्रायश्चक्रिणः तेऽधरक्रमात् ।।

एक-द्वि-त्रि-चतुर्द्वीपाः, न च सह द्वौ बुद्धवत्।
प्रत्युद्यानस्वयंयानकलहास्त्रजितोऽवधाः ।। --अभि.को., ३/९५-९६ ;

इति। लोकपूज्योऽपीत्यादि सुगमम्।

स्वर्गेऽप्सरसां सौख्यं कुचतटिस्पर्शजं चैव चिरमनुभूय ।
नरके दुःसहदुःखं पेषणछेदनभेदनयन्त्रैर्भुङ्क्ते[1] ।।७०।।

यस्य राज्ञः क्षत्रियस्य मूर्धाभिषिक्तस्य तदैव पोषधे पञ्चदश्यां शिरःस्नातस्योपोषधोपोषितस्योपरिप्रासादतलगतस्यामात्यगण-परिवृतस्य पूर्वस्यां दिशि चक्ररत्नं प्रादुर्भवति सहस्रारं सनाभिकं सनेमिकं सर्वाकारपरिपूर्णं शुभकर्मारकृतं दिव्यं सर्वसौवर्णम्, स राजा भवति चक्रवर्ती इति। ... सूत्र उक्तम्- अस्थानमनवकाशो यदपूर्वाचरमौ द्वौ तथागतावर्हन्तौ सम्यक्सम्बुद्धौ लोक उत्पद्येयाताम्। नेदं स्थानं विद्यते। स्थानमेतद् विद्यते यदेकस्तथागतः। यथा तथागत एवं चक्रवर्तिनौ इति। ..... सूत्र उक्तम्- राज्ञश्चक्रवर्तिनो लोके प्रादुर्भावात् सप्तानां रत्नानां लोके प्रादुर्भावो भवति। तद्यथा- चक्ररत्नस्य, हस्तिरत्नस्य, अश्वरत्नस्य, मणिरत्नस्य, स्त्रीरत्नस्य, गृहपतिरत्नस्य, परिणायकरत्नस्य इति। ... किमेष एवान्यराजभ्यश्चक्रवर्तिनां विशेषः? अन्योऽपि विशेषोऽस्ति; तद्यथा-- द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणान्येषां भवन्ति, तद्यथा बुद्धानाम्।

---अभि.को.भा., पृ. ५५०-५५३, बौ.भा.प्र. ;

पुनश्च तुलनीयम्--

चक्रादिसप्तसाधर्म्यं बोध्यङ्गानां दर्शयति। **स्मृतिश्चरति सर्वत्र ज्ञेयाजितविनिर्जये।** अजितज्ञेयविनिर्जयाय। यथा चक्रवर्तिनश्चक्ररत्नमजितदेशविनिर्जयाय। **सर्वकल्पनिमित्तानां भङ्गाय विचयोऽस्य च।।** यथा हस्तिरत्नं प्रत्यर्थिकभङ्गाय। **आशु चाशेषबोधाय वीर्यस्य प्रवर्तते।** क्षिप्राभिज्ञतोत्पादनात्। यथाश्वरत्नमाशु समुद्रपर्यन्तमहापृथिवीगमनाय। **धर्मालोकविवृद्ध्या च प्रीत्या आपूर्यते ध्रुवम्।।** आरब्धवीर्यस्य बोधिसत्त्वस्य धर्मालोका विवर्धन्ते। ततः प्रीतिः सर्वं कार्यं सदा प्रीणयति। यथा मणिरत्नमालोकविशेषेण चक्रवर्तिनं प्रीणयति। **सर्वावरणनिर्मोक्षात् प्रश्रब्ध्या सुखमेति च।** सर्वदौष्ठुल्यसमुत्पादनात्। यथा स्त्रीरत्नेन चक्रवर्ती सुखमनुभवति। चिन्तितार्थसमृद्धिश्च समाधेरुपजायते।। यथा चक्रवर्तिनो गृहपतिरत्नात्।

उपेक्षया यथाकामं सर्वत्र विहरत्यसौ।

पृष्ठलब्धाविकल्पेन विकल्पेन सदोत्तमः।। ६१।। उपेक्षोच्यते निर्विकल्पं ज्ञानं तया बोधिसत्त्वः सर्वत्र यथाकामं विरहति। तत्पृष्ठलब्धेन च विहारेणान्यस्योपगमात्। अन्यस्यापगमात्। निर्विकल्पेन विहारेण तत्र निर्व्यापारतया वासकल्पनात्। यथा चक्रवर्तिनः परिणायकरत्नं चतुरङ्गबलकायमुपनेतव्यं चोपप्रणयति। अपनेतव्यं चापनयति। तत्र च गत्वा वासं कल्पयति यत्राखिन्नः चतुरङ्गो बलकायः परैति।

--म.सू., १८/५८-६१, पृ. १३८-१३९, मि.सं., १९७०।

[1] द्रष्टव्यम्--

स्वर्गस्थाने तु ये देवा गन्धर्वाप्सरसादयः।
च्युतिरस्ति च सर्वेषां तत्सवं संवृतेः फलम्।। ८।।

सिद्धा विद्याधरा यक्षाः किन्नराश्च महोरगाः।

इति। स्वर्गे अप्सरसस्तु देवकन्या इति। तासां कटितटस्य स्तनयोः स्पर्शनेन सुखस्यानुभव इति अनुभवतीत्यर्थः। **दुःसहदुःखं.....भुङ्क्ते** इति तत्संयोगेन अत्यन्तमसह्यं दुःखं सोढव्यं भवति। केषां संयोगेनेति चेत्? **पेषणछेदनयन्त्रै**रित्याद्युक्तम्। 'यन्त्र'-शब्दः प्रत्येकेन सह योजनीयः। तत्र पेषणयन्त्रं तद्यथा संघातनरके। छेदनयन्त्रं तावत् कालसूत्रनरकवत्। भेदनयन्त्रं तु तापननरके प्रतापननरके विद्यमानमिव ज्ञातव्यम्।

सुखदे सुमेरुशिखरे चिरमनुभवंश्चरंश्चरणस्पर्शसुखम् ।
चञ्चलकुक्कुलकुणपैर्गाढं दुःखं चिन्तयेत् सदा मनसा ।।७१।।

इति। **चरणस्पर्शसुखम्** इति पादयोरुत्पतननिपाताभ्यां सुखमनुभूयते, अतश्चरणस्पर्शसुखमित्युच्यते, अत एव तत् सुखयोग्यं सुखाधार इत्यर्थः। तस्मिन् सुमेरुशिखरे देववर्षसहस्राणि उषित्वाऽपि पुनः कुक्कूलनरके कुणपनरके चोत्पद्य असह्यदुःखमनुभूयते। तत्र जानुमात्रं कुक्कूलम्, यत्र पादनिधापने सति पादस्य त्वङ्मांसशोणितानि संशीर्यन्ते, पादोत्थापने सति पुनः त्वङ्मांसशोणितानि सञ्जायन्ते। कुणपं गूथमृत्तिकम्, यत्र न्युङ्कुटा नाम कृमयः प्रतिवसन्ति सर्वश्वेताः कृष्णशिरसः सूचीमुखाः, तत्र पादे निक्षिप्ते सत्त्वानां त्वङ्मांसशोणितानि सञ्छिद्यन्ते, भिद्यन्त इति यथासूत्रं विस्तरेण वेदितव्यम्।

देवाङ्गनासेविते नन्दने रम्ये चोपवने च विहृत्य ।
असिपत्रवने तेषां हस्तपादकर्णनासाश्च छिद्यन्ते ।।७२।।

देवाङ्गनासेविते इत्यादिना स्वर्गस्थदेवकन्याभिरुपसेवितमित्यर्थः। ताभिः सेविते नन्दनवने सुरम्ये ते ताभिः सह क्रीडन्ति। तत्र क्रीडां कृत्वा पुनः **असिपत्रवने तेषां हस्तपादकर्णनासाश्च छिद्यन्ते** इति असिसदृशपत्रवनमिति कुक्कूल-कुणप-

---

पुनस्ते नरकं यान्ति तत्सर्वं संवृतेः फलम्।। ९।।
--नैरा.परि.महा.सू.(म.सू.सं), पृ. १७५, मि.सं.।

क्षुरधारारचितस्य महापथस्य समनन्तरं नीलवनसदृशं प्रतीयते। तत्र ते सत्त्वाः लयनपर्येषणाय शरणगवेषणाय च विचरन्ति। तत्र स्थितेषु सत्त्वेषु कर्मजनितो वायुर्भृशं प्रकुप्यतीति विस्तरः।

सुवदनदेवसुताभिः स्वर्णोत्पलैर्युतायां मन्दाकिन्याम् ।
स्नात्वा पुनश्च नरके क्षारोष्णोदकवैतरण्यां हि पतन्ति ।।७३।।

इति। **मन्दाकिन्यामिति**[१] देवानां पुष्करिण्यामवगाह्येति। किमस्या विशेषणमिति चेत्? **सुवदने**त्याद्युक्तम्। यत्र सुन्दरमुखा देवकन्याः स्वर्णकमलानि च विद्यन्त इति तथा। पुनश्च (कर्मवशात्) वैतरण्यां नद्यां प्रविशन्ति। किमस्या विशेषणमिति? क्षारमुष्णं चोदकं यस्यामिति तथाविधायाम्। वैतरणी नदी तु असिपत्रवनानन्तरं नरकान् परितः परिखावत् संविद्यते। यत्र ते सत्त्वा लयनं पर्येष्टुं शरणं वा पर्येष्टुं विचरन्तीति यथासूत्रं विस्तरेण वेदितव्यम्। इमे चत्वार उत्सदा उच्यन्ते, तद्यथा-- कुक्कूलम्, कुणपम्, असिपत्रवनं वैतरणी नदी चेति। एते चत्वार उत्सदाः प्रतिनरकं चतुर्षु द्वारेषु क्रमशः स्थिता भवन्ति। अष्टौ महानरकाः, अत एव प्रतिनरकं षोडश उत्सदाः भवन्ति[२] ।

---

[१] पूर्णा अष्टाङ्गोपेतस्य पानीयस्य। तद्धि पानीयं शीतलं च स्वादु च लघु च मृदु चाच्छं च निष्प्रतिकं च, पिबतश्च कण्ठं न क्षिणोति, पीतं च कुक्षिं न व्याबाधते। --अभि.को.भा., पृ. ५१०,

अष्टाङ्गोपेतस्येति।

शीतलाच्छलघुस्वादुमृदुनिःपूतिगन्धकम् ।
पीतं न बाधते कुक्षिं न कण्ठं क्षिणोति तज्जलम्।।

--अभि.को.स्फु.(अष्टाङ्गसंग्रहश्लोकः), पृ. ५१०, बौ.भा.प्र.।

[२] ....सर्वेऽष्टौ षोडशोत्सदाः ।। ५८।।

उक्तं हि भगवता--

इत्येते नरका अष्टावाख्याता दुरतिक्रमाः।
रौद्रकर्मभिराकीर्णाः प्रत्येकं षोडशोत्सदाः।।

चतुस्कन्धाश्चतुर्द्वारा विभक्ता भागशोऽसिताः।
अयःप्राकारपर्यन्ता अयसा प्रतिकुब्जिताः ।।

तप्ता चैवायसी भूमिर्ज्वलिता तेजसा युता।
अनेकयोजनशता स्फुटा तिष्ठति अर्चिषा ।।

षोडशोत्सदाः कतमे?

कुकूलं कुणपं चाथ क्षुरमार्गादिकं नदी।
तेषां चतुर्दिशम्, ... ।। ५९।।

द्वारे द्वारे तेषां चत्वार उत्सदाः --

१. कुकूलं जानुमात्रम्। यत्र तेषां सत्त्वानां निक्षिप्ते संशीर्यते त्वङ्मांसशोणितम्, उत्क्षिप्ते पादे पुनरपि सञ्जायते त्वङ्मांसशोणितम्।

२. कुणपं गूथमृत्तिका। यत्र न्युङ्कुटा नाम प्राणिनः प्रतिवसन्ति सर्वश्वेताः कृष्णशिरसः सूचिमुखाः, तेषां सत्त्वानां यावदस्थीनि भिन्दन्ति।

३.(क) क्षुरधाराचितो महापथः। यत्र तेषां सत्त्वानामन्वाक्रामतां निक्षिप्ते पादे सञ्छिद्यते त्वङ्मांसशोणितमिति पूर्ववत्।

(ख) असिपत्रवनम्। यत्र तेषां सत्त्वानां तीक्ष्णा असयः सन्निपतन्ति, अङ्गप्रत्यङ्गान्यवकृन्तन्ति, श्यामलशबलाश्च श्वानो भक्षयन्ति।

(ग) अयःशाल्मलीवनं तीक्ष्णषोडशाङ्गुलकण्टकम्। तेषां सत्त्वानामभिरोहतां कण्टका अवाङ्मुखीभवन्तः कायं भिन्दन्ति, अवतरतां चोर्ध्वीभवन्तः। अयस्तुण्डाश्च वायसा अक्षीण्युत्पाट्योत्पाट्य भक्षयन्ति।

तदेतत् क्षुरमार्गादिकं त्रयं शस्त्राभिनिपातं सामान्यादेकीक्रियते।

४. चतुर्थ उत्सदो नदी वैतरणी पूर्णा। यस्यां ते सत्त्वा असिशक्तिप्रासहस्तैः पुरुषैरुभाभ्यां तीराभ्यां प्रतिवार्यमाणा ऊर्ध्वमपि गच्छन्तः स्विद्यन्ते पच्यन्ते, अधस्तिर्यगपि गच्छन्तः स्विद्यन्ते पच्यन्ते। तद्यथा--बहूदकायां स्थाल्यामग्नावधिश्रितायां तिलतण्डुलादयः। सा हि महानरकस्य परिखेवोत्पन्ना। त एते चत्वार उत्सदा दिग्भेदेन षोडशोच्यन्ते।

--अभि.को.भा., ३/५८-५९, पृ ५१४-५१६, बौ.भा.प्र. १९८७ ;

सामन्तनरकेषु पुनरेवं कारणादुःखं सत्त्वाः प्रत्यनुभवन्ति। सर्व एते महानरकाश्चतुर्दिशं चतुष्कन्धाश्चतुर्द्वारा आयसैः प्राकारैः परिवारिताः। तत्र च चतुर्दिशं चतुर्भिर्द्वारैर्निर्गत्यैकैकस्मिन्द्वारे चत्वार उत्सदा भवन्ति। तद्यथा। जानुमात्रं कुकूलं। यत्ते सत्त्वा लयनगवषिणोऽन्वाक्रामन्ति। ते तत्र प्रपतिताः सशिरःपादका निमग्नास्तिष्ठन्ति। तत्र च कुणपे गूथमृत्तिके कीटाः प्राणिनो ये तेषां सत्त्वानां त्वचमपि च्छिद्रयन्ति मांसमपि स्नाय्वस्थ्यपि भिन्दन्ति ततोऽस्थिमज्ञानमासाद्य विलिखन्ति।

तस्य खलु कुणपस्य गूथमृत्तिकस्य समनन्तरं सन्निहितमेव क्षुरधाराचितः पथो यं ते सत्त्वा लयनगवेषिणोऽन्वाक्रमन्ते। तत्र तेषां निक्षिप्ते पादे सञ्छिद्यते त्वङ्मांसशोणितं। पुनरुत्क्षिप्ते पादे सञ्जायते त्वङ्मांसशोणितं।

तस्य खलु क्षुरधाराचितस्य पथः समनन्तरं सन्निहितमेवासिपत्रवनं। तत्र ते सत्त्वा अभिगम्य लयनगवेषिणस्तच्छायामासेवन्ति। तत्र तेषामधस्तान्निषण्णानां वृक्षादसयः पतन्ति ये तेषां सत्त्वानामङ्गप्रत्यङ्गानि च्छिन्द्रयन्ति व्यतिभिन्दन्ति। तेषां तत्र पतितानां श्यामशबला नाम श्वान आगत्य पृष्ठीवंशानुत्पाट्योत्पाट्य भक्षयन्ति।

देवेषु कामसुखं च कामवीतरागसुखं ब्रह्मलोकेषु ।
प्राप्यावीचौ सततं लभ्यतेऽग्नेरिन्धनीभूय च दुःखम् ।।७४।।

देवेषु त्वित्यत्र त्रायस्त्रिंशेभ्य ऊर्ध्वं यामादयः कामदेवाः परिगण्यन्ते, तेषु यल्लभ्यं सुखं तत्प्राप्य। **सुखम्** इति कामसुखविशेषः, कामरागसुखविशेषो वा, सर्वसुखेभ्योऽधिकतरत्वात्। तदुपरि रूपधातौ तावद् ब्रह्मलोके ब्राह्मं कामवीतरागसुखमिति। वीतरागत्वं तु कामरागातिक्रान्तत्वं वेदितव्यम्। तथाविधमपि सुखं सम्प्राप्य अकुशलकर्मसंचयवशेन अन्यदा अपरपर्यायवेदनीयकर्माक्षेपेण पुनर्दुःखं नैरन्तर्येणानुभवतीति योजनीयम्। कुत्र तदुपभुज्यत इति चेद्? **अवीचौ** तन्नामके नरके। केन विधिनेति? **अग्नेरिन्धनीभूय** अर्थात् कायप्रज्वलनेनेत्यर्थः।

पदमवाप्य सूर्येन्द्वोः स्वकायप्रभया प्रदीप्य हि संसारम् ।

तस्य खल्वसिपत्रवनस्य समनन्तरं सन्निहितमेवायःशाल्मलीवनं यत्ते सत्त्वा लयनगवेषिणोऽभिगम्याभिरोहन्ति। तेषां तत्राभिरोहतामधोमुखीभवन्ति कण्टकाः। अवतरतामूर्ध्वीभवन्ति कण्टका ये तेषामङ्गप्रत्यङ्गानि च्छिद्रयन्ति व्यतिभिन्दन्ति। तत्र चायस्तुण्डानाम वायसा ये तेषां सत्त्वानामंसे वा शिरसि वाभिनिपत्य भित्त्वाक्षितारका उत्पाट्योत्पाट्य भक्षयन्ति।

तस्य खल्वयःशाल्मलीवनस्य समनन्तरं सन्निहितमेव वैतरणी नदी पूर्णा क्वथितस्य क्षारोदकस्य यत्र ते सत्त्वा लयनगवेषिणः प्रपतन्ति। त ऊर्ध्वमपि गच्छन्तः खिद्यन्ते पच्यन्ते। अधस्तिर्यगपि गच्छन्तः खिद्यन्ते पच्यन्ते। तद्यथा नाम मुद्ग वा माषा कोला वा कुलत्था वोदाराग्निसम्प्रदीप्तोदकायां स्थाल्यां प्रक्षिप्ताः। तस्याः खलु नद्या उभयतस्तीरे दण्डहस्ता बडिशहस्ता(जालहस्ता) सत्त्वा व्यवस्थिता ये तेषां सत्त्वानामुद्गन्तुमपि न प्रयच्छन्ति बडिशोद्धारिकया वा जालोद्धारिकया वा पुनरुद्धृत्योदाराग्निसनतप्तायां भूमावुत्तानकान्प्रतिष्ठाप्य पृच्छन्ति हम्भोः सत्त्वाः किमिच्छथ। त एवमाहुः। न जानीमो वयमपि न पश्यामः अपितु बुभुक्षिताः स्मः। ततस्ते सत्त्वास्तेषां सत्त्वानामयोमयेन विष्कम्भनेन मुखं विष्कम्भयित्वायोगुडानुदाराग्निसन्तप्तानास्ये प्रक्षिपन्ति पूर्ववत्। सचेत्पुनरेवं वदन्ति पिपासिताः स्मः। ततस्ते तथैव क्वथितं ताम्रमास्ये प्रक्षिपन्ति। ततोनिदानं च पुनर्दीर्घकालं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति। यावत्तन्नरकवेदनीयं पापकमकुशलं कर्म सर्वेण सर्वं न परिक्षीणं भवति व्यन्तीकृतं।

तत्र यश्च क्षुरधाराचितः पथो यश्चासिपत्रवनं यश्चायःशाल्मलीवनं या च वैतरणी नदी अयमेक उत्सद इति कृत्वा चत्वार उत्सदा भवन्ति

---यो.भू., पृ. ८४-८६, कल.वि. १९९७।

दर्ता २८५६२

तमसि च घने प्रविष्टः प्रसारितमपि च स्वीयकरं न पश्यति[1] ।।७५।।

पदमवाप्य सूर्येन्द्वोः इति सौर्यं चान्द्रं च पदं प्राप्येत्यर्थः। **स्वकायप्रभया प्रदीप्य हि संसारम्** इति स्वशरीरकान्त्या अखिलं संसारं प्रकाशयतीत्यर्थः। लोकपरिपाट्येदमुक्तम्, वस्तुतो नास्ति तयोः शरीरे तादृशः प्रकाशः, अपितु तयोः रत्नविमानस्यायं प्रकाशः, आधाराधेययोर्भेदम् अकृत्वा तथोक्तमिति ज्ञेयम्। **तमसि च घने प्रविष्टः** इति अन्धतमसि प्रविश्येति योज्यम्। स (अन्धकारः) लोकपर्यन्तं विस्तृतः, तत्रोत्पद्य प्रसारितमपि स्वहस्तं नावलोक्यते।

दुःसङ्गतिदोषमधिकृत्याह--

एवं मृत्युं ज्ञात्वा ग्राह्यस्त्रिविधपुण्यमयदीपालोकः ।
अन्यथा रवीन्दुभ्याममर्दनीयेऽन्धतमसि प्रवेष्टव्यम् ।।७६।।

इति। **एवं** यथोक्तप्रकारेण मरणं भवति, अत एव त्रिविधपुण्यमयो दीपालोको धारणीयः, त्रिविधं पुण्यमेव दीपस्य प्रकाश इति कृत्वा **त्रिविधपुण्यमयदीपालोकः** इत्युक्तम्। त्रिविधं पुण्यमिति कायिकं वाचिकं मानसिकं चेति। अथवा दानमयं शीलमयं भावनामयं चेति त्रिविधं पुण्यम्। कथं पुनः दीपस्य प्रकाश उपादीयत इति चेद्? यतो हि एकाकी एव अनन्ते घोरान्धकारे प्रवेशो भवतीत्याद्युच्यते[2]। अनागते काले अविद्यान्धकारावरणेन अस्पष्टत्वाद् अपरिच्छिन्नत्वाच्च तत्त्वस्य **अन्धतमसि** इत्युक्तम्।

---

[1] द्रष्टव्यम्--

यथा चन्द्रश्च सूर्यश्च प्रत्यागच्छति गच्छति।
भवं च्युतिं तथा लोके पुनरायान्ति यान्ति च।।

--नैरा.परि.महा.सू.(म.सू.सं), पृ. १७५, मि.सं.।

[2] द्रष्टव्यम्--

न च संस्कृते सहाया न मित्रज्ञातीजनो च परिवाराः।
अन्यत्र कर्म सुकृतादनुवध्नाति पृष्ठतो याति ।।

(संस्कृत छाया)

न च संस्कृते सहायो न मित्रज्ञातिजनश्च परिवारः।
अन्यः कर्मणः सुकृत्तादनुबध्नाति पृष्ठतो याति।। --ल.वि. ४/६१।

तत्र एकाकी सहायं विनैव प्रवेष्टव्यं भवति, तदपि बहुविधदुःखभयान्वितम्, अतः तत्प्रतिपक्षत्वेन त्रिविधपुण्यमयदीपालोक उपादेय एवेति।

इतः परं गतिषु प्रवृत्तानां यानि नियतदुःखानि, तदनुभवदोषानधिकृत्य प्रवर्तते शास्त्रमिति वेदितव्यम्। तत्र प्रथमं तावन्नारकदुःखमधिकृत्याह--

दुष्टाचरणे लग्नाः सत्त्वाः संजीवकालसूत्रतपनेषु ।
रौरवावीच्यादौ हि संघाते चापि नरके सदा दुःखम् ।।७७।।

इति। अस्मिन् श्लोके अनुभवानुरूपं शब्दसंयोजनं निर्दिश्यते। तदनुरूपं नरकाणां नामनिर्देशः। तत्रायं तेषां क्रमः -- संजीवः, कालसूत्रः, संघातः, रौरवः, महारौरवः, तापनः, प्रतापनः, अवीचिः, इत्येते अष्टौ महानरकाः[1] । **आदि**-शब्देन अवशिष्टाः शीतनरकाः[2] सामन्तकनरकादयश्च संगृह्यन्ते। **सदा दुःखम्** इति सततं

---

[1] द्रष्टव्यम्-- अष्टौ महानरकाः - सञ्जीवः, कालसूत्रः, संघातः, रौरवः, महारौरवः, तापनः, प्रतापनः, अवीचिश्चेति। --अभि.को.भा. ३/९, पृ. ३८१, बौ.भा.प्र. १९८७ ; ध.सं.(म.सू.सं), पृ. ३३८, मि.सं. ; महा.व्यु., दे.तन. पृ. ७५ ; अ.वि.सू., पृ. १३५ ;

संजीवः, यत्र सत्त्वान् म्रियमाणान् वायवो जीवयन्ति। कालसूत्रः, यत्र कालसूत्राणि पातयित्वा सत्त्वास्तक्ष्यन्ते। संघातः, यत्र मेषाकृतयः पर्वतादय उभयत आपतन्तः सत्त्वान् पीडयन्ति। रौरवः, यत्र सत्त्वाः पात्यमानाः परमविकृतं रुदन्ति। यत्र तु विशेषेण स महारौरवः। तपनः, यत्राग्न्यादिभिस्तप्यन्ते सत्त्वाः। यत्र तु विशेषेण स प्रतापनः। अवीचिः, यत्रातिमात्राग्निज्वालालिङ्गितानां सत्त्वानां सुखवीचिरन्तरं नास्ति। --अभि.को.टी., पृ. ३८०-३८१, बौ.भा.प्र. १९८७ ;

दुःखनिरन्तरत्वादवीचिः। अन्येषु सान्तरं दुःखम्। तद्यथा-- सञ्जीवे च्छिन्नावभिन्नसम्पिष्टशरीराणां शीतला वायवो वान्ति, पुनरपि तान् सत्त्वान् सञ्जीवयन्ति। अत एव सञ्जीवः। ...तस्मादवीचेरूर्ध्वं सप्त नरकाः उपर्युपरि सन्निविष्टाः --प्रतापनः, तापनः, महारौरवः, रौरवः, सङ्घातः, कालसूत्रः, सञ्जीवश्च।
--अभि.को.भा., पृ. ५१४, बौ.भा.प्र.।

[2] तत्र शीतनरकेषूपपन्नाः सत्त्वा एवंरूपं शीतदुःखं प्रत्यनुभवन्ति। अर्बुदोपपन्नाः सत्त्वास्तद्भूमिकेनोदारेण शीतेन स्पृष्टा अर्बुदवत्सर्वाश्रयेण सङ्कोचमापद्यन्ते। तस्माच्च स नरकोऽर्बुद इत्युच्यते। तत्र निरर्बुदेऽयं विशेषः। अर्बुदनिर्गतमिवार्बुदं सङ्कोचमापद्यते। तस्माच्च नरको निरर्बुद इत्युच्यते। तत्राटटो हहवो वागभिलापकृतमेतत्तेषां सत्त्वानां नामव्यवस्थानं। उत्पले पुनः शीतनरके तद्भूमिकेनोदारेण शीतेन स्पृष्टा व्यानीलायमानाः पञ्चधा षड्धा त्वचां स्फोटमापद्यन्ते। तस्माच्च स नरक उत्पल इत्युच्यते। तत्र पद्मेऽयं विशेषः। नीलतां समतिक्रम्य व्यालोहितायमाना दशधा वा भूयो वा त्वचां स्फोटमापद्यन्ते। तस्माच्च स

निरन्तरं तत्र दुःखं भवतीति। केषु सत्त्वेषु इमानि सततं नारकीयदुःखानि भवन्तीति चेत्? **दुष्टाचरणे लग्नाः** इत्याद्युक्तम्, ये कायवाक्चित्तैः दुश्चरितान्याचरन्ति तेषु भवन्तीति। आर्यजनगर्हितान्याचरणानि दुश्चरितान्युच्यन्ते। तानि यथोक्तानि कायिकादीनि दश अकुशलकर्माणि।

तत्र संजीवनरके सत्त्वाः कर्मजनितैः विविधैः आयुधप्रहारैरन्योऽन्यं अङ्गप्रत्यङ्गानि छिन्दन्ति घातयन्ति च। तेन च मूर्च्छिताः पृथिव्यां प्रपतन्ति। तत आकाशाच्छब्दो निश्चरति- 'संजीवन्तु सत्त्वाः' इति। स नरकः **संजीवः**[1] इत्युच्यते।

कालसूत्रे तावत् तत्रस्थैः यातनापुरुषैः नानाविधपर्वतानां मध्ये निक्षिप्य कालेन सूत्रेण सत्त्वा माप्यन्ते। ततश्च काष्ठवत् खन्यन्ते तक्ष्यन्ते च। तस्मात् स नरकः **कालसूत्रम्**[2] इत्युच्यते।

नरकः पद्म इत्युच्यते। तत्र महापद्मोऽयं विशेषः। भृशतरं व्यालोहितायमाना शतधा वा भूयो वा त्वचां स्फोटमापद्यन्ते। तस्माच्च स महानरको महापद्म इत्युच्यते।

--यो.भू., पृ. ८६-८७, कल.वि., १९५७ ;

.... शीता अन्येऽष्टावर्बुदादयः।।

अन्ये शीतनरका अष्टौ। तद्यथा-- अर्बुदः, निरर्बुदः, अठठः, हहवः, हुहुवः, उत्पलः, पद्मः, महापद्मश्च। तेषां सत्त्वानां तीव्रशीताभिहितानां कायशब्दविकारानुरूपाण्येतानि नामानि।

--अभि.को.भा. ३/५९, पृ. ५१७, बौ.भा.प्र.।

[1] तत्र सञ्जीवे महानरके एवंरूपं कारणादुःखं प्रत्यनुभवति बाहुल्येन। तत्र ते सत्त्वा अन्योन्यं सङ्गम्य कर्माधिपत्यसम्भूतैर्विविधैः प्रहरणैः क्रमसमुत्पन्नैरन्योन्यं विप्रघातिकां कुर्वन्तो निश्चेष्टाः पृथिव्यां प्रपतन्ति। तत आकाशाच्छब्दो निश्चरति सञ्जीवन्तु हन्त सत्त्वा इति। ततः पुनस्ते सत्त्वा व्युत्थाय तेनैव प्रकारेणान्योन्यविप्रघातिकां कुर्वन्ति। ततो निदानं च दीर्घकालं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति यावत्तत्पापकमकुशलं कर्म सर्वेण सर्वं परिक्षीणं व्यन्तीकृतं। तस्माच्च पुनः स नरकः सञ्जीव इत्युच्यते।

--यो.भू., पृ. ७९, कल.वि., १९५७।

[2] तत्र कालसूत्रमहानरके एवंरूपं कारणादुःखमनुभवन्ति बाहुल्येन। तत्र ते सत्त्वास्तत्पर्यापन्नैर्यातनापुरुषैः कालकेन सूत्रेण माप्यन्ते। चतुरस्रकमप्यष्टास्रकमप्यनेकविचित्रविभक्तिप्रकारमपि माप्यन्ते। मापिताश्च तथा तथा खन्यन्ते तक्ष्यन्ते सम्प्रतक्ष्यन्ते। ततो निदानं च दीर्घकालं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति यावत्तत्पापकमकुशलं कर्म सर्वेण सर्वं न परिक्षीणं भवति व्यन्तीकृतं। तस्माच्च पुनः स नरकः कालसूत्र इत्युच्यते।

--यो.भू., पृ. ७९-८०, कल.वि., १९५७।

संघाते तु सत्त्वा ऐकध्यं संक्षिप्यन्ते तथा तत्रस्थैर्यातनापुरुषैः विविधाकाराणां पर्वतानां मध्ये निक्षिप्य तैः पर्वतैः प्रपीड्यन्ते। तेषां प्रपीडितानां सत्त्वानां रुधिरनद्यः प्रस्रवन्ति। पुनः संघातमापन्ना लौहमये महायन्त्रे निक्षिप्य प्रपीड्यन्ते। पुनः संघातमापन्नानाम् उपरिष्टात् महाशिलाः प्रपतन्ति। तेन च ते सत्त्वा अयोमय्यां पृथिव्यां पीड्यन्ते विदीर्यन्ते सम्भिद्यन्ते च। तस्मात् स नरकः **संघातः**[१] इत्युच्यते।

रौरवे तावन्नरके सत्त्वा लयगवेषिण आयसमगारं प्रविशन्ति। तेषां तत्र प्रविष्टानाम् अग्निः प्रादुर्भवति। यतस्ते तत्र प्रदीप्ता एकज्वालीभूय दह्यन्ते। तेन ते रुदन्ति, आर्तस्वरं करुणं च क्रन्दन्ते। तस्मात् स नरकः **रौरवः**[२] इत्युच्यते।

महारौरवे तु नरके अयं विशेषः - तत्र लयगवेषिणां सत्त्वानां कृते यावत्परिमाणो रौरवे अगारो भवति, ततोऽपि द्विगुणितस्तत्र महारौरवे अगारः। तस्मात् स नरकः **महारौरवः**[३] इत्युच्यते।

---

[१] तत्र सङ्घाते महानरक एवंरूपं कारणादुःखं प्रत्यनुभवन्ति बाहुल्येन। तत्र ते सत्त्वा यदान्योन्यमैकध्यमभिसंक्षिप्ताः सङ्घातमापन्ना भवन्ति तदा तत्पर्यापन्नैर्यातनापुरुषैर्द्वयोरजमुखयोरायसयोर्महापर्वतयोर्विवरमनुप्रवेश्यन्ते। समनन्तरप्रविष्टाश्च ताभ्यां पर्वताभ्यां प्रपीड्यन्ते। तेषां प्रपीडितानां सर्वतोमुखं रुधिरनद्यः प्रस्रवन्ति प्रघरन्ति। यथाजमुखयोरेवं मेषमुखयोर्हयमुखयोर्हस्तिमुखयोः सिंहमुखयोर्व्याघ्रमुखयोः। पुनः सङ्घातमापन्ना आयसे महायन्त्रे प्रक्षिप्य प्रपीड्यन्ते यथेक्षुक्षोदः। तेषां तत्र प्रपीड्यमानानां रुधिरनद्यः प्रस्रवन्ति प्रघरन्ति। पुनः सङ्घातमापन्नानामुपरिष्टादायसी महाशिला प्रपतति या तान्सत्त्वानयोमय्यां पृथिव्यां सञ्छिन्दति सम्भिन्दति सङ्कटयति सम्प्रदालयति। तेषां तत्र तत्र सञ्छिद्यमानानां सम्भिद्यमानानां सङ्कट्यमानानां सम्प्रदाल्यमानानां रुधिरनद्यः प्रस्रवन्ति प्रघरन्ति। ततो निदानं च दीर्घकालं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति यावत्तत्पापकमकुशलं कर्म सर्वेण सर्वं न परिक्षीणं भवति व्यन्तीकृतं। तस्माच्च पुनः स नरकः सङ्घात इत्युच्यते।

--यो.भू., पृ. ८०-८१, कल.वि., १९५७।

[२] तत्र रौरवे महानरक एवंरूपं कारणादुःखं प्रत्यनुभवन्ति बाहुल्येन। तत्र ते सत्त्वा लयनगवेषिण आयसमगारं प्रविशन्ति। तेषां तत्र प्रविष्टानामग्निर्मुच्यते यतस्त आदीप्ताः प्रदीप्ताः सम्प्रज्वलिता ध्यायन्ति। ते तत्र रुवन्त्यार्तस्वरं क्रन्दन्ते ततो निदानं च दीर्घकालं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति यावत्तत्पापकमकुशलं कर्म सर्वेण सर्वं न परिक्षीणं भवति व्यनतीकृतं। तस्माच्च पुनः स नरको रौरव इत्युच्यते।

--यो.भू., पृ. ८१, कल.वि., १९५७।

तपनाख्ये तावन्नरके तत्रस्थैर्नरकपालैः[१] सत्त्वा लौहकटाहे प्रक्षिप्य दग्धीक्रियन्ते। पुनरयोमयेन शल्येनाधस्ताद् विध्यन्ते। स च शल्यः पृष्ठान्तेन प्रविश्य शिरसा निर्गच्छति। तेषां च सत्त्वानां सर्वरोमकूपेभ्यः सर्वद्वारेभ्यश्च ज्वाला निर्गच्छन्ति। पुनः तप्तायां प्रज्वलितायां पृथिव्यां उत्तानकान् स्थापयित्वा (नरकपालाः) अयोघनैस्ताडयन्ति। तस्माच्च स नरकः **तपनः**[२] इत्युच्यते।

प्रतापने हि नरके तावदयं विशेषः। तत्र त्रिशूलशल्यं पृष्ठतो निर्गमयन्ति। ततो निदानं द्वे शूले द्वाभ्यां स्कन्धाभ्यां निर्गच्छतः, तृतीयश्च शिरसा। लौहपत्रैश्च सन्तप्तैः सर्वतः कायं परिवेष्टयन्ति। पुनः महत्यां लौहमय्यां कफालिकायां (कटाहे) क्वथितक्षारपूर्णायां प्रदीप्तायां ते सत्त्वा ऊर्ध्वपादा अवाङ्मुखाः प्रक्षिप्यन्ते। प्रक्षिप्ताश्च सन्तप्यन्ते ऊर्ध्वमपि गच्छन्तोऽधोऽपि गच्छन्तस्तिर्यगपि गच्छन्तो यतश्च

---

[३] तत्र महारौरवे महानरकेऽयं विशेषो यो रौरवेऽगारः स तत्रागार एव विज्ञातव्यः सगर्भस्तु। तस्माच्च पुनः स नरको महारौरव इत्युच्यते। --यो.भू., पृ. ८१, कल.वि., १९५७।

[१] द्रष्टव्यम्--

क्रोधनाः क्रूरकर्माणः पापाभिरुचयश्च ये।
दुखितेषु च नन्दति जायन्ते यमराक्षसाः ।।

--अभि.को.भा., पृ. ५१६, बौ.भा.प्र. ;

....यमराक्षसा इति। पापकर्माणः सत्त्वा नरकपाला जायन्त इत्यर्थः।

--अभि.को.टी., पृ. ५१६, बौ.भा.प्र.।

[२] तत्र तपने महानरक एवंरूपं कारणादुःखं प्रत्यनुभवन्ति बाहुल्येन। तत्पर्यापन्ना यातनापुरुषास्तान्सत्त्वाननेकयोजनायां कफल्यां प्रक्षिप्य तप्तायां प्रतप्तायां सम्प्रज्वलितायामावर्तयन्ति परिवर्तयन्ति तापयन्ति सन्तापयन्ति तद्यथा मत्स्यान्। पुनरयोमयेन शल्येनाधस्ताद्विध्यन्ति। स च शल्यः पृष्ठान्तेन प्रविश्य शिरसा निर्गच्छत्यादीप्तः प्रदीप्तः। तेषां च सत्त्वानां मुखादक्षितारकाभ्यो नासिकाविलेभ्यः सर्वरोमकूपेभ्यो ज्वाला निर्गच्छन्ति। पुनरयोमय्यां पृथिव्यां तप्तायां सन्तप्तायां प्रज्वलितायामुत्तानकान्स्थापयित्वावमूर्धकान् वा तप्तैः सन्तप्तैः सम्प्रज्वलितैरयोघनैस्ताडयन्ति सन्ताडयन्ति सन्दालयन्ति तद्यथा नाम मांसबिल्वं। ततो निदानं च दीर्घकालं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति यावत्पापकमकुशलं कर्म सर्वेण सर्वं न परिक्षीणं भवति व्यन्तीकृतं। तस्माच्च पुनः स नरकस्तपन इत्युच्यते।

--यो.भू., पृ. ८१-८२, कल.वि., १९५७।

सङ्कीर्णत्वङ्मांसशोणिता भवन्ति अस्थिशङ्कला-मात्रावशिष्टाः। ततः पुनरपि उत्क्षिप्ताः सञ्जातत्वङ्मांसशोणिता भवन्ति। अतो नरकोऽयं **प्रतापनः**[१] इत्युच्यते।

अवीचौ तावन्नरके चतसृभ्यो दिग्भ्यः अधस्ताच्च अग्निज्वाला वेगेन आगच्छति, यतस्तेषां सत्त्वानां त्वङ्मांसस्नाय्वस्थिमज्जादीनि ज्वालाभिर्व्याप्य तिष्ठन्ति, तद्यथा स्नेहवर्ति। ते च सत्त्वास्ततो निदानं एकलोलीभूता अग्निस्कन्धरूपाः प्रतीयन्ते। मिश्रीभूते तस्मिन्नग्निस्कन्धे ते सत्त्वा तत्र वीचिम् (अन्तरालमपि) नोपलभन्ते दुःखानां वेदनानां नान्यत्र आर्तस्वरं क्रन्दन्तो विज्ञायन्त इति **अवीचिनरकः**[२] इत्युच्यते।

---

[१] तत्र प्रतापने महानरकेऽयं विशेषः। त्रिशूलशल्यं पृष्ठतो निर्गमयन्ति। तस्य चैकशूल एकेन स्कन्धेन निर्गच्छति। द्वितीयो द्वितीयेन तृतीयः शिरसा। तेषां ततो निदानं मुखेनापि(ज्वाला) निर्गच्छति। लौहपत्रैश्च तप्तैः सन्तप्तैः सम्प्रज्वलितैः सर्वतः कायं परिवेष्टयन्ति पुनरयोमय्यां महत्यां लोह्यां क्वथितक्षारपूर्णायामादीप्तायां प्रदीप्तायां सम्प्रज्वलितायां ते सत्त्वा ऊर्ध्वपादा अवाङ्मुखाः प्रक्षिप्यन्ते। प्रक्षिप्ताश्चातप्यन्ते सन्तप्यन्ते ऊर्ध्वमपि गच्छन्तोऽधोऽपि गच्छन्तस्तिर्यगपि गच्छन्तो यतश्च सङ्कीर्णत्वङ्मांसशोणिता भवन्त्यस्थिशङ्कलामात्रावशिष्टाः। तदा पुनरुत्क्षिप्योत्क्षिप्यायोमय्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठाप्यन्ते। ततः सञ्जातत्वङ्मांसशोणिताः पुनरपि प्रक्षिप्यन्ते। शेषं तपनवत्। ततो निदानं च पुनर्दीर्घकालं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति। यावत्तत्पापकमकुशलं कर्म सर्वेण सर्वं न परिक्षीणं भवति व्यन्तीकृतं। तस्माच्च पुनः स नरकः प्रतापन इत्युच्यते।

---यो.भू., पृ. ८२-८३, कल.वि., १९५७।

[२] तत्रावीचौ माहनरक एवंरूपं कारणादुःखं प्रत्यनुभवन्ति। तेषां सत्त्वानां पूर्वस्यां दिश्यनेकयोजनशतायाः पृथिव्या आदीप्तायाः प्रदीप्तायाः सम्प्रज्वलिताया अग्निज्वालावेग आगच्छति यतस्तेषां सत्त्वानां त्वचं भित्वा मांसं भित्वा स्नायुं छित्वास्थि भित्वास्थिमज्जानं। तद्यथा स्नेहवर्ति। एवं कृत्स्नमाश्रयं ज्वालाभिर्व्याप्य तिष्ठति। यथा पूर्वस्या दिश एवं दक्षिणस्याः पश्चिमाया उत्तरस्या दिशः। ते च सत्त्वास्ततोनिदानमग्निस्कन्धरूपा एवोपलभ्यन्ते। मिश्रीभूते तस्मिंश्चतुर्दिशागतेऽग्निस्कन्धे ते तत्र वीचिमपि नासादयन्ति दुःखानां वेदनानां नान्यत्र आर्तस्वरं क्रन्दतो विज्ञायन्ते सत्त्वा इति। पुनरयोमयैः शूर्पैरयोमयानङ्गारानादीप्तान्सम्प्रज्वलितान्पुनन्ति निपुनन्ति। पुनरयोमय्यां पृथिव्यामयोमयान् महापर्वतानारोहन्त्यप्यवतरन्त्यपि। पुनर्मुखाज्जिह्वा निर्गमय्यायःशङ्कुशतेन वितता भवति। सा तथा वितता विगतवलिका विगतपुटिका च तद्यथार्षभं चर्म। पुनस्तस्यामेवायोमय्यां पृथिव्यामुत्तानकान्स्थापयित्वायोमयेन विष्कम्भनेन मुखं विष्कम्भयित्वा दीप्ताः प्रदीप्ताः सम्प्रज्वलिताः। अयोगुडा मुखेषु क्षिप्यन्ते ये तेषां मुखमपि दहन्ति कण्ठमप्यन्त्रमपि दग्ध्वा च पुनरधोभागेन निर्गच्छन्ति। क्वथितं ताम्रमास्ये प्रक्षिपन्ति। तच्च मुखमपि दग्ध्वा कण्ठमप्यन्त्रमपि दग्ध्वाधोभागेन प्रघरति। शेषं प्रतापनवत्। ततोनिदानं पुनर्दीर्घकालं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति यावत्तत्पापकमकुशलं कर्म सर्वेण सर्वं न परिक्षीणं भवति व्यन्तीकृतं। तस्माच्च पुनः स नरकोऽवीचिरित्युच्यते यत्र यद्भूयसानन्तर्यकारिणः सत्त्वा

सम्प्रति तेषु नरकेषु प्रतिस्वम् अनुभूयमानः दुःखविशेषो निर्दिश्यते--

निष्पीड्यन्ते तिलवत् केचनान्ये चूर्णवत् पेष्यन्ते च ।
छिद्यन्ते शाणेनान्ये दीर्यन्ते तथा तीक्ष्णपरशुनाऽपि ।।७८।।

संघातनरके तावल्लौहमये महायन्त्रे सत्त्वाः प्रक्षिप्य निष्पीड्यन्ते। **चूर्णवत्पेष्यन्ते** इति तत्रैव नरके यातनापुरुषैः तत्रापन्नानामुपरिष्टाल्लौहमयी प्रज्वलिता या महाशिला प्रपतति, तया अयोमय्यां पृथिव्यां ते सत्त्वाः चूर्णीक्रियन्ते, यथा शिलापुत्रकेण पेष्यते। **छिद्यन्ते शाणेन** इत्यादिना कालसूत्रे नरके बद्धपरिकरास्ते प्रसन्नमनसो यमपुरुषाः यथा तक्षकः काष्ठं छिन्दति तथा दीर्घदन्तेन शाणेन प्रज्वलितेन च कुठारेण सत्त्वान् छिन्दन्ति।

आस्येऽन्येषां तद्वत् पात्यते ज्वलितं तावल्लौहद्रवम् ।
आरोप्यन्ते केचन सकण्टके तप्तायसे सदा शूले ।।७९।।

इति। वैतरणीतटे जाज्वल्यमानेन लौहसन्दंशेन बलात् सत्त्वानां मुखं विवरित्वा तत्र तप्तं लौहद्रवं वा प्रज्वलितमग्निद्रवं वा निपात्यते। **आरोप्यन्ते केचन** इत्यादिना तापनेऽस्मिन्नरके सत्त्वाः सकण्टके प्रज्वलितलौहशूले निरन्तरं ग्रथ्यन्ते इति।

श्वभिः केचन क्रूरैर्लौहदन्तैर्विदीर्यन्ते गर्जद्भिः ।
उत्थाय करौ विवशा लुञ्च्यन्ते तीक्ष्णनखतुण्डैश्च काकैः ।।८०।।

इति। असिपत्रवने हि केचित् सत्त्वाः बलवद्भिः लौहदन्तैश्चण्डमहारोषणैश्च हस्तौ आकाशे ऊर्ध्वं कृत्वा गर्जद्भिः सारमेयैर्विदीर्य भक्ष्यन्ते, ते च सत्त्वाः आर्तस्वरं क्रन्दन्ते। **विवशा लुञ्च्यन्ते** इत्यादिना अन्ये विवशाः सत्त्वाः शाल्मलीवने लुञ्च्यन्ते।

उपपद्यन्ते। तत्रेमान्यौदारिकाणि कारणानि परिकीर्तितानि। न च पुनरेषु महानरकेषु तदन्यानि विचित्राकाराणि बहूनि कारणानि नोपलभ्यन्ते।

--यो.भू., पृ. ८३-८४, कल.वि., १९५७।

कैरिति चेद्? तीक्ष्णलौहतुण्डैस्तीव्रनखैश्च वायसैः। अर्थात् तेषां वायसानां तुण्डः लौहमयः नखाश्च तीव्राः भवन्ति।

केचित् कृमिसंस्पर्शाद् मांसादकृष्णमक्षिकायुतपाताच्च ।
वृद्धं व्रणन्त्वसह्यं भक्ष्यमाणं रुदन्ति चाकुला भूम्याम् ।।८१।।

इति। शरीरे पिडिकाः कृमयश्च सम्भवन्ति। कृमयस्तु अन्तःशरीरे पिडिकाश्च बहिर्जायन्ते। वर्णाकृतिजातिभेदेन नानाविधास्ता भवन्ति। **मांसादकृष्णमक्षिकायुत०** इत्यादिना नानाविधास्ता इत्यवबोद्धव्यम्। मांसादाश्च कृष्णमक्षिकाश्चेति पदच्छेदः। **कृष्णमक्षिका** इति दुष्टचित्ता इत्यर्थः। बहुलोपलक्षणेन अयुतेत्युक्तम्। **असह्यम्** इति येषां स्पर्शोऽसहनीयो भवति। तेषां स्पर्शेन तावदसह्यं दुःखमनुभूयते। गात्रं विचूर्णयतीति व्रणं महच्च तद् व्रणं वृद्धं व्रणम्। पूर्वेण तावदसह्यवेदनाया हेतुत्वं दर्शितम्, द्वितीयेन तु व्रणवृद्धेर्हेतुत्वमावेदितम्। **आकुलाः** इति असह्यवेदनया पीडितः कायो नैव स्थिरो भवति, परिवर्तमानो भवतीत्यर्थः। दुःखं चेदं शेषेष्वपि नरकेषु विद्यत इति वेदितव्यम्।

दह्यन्तेऽग्निकुण्डेषु तेन तदाननानि च भवन्ति विवृतानि ।
पच्यन्ते च कटाहे तण्डुलवल्लौहमयेऽधःशिरसस्ते ।।८२।।

इति। नरकपालैस्तावत् प्रज्वलितलौहकुण्डेषु सत्त्वा निक्षिप्यन्ते। बद्धपरिकरैस्तैः प्रज्वलितलौहाग्निस्कन्धे नारकीयाः सत्त्वा दह्यन्ते। असह्यकायवेदनावशात् तेषां सत्त्वानां मुखच्छिद्रं विवृतमेव भवति क्षीणबलत्वात्। दुःखमिदं तापननरके भवतीति वेदितव्यम्।

पच्यन्ते च कटाहे-- इत्यादिना पुनः केचित् सत्त्वाः प्रतापननरके क्वथितजलपरिपूर्णे लौहनिर्मिते प्रज्वलिताग्नौ बृहद्भाण्डे उपर्यधः परिपाच्यन्ते, तण्डुलपरिपाचनवत्।

श्वासावरोधसमये पापः कालंकृते च नरकं प्रयाति ।

श्रुत्वाऽपि नरकदुःखं सहस्रशो वज्रस्वभावान्न बिभेति ।।८३।।

इति। अनेन तावत् तीव्राणि खराणि नरकदुःखानि निर्दिश्यन्ते। पापसमन्वितः पापः पुरुषः। **श्वासावरोधसमये** इति उच्छ्वासनिरोधमात्रसमये अन्तरालरहित इत्यर्थः। यस्मात्ते पापकर्माणः अप्रमेयाणि नारककीयदुःखानि सहस्रशः श्रुत्वाऽपि नैव बिभ्यति, तस्मात्ते वज्रस्वभावा इति। नातिभीतिर्भवति तेष्वित्यर्थः। **वज्रस्वभावात्** इति भयज्ञानाभावस्तावन्निर्दिष्टः। पापानां नरकदुःखानि मरणाव्यवहितमेव सद्यः सम्भवन्ति। नरकेषु यद् गम्भीरतरं कटुकदुःखं तच्छुत्वापि ते न पश्चात्तापं कुर्वन्ति अतस्तेषां वज्रस्वभावः कथितः।

श्रुत्वा दृष्ट्वा स्मृत्वा पठित्वा चापि चित्राङ्कनं नरकस्य ।
आकृतिरपि भयजनिका का कथा तदसह्यविपाकानुभवस्य ।।८४।।

इति। अनेन हि तत् स्मर्यते। भित्त्यादिषु नरकचित्रादि दृष्ट्वाऽपि भयमुत्पद्यत इति सर्वत्र योजनीयम्। **श्रवणमिति** परैः तत्कथाश्रवणम्। **स्मरणिमिति** पूर्वानुभवस्मरणम्। **पठनमिति** शास्त्रेषु तत्स्वरूपपठनम्। **आकृतिरिति** मृन्मयाकारो निर्मीयत इत्यर्थः। तादृशा नरकाः अपि भयावहाः **का कथा तदसह्यविपाकानुभवस्य** इति तत्र दारुणदुःखविपाकोऽपि असह्यदुःखानुभवश्चापि। अतस्ते असह्यविपाकानुभवा इति। तदवस्थायां नारकीयेषु सत्त्वेषु महात्रासोत्पत्तिरित्यर्थः।

यथा समस्तसुखानां तृष्णाक्षय एव सर्वोत्तमं सुखमिति ।
तद्वत् सर्वदुःखेष्ववीचिनरकदुःखमत्यसहनीयं तत् ।।८५।।

इत्यादिना सर्वत्र सर्वनरकेषु दुःखसमता नैव भवति, अपि तु क्वचिद् विशेषो वर्तत इति दर्श्यते। तत्र तृष्णाक्षयसुखं तु विमुक्तिसुखमेवेति ज्ञेयम्[1] । तथैव लोके यावन्ति दुःखानि, तेषु अवीचिनरकदुःखं तावद् दारुणतरम्।

---

[1] द्रष्टव्यम्--
यो चेतं सहते जम्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं ।

इहैकस्मिंश्च दिवसे, त्रिशतशूलघाताद् भवति च यद् दुःखम् ।
नारकीयदुःखस्य हि तन्नाप्नोति समतां न लघुकलां चापि ।।८६।।

इत्यनेन मनुष्यदुःखेभ्यो नारकीयदुःखस्य वैशिष्ट्यं दर्श्यते। अस्मिन् खलु संसारे दिवसैकपर्यन्तं शूलानां त्रिशतेन पीड्यमानानां मनुष्याणां यावद् दुःखम्,

---

सोका तम्हा पपतन्ति उदबिन्दु व पोक्खरा।। --धम्म. २४/३ ;

तृष्णा हि माता इत्युक्ता अविद्या च पिता तथा।
विषयावबोधाद्विज्ञानं बुद्ध इत्युपदिश्यते ।। --लं.सू. ३/३ ;

ननु च सत्यदर्शनादविद्यादि प्रहीयते, तत्प्रहाणात् संस्कारादिप्रहाणक्रमेण तृष्णापि प्रहीयते। तृष्णाविपर्यासमती च पुनर्भवोत्पत्तिनिमित्ते। ततश्च तयोरभावात् तुषरहितस्य बीजस्येव कर्मणः सद्भावेऽपि न किंचिद्विहन्यते इति। तदुक्तम्--

मिथ्याज्ञानतद्भूततर्षसंचेतनावशात्।
हीनस्थानगतिर्जन्म त्यक्त्वा चैतन्न जायते।।

अथवा। तृष्णैव केवला पुनर्भवकारणम्, समुदयाकारत्वात्। उक्तं हि भगवता-- तत्र कतमत् समुदयार्यसत्यम्? येयं तृष्णा पौनर्भविकी नन्दीरागसहगता तत्रतत्राभिनन्दिनी, यदुत कामतृष्णा भवतृष्णा विभवतृष्णा चेति। तदेवं यस्य तृष्णा नास्ति, तस्य प्रहीणसमुदयस्य कारणाभावात् न पुनर्जन्मसम्भवः। इति पराभिप्रायमुत्थापयन्नाह--

तृष्णा तावदुपादानं नास्ति चेत्संप्रधार्यते।

अविद्याप्रहाणात् तृष्णा पुनर्भवोपादानं कारणं तावन्नास्ति, न विद्यते चेद्यदि संप्रधार्यते निश्चीयते, तदा नैतद्वक्तव्यम्। यतः उपलम्भदृष्टीनामविद्याप्रहाणमनुपपन्नम्। तद्भावात् तृष्णाप्रहाणस्याप्यभावात्।
--बो.च.पं., ९/४७, पृ. २०८ ;

तुलनीयम्--

यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्राहमिति शाश्वतस्नेहः।
स्नेहात्सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते।।

गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत्तावत्तु संसारः ।।

आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिवद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ।। --प्र.वा. १/२१८-२२१ का. ।

तन्मनुष्यलोके महत्तरं दुःखमुच्यते। तादृशमपि दुःखम् अल्पतरेणापि नरकदुःखेन सह तुल्यं न भवति[1]। नरकस्याल्पीयमपि दुःखं तस्माद् दुःखाद् विशिष्टतरमित्यर्थः।

एवं तीव्राणि नारकीयदुःखानि निर्दिश्य कर्मक्षयेणैव तेषां क्षयो नान्यथेति निर्देष्टुमाह-

कोटिवर्षपर्यन्तं दारुणातिदुःखेष्वनुभवत्सु सत्स्वपि ।
यावत्तान्यकुशलानि न क्षीणानि तावन्न जीवनान्मुक्तिः ।।८७।।

इति। अनुभूतास्वपि तीव्रदुःखवेदनासु येषां कर्मणां नाशो न भवति तानि बलवन्ति कर्माणीत्युच्यन्ते।

अनिष्टफलबीजानि तु कायवाक्चित्तानां हि दुराचरणानि ।
भवतैवं यतनीयं शक्त्या येन तदणुमात्रं न शिष्येत ।।८८।।

इति। अनेन तावन्नरकदुःखानि अपसारयितुं नृपायोपदिश्यते-- **अनिष्टफलेति** नरका हि नारकीयसत्त्वानां कर्मवशात् प्रादुर्भवन्ति। **बीजानि** इति हेतवः। कायवाक्चित्तानां दुराचरणानि पूर्वमुक्तानि। भवता तथा यतनीयं यथा तेषां (दुराचरणानां) बीजम् अणुमात्रमपि नावशिष्टं स्यादित्युपदेशः।

तिर्यग्योनिगतानां सत्त्वानां दुःखान्यधिकृत्याह--

तिर्यग्योनिषु नाना दुःखानि भवन्ति च वधबन्धनादीनि ।
परस्परं भक्षयन्ति शममूलशुभकर्मपरिहर्तारस्ते ।।८९।।

---

[1] तुलनीयम्--
कामदेवायुषा तुल्या अहोरात्रा यथाक्रमम्।
सञ्जीवादिषु षट्सु आयुस्तैस्तेषां कामदेववत्।।
अर्धं प्रतापने अवीचावन्तःकल्पम् ... ।
--अभि.को. ३/८२-८३।

इति। तत्र तिर्यग्योनिगतानि दुःखानि[१] तावत् सामान्यविशेषभेदेन निर्दिष्टानीति ज्ञातव्यानि। सामान्यनिर्देशमधिकृत्योक्तम्-- वध-बन्धन-ताडनादिविविधानि दुःखानि। तत्र **वधो** हिंसा मारणमित्यर्थः। **बन्धनं** रज्वादिभिः। **ताडनं** लौहदण्डकशादिभिः। **आदिशब्देन** कर्मसु नियोजनं नासिकाच्छेदनमित्यादीनि संगृह्यन्ते। इदं तावत् मनुष्यामनुष्यकृतानि तिर्यग्योनिगतानि दुःखान्यधिकृत्य प्रोक्तम्। स्वज्ञातिकृतानि दुःखान्याधिकृत्याह-- **परस्परं भक्षयन्ति शममूलशुभकर्मपरिहर्तारस्ते** इति शुभकर्मपरिहर्तारस्त इति प्रहीणनिर्वेधभागीयकुशलमूला इत्यर्थः। निर्वाणप्रापकं हि कुशलं शममूलकुशलमिति। अत्र परिहर्तृत्वेन तेषामपात्रत्वमादर्शितम्। **परस्परं भक्षयन्ति** इत्यन्योन्यभक्षणमित्यर्थः। अत्रापि प्रहीणशममूलशुभकर्मत्वेनात्यन्तमूढत्वं तेषामुक्तम्। तादृशं परस्परभक्षणं तावदत्यन्तमसहनीयमिति। पश्चात्तापाभावेन दुःखमेवैकान्तविपाकः।

विशेषनिर्देशमधिकृत्याह--

केचिद् वै हन्यन्ते मुक्तोर्णास्थिमांसचर्मार्थं जीवाः ।
योज्यन्ते खलु विवशा अन्ये पदमुष्टिकशाङ्कुशैः पशवश्च ।।९०।।

इति। **केचिन्मुक्तार्थं**, केचिद् ऊर्णार्थं केचिद् अस्थ्यर्थं हन्यन्ते, यथा- हस्ती । केचिद् मृगादयो मांसार्थं केचिद् व्याघ्रादयश्चर्मार्थं हन्यन्ते। **विवशा अन्ये** इत्यत्र **'योज्यन्ते'** इति शब्दस्तु प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तत्र पादप्रहारेण नियोज्यन्ते अश्वादयः, मुष्टिप्रहारेण महिषादयः, कशया गर्दभादयः, अङ्कुशेन गजादयः, ताडनेन च नियोज्यन्ते वृषभादयः।

---

[१] तत्र तिर्यञ्चोऽन्योन्यं विप्रघातिकां कुर्वन्ति यथा दुर्बलघातिकां। ततो निदानं च दुःखं प्रत्यनुभवन्ति। अस्वतन्त्राश्च बाध्यन्ते ताड्यन्ते नुद्यन्ते। उपकरणभूताश्च भवन्ति देवमनुष्याणां। ततो निदानमपि विचित्राणि दुःखानि प्रतिसंवेदयन्ति।

--यो.भू., पृ. ८७, कल.वि., १९५७ ;

.................परं पुनः।
कल्पं तिरश्चाम्, ...।।

--अभि.को. ३/८३।

प्रेतगतेर्दुःखमधिकृत्योच्यते--

प्रेतयोनौ न क्षयं यातीष्टालाभजनिता दुःखधारा च ।
दुःखमसह्यं लभते शीतोष्णक्षुत्तृषाश्रमभयजनितं हि ।।९१।।

इति। अत्रापि सामान्यविशेषयोर्विशेषोऽवगन्तव्यः। सामान्यनिर्देशस्तावत्--अभीष्टवस्तु-नोऽभावः, क्षुत्तृषादिभिर्जनितं दुःखम्, कदापि कामानामप्रपूरणान्निरन्तरमिति। **न क्षयम्** इत्यनेन असह्यदुःखस्यैव तावन्निर्देशः। **क्षुत्तृषा** इत्यादिना बुभुक्षा पिपासा शैत्यमौष्ण्यं श्रान्तिः भयञ्चेत्यादयः संगृह्यन्ते। एभिरुत्पन्नं दारुणमसह्यं च दुःखं प्रेता लभन्त इति ज्ञेयम्[1]। तत्र भोजनार्थं परिभ्रमणेन श्रान्तिर्जायते। खड्ग-मुसल-पाशधारिणां दर्शनेन भयमुत्पद्यते।

विशेषनिर्देशमधिकृत्य तावदाह--

सूचीछिद्रवदास्यं केषाञ्चिदुदरमतिविशालं नगवच्च ।
तच्च पीडितं क्षुधया क्षिप्तमशुचि वस्तु न प्रतिकारक्षमम् ।।९२।।

इति। येषां मुखं सूचिकाछिद्रवदत्यन्तं लघु भवति ते तथोच्यन्ते। **उदरमतिविशालं नगवत्** इति पर्वतगुहापरिमाणं अत्युदारं उदरं भवतीत्यर्थः।

---

[1] प्रेताः पुन समासतस्त्रिविधा बहिर्भोजनपानकृतावरणा अध्यात्मं भोजनपानकृतावरणा भोजनपानकृतावरणाश्च। तत्र बहिर्भोजनपानकृतावरणाः कतमे। ये सत्त्वा मात्सर्यस्याधिमात्रमासेवितत्वात्प्रेतायतन उपपन्नाः। ते च भवन्ति क्षुत्पिपासायोगात्संशुष्कत्वङ्मांसशोणिता दग्धस्थूणाकृतयः केशानुकारैर्मुखैः क्षुत्पिपासापरिगतवदनाः संशुष्कमुखा लेलिहमानजिह्वाः सम्भ्रान्तवदनास्तेन तेनान्वाहिण्डन्त्युत्ससरस्तडागेषु। तत्र चापरैरसिहस्तैः पाशहस्तैस्तोमरहस्तैः सत्त्वैस्तेभ्य उत्ससरस्तडागेभ्यो निवार्यन्ते। तच्च पानीयं पूयशोणितं पश्यन्ति। तेन स्वयमेवापातुकामता सन्तिष्ठते। इम एवंरूपाः प्रेता बहिर्धाभोजनपानकृतावरणाः।

--यो.भू., पृ. ८७-८८, कल.वि., १९५७ ;

द्रष्टव्यम्--

वान्ताशा उज्झिताशाश्च खेटमूत्रोपजीविनः।
पूयशोणितविष्ठाशा घोराः प्रकृतिदुखिताः ।। --अ.श.(जाम्बालः), पृ १३४, मि.सं.।

क्षिप्तमशुचि वस्तु इति मुखच्छिद्रस्य अतिसूक्ष्मत्वात्तेन यत्किमपि अशुच्यादि वस्तु अल्पमात्रं प्राप्यते तदपि भक्षयितुं न शक्यते[1]।

केचित् प्रेता नग्नाः शुष्कतालशिखरवदस्थिचर्माणः ।
नक्तमग्निमुद्गिरतां मुखे पतत्तप्तसिकताशनं तेषाम् ।।९३।।

इति। **केचिद् अस्थिचर्माणः** इति मांसरहिता इत्यर्थः। **नग्नाः** इति रात्रौ नग्ना विचरन्ति। **शुष्कतालशिखरवत्** शुष्कतालवृक्षमस्तकसदृशा इत्यर्थः। असुरा अप्युच्यन्ते **प्रेताः**। केषाञ्चित् प्रेतानां मुखेभ्योऽग्निर्निर्गच्छति। विवृते सति मुखे निर्गच्छन्ती अग्निज्वालेव दृश्यते। किं दिवा काले? न, **नक्तम्** रात्रिसमयमात्रे। किं पुनस्तेषां भोजनम्[2]? प्रज्वलिते मुखे भोजनस्थाने तप्तबालुकाः पतन्ति, ता एव तेषां भोजनमित्यर्थः। येषां प्रज्ज्वलिते मुखे तप्तबालुकाः पतन्ति, ता एव ते भोजनरूपेण भुञ्जते, अत एव **पतत्तप्तसिकताशनमित्युक्तम्**।

केचित् प्रेतास्तावद् विष्ठापूयादिपूतिद्रव्याण्यपि न प्राप्नुवन्ति। तत्कस्य हेतोः? इत्याह--

निम्नकोटिकैः कैश्चित् पूयरक्ताद्यशुचीनि न च लभ्यन्ते ।
आक्रम्यान्यमुखोपरि गलनिर्गतलसिकादीनि च खाद्यन्ते ।।९४।।

निम्नकोटिका इति अकृतपुण्या इत्यर्थः। किं ते भक्षयन्तीति चेद्? **आक्रम्यान्यमुखोपरि** इत्याद्युक्तम्। ते अन्योऽन्यं दृष्ट्वा क्रोधेन मुखोपरि प्रहारं

---

[1] अध्यात्मं भोजनपानकृतावरणाः कतमे। तद्यथा सूचीमुखा उल्कामुखा गलगण्डकाश्च महोदराः। तथा हि ते स्वयमेव परैरकृतावरणा लब्ध्वापि भोजनपानं न शक्नुवन्ति भोक्तुं वा पातुं वा। इम एवंरूपाः प्रेता अध्यात्मं भोजनपान-कृतावरणाः।

--यो.भू., पृ. ८८, कल.वि., १९५७।

[2] भोजनपानकृतावरणाः कतमे। सन्ति ज्वालामालिनो नाम प्रेता येषां भुक्तं भुक्तं पीतं पीतं सर्वमवदह्यते येनैषां क्षुत्पिपासादुःखं न कदाचिदपैति।

--यो.भू., पृ. ८८, कल.वि., १९५७।

कुर्वन्ति। केषाञ्चिद् हस्ते मुद्गरो भवति, येन ते परस्परं प्रहरन्ति। तेन तेषां कण्ठेषु गलगण्डो जायते, परिपाकवशेन तस्मात् प्रस्रुतेन पूयेन ते स्वकीयं भक्तकृत्यं सम्पादयन्ति[1]।

चन्द्रो ग्रीष्मे तप्तः शैत्ये शीतो भानुश्च ह्येतेभ्यः ।
तेषां दृष्टिपाताच्च निष्फलास्तरवो नद्यश्च शुष्यन्ते ।।९५।।

कतिपयेभ्यः प्रेतेभ्यो निदाघकाले चन्द्रोऽपि उष्णो भवति, सूर्योऽपि हेमन्ते शीतलो भवति। **निष्फलास्तरवः** इति पुण्यरङ्केभ्यस्तेभ्यः पक्वमधुरफलनम्राः शाखिनोऽपि अग्निदग्धा इव फलपत्ररहिता जायन्ते। तेषां दृष्टिमात्रेणापि मधुरशीतलोदका नद्योऽपि दृष्टिविषेण दह्यमाना इव शोषमुपयान्ति। कतिपयेभ्यः सा नदी प्रज्वलिताङ्गारपूर्णेव प्रतीयते, केभ्यश्चित् पूयपूर्णा नानाविधकृमिपूर्णा च प्रतीयते। केभ्यश्च मूत्रपुरीषादिपरिपूर्णा परिलक्ष्यते।

एवंरूपेण ते सत्त्वाः (प्रेताः) कियत्कालं जीवन्ति? इत्याह--

सततं दुःखभाजस्ते दुश्चरितकर्मपाशसुदृढबद्धा वै ।
न च म्रियन्ते केचित् पञ्च वा दश सहस्रवर्षाणि सत्त्वाः ।।९६।।

पञ्च वा दश सहस्रवर्षाणि इति केचन सत्त्वाः पञ्चसहस्रवर्षाणि केचिच्च दशसहस्रवर्षाणि यावन्न म्रियन्ते[2]। कश्च तेषां विशेष इति? **सततं दुःखभाजस्ते** इति

---

[1] सन्ति च प्रेता अवस्करभक्षा नाम य एकत्येऽमेध्यं भक्षयन्ति प्रस्रावं पिबन्ति। यद्वाशुचिदुर्गन्धमामगन्धं प्रतिकूलं प्रतिक्रुष्टं तच्छक्नुवन्ति भक्षयितुं वा पातुं वा। अप्येके स्वमांसमप्युत्कृत्य भक्षयन्ति। यत्तु भवति शुचि वा प्रणीतं वा तन्न शक्नुवन्ति भोक्तुं वा पातुं वा। इम एवंरूपाः प्रेता भोजनपानकृतावरणा इत्युच्यन्ते।

--यो.भू., पृ. ८८, कल.वि., १९५७, विदु.भट्टाचार्य।

[2] द्रष्टव्यम्--

कामृदेवायुषा तुल्या अहोरात्रा यथाक्रमम्।
सञ्जीवादिषु षट्सु,

निरन्तरं दुःखवेदनया पीड्यन्त इत्यर्थः। कथं पुनस्तेषां कायस्तादृशेऽपि दुःखातिरेके नैव विनश्यतीति चेद्? **दुश्चरितकर्मपाशसुदृढबद्धाः** दृढतरेण दुश्चरितकर्मणां पाशेन आबद्धा इति ते न नश्यन्तीत्यर्थः।

तथाविधानां दुःखानां को हेतुः? इत्याह--

यच्च लभन्ते प्रेता नानादुःखास्वादमेकविधमित्थम् ।
प्रीतिरत्र कार्पण्ये मात्सर्यमनार्यमुक्तमतो बुद्धेन ।।९७।।

इति। तत्र **इत्थमित्यनेन** पूर्वोक्तं निर्दिष्टम्। **नाना......** इत्यादिना क्षुत्पिपासादयो वेदितव्याः। **दुःखास्वादमेकविधम्** इत्यनेन अन्तरालरहितं दुःखानुभवो निर्दिश्यते। **प्रीतिरत्र कार्पण्ये** इत्यत्र मत्सरा जनाः, तेषां च मात्सर्येऽभिरुचिः प्रदर्शिता। तत् किमिति चेद्? **मात्सर्यमनार्यम्** इत्युक्तम्। मत्सरस्वभावः क्लिष्ट इति ज्ञेयः। तत्तावन्मात्सर्यं प्रेतलोकोत्पादहेतुरिति भगवता प्रोक्तम्।

यावत् षण्णां कामावचराणां देवनिकायानामायुरुक्तम्, तेन तुल्या अहोरात्राः षट्सु नरकेषु यथाक्रमं वेदितव्याः - सञ्जीवे, कालसूत्रे, सङ्घाते, रौरवे, महारौरवे, तापने च।

.... आयुस्तैस्तेषां कामदेववत्।।८२।।

तैरिदानीं स्वैरहोरात्रैस्तेषां यथा षण्णां कामावचराणां देवानामायुः, तथैव यथाक्रमं वेदितव्यम्। कथं कृत्वा? यद्धि चातुर्महाराजकायिकानामायुःप्रमाणम्, तत् सञ्जीवने महानरके एकं रात्रिन्दिवम्। तेन यावद् द्वादशमासकेन संवत्सरेण तत्रत्यानि पञ्चवर्षशतान्यायुः।

यत् त्रायस्त्रिंशानामायुःप्रमाणम्, तत् कालसूत्रे महानरके एकं रात्रिन्दिवम्। तेन रात्रिन्दिवेन तस्मिन् वर्षसहस्राण्यायुःप्रमाणम्। एवमन्येष्वपि यथायोगं योज्यम्, यावत् परनिर्मितवशवर्तिनामायुःप्रमाणं तत्तुल्येनाहोरात्रेण तापने षोडश वर्षसहस्राण्यायुःप्रमाणम्। **अर्ध प्रतापने...** प्रतापने महानरकेऽन्तरकल्पस्यार्धमायुःप्रमाणम्। **.....अवीचावन्तःकल्पम्,** ... तिरश्चां तु नियमो नास्ति। **........परं पुनः। कल्पं तिरश्चाम्,** .... परमायुस्तिरश्चामन्तरकल्पम्। तत् पुनर्नागानां नन्दोपनन्दाश्वतलीप्रभृतीनाम्। उक्तं हि भगवता-- "अष्टाविमे भिक्षवो नागा महानागाः कल्पस्था धरणीन्धराः।" इति विस्तरः। **...... प्रेतानां मासाह्ना शतपञ्चकम्** ।।८३।। यो मनुष्याणां मासः, स प्रेतानामहोरात्रः। तेनाहोरात्रेण पञ्चवर्षशतान्यायुः। शीतनरकेष्वायुषः किं प्रमाणम्?

वाहाद् वर्षशतेनैकतिलोद्धारक्षयायुषः।
अर्वुदाद् विंशतिगुणप्रतिवृद्ध्यायुषः परे।।

-अभि.को. ३/८२-८४, पृ. ५३३-५३४, बौ.भा.प्र.।

उन्मीलिताक्षिभिश्चापि नास्माभिर्दीयते दानम् ।
मत्सरत्वाच्च तस्मात् पैत्रे वयं वसामो हिं[1] ।।

इति। देवगतेर्दुःखमधिकृत्याह--

स्वर्गे चातिसुखं यत् ततोऽप्यधिकदुःखं ततश्च्युतेर्नूनम् ।
एवं विचिन्त्य तज्ज्ञैः क्षरत्सुखाय न तृष्णा कार्या स्वर्गे ।।९८।।

इति। हृदयङ्गमानां रूपादिनानाविषयाणाम् अलङ्कृताभिर्देवकन्याभिः सह महासुखमनुभूयते स्वर्गे। यादृशं तत्र सुखं ततोऽप्यधिकं च्युतिकालेऽत्यन्तदौर्मनस्यं तेषां जायते। **एवं विचिन्त्य तज्ज्ञैः** इति मनीषिभिः क्षयक्षयिणि स्वर्गे नाभिरन्तव्यमित्यर्थः ।

देवेषु मर्मान्तकवेदनाया अभावादपि कथं नाम तत्र मृत्युदुःखं सम्भवतीति चेदाह--

वैवर्ण्यं देहस्य स्वासने न रतिर्म्लायतेऽपि माला च ।
वसनेष्वपि दौर्गन्ध्यं स्वेदश्चापूर्वो निर्याति देहात्तु ।।९९।।

इति। यद्यपि मर्मान्तकवेदनाया अभावात् तेषु न भवति कायदुःखम्, किन्तु च्युतेः पञ्च पूर्वनिमित्तानि दृष्ट्वा तेषां चित्तमत्यन्तं दुःखितं भवति। यथोक्तम्--

एको देवपुत्रः करुणं क्रन्दित्वा एवं विलपति-हा वापि हा मन्दाकिनि हा प्रिये[2] इतिवत्। मृत्युपूर्वनिमित्तानि पञ्चाधिकृत्य देवानां प्रवृत्तं दुःखमपि पञ्चधा भवति,

---

[1] तुलनीयम्--

अहसंज्ञतस्तु ममता भवते च रागो, कुतु त्यागबुद्धि भविष्यति सा मुहानाम् ।
मात्सर्य प्रेत भवते उपपद्ययाती, अथवा मनुष्य तद भोति दरिद्ररूपो।।
--र.गु.सं.गा.(म.सू.सं.), २८९, पृ. ३९४, मि.सं.।

[2] द्रष्टव्यम्--

हा चैत्ररथ हा वापि हा मन्दाकिनि हा प्रिये।
इत्यार्त्ता विलपन्तोऽपि गां पतन्ति दिवौकसः।।
--अभि.को.टी.(उद्धृतः), पृ. ८७६, बौ.भा.प्र.।

तद्यथा- पूर्ववर्णसम्पदभावाद् अप्रियकायवर्णः, स्वकीय आसने नाभिरतिः, पुष्पमालाया म्लानता, वस्त्रेषु दौर्गन्ध्यं तथा कायात् स्वेदनिर्गमश्च[१]।

एतानि पञ्च पूर्वनिमित्तानि विलोक्य देवेषु दौर्मनस्यमुत्पद्यते। अत आह--

लक्षणानि हि पञ्चैव मृत्योर्भवन्ति स्वर्गस्थदेवेषु ।
भूलोकीयनराणां सदृशान्यपि तानि मृत्युलक्षणैश्च ।।१००।।

इति। एवं स्वर्गे देवलोके स्थितानां देवानां तानि (लक्षणानि) जायन्ते, यानि मनुष्येषु मृत्युपूर्वकैः पञ्चलक्षणैः सदृशानि एव भवन्ति। यथा स्नात्वा लेपेन प्रथमतरं चित्ते दाहः तथा पिहितेन कर्णेन विना शब्दस्य श्रवणं न भवति, (इत्यादीनि लक्षणानि) यस्मिन् भवति, स मनुष्यः नचिरेण मृत्युमाप्नोति, तद्वज्ज्ञेयम्।[२]

---

[१] द्रष्टव्यम्--

देवेषु नास्ति मर्मच्छेदः। किं तु च्यवनधर्मणो देवपुत्रस्य पञ्चोपनिमित्तानि प्रादुर्भवन्ति-- वस्त्राणामाभरणानां च मनोज्ञः शब्दो निश्चरति, शरीरप्रभा मन्दीभवति, स्नातस्योदबिन्दवः काये सन्तिष्ठन्ते, चपलात्मनोऽप्येकत्र विषये बुद्धिरवतिष्ठते, उन्मेषनिमेषौ चाक्ष्णोः सम्भवतः। एतानि तु व्यभिचारीणि। पञ्च पुनर्निमित्तानि मरणं नातिवर्त्तन्ते-- वासांसि क्लिश्यन्ति, माला म्लायन्ति, कक्षाभ्यां स्वेदो मुच्यते, दौर्गन्ध्यं कायेऽवक्रामति, स्वे चासने देवपुत्रो नाभिरमते।

--अभि.को.भा., पृ. ५०५, बौ.भा.प्र. ;

देवेषु च मर्मच्छेदो नास्ति। अस्ति च च्यवनपतनदुःखं। यथोक्तं-- च्यवमानस्य देवपुत्रस्य पञ्च पूर्वनिमित्तानि प्रादुर्भवन्ति। असंक्लिष्टानि वासांसि क्लिश्यन्ते। अम्लानपूर्वा माला म्लायन्ति। कक्षाभ्यां स्वेदो मुच्यते। दौर्गन्ध्यं काये च क्रामति। स्व आसने देवो वा देवपुत्रो वा न रमते।

--यो.भू., पृ. ८९, कल.वि., १९५७।

[२] द्रष्टव्यम्--

अथ म्रियमाणस्य कस्मिन् शरीरप्रदेशे विज्ञानं निरुध्यते? सकृन्मरणे समनस्कं कायेन्द्रियं सहसाऽन्तर्धीयते। यदि तु क्रमेण च्यवते, ततः --

क्रमच्युतौ पादनाभिहृदयेषु मनश्च्युतिः।। ४३।।
अधोनृसुरगाजानां, ...

अधो गच्छन्तीत्यधोगाः, अपायगामिनः। नॄन् गच्छन्तीति नृगाः, मनुष्यगामिनः। सुरान् गच्छतीति सुरगाः, देवगामिनः। तेषां यथासंख्यं पादयोर्नाभ्यां हृदये च विज्ञानं सन्निरुध्यते। न पुनर्जायन्त इत्यजाः, अर्हन्तः। तेषामपि हृदये विज्ञानं निरुध्यते। मूर्ध्नीत्यपरे। कायेन्द्रियस्य तेषु निरोधात्। कायेन्द्रियं हि म्रियमाणस्य

देवेभ्यश्च्युतस्य यदि नावशिष्येत् कुशलमणुमात्रमपि ।
विवशतयोषितव्यं हि ततस्तिर्यक्प्रेतनरकेष्वेकस्मिन् ।।१०१।।

इत्यनेन देवेषु न केवलमेतावन्मात्रमेव दुःखम् अपि तु मृत्योरनन्तरमपि भवत्येव दुःखमिति दर्शितम्। समासार्थस्तु देवलोकाच्च्युतेः पश्चाद् यदि देव-मनुष्यलोकोत्पादकं किञ्चिदपि कुशलं (पुण्यं) नावशिष्टं स्यात्तदा पुनस्तिसृषु दुर्गतिषु (नरकप्रेततिर्यक्षु) दुःखमनुभवितव्यं भवत्येव।

असुराणां दुःखमधिकृत्याह--

दुःखं स्यान्मानसिकं देवैश्वर्यं प्रतीर्ष्ययाऽसुरेष्वपि ।
न कुर्वन्ति धीमन्तो जन्मावरणाच्च ते सत्यदर्शनानि ।।१०२।।

तप्त इवोपले जलं निष्ठ्यूतं सङ्कोचमापद्यमानं पादादिष्वन्तर्धीयत इति।

--अभि.को.भा., पृ. ५०३, बौ.भा.प्र. ;

द्रष्टव्यम् पुनः --

तस्य तस्मिन्समये परिषण्डे परिगतस्य ता अप्सरसस्तदन्यैर्देवपुत्रैः सार्धं परिचरन्ति। स तां दृष्ट्वा ततो निदानं महद् दुःखदौर्मनस्यं प्रतिसंवेदयते। तथा मद्गुभावकृतमपि दुःखं प्रत्यनुभवति। ....तत्र तदन्येषां निकृष्टपुण्यतराणां देवपुत्राणां दृष्ट्वा मद्गुभावः सन्तिष्ठते। ततो निदानं विपुलं दुःखदौर्मनस्यं प्रतिसंवेदयति। तथा छेदनभेदनप्रवासनघातकदुःखमपि प्रत्यनुभवति। तत्कस्य हेतोः। तथा हि देवासुरे संग्रामे प्रत्युपस्थिते अन्योन्यं देवा असुराश्च प्रतिविरुद्धाश्चतुर्विधान्यस्त्राण्यादाय सुवर्णमयानि रूप्यमयानि स्फटिकमयानि वैदूर्यमयानि संग्रामे संग्रामयन्ति। तत्र च देवानां वासुराणां वा अङ्गप्रत्यङ्गच्छेदो भवति। कायभेदोऽपि भवति। तेषामङ्गप्रत्यङ्गानि छिन्नानि पुनरपि जायन्ते। भिन्नश्च कायः पुनरपि विरोहति। यदा तु शिरश्छिन्नं भवति तदा वधमनुप्राप्नुवन्ति। तत एकदा देवाः पराजीयन्ते एकदा असुराः .यद्भूयसा तु देवा जयन्ति प्रभूतबलतया। तयोर्ये पराजीयन्ते तेषां स्वं परं प्रविष्टानां निर्वृतिः। न तेऽन्योन्यं पुनर्गम्या भवन्ति। तत्र देवाश्चासुरकन्यानामर्थेऽसुरैः सार्धं प्रतिविरुद्धाः। असुराश्चतुर्विधायाः सुधाया अर्थे देवैः सार्धं प्रतिविरुद्धाः। असुराश्च देवगतिसंगृहीता एव द्रष्टव्याः। ते तु मायाविनो वञ्चनाभिप्राया मायाशाठ्यबहुलाः। अतो न तथा शुक्लधर्माणां भाजनभूतास्तद्यथा देवाः। अत एकदा सूत्रान्तरेषु पृथग्गतिनिर्देशेन निर्दिष्टाः। ते सुरा एव समाना न सुरधर्ममादाय वर्तन्ते। तस्मादसुराः। बलवत्तरश्च देवपुत्रः कुपितः समानो दुर्बलतरं देवपुत्रं स्वस्माद्भवनात्प्रच्यावयति प्रवासयति। तस्माद्देवास्त्रिविधं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति च्यवनपतनदुःखं मद्गुभावदुःखं छेदनभेदनवधप्रवासनदुःखं च।।

---यो.भू., पृ. ८९-९०, कल.वि., १९५७।

इति। असुरेषु हि स्वभावतया आत्मोत्कर्षजनितोऽभिमानो भवत्येव मानबाहुल्यात्। तस्मादनेन तेषां क्लेशाः संक्लिष्टदुःखानि च कथितानि। स्वभावतयेति कथितेन संग्रामकाले कायदुःखान्यपि सम्भवन्ति। **देवैश्वर्यं प्रतीर्ष्यया** इति स्वाभाविकश्चित्तोन्नतिजनितो दुःखहेतुर्निर्दिष्टः। जन्माख्यं संक्लिष्टदुःखमप्युक्तम्। **धीमन्तः** स्यादेतेषु कुशलाकुशलयोर्विवेके सामर्थ्यम्, तथापि जन्मावरणवशात् तेषां सत्यदर्शनं तावन्नैव भवति, यतो हि अकुशलकर्माक्षिप्ता तेषामियं योनिरेव सत्यदर्शनाधारभूता नैव भवति। अत एव तेऽसुरा आवृत्ता इत्युच्यन्ते। असुराणां गत्याक्षेपकं कर्म तावदकुशलमेव। परिपूरककर्म तु कुशलमेवेष्यते। देवानां गत्याक्षेपकं परिपूरकं च कर्म तावत् कुशलमेव। अत एव असुरगतिः सुरगतेः पृथगेव व्यवस्थाप्यते। मनुष्यगतेः दुःखविशेषस्तु पृथगेवोक्तः। स तु सामान्येन **इष्टविघातव्याधिमृत्युजरादिदुःखावहः संसारः** (६५ का०) इत्यादिगाथया निर्दिष्टः। अपि च नाना प्रकारैस्ते पूर्वं गर्हिताश्च।

संसारदोषानुपवर्ण्य सम्प्रति तत्रानभिरुचिसंज्ञामुत्पादयितुमाह--

संसारेऽस्मिन्नेवं देवनरकप्रेततिर्यग्योनिषु ।
जन्मग्रहणमयुक्तं बहुबाधं जन्म तत्रेति विज्ञेयम् ।।१०३।।

इति। यतो ह्येवंविधः संसारो दोषसंनिचयः, अतः देवादियोनिषु उपपत्तिर्नैव समीचीना। एवं विशेषोत्पादस्य दोषमुक्त्वा मनुष्योपपत्तिरपि अनेकबाधाभाजनमित्युक्तम्। जातिस्तावदात्मीयाद्यनेकदोषावहा आश्रयभूतेति ज्ञातव्यम्।[1]

---

[1] यथोक्तं सूत्रे--

मायोपमं जगदिदं भवता नटरङ्गस्वप्नसदृशं विदितम् ।
नात्मा न सत्त्व न च जीवगति धर्मा मरीचिदकचन्द्रसमाः।।

शून्याश्च शान्त अनुत्पादनय अविजानदेव जगदुद्भ्रमति।
तेषामुपायनययुक्तिशतैरवतारयस्यपि कृपालुतया।।

रागादिभिश्च बहुरोगशतैः सन्तापितं सततमीक्ष्य जगत्।
वैद्योत्तमो विचरसेऽप्रतिमः परिमोचय सुगत सत्त्वशतान्।।

एवं निखिलं संसारं प्रति अनभिरुचिमुत्पाद्य निर्वाणे अवतारणार्थं तावदाह--

ज्वलिते शिरसि च वसने तन्निवृत्त्युपायमुपेक्ष्य त्वरितमेव ।
अपुनर्भवाय यतेत यतस्तस्मान्महत्प्रयोजनं नान्यत् ।।१०४।।

इति। शिरसि वस्त्रेषु वा लग्ने अग्नौ ह्येवं (वक्तुं) युज्यते। **तन्निवृत्त्युपायमुपेक्ष्य** इति तदपाकरणं विहाय तन्निर्वापणं परित्यज्येत्यर्थः। **अपुनर्भवाय यतेत** कायं प्राणानपि वा अविचिन्त्य महता यत्नेन तादृशस्य पुनर्भवस्य हानाय प्रयत्न आस्थेयः। तत्कस्य हेतोः? **यतस्तस्मान्महत्प्रयोजनं नान्यद्** इत्यतो गरिष्ठं प्रयोजनमन्यन्नास्त्येव। एवम् अयमेव परमः पुरुषार्थ इत्यभिप्रायः।

कथं पुनः पुनर्जन्माभावः सम्भवतीत्याह--

शीलसमाधिज्ञानैर्भूजलतेजोवायुरविविधुरहितं च ।
अजरामरणमक्षयं प्राप्यं शान्तदान्तविमलं निर्वाणम् ।।१०५।।

इति शिक्षात्रयं परिपूर्य निर्वाणं[१] प्राप्नुयादित्यर्थः। द्विविधं हि तन्निर्वाणम्--सोपधिशेषं निरुपधिशेषं च[२]। निरुपधिशेषं निर्वाणं तावद् दुःखोपशमप्रभावितत्वाद्

रथचक्रवद् भ्रमति सर्वजगत् तिर्यक्षु प्रेतनिरये सुगतौ।
मूढा अदेशिक अनाथगताः तेषां प्रदर्शयसि मार्गवरम्।।
--रा.परि.सू.(म.सू.सं), ३०९-३१३ का., मि.सं.।

१ द्रष्टव्यम्--

न विद्यन्ते उपधयः स्कन्धाः सर्वरागादिप्रहाणावशेषीभूतत्वेन शेषा यस्मिन्निर्वाणे तत्तथोक्तम्। निर्वान्त्यस्मिन् सर्वे विकल्पाः इति निर्वाणं तथता।

--आलोक, पृ. ३३५, मि.सं. दरभंगा ;

निर्वाणं हि सर्वदुःखव्युपशमः।

--अभि.को.भा., पृ. ५९७, बौ.भा.प्र. ;

जिघच्छा परमा रोगा, सङ्खारा परमा दुखा ।
एतं ञत्वा यथाभूतं निब्बानं परमं सुखं ।।

आरोग्यपरमा लाभा, सन्तुट्ठिपरमं धनं ।
विस्सासपरमा ञाति निब्बानं परमं सुखं ।।
--धम्म. १५/७-८ ।

शान्तम् इतिशब्देन निर्दिष्टम्। सोपधिशेषं हि इन्द्रियदमनप्रभावितत्वाद् **दान्तम्** इत्यनेन निर्दिष्टम्। द्विविधमपि तद् रागादिभिर्मलैः विरहितत्वाद् विमलं मलरहितं निर्वाणं पदं प्राप्नुयादित्यर्थः। **अजरामरणमक्षयम्** इति तस्यैव निर्वाणस्य विशेषणपदैरानुशंस्यमुपवर्णितम्। नास्ति तस्मिन्नन्यथात्वमिति **अजरम्**। नास्ति तस्मिन् मरणमिति **अमरणम्**। नास्ति क्षयस्तस्येति **अक्षयमिति**। अवशिष्टपदैस्तावद् बाह्यानां तैर्थिकानां निर्वाणाद् वैशिष्ट्यं प्रतिपादयितुं चतुर्णां महाभूतानां सूर्यचन्द्रयोश्च तत्र सर्वदाभावः परिदीपितः।

सम्प्रति येषां धर्माणां साक्षात्कारेण निर्वाणमधिगम्यते तान् निर्देष्टुमाह--

प्रस्रब्धिवीर्यप्रीतिधर्मविचयस्मृतिसमाध्युपेक्षाः सप्त ।
बोध्यङ्गानीमानि[1] प्राप्त्यै निर्वाणस्य कुशलसम्भारः ।।१०६।।

---

२ द्रष्टव्यम्--

इह हि भगवता उषितब्रह्मचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्मानुधर्मप्रतिपत्तियुक्तानां पुद्गलानां द्विविधं निर्वाणमुपवर्णितम् सोपधिशेषं निरुपधिशेषं च। तत्र निरवशेषस्य अविद्यारागादिकस्य क्लेशगणस्य प्रहाणात् सेपधिशेषं निर्वाणमिष्यते। तत्र उपधीयतेऽस्मिन्नात्मस्नेह इति उपधिः। उपधिशब्देन आत्मप्रज्ञप्तिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते। शिष्यत इति शेषः, उपधिरेव शेषः उपधिशेषः, सह उपधिशेषेण वर्तते इति सोपधिशेषम्। किं तत्? निर्वाणम्। तच्च स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्ट्यादिक्लेशतस्कररहितमवशिष्यते निहताशेषचौरगणग्राममात्रावस्थानसाधर्म्येण। तत् सोपधिशेषं निर्वाणम्। यत्र तु निर्वाणे स्कन्धपञ्चकमपि नास्ति, तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम्। निर्गतः उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा। निहताशेषचौरगणस्य ग्राममात्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण। ....
तदेव च अधिकृत्य उच्यते--

अभेदि कायो निरोधि सञ्ञा वेदना पि ति दहंसु सब्बा।
वूपसमिंसु संखारा विञ्ञाणमत्थमगमा ।। (उदानम्- ८-९)

तथा--

असंलीनेन कायेन वेदनामध्यवासयत्।
प्रद्योतस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य चेतसः।। (थेरगाथा-९०६)

--म.शा.वृ., पृ. २२८, बौ.भा.प्र., १९८३।

[1] तक्ष भिक्षवः कतमानि सप्त बोध्यङ्गानि? तद्यथा-- स्मृतिसंबोध्यङ्गम्, धर्मप्रविचयसंबोध्यङ्गम्, वीर्यसंवोध्यङ्गम्, प्रीतिसंबोध्यङ्गम्, प्रश्रब्धिसंबोध्यङ्गम्, समाधिसंबोध्यङ्गम्, उपेक्षासंबोध्यङ्गम्। १. इह भिक्षवो भिक्षुः स्मृतिसंबोध्यङ्गं भावयति विवेकनिश्रितं विरागनिश्रितं, निरोधनिश्रितं, व्यवसर्गपरिणतम्।

२. एवं धर्मप्रविचयं संबोध्यङ्गं भावयति विवेकनिश्रितं, विरागनिश्रितं, निरोधनिश्रितं, व्यवसर्गपरिणतम्। ३. वीर्यसंबोध्यङ्गं भावयति विवेकनिश्रितं, विरागनिश्रितं, निरोधनिश्रितं, व्यवसर्गपरिणतम्। ४. प्रीतिसंबोध्यङ्गं भावयति विवेकनिश्रितं, विरागनिश्रितं, निरोधनिश्रितं, व्यवसर्गपरिणतम्। ५. प्रश्रब्धिसंबोध्यङ्गं भावयति विवेकनिश्रितं, दिरागनिश्रितं, निरोधनिश्रितं, व्यवसर्गपरिणतम्। ६.समाधिसंबोध्यङ्गं भावयति विवेकनिश्रितं, विरागनिश्रितं, निरोधनिश्रितं, व्यवसर्गपरिणतम्। ७. उपेक्षासंबोध्यङ्गं भावयति विवेकनिश्रितं, विरागनिश्रितं, निरोधनिश्रितं, व्यवसर्गपरिणतम्। इमानि भिक्षवः सप्त बोध्यङ्गानि।

--अ.वि.सू., पृ. ३३-३४, के.पी.जा.सं., १९७१ ;

धर्मप्रविचयो बोधिर्बोध्यङ्गं च। शिष्टानि बोध्यङ्गान्येव। तत्र बोधिसत्त्वाभिसम्बोधः। स च पुद्गलभेदेन तिस्रो बोधयः। श्रावकप्रत्येकबुद्धसम्यक्संबुद्धबोधयः। धर्मप्रविचयस्तु बोध्यात्मकत्वाद् बोधिरित्युच्यते। तेषां च स्मृत्यादीनां सहायभावादङ्गत्वम्। स्मृत्यादयः पुनः षट् बोधेरनुगुणत्वात्तदङ्गानि। तत्र स्मृतिर्बोधेराश्रयाङ्गम्। स्मृतिबलेन तस्मादालम्बनादविक्षेपात्। धर्मप्रविचयः स्वभावाङ्गम्, ज्ञानस्वभावत्वाद् बोधेः। वीर्य निर्याणाङ्गम्, तेन पृथग्जनभूमिसमतिक्रमात्। प्रीतिरनुशंसाङ्गम्, तया कायचित्तानुग्रहात्। प्रश्रब्धिसमाध्युपेक्षा असंक्लेशाङ्गम्, तेषां क्लेशप्रतिपक्षत्वात्। संस्कारोपेक्षा चात्र गृह्यते न वेदनोपेक्षा, प्रीतिवचनात् ; प्रीतिस्तु सौमनस्यस्वभावत्वात्। एकस्मिंश्चित्तचैत्तकलापे च वेदनाद्रव्यद्वयस्यासम्भवात्। तस्मात्संस्कारोपेक्षैवोपेक्षाङ्गमिति। बोध्यासन्नत्वाद् भावनामार्गे बोध्यङ्गानीष्यन्ते।

--अ.वि.सू.नि., पृ. २२८-२३०, के.पी.जा.सं., १९७१ ;

निश्रयाङ्गं स्वभावाङ्गं निर्याणाङ्गं तृतीयकम्।
चतुर्थमनुशंसाङ्गमक्लेशाङ्गं त्रयात्मकम् ।। ६३।।

एतेन यद्बोध्यङ्गं यथाङ्गं तदभिद्योतितं। स्मृतिर्निश्रयाङ्गं सर्वेषां तन्निश्रयेण प्रवृत्तेः। धर्मप्रविचयः स्वभावाङ्गं बोधेस्तत्स्वभावत्वात्। वीर्यं निर्याणाङ्गं तेनाप्राप्यनिष्ठायामधिष्ठानात् (विच्छेदात्)। प्रीतिरनुशंसाङ्गं चित्तसुखत्वात्। प्रश्रब्धिसमाध्युपेक्षा असंक्लेशाङ्गं। येन यन्निश्रित्य योऽसंक्लेश इति त्रिविधमसंक्लेशाङ्गं वेदितव्यम्।

--म.सू. १८/६३, पृ. १३८-१३९, मि.सं. ;

सप्त बोध्यङ्गानामालम्बनं कतमत्। चतुर्णामार्यसत्यानां यथाभूतता। स्वभाव कतमः। स्मृतिः धर्मप्रविचयः वीर्यं प्रीतिः प्रश्रब्धिः समाधिः उपेक्षा च। स्मृतिः संनिश्रयाङ्गम्। धर्मप्रविचयः स्वभावाङ्गम्। वीर्यं निर्याणाङ्गम्। प्रीतिः अनुशंसाङ्गम्। प्रश्रब्धिः समाधिः उपेक्षा चासंक्लेशाङ्गम्। असंक्लेशतः असंक्लेशाश्रयतः असंक्लेशस्वभावतश्च। सहायः कतमः। तत्संप्रयुक्ताश्चित्तचैतसिका धर्माः। भावना कतमा। विवेकनिश्रितं विरागनिश्रितं निरोधनिश्रितं व्यवसर्गपरिणतं स्मृतिसंबोध्यङ्गम्। यथा स्मृतिसंबोध्यङ्गं तथा यावत् उपेक्षासंबोध्यङ्गम्। एभिः चतुभिः पदैर्यथाक्रमं चतुःसत्यालम्बना बोध्यङ्गभावना परिदीपिता। भावनाफलं कतमत्। दर्शनहेयानां क्लेशानां प्रहाणम्।

--अभि.समु., पृ. ७४, वि.भा.प्र., १९५० ;

आश्रयाङ्गं स्वभावाङ्गं निर्याणाङ्गं तृतीयकम्।
चतुर्थमनुशंसाङ्गं निःक्लेशाङ्गं त्रिधा मतम् ।।

इति। तत्र आलम्बनस्य अविस्मरणं **स्मृतिः**। या खलु प्रज्ञा सैव **धर्मप्रविचय** इति। यो हि अभ्युत्साहस्तद् **वीर्यम्**। आलम्बनं प्रति यत् सौमनस्यं सा **प्रीतिः**। **प्रस्रब्धिस्**तावत् कायचित्तयोः कर्मण्यता। **समाधिस्**तु चित्तस्यैकाग्रता। **उपेक्षा** तावच्चित्तचैतसिकानामध्यवसनेन अनाभोगेन च या प्रवृत्तिः।[१] एते सप्त धर्मा अनास्रवज्ञानस्य बोधेर्वा अङ्गानीति बोध्यङ्गान्युच्यन्ते पार्षदा इवेत्यर्थः। **कुशलसम्भारः** इति कुशलहेतुः।

प्रज्ञाभावे ध्यानं ध्यानाभावेऽपि न जायते सा प्रज्ञा[२] ।

दर्शनमार्गे बोधावङ्गानि बोध्यङ्गानि। तत्र बोधेराश्रयाङ्गं स्मृतिः। स्वभावाङ्गं धर्मप्रविचयः। निर्याणाङ्गं वीर्यम्। अनुशंसाङ्गं प्रीतिः। असंक्लेशाङ्गं त्रिधा प्रस्रब्धिसमाध्युपेक्षाः।

--मध्यान्त.वि.भा.(सम्पा.), पृ. ३२, पटना, १९६७ ;

अन्यत्रापि द्रष्टव्यम्-- महा.व्यु., पृ. २२, भो.सं. ; समाधि.सू., पृ. ३७३, मि.सं. ; ध.सं.(म.सू.सं.), पृ. ३३२, मि.सं. ; दे.क. ११ दश.सा.प्र., 'ग' पृ. ५ ; अभि.को.भा., ६/६८, पृ. १०१७ ।

[१] द्रष्टव्यम्--

उपेक्षा चित्तसमता चित्तप्रशठता चित्तानाभोगता। एभिस्त्रिभिः पदैरुपेक्षाया आदि-मध्यावसानावस्था द्योतिता।

तत्र लय औद्धत्यं वा चेतसो वैषम्यम्, तस्याभावाद् आदौ चित्तसमता। ततोऽनभिसंस्कारेणाप्रयत्नेन समाहितचेतसो यथाभियोगं समस्यैव या प्रवृत्तिः सा चित्तप्रशठता, सा पुनरवस्था लयौद्धत्यशङ्कानुगताऽचिरभावित्वात्। ततो भावनाप्रकर्षगमनात् तद्विपक्षदूरीभावात् तच्छङ्काभावे लयौद्धत्यप्रतिपक्षनिमित्तेष्वाभोगम् अकुर्वतोऽनाभोगावस्था चित्तस्यानाभोगता। इयं च सर्वक्लेशोपक्लेशानवकाससंनिश्रयदानकर्मिका।

--वि.मा.सि., पृ. १९८-१९९, सम्पू.सं.वि.वि.प्र. १९७२।

[२] द्रष्टव्यम्--

नत्थि झानं अपञ्ञस्स, पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानं च पञ्ञा च, स वे निब्बानसन्तिके ।। --धम्म. २५/१३ ;

शमथः कतमः। अध्यात्मं चित्तस्य उपनिबन्धः स्थापना संस्थापना अवस्थापना उपस्थापना दमनं शमनं व्युपशमनम् एकोतीकरणं समाधानं च। विपश्यना कतमा। या धर्मान् विचिनोति प्रविचिनोति परिवितर्कयति परिमीमांसामापद्यते च। कामप्रतिपक्षदौष्ठुल्यनिमित्तसंयोजनतः कामाभिभवानां विपर्यासतः अविपर्यस्तचित्तस्यावस्थापनतश्च। अपि खलु शमथविपश्यनामागम्य चत्वारो मार्गाः। एकत्यः शमथस्य लाभी न विपश्यनायाः। तत्प्रकारं शमथं निश्रित्य विपश्यनाभावना। एकत्यः विपश्यनाया लाभी

यत्रोभे विद्येते ज्ञेयस्तस्य भवसागरो गोष्पदवत् ।।१०७।।

न शमथस्य। तत्प्रकारां विपश्यनां निश्रित्य शमथभावना। एकत्यः न शमथस्य लाभी नापि विपश्यनायाः। तत्संबद्धचित्तस्य लयौद्धत्यापकर्षणाद् युगपदुभयमार्गभावना। एकत्यः शमथस्य लाभी विपश्यनायाश्च। तस्य शमथविपश्यनोभयमार्गयुक्तस्य समं युगपत् प्रवृत्तिः।

--अभि.समु., पृ. ७५, वि.भा.प्र. १९५० ;

चित्तस्य चित्ते स्थानाच्च धर्मप्रविचयादपि।
सम्यक्स्थितिमुपाश्रित्य शमथोऽथ विपश्यना।।

सम्यक्समाधिं निश्रित्य चित्ते चित्तस्यावस्थानात्। धर्माणां च प्रविचयाद्यथाक्रमं शमथो विपश्यना च वेदितव्या। न तु विना सम्यक्समाधिनेत्येतच्छमथविपश्यनालक्षणम्।

सर्वत्रगा च सैकांशा नैकांशोपनिषन्मता।

सा च शमथविपश्यना सर्वत्रगा यं यं गुणमाकाङ्क्षति तत्र तत्र तद्भावनात्। यथोक्तं सूत्रे। आकाङ्क्षेद्भिक्षुरहो वताहं विविक्तं कामैरिति विस्तरेण यावत् तेन भिक्षुणा इमावेव द्वौ धर्मौ भावयितव्यौ। यदुत शमथश्च विपश्यना चेत्येवमादि। एकांशा शमथविपश्यना यदा शमथं भावयति। विपश्यनां वा। उभयांशा यदा युगपदुभयं भावयति। उपनिषत्संमता शमथविपश्यना बोधिसत्त्वानामधिमुक्तिचर्याभूमौ।

प्रतिवेधे च निर्याणे अनिमित्ते ह्यसंस्कृते।।

परिशुद्धौ विशुद्धौ च शमथोऽथ विपश्यना।
सर्वभूमिगता धीरे स योगः सर्वसाधकः।।

इत्युपनिषन्मतेत्येवमादिना शमथविपश्यनायाः प्रभेदः कर्म च निर्दिष्टं। योग उपायो वेदितव्यः। तत्र प्रतिवेधः प्रथमभूमिप्रवेशः। निर्याणं यावत् षष्ठी भूमिः। ताभिः सनिमित्तप्रयोगनिर्याणात्। अनिमित्तं सप्तमी भूमिः। असंस्कृतमन्यद्भूमित्रयमनभिसंस्कारवाहित्वात्। संस्कारो हि संस्कृतं तदत्र नास्तीत्यसंस्कृतं। तदेव च भूमित्रयं निश्रित्य बुद्धक्षेत्रं च परिशोधयितव्यं। बुद्धत्वं च प्राप्तव्यं। तदेतद्यथाक्रमं परिशुद्धिर्विशुद्धिश्च।

--म.सू., १८/६६-६८, पृ. १४०, मि.सं. ;

शमथेन विपश्यनासुयुक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्येवत्य।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या।।

शमथः चित्तेकाग्रतालक्षणः समाधिः। तेन सुयुक्त इति अपोद्धृत्य इहापि योजनीयम्। यदि वा हेत्वर्थे तृतीया। शमथेन हेतुना विपश्यनासुयुक्तः। सहार्थे वा। शमथेन सार्धं विपश्यनासुयुक्त इति। विपश्यना यथाभूततत्त्वपरिज्ञानस्वभावा प्रज्ञा। तया सुयुक्तः। युगनद्धवाहिमार्गयोगेन कुरुते क्लेशानां विनाशं प्रहाणमित्येवमवेत्य ज्ञात्वा क्लेशविमुमुक्षुणा शमथः प्रथमादौ गवेषणीयः।

--बो.च.पं., ८/४, पृ. १३७ ।

प्रज्ञाभावे इत्यादिना द्वयोर्धर्मयोः समाधिप्रज्ञयोः साक्षात्कारेण निर्वाणस्य प्राप्तिर्निर्दिष्टा। द्वयोर्युगनद्धत्वेन निर्वाणमवाप्यते। अनयोर्द्वयोः अन्योऽन्यबलेन उभयोः सिद्धिरिति।

प्रज्ञाभावे ध्यानं न इति सम्यक्समाधेरुत्पादोपायस्य अज्ञानमत्र प्रज्ञाभावस्य तात्पर्यम्। तथासति ध्यानं न समृद्ध्यति। **ध्यानाभावेऽपि न जायते सा प्रज्ञा** इति यो ह्यसमाहितः स सर्वधर्मान् यथावन्न जानातीति तस्य प्रज्ञाऽभावः[१]। समाहितेन चित्तेनैव सर्वधर्मा यथाभूतं सम्यग् ज्ञायन्ते।[२] यस्मिन् इमौ उभावपि धर्मौ संविद्येते तस्य कृते संसारोऽयं गोष्पद इव वेदितव्यः। अथवा अन्योऽर्थः -- यत्रोत्पन्नस्य (पुरुषस्य) श्रुतमयी प्रज्ञा न भवति तस्य ध्यानं न सिध्यति। ध्यानाभावेऽपि तावद् भावनामयी प्रज्ञा नोत्पद्यते। यस्मिन् उभे समाधिप्रज्ञे विद्येते, तस्य कृते संसारः गोष्पदवद् ज्ञातव्यः, अनायासेन उल्लङ्घनसामर्थ्यादिति।

सम्प्रति एषां निर्वाणप्रापकानां धर्माणां ये विघ्नकारका अविचारणीया विषयाः, तेषां निवृत्त्यर्थमाह--

---

[१] द्रष्टव्यम्--

आभवाग्रमपि स्पृष्ट्वा त्वद्धर्मविमुखे जनः।
प्रचिनोत्येव मोहान्धो व्यसनप्रभवान् भवान्।। २२।।

अनागम्यापि तु ध्यानं मौलं त्वच्छासनानुगाः।
विवर्तयन्त्येव भवान् (मारस्य) वशवर्तिनः।। २३।।

--वर्णनार्हवर्णे बुद्धस्य स्तोत्रः, (धीः २५ अङ्कः), १९९८, ति.सं.; दे.क. ११३८. पृ. ९६, 'क' पुट्, भो.सं.।

[२] द्रष्टव्यम्--

समाहितो यथाभूतं प्रजानातीत्यवदन्मुनिः।
शमाच्च न चलेच्चित्तं बाह्यचेष्टानिवर्तनात् ।।

यथोक्तं धर्मसंगीतौ- समाहितमनसो यथाभूतदर्शनं भवति। यथाभूतदर्शिनो बोधिसत्त्वस्य सत्त्वेषु महाकरुणा प्रवर्तते। एवं चास्य भवति- इदं मया समाधिमुखं सर्वधर्मयथाभूतदर्शनं च सर्वसत्त्वानां निष्पादयितव्यम्। स तया महाकरुणया संचोद्यमानोऽधिशीलमधिचित्तमधिप्रज्ञं च शिक्षां परिपूर्य अनुत्तरां सम्यक्संबोधिमभिसंबुध्यते- तस्मान्मया शीलसुस्थितेनाप्रकम्प्येनाशिथिलेन भवितव्यमिति।

--शि.समु. ९ का., पृ. ६७, मि.सं.।

येऽव्याकृतधर्माश्चादित्यबन्धुना चतुर्दशोपदिष्टाश्च ।
लोके न चिन्तनीया यतो तैर्नाप्नोति चित्तमेव शान्तिम् ।।१०८।।

इति। तथागतेन यानि चतुर्दश अव्याकृतवस्तून्युपदिष्टानि, कानि तानीति चेत्? तद्यथा- शाश्वतो लोकः, अशाश्वतो लोकः, शाश्वतश्चाशाश्वतश्च, नैव शाश्वतो नाशाश्वतश्च, अन्तवांल्लोकः, अनन्तवांल्लोकः, अन्तवांश्चानन्तवांल्लोकश्च, नैवान्तवान्नानन्तवांश्च, भवति तथागतः परं मरणात्, न भवति तथागतः परं मरणात्, भवति न च भवति च तथागतः परं मरणात्, नैव भवति न न भवति तथागतः परं मरणात्, स जीवस्तच्छरीरम्, अन्यो जीवोऽन्यच्छरीरं चेति। एतेषु चतुर्दशसु वस्तुषु पृष्टेषु सत्सु व्याकरणानर्हत्वाद् अव्याकृतवस्तून्युच्यन्ते[1]। इमे एव स्थापनीयाः प्रश्नाः

---

[1] द्रष्टव्यम्-- चतुर्दशाव्याकृतवस्तूनि, तद्यथा- शाश्वतो लोकः, अशाश्वतो लोकः, शाश्वतश्चाशाश्वतश्च, नैव शाश्वतो नाशाश्वतश्च, अन्तवांल्लोकः, अनन्तवांल्लोकः, अन्तवांश्चानन्तवांल्लोकश्च, नैवान्तवान्नानन्तवांश्च, भवति तथागतः परं मरणात्, न भवति तथागतः परं मरणात्, भवति न च भवति च तथागतः परं मरणात्, नैव भवति न न भवति तथागतः परं मरणात्, स जीवस्तच्छरीरम्, अन्यो जीवोऽन्यच्छरीरं चेति।

--ध.सं.(म.सू.सं.), पृ. ३३९ ; धर्मपर्याय, भो.सं. ; महा.व्यु., पृ. ७२ ; बौ.द.मी., पृ. ४० ; मज्झिम निका.(अनु.), पृ. २५१ ; आर्यनिष्ठागतभगवत् ज्ञानवैपुल्यसूत्ररत्नानन्त-नाम-महायानसूत्रम्, 'ग' पुट् पृ. २६४, भो.सं. ; बुद्धावतंसक-नाम-महायानसूत्रम्, 'क' पुट् पृ. ३३८, भो.सं. ;

शाश्वताशाश्वताद्यत्र कुतः शान्ते चतुष्टयम्।
अन्तानन्तादि चाप्यत्र कुतः शान्ते चतुष्टयम्।।

इह चतुर्दश अव्याकृतवस्तूनि भगवता निर्दिष्टानि। तद्यथा- शाश्वतो लोकः, अशाश्वतो लोकः, शाश्वतश्चाशाश्वतश्च लोकः, नैव शाश्वतो नाशाश्वतश्च लोकः, इति चतुष्टयम्। अन्तवान् लोकः, अनन्तवान् लोकः, अन्तवांश्च लोकः, नैव अन्तवान् न अनन्तवांश्च लोकः, इति द्वितीयम्। भवति तथागतः परं मरणात्, न भवति तथागतः परं मरणात्, भवति च न भवति च तथागतः परं मरणात्, नैव भवति न न भवति च तथागतः परं मरणात्, इति तृतीयम्। स जीवस्तच्छरीरम्, अन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमिति। तान्येतानि चतुर्दश वस्तूनि अव्याकृतत्वादव्याकृतवस्तूनि इत्युच्यन्ते।

--म.शा.वृ., २२/१२, पृ. १९४, बौ.भा.प्र. १९८३ ;

एकांशतो व्याकरणं विभज्य परिपृच्छ्य च।
स्थाप्यं च मरणोत्पत्तिविशिष्टात्माऽन्यतादिवत्।।

निर्दिष्टाः। स्थापनीयानीति अविचारणीयानीत्यर्थः। तत्कस्य हेतोः? **तैर्नाप्नोति चित्तमेव शान्तिम्** इति। तथा हि-- यच्चिन्तनेन कश्चन लाभो वा सुखं वाऽवाप्यते, तद्धि विचारणीयतामर्हति। यदा ह्येतेषां विषयाणां विचारणेन न चित्तं शान्तिमुपगच्छति, तस्माद् अविचारणीया एवैते विषया इत्युच्यन्ते।

एवमविचारणीयान् विषयान् परित्यज्य येषां चिन्तनेन बोध्यनुकूला धर्मा उत्पत्तुमुत्सहन्ते तत्र चित्तं नियोजयितुमाह--

एवं प्रोक्तं मुनिनाऽविद्यया कर्म कर्मणा च विज्ञानम् ।
तस्माच्च नामरूपं ततः षडायतनानि ततः स्पर्शा वै ।।१०९।।

तत उत्पन्ना वित्तिर्वेदनाश्रयेण जायते खलु तृष्णा ।
तस्याश्चोपादानं ततो भवोऽपि भवाच्च जायते जातिः ।।११०।।

भदन्तमहासाङ्घिका सूत्रं पठन्ति-- "चत्वारीमानि भिक्षवः प्रश्नव्याकरणानीति। कतमानि चत्वारि? अस्ति भिक्षव एकांशव्याकरणीयः प्रश्नः, अस्ति यावत् स्थापनीयः। कतमश्च भिक्षवः एकांशव्याकरणीयः प्रश्नः? 'सर्वे संस्कारा अनित्याः' इत्ययं भिक्षव एकांशव्याकरणीयः प्रश्नः। कतमश्च भिक्षवो विभज्यव्याकरणीयः प्रश्नः? 'सञ्चेतनीयं कर्म कृत्वा किं प्रतिवेदयते' इत्ययं विभज्यव्याकरणीयः प्रश्नः। कतमश्च भिक्षवः परिपृच्छ्यव्याकरणीयः प्रश्नः? संज्ञासु पुरुषस्यात्मा, उताहोऽन्या संज्ञा अन्य आत्मेति पृष्टेन सता परिप्रष्टव्यः-- कतमं पुनरायुष्मानात्मानं प्रत्येति? स चेदेवं वदेद्-- औदारिकं खल्वहमायुष्मन्नात्मानं प्रत्येमि। एवं सत्यन्या संज्ञा अन्य आत्मेत्येवं वचनीयः। अयं हि परिपृच्छ्य व्याकरणीयः प्रश्नः। कतमश्च भिक्षवः स्थापनीयः प्रश्नः? तद्यथा- शाश्वतो लोकोऽशाश्वतः, शाश्वतश्चाशाश्वतश्च, नैव शाश्वतो नाशाश्वतः, अन्तवानन्तश्च नैवान्तवान्नानन्तवान्। भवति तथागतः परं मरणान्न भवति तथागतः परं मरणात्, यावदन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमित्ययं भिक्षवः स्थापनीयः प्रश्नः" इति। --अभि.को.भा., ५/२२, पृ. ८००-८०१. बौ.भा.प्र. १९८७ ;

अपि च द्रष्टव्यम्-

निवृत्तेस्तेन लोकस्य नोपैत्यूनत्वमर्थतः ।
अन्तवानिति लोकश्च पृष्टस्तूष्णीं जिनोऽभवत्।।
सर्वज्ञ इति सर्वज्ञो बुधैस्तेनैव गम्यते।
यैर्नैतद्धर्मगाम्भीर्यं नोवाचाभाजने जने।।

--रत्ना., १/७३-७४।

सत्यां जातौ दुःखव्याधिजरेष्टवस्त्वलाभभयमरणानि ।
दुःखस्कन्धो विपुलः सति जातिनिषेधे निषिद्धानीमानि ।।१११।।

इत्यादिभिः द्वादश प्रतीत्यसमुत्पादाङ्गानि[1] निर्दिष्टानि। एतेषामर्थो यथासूत्रमवगन्तव्यः। तत्रेदं तावत् सूत्रम्-- **"यदुत अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्, नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्, षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः, स्पर्शप्रत्यया वेदना, वेदनाप्रत्यया तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययमुपादनम्, उपादानप्रत्ययो भवः, भवप्रत्यया जातिः, जातिप्रत्यया जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाः सम्भवन्ति। एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति"**[2] इति।

---

[1] द्रष्टव्यम्--

यः प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गः ....।

तत्र द्वादशाङ्गानि-- अविद्या, संस्काराः, विज्ञानम्, नामरूपम्, षडायतनम्, स्पर्शः, वेदना, तृष्णा, उपादानम्, भवः, जातिः, जरामरणं च।

--अभि.को.भा. ३/२० ; अ.वि.सू., पृ. ९८ ; म.सू.सं., पृ. ११७ ; अभि.समु., पृ. २६ ;

तत्र अविद्या कतमा? या एषामेव षण्णां धातूनायमैकध्यसंज्ञा पिण्डसंज्ञा नित्यसंज्ञा ध्रुवसंज्ञा शाश्वतसंज्ञा सुखसंज्ञा आत्मसंज्ञा जीवपुद्गलमनुजमानवसंज्ञा अहंकारसंज्ञा ममकारसंज्ञा एवमादि विविधमज्ञानम्। इयमुच्यते अविद्येति। एवमविद्यायां सत्यां विषयेषु रागद्वेषमोहा विषयेषु अमी संस्कारा इत्युच्यन्ते। वस्तुप्रतिविज्ञप्तिर्विज्ञानम्। विज्ञानसहभुवश्चत्वारः स्कन्धा अरूपिणः उपादानाख्याः तन्नामरूपं चत्वारि महाभूतानि, तानि चोपादाय रूपम्। तच्च नाम तच्च रूपम्। ऐकध्यमभिसंक्षिप्य तन्नामरूपम्। नामरूपसंनिश्रितानीन्द्रियाणि षडायतनम्। त्रयाणां धर्माणां संनिपातः स्पर्शः। स्पर्शानुभवो वेदना। वेदनाध्यवसानं तृष्णा। तृष्णावैपुल्यमुपादानम्। उपादाननिर्जातं पुनर्भवजनकं कर्म भवः। भवहेतुकः स्कन्धप्रादुर्भावो जातिः। जातस्य स्कन्धस्य परिपाको जरा। जीर्णस्य स्कन्धस्य विनाशो मरणम्। म्रियमाणस्य संमूढस्य साभिष्वङ्गस्यान्तर्दाहः शोकः। शोकोत्थमालपनं परिदेवः। पञ्चविज्ञानकायसंयुक्तमसातमनुभवनं दुःखम्। मनसा संयुक्तं मानसं दुःखं दौर्मनस्यम्। ये चाप्यन्ते एवमादाय उपक्लेशास्ते उपायासा इति। --म.शा.वृ., पृ. २४७, बौ.भा.प्र. १९८३।

[2] द्रष्टव्यम्-- हे भिक्षवः ! यदुत अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते। यदुत अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्, नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्, षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः, स्पर्शप्रत्यया वेदना, वेदनाप्रत्यया तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययमुपादनम्, उपादानप्रत्ययो

एवमनुलोममुक्त्वा प्रतिलोममधिकृत्याह-- **''सति जातिनिषेधे निषिद्धानीमानि इति। जातिनिरोधाज्जातिजरामरणशोकपरिदेवदुःखादयो धर्मा निरुध्यन्ते। एवमस्य अशेषस्य विपुलस्य दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवति। जातिनिरोधाद् भवनिरोधः ..... एवम् अविद्यानिरोधात् संस्कारनिरोध इति यावत्।''**[1] कतमा अविद्या? यथोक्तं सूत्रे-- **''यत् पूर्वान्तेऽज्ञानम्''** इत्याद्युक्तम्[2]।

भवः, भवप्रत्यया जातिः, जातिप्रत्यया जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाः सम्भवन्ति। एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति।

--प्र.समु.वि.नि.सू.(म.सू.सं.) भाग-१, पृ. ११७, मि.सं. १९६१ ; शालि.सू.(म.सू.सं) भाग-१, पृ. १००, मि.सं. ; अ.वि.सू., पृ. ५, के.पी.जा.सं., १९७१ ; यो.भू. पृ. १९८-२००, कल.वि.प्र. १९५७ ;

द्रष्टव्यं पुनश्च--

पुनर्भवाय संस्कारान् अविद्यानिवृतस्त्रिधा।
अभिसंस्कुरुते यांस्तैर्गतिं गच्छति कर्मभिः।।१
विज्ञानं सन्निविशते संस्कारप्रत्ययं गतौ ।
सन्निविष्टेऽथ विज्ञाने नामरूपं निषिच्यते ।।२
निषिक्ते नामरूपे तु षडायतनसम्भवः ।
षडायतनमागम्य संस्पर्शः सम्प्रवर्तते ।।३
चक्षुः प्रतीत्य रूपं च समन्वाहारमेव च ।
नामरूपं प्रतीत्यैवं विज्ञानं सम्प्रवर्तते ।।४
सन्निपातस्त्रयाणां यो रूपविज्ञानचक्षुषाम् ।
स्पर्शः सः तस्मात् स्पर्शाञ्च वेदना सम्प्रवर्तते।।५
वेदनाप्रत्यया तृष्णा वेदनार्थं हि तृष्यते।
तृष्यमाण उपादनमुपादत्ते चतुर्विधम् ।।६
उपादाने सति भव उपादातुः प्रवर्तते ।
स्याद्धि यद्यनुपादानो मुच्येत न भवेद् भवः।।७
पञ्च स्कन्धाः स च भवः भवाज्जातिः प्रवर्तते।
जरामरणदुःखादि शोकाः सपरिवेदनाः ।।८
दौर्मनस्यमुपायासा जातेरेतत् प्रवर्तते ।
केवलस्यैवमेतस्य दुःखस्कन्धस्य सम्भवः।।९

--म.शा., २६/१-९।

[1] द्रष्टव्यम्-- तत्र अविद्यानिरोधात् संस्कारनिरोधः। संस्कारनिरोधाद्विज्ञाननिरोधः। विज्ञाननिरोधान्नामरूपनिरोधः। नामरूपनिरोधात् षडायतननिरोधः। षडायतननिरोधात् स्पर्शनिरोधः। स्पर्शनिरोधात् वेदनानिरोधः। वेदनानिरोधात् तृष्णानिरोधः। तृष्णानिरोधादुपादाननिरोधः।

अत्रायं संक्षेपः - (आर्य-) सत्यानामज्ञानं तावत् परमार्थतोऽविद्या। ज्ञानविपक्षं हि

उपादाननिरोधाद्भवनिरोधः। भवनिरोधाज्जातिनिरोधः। जातिनिरोधाज्जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासा निरुध्यन्ते। एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवति। अयमुच्यते प्रतीत्यसमुत्पादो भगवता।

--शालि.सू.(म.सू.सं), पृ. १००, मि.सं. ; अ.वि.सू., पृ. ५, के.पी.जा.सं. १९७१ ; यो.भू. पृ. २०१-२०३, कल.वि.प्र. १९५७ ;

यतश्चैवमविद्यायामेव सत्यां संस्काराः प्रवर्तन्ते, असत्यां न प्रवर्तन्ते, अतः
अविद्यायां निरुद्धायां संस्काराणामसम्भवः।
हेतुवैयर्थ्यात्। तस्याः पुनरविद्यायाः कुतो निरोधः, इत्याह--
अविद्याया निरोधस्तु ज्ञानेनास्यैव भावनात्।। ११।।

अस्यैव प्रतीत्यसमुत्पादस्य यथावदविपरीतभावनातः अविद्या प्रहीयते। यो हि प्रतीत्यसमुत्पादं सम्यक् पश्यति, स सूक्ष्मस्यापि भावस्य न स्वरूपमुपलभते। प्रतिविम्बस्वप्रालातचक्रमुद्रादिवत्तु स्वभावशून्यतां सर्वेषां भावानामवतरति। स एव स्वभावशून्यतां सर्वेषां भावानामवतीर्णो न किञ्चिद्वस्तु उपलभते बाह्यमाध्यात्मिकं वा। सोऽनुपलभमानो न क्वचिद्धर्मे मुह्यति, अमूढश्च कर्म न करोतीति। एवं प्रतीत्यसमुत्पादभावनया तत्त्वमवतरति। तत्त्वदर्शिनो योगिनो नियतमेव अविद्या प्रहीयते। प्रहीणाविद्यस्य संस्कारा निरुध्यन्ते। यथा चैवमविद्यानिरोधात् संस्कारा निरुध्यन्ते, एवम्--
तस्य तस्य निरोधेन तत् तन्नाभिप्रवर्तते ।
दुःखस्कन्धः केवलोऽयमेव सम्यङ् निरुध्यते।। १२।।

पूर्वस्य पूर्वस्य अङ्गस्य निरोधेन उत्तरस्योत्तरस्य अङ्गस्य निरोधो भवतीति विज्ञेयम्। अनया चानुपूर्व्या अयं योगी आत्मात्मीयाद्यदर्शनायासनिरस्तः कारकवेदकविरहितं भावस्वभावशून्यं दुःखराशिं पुनरनुत्पत्त्या सम्यङ्निरोधयति।

--म.शा.वृ. २६, पृ. २४५, बौ.भा.प्र. १९८३।

२ तत्र कतमा अविद्या? यदुत-- पूर्वान्तेऽज्ञानम्, अपरान्तेऽज्ञानम्, प्रत्युत्पन्नेऽज्ञानम्, अध्यात्मेऽज्ञानम्, बहिर्धाऽज्ञानम्, अध्यात्मबहिर्धाऽज्ञानम्, कर्मण्यज्ञानम्, विपाकेऽज्ञानम्, कर्मविपाकेऽज्ञानम्, सुकृतेऽज्ञानम्, दुष्कृतेऽज्ञानम्, सुकृतदुष्कृतेऽज्ञानम्, हेतावज्ञानम्, फलेऽज्ञानम्, हेतुफलेऽज्ञानम्, हेतुसमुत्पन्नेषु धर्मेष्वज्ञानम्, प्रतीत्यसमुत्पादेष्वज्ञानम्, प्रतीत्यसमुत्पन्नेषु धर्मेषु अज्ञानम्, बुद्धेऽज्ञानम्, धर्मेऽज्ञानम्, सङ्घेऽज्ञानम्, दुःखेऽज्ञानम्, समुदयेऽज्ञानम्, निरोधेऽज्ञानम्, मार्गेऽज्ञानम्, कुशलाकुशलेषु धर्मेषु अज्ञानम्, सावद्यानवद्येषु धर्मेषु अज्ञानम्, सेवितव्यासेवितव्येषु धर्मेषु अज्ञानम्, हीनप्रणीतेषु कृष्णशुक्लेषु धर्मेषु अज्ञानम्, षट्सु वा स्पर्शायतनेषु यथाभूतमज्ञानमदर्शनमनभिस(म)यस्तमः संमोहोऽविद्यान्धकारम्। इयमुच्यतेऽविद्येति।

--अ.वि.सू., पृ. ५-७, के.पी.जा.सं. ; प्र.समु.वि.नि.सू.(म.सू.सं), पृ. ११७ ; यो.भू. पृ. २०४-२०५, कल.वि.प्र. १९५७।

अज्ञानं वेदितव्यम्। साविद्यैर्बालैः कृतानि कुशलाकुशलानेञ्ज्यानि कर्माणि अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः।[१] यथा सूत्रे ह्युक्तम्-- **त्रयः संस्काराः, यथा- कायसंस्कारा वाक्संस्कारा मनःसंस्काराश्चेति।**[२] एवमुक्तेऽपि अत्र कायवाङ्मनोभिः सम्पादितानि कर्माण्येव वेदितव्यानि। तेषां कर्मणां यद्बीजम्, तेनोपप्लुतं चित्तं तावत् संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्।

कारणेन कार्यनिर्देशमधिकृत्योक्तम्- **"षड्विज्ञानकायाः"** इति।[३] यथा आयुष्मन् तवेन्द्रियाणि प्रसन्नानीति तथैव विपाकविज्ञानस्य सूक्ष्मत्वात् तत्स्वभावनिर्देशः कर्तुं न शक्यते, अतः फलनिर्देशः क्रियते। तद् विज्ञानमपि संस्कारैर्येन क्रमेण नामरूपादीन् अभिनिर्वर्तयति, तेनैव आक्षेपकक्रमेण प्रत्ययं भवति। अनेन तावद् विज्ञानप्रत्ययं नामरूपमित्यतः स्पर्शप्रत्यया वेदनेति यावत् प्रतिपादितम्।

कतमन्नामरूपम्? मातुः कुक्षौ प्रतिसन्धिकाले ये वेदनादयश्चत्वारोऽरूपिणः स्कन्धास्तन्नाम, यत् किञ्चिद् रूपं तत् सर्वं महाभूतानि महाभूतहेतुकृतानि चेति यथायथं योगः करणीयः। तदेव प्रथमं कललमित्युच्यते। क्रमेण अर्बुदादीनां विकासक्रमोऽपि प्रज्ञायते।[४] तत्र चत्वारः (अरूपिणः) स्कन्धास्तावत् पुनर्भवनामनत्वाद् प्रदेशगमकत्वाच्च नामेत्युच्यन्ते, महाभूतानि तद्धेतुकृतानि (भौतिकानि) च

---

[१] द्रष्टव्यम्-- बालो हि प्रतीत्यसमुत्पन्नं संस्कारमात्रमिदमिति अप्रजानन् आत्मदृष्ट्यस्मिमानाभिनिविष्ट आत्मनः सुखार्थमदुःखार्थं वा कायादिभिस्त्रिविधं कर्मारभते- आयतिसुखार्थं पुण्यम्, सुखादुःखासुखार्थमानिञ्ज्यम्, ऐहिकसुखार्थमपुण्यम्।

--अभि.को.भा., पृ. ४६०, बौ.भा.प्र. १९८७।

[२] प्रती.समु.वि.नि.सू.(म.सू.सं.), पृ. ११७, मि.सं. १९६१।

[३] प्रती.समु.वि.नि.सू.(म.सू.सं.), पृ. ११७, मि.सं. १९६१।

[४] द्रष्टव्यम्--

कललं प्रथमं भवति कललाज्जायतेऽर्बुदः।
अर्बुदाज्जायते पेशी पेशीतो जायते घनः ।।
घनात् प्रशाखा जायन्ते केशरोमनखादयः।
इन्द्रियाणि च रूपीणि व्यञ्जनान्यनुपूर्वशः।।

--अभि.को.भा., पृ. ४३३, बौ.भा.प्र. १९८७।

शीतादिभिश्च तेषु विकारोत्पादनाद् रूपमित्युच्यन्ते। तदेव नामरूपं विवृद्धिक्रमेण यदा चक्षुरादयः प्रादुर्भवन्ति तदवस्थायां षडायतनप्रत्ययं भवति। सा खलु अवस्था षडायतनानां परिपूर्णावस्था। षडायतनानि तावच्चित्त-चैतसिकानामायद्वाराणीत्यर्थः। तेषां षडायतनानां परिपाकात् विषयसम्पर्केण स्पर्श उत्पद्यते। तस्य च आश्रयविशेषवशात् षट्प्रकारा भवन्ति।

यज्जातीयः सुखादिस्पर्शो जायते, ततस्तज्जातीया सुखा दुःखा अदुःखासुखा च वेदना समुत्पद्यते। एवं संस्कारैः आक्षिप्ताङ्गानां तृष्णोपादानाभ्याम् अभिषेचनं मृत्युपर्यन्तं भवः। ततः आक्षेपक्रमेण जातिरपि जराऽपि मरणमपि जायते। तत्र तृष्णा कतमा? सुखवेदनातोऽवियोगेच्छा, दुःखवेदनातो वियोगेच्छा, अदुःखासुखवेदनायां तु द्वयमपि न भवति। यथोक्तं सूत्रे-- **''कामरूपारूपेषु चर्याविशेषेण त्रिविधा निर्दिष्टा''** इति।[१]

उपादानं कतमत्? कामादिषु यो हि छन्दरागः। सूत्रे चोक्तम्-- **''कामोपादानं दृष्ट्युपादानं शीलव्रतोपादानम् आत्मवादोपादानं चेति''**[२] - चत्वारि उपादानानि। छन्दरागस्तावत् कामादीनामुपादानात्। तृष्णोपादानयोः हि को विशेषः? विशेषाभावेऽपि भवाभिलाषस्तृष्णा, विशेषेणउत्कटाभिलाषा उपादानम्। अथवा (भवस्य) दूरहेतुस्तृष्णा आसन्नहेतुस्तावदुपादानमिति ज्ञेयम्। तृष्णोपादानाभ्यामभिषिञ्चितं संस्कारबीजं फलोत्पादकत्वेनाभिलक्षितं **'भवः'** इत्युच्यते। यथोक्तं सूत्रे-- **''कामभवः रूपभवः आरूप्यभवश्चेति''।**[३] एवमुक्तेऽप्यत्र अतीतभव एव कथितः।

भवानन्तरं जातिः। क्रमेण नामरूपतो वेदनापर्यन्तं जातितो जरामरणादीनि भवन्ति। **एवमस्येत्यादिना** यथोक्तक्रमेण दुःखस्कन्धोदय आत्मनोऽभावश्चेति द्वयं सिध्यति। सूत्रे हि जात्यादयः पर्यायमात्रेणैव निर्दिष्टाः।[४] एवमेवात्र

---

[१] प्रती.समु.वि.नि.सू.(म.सू.सं.), पृ. ११८, मि.सं. १९६१।

[२] प्रती.समु.वि.नि.सू.(म.सू.सं.), पृ. ११८, मि.सं. १९६१।

[३] प्रती.समु.वि.नि.सू.(म.सू.सं.), पृ. ११८, मि.सं. १९६१।

[४] तुलनीयम्--

द्वादशाङ्गप्रतीत्यसमुत्पादः तावच्चतुर्ष्वप्यङ्गेषु संक्षिप्यते, तद्यथा-- आक्षेपकाङ्गम् आक्षिप्ताङ्गम् अभिनिर्वर्तकाङ्गम् अभिनिर्वृत्त्यङ्गं चेति।

द्वादशाङ्गानि गण्यन्ते संक्षेपेण चतुर्ष्वपि ।
त्रीणि चत्वारि चाङ्गानि त्रीणि द्वे च क्रमेण वै[1] ।।

एवं यदि जन्मद्वयव्यवस्थामधिकृत्य उच्येत तदा सूत्रे अविद्या संस्काराश्च पूर्वान्तसम्बद्धा आक्षेपकाङ्गमिति। जन्मत्रयमुद्दिश्य यदि द्वादशाङ्गानि व्यवस्थीयेरन् तदा अविद्या संस्काराश्चातीते जन्मनि भवन्ति। विज्ञानादारभ्य भवपर्यन्तं (अष्टौ

त्रिभ्यो भवति द्वन्द्वं द्वन्द्वात्प्रभवन्ति सप्त सप्तभ्यः।
त्रय उद्भवन्ति भूयस्तदेव तु भ्रमति भवचक्रम्।।

--प्र.समु.हृ., ३ का. ; ध.धा.द.गी. (दीपंकरश्रीज्ञान-प्रणीतः पञ्चग्रन्थसंग्रहः), ९२ का., ति.सं. १९९९।

[1] द्रष्टव्यम्-- कथमङ्गसमासतोऽपि। आक्षेपाङ्गमाक्षिप्ताङ्गमभिनिर्वर्त्तकाङ्गमभिनिर्वृत्त्यङ्गं च। आक्षेपकाङ्गं कतमत्। अविद्या संस्कारा विज्ञानं च। आक्षिप्ताङ्गं कतमत्। नामरूपं षडायतनं स्पर्शो वेदना च। अभिनिर्वर्त्तकाङ्गं कतमत्। तृष्णा उपादानं भवश्च। अभिनिर्वृत्त्यङ्गं कतमत्। जातिर्जरामरणं च। कथमङ्गप्रत्ययत्वव्यवस्थानतः। वासनातोऽप्यावेधतोऽपि मनसिकारतोऽपि सहभावतोऽप्यङ्गानां प्रत्ययत्वव्यवस्थानं वेदितव्यं तच्च यथायोगम्। कथमङ्गकर्मव्यवस्थानतः। अविद्या किंकर्मिका। भवे च सत्त्वान् संमोहयति प्रत्ययश्च भवति संस्काराणाम्। संस्काराः किंकर्मकाः। गतिषु च सत्त्वान् विभजन्ति प्रत्ययाश्च भवन्ति विज्ञानवासनायाः। विज्ञानं किकर्मकम्। सत्त्वानां कर्मबन्धं च धारयति प्रत्ययश्च भवति नामरूपस्य। नामरूपं च किंकर्मकम्। आत्मभावं च सत्त्वान् ग्राहयति प्रत्ययश्च भवति षडायतनस्य। षडायतनं किंकर्मम्। आत्मभावपरिपूरिं च सत्त्वान् ग्राहयति प्रत्ययश्च भवति स्पर्शस्य। स्पर्शः किंकर्मकः। विषयोपभोगे च सत्त्वान् प्रवर्त्तयति प्रत्ययश्च भवति वेदनायाः। वेदना किंकर्मिका। जन्मोपभोगे च सत्त्वान् प्रवर्त्तयति प्रत्ययश्च भवति तृष्णायाः। तृष्णा किंकर्मिका। जन्मनि च सत्त्वानाकर्षयति प्रत्ययश्च भवति उपादानस्य। उपादानं किंकर्मकम्। पुनर्भवादानार्थं सोपादानं च सत्त्वानां विज्ञानं करोति प्रत्ययश्च भवति भवस्य। भवः किंकर्मकः। पुनर्भवे च सत्त्वानभिमुखीकरोति प्रत्ययश्च भवति जातेः। जातिः किंकर्मिका। नामरूपषडायतनस्पर्शवेदनानुपूर्व्या च सत्त्वानभिनिर्वर्त्तयति प्रत्ययश्च भवति जरामरणस्य। जरामरणं किंकर्मकम्। पुनः पुनर्वयःपरिणामेन जीवितपरिणामेन च सत्त्वान्योजयति। --अभि.समु., पृ. २६-२७, वि.भा.प्र., १९५० ;

आक्षेपकं तथाऽऽक्षिप्तम् अभिनिर्वृतनिर्वृती।
आदीनवः क्रमादङ्गम् त्रिचतुस्त्र्यैकमेककम्।। ८९।।

--ध.धा.द.गी. (दीपंकरश्रीज्ञान-प्रणीत पञ्चग्रन्थसंग्रहीत, पुनरुद्धार), ति.सं. १९९९।

अङ्गानि) प्रत्युत्पन्नजन्मनि भवन्ति। जाति-जरामरणानि तावदनागते जन्मनि जायन्ते[1]। अतीतजन्मिकैः अविद्याप्रत्ययैः संस्कारैः प्रत्युत्पन्नेऽस्मिन् जन्मनि प्रतिसन्धिविज्ञानाद्

---

[1] द्रष्टव्यम्--

स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरिणः ।।२०।।

त्रीणि काण्डानि पूर्वापरान्तमध्यान्यतीतानागतप्रत्युपन्नानि जन्मानि। कथमेषु त्रिकाण्डेषु द्वाद्वशाङ्गानि व्यस्थाप्यन्ते? अविद्या संस्काराश्च पूर्वान्ते, जातिर्जरामरणं चापरान्ते। शेषाण्यष्टौ मध्ये।........ **पूर्वक्लेशा दशाऽविद्या, ...।** या पूर्वके जन्मनि क्लेशावस्था, सेहाविद्येत्युच्यते; साहचर्यात् तद्वशेन तेषां समुदाचाराच्च। राजागमनवचने तदनुयातृकागमनसिद्धवत्। ..... **संस्काराः पूर्वकर्मणः।** 'दश' इति वर्तते। पूर्वजन्मन्येव या पुण्यादिकर्मावस्था सेह संस्कारा इत्युच्यते, यस्य कर्मण इह विपाकः। **सन्धिस्कन्धास्तु विज्ञानम्, ...।** मातुः कुक्षौ प्रतिसन्धिक्षणे पञ्च स्कन्धा विज्ञानम्। .... **नामरूपमतः परम्।।२१।। प्राक् षडायतनोत्पादात्, ...।** सन्धिचित्तात् परेण यावत् षडायतनं नोत्पद्यते साऽवस्था नामरूपं तावत् षडायतनमित्युच्यते। प्राक्चतुरायतनोत्पादादिति वक्तव्ये षडायतनवचनं तदा तद्व्यवस्थापनात्। **...तत्पूर्वं त्रिकसङ्गमात्।** उत्पन्ने षडायतने सावस्था तावत् षडायतनमित्युच्यते यावदिन्द्रिय-विषय-विज्ञानत्रिकसन्निपातः। **स्पर्शः प्राक् सुखदुःखादिकारणज्ञानशक्तितः।।२२।।** त्रयाणां सन्निपातात् स्पर्शो भवति। स यावद्वेदनात्रयकारणपरिच्छेदेन भवति साऽवस्था स्पर्श इत्युच्यते।। परिच्छेदसामर्थ्ये सति-- **वित्तिः प्राङ् मैथुनात्, ...।** वेदनावस्था यावन्मैथुनरागो न समुदाचरति। .... **तृष्णा भोगमैथुनरागिणः।** कामगुणमैथुनरागसमुदाचारावस्था तृष्णेत्युच्यते, यावन्न तद्विषयपर्येष्टिमापद्यते। **उपादानं तु भोगानां प्राप्तये परिधावतः।।२३।।** यस्यामवस्थायां विषयप्राप्तये पर्येष्टिमापन्नः सर्वतो धावति, असाववस्था उपादानमित्युच्यते।। तथा च परिधावन्-- **स भविष्यद्भवफलं कुरुते कर्म तद् भवः।** स विषयाणां प्राप्तिहेतोः परिधावन् पौनर्भविकं कर्मोपचिनोति सोऽस्य भवः। तेन हि कर्मणा पुनरितः प्रच्युतस्यायत्यां प्रतिसन्धिर्भवति। योऽसौ, **प्रतिसन्धिः पुनर्जातिः .....।** यदेवेह विज्ञानाङ्गं तदेवास्यान्यत्र जन्मनि जातिः। तत ऊर्ध्वम्-- .... **जरामरणमा विदः।।२४।।** जातेः परेण यावद्वेदनावस्था जरामरणम्। यान्येवेह चत्वार्यङ्गानि-- नामरूपषडायतनस्पर्शवेदनाः, तान्येवान्यत्र जरामरणमित्येतानि द्वादशाङ्गानि।।

--अभि.को.भा. ३/२०-२४, पृ. ४३५-४३८, बौ.भा.प्र. ;

ध.धा.द.गी. ८१-८६ का. (दीपंकरश्रीज्ञान-प्रणीतः पञ्चग्रन्थसंग्रहः), ति.सं., १९९९ ;

तत्र पूर्वजन्मनि क्लेशावस्था इह अविद्या, तथा पुण्यादिकर्मावस्थाः संस्काराः, तथा इह जन्मनि प्रतिसंधिक्षणे पञ्च स्कन्धा विज्ञानम्। संधिचित्तात् परेण षडायतनोत्पादात् पूर्वं नामरूपम्। ततो यावदिन्द्रियविषयविज्ञानत्रिकसंनिपातो न भवति, तावत् षडायतनम्। यावत् वेदनात्रयकारणपरिच्छेदकमर्थो न भवति, तावत् त्रिकसंनिपातात् स्पर्शः। मैथुनरागात् प्राक् सुखाद्यनुभवावस्था वेदना। विषयपर्येषणावस्थातः प्राक् कामगुणमैथुनरागसमुदाचारावस्था तृष्णा।

वेदनापर्यन्तं विपाको निष्पाद्यते। प्रत्युत्पन्नैस्तृष्णोपादानभवैश्च अनागतजन्मनि जातिजरामरणानि निष्पाद्यन्त इति वेदितव्यम्।

त्रिषु जन्मसु व्यवस्थाया अस्याः प्रयोजनं तावत् पूर्वापरान्तमध्येषु विद्यमानस्य संमोहस्य निवृत्तिरेवेति ह्युक्तं तथापि अविद्याप्रत्ययैः संस्कारैः प्रतिसन्धानोत्पादकाले तृष्णोपादानभवाश्चापि विद्यन्त एव, तथैव तृष्णोपादानभवैश्चापि अनागते काले जातिरुत्पाद्यते तदाऽपि अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः संविद्यन्त एव। नामरूपादिभ्यश्च नान्या जात्यादयः, अत एव ते अन्येन प्रकारेणोच्यन्ते। तस्माज्जन्मद्वयव्यवस्थायां नास्ति कश्चन विरोधः। स प्रतीत्यसमुत्पादस्तावदध्वत्रयेणापि वेदितव्यः। तद्यथा-- अविद्यातृष्णोपादानानि क्लेशाध्वा। संस्कारा भवश्च कर्माध्वा। शेषाण्यङ्गानि तावद् विपाकोऽध्वेत्यलं विस्तरेण ।[१]

सामान्यरूपेण तावदधुना प्रतिपाद्यते--

विषयपर्येषणावस्था उपादानम्। विषयप्राप्तिहेतुपरिधावनोपार्जितपौनर्भविकं कर्म भवः। तेन कर्मणा आयत्यां पुनः प्रतिसंधिर्जातिः। ततः परेण यावद्वेदनावस्था सा जरामरणम्। इत्याद्यन्तयोर्द्वे द्वे मध्यस्थौ इति त्रिकाण्डो द्वादशाङ्गः प्रतीत्यसमुत्पादोऽस्य क्षयाभावादक्षयत्वेनेति पूर्ववत्।

--आलोक, पृ. ५२२, मि.सं.।

[१] द्रष्टव्यम्-- स पुनरेष द्वादशाङ्गः प्रतीत्यसमुत्पादस्त्रिस्वभावो वेदितव्यः क्लेशकर्मवस्तूनि। तत्र-- **क्लेशास्त्रीणि,** त्रीण्यङ्गानि क्लेशस्वभावानि-- अविद्यातृष्णोपादानानि। **द्वयं कर्म,** अङ्गद्वयं कर्मस्वभावम्-- संस्काराः, भवश्च। **सप्त वस्तु,** सप्ताङ्गानि वस्तुस्वभावानि-- विज्ञाननामरूपषडायतनस्पर्शवेदनाजातिजरामरणानि; क्लेशकर्माश्रयत्वात्। यथा च वस्तु सप्ताङ्गानि, **फलं तथा।** सप्तैवाङ्गानि फलभूतानि। शेषाणि पञ्च हेतुभूतानि; कर्मक्लेशस्वभावत्वात्।

--अभि.को.भा. ३/२६, पृ. ४४२, बौ.भा.प्र. ; ध.धा.द.गी. (दीपंकरश्रीज्ञान-प्रणीतः पञ्चग्रन्थसंग्रहः), ८७-८८ का., ति.सं. १९९९ ;

कथमङ्गसंक्लेशसंग्रहतः। या चाविद्या या च तृष्णा यच्चोपादानमित्ययं संक्लेशसंग्रहः। ये च संस्कारा यच्च विज्ञानं यश्च भव इत्ययं कर्मक्लेशसंग्रहः। शेषाणि जन्मसंक्लेशसंग्रहः।।

--अभि.समु., पृ. २७, वि.भा.प्र. ;

अत्र च प्रतीत्यसमुत्पादे त्रीण्यङ्गानि क्लेशस्वभावानि-- अविद्यातृष्णोपादानानि ; अङ्गद्वयं कर्मस्वभावं-- संस्कारा भवश्च ; सप्ताङ्गानि वस्तुस्वभावानि-- विज्ञाननामरूपषडायतनस्पर्शवेदनाजातिजरामरणाख्यानि, क्लेशकर्महेतुत्वात्।

--अ.वि.सू.नि., पृ. ९९, के.पी.जा.सं., १९७१।

गम्भीरोऽनर्घकोशः प्रियः प्रतीत्योत्पादो जिनवचनानाम् ।
सम्यगिमं यः पश्यति स च पश्यति तत्त्वदर्शिनं बुद्धमेव ।।११२।।

इत्यनेन प्रतीत्यसमुत्पादस्यानुशस्यं प्रदर्शितम्। तथागतवचनेषु हृद्यतमोऽयं प्रतीत्यसमुत्पादः। य इमं प्रतीत्यसमुत्पादं सम्यग्-रूपेणावजानाति, स तथागतदेशनां सम्यग् अवबुध्यति। **गम्भीरः** इत्यनेनास्य गभीरत्वमादर्शितम्।[1] **सम्यगिमं यः पश्यति** इत्यादिना भगवता बुद्धेन अनुत्तरानास्रवज्ञानाधिगमेन गम्भीरत्वमेव देशितम्। प्रतीत्यसमुत्पादस्यावगमात् तज्ज्ञाने सति प्रतीत्यसमुत्पादस्य गम्भीरमाभाषितम्। यथोक्तम्-- **''यो भिक्षवः, प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति, स धर्मं पश्यति, यो धर्मं पश्यति, स बुद्धं पश्यति''** इति[2]। अथवा अनेन जिनवचनानां निधानत्वं निर्दिष्टम्।

गम्भीरत्वं तावदस्येत्थं ज्ञातव्यम्-- **''न स्वयं कृतम्, न परकृतम्, नोभयकृतम्, न चाहेतुतः कृतम्** इति।[3] एवं **न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां न**

---

[1] द्रष्टव्यम्-- गम्भीरः प्रतीत्यसमुत्पाद उक्तो भगवता। कथं गम्भीरो वेदितव्यः। दशभिराकारैः प्रतीत्यसमुत्पादस्य गम्भीरार्थो द्रष्टव्यः। यदुतानित्यार्थं दुःखार्थं शून्यार्थं नैरात्म्यार्थं चारभ्य। तत्रानित्यार्थमारभ्य स्वबीजाच्च जायन्ते। परप्रत्ययं चापेक्ष्य परप्रत्ययतश्च जायन्ते। स्वबीजं चापेक्ष्य स्वबीजात्परप्रत्ययतश्च जायन्ते। न च बीजप्रत्यययोस्तज्जननं प्रति काचिदीहा वा चेष्टा वा व्यापारो वा विद्यते। न च बीजप्रत्यययोरीहा वा चेष्टा वा व्यापारो वा विद्यते। न च पुनस्तयोर्हेतुत्वसामर्थ्यं न विद्यते। अनादिप्रतिषिद्धलक्षणानि चाङ्गानि प्रतिक्षणं च नव-नव-लक्षणानि प्रवर्तन्ते। क्षणभङ्गुरश्च प्रतीत्यसमुत्पादः। अवस्थितप्रकारतया च ख्याति।

--यो.भू. पृ. २२८, कल.वि.प्र., १९५७ ;

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः ।। --(बुद्धवचनम्)

[2] यो भिक्षवः ! प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति, स धर्मं पश्यति। यो धर्मं पश्यति, स बुद्धं पश्यति ।

--शालि.सू.(म.सू.सं.), पृ. १००, मि.सं.।

[3] अत्राह- यदि स्वतः परतः उभयतोऽहेतुतश्च नास्ति भावानामुत्पादः, तत्र कथमविद्याप्रत्ययाः संस्कारा इत्युक्तं भगवता? उच्यते, संवृतिरेव न तत्त्वम्। किं संवृतेर्व्यवस्थानं वक्तव्यम्? इदंप्रत्ययतामात्रेण संवृतेः सिद्धिरभ्युपगम्यते। न तु पक्षचतुष्टयाभ्युपगमेन सस्वभाववादप्रसङ्गात्, तस्य चायुक्तत्वात्। इदंप्रत्ययतामात्राभ्युपगमे हि सति हेतुफलयोरन्योन्यापेक्षत्वान्नास्ति स्वाभाविकी सिद्धिरिति नास्ति सस्वभाववादः। अत एवोक्तम्--

"स्वयं कृतं परकृतं द्वाभ्यां कृतमहेतुकम् ।

चाहेतुतो (धर्माः) उत्पद्यन्ते[१] । अपि च, अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः इत्थं शेषाण्यपि तत्सदृशान्येव। एकान्तेन अविद्याऽपि 'अहं संस्कारान् उत्पादयिष्यामीति' न विचिन्तयति, संस्कारा अपि 'वयम् अविद्यया उत्पन्नाः' इति न चिन्तयन्ति। अविद्याया अभावे च संस्कारा नैव प्रादुर्भवन्ति। एवमपि पूर्वं कश्चन कर्ता नोपलभ्यते, ततश्च वेदितव्यं प्रतीत्यसमुत्पादस्य गम्भीरत्वम्।

एवं प्रतीत्यसमुत्पादे कुशलीभावेन चतुरार्यसत्यालम्बकं मार्गं भावयितुं समर्थो जायते भावक इति दर्शयितुमाह--

शमाय भाव्याः सम्यग्दृष्टिसंकल्पवाक्कर्माजीवस्मृति- ।

तार्किकैरिष्यते दुःखं त्वया तूक्तं प्रतीत्यजम्।। (लोका. स्तवः ९का.),

इहापि वक्ष्यति--

प्रतीत्य कारकः कर्म तं प्रतीत्य च कारकम्।
कर्म प्रवर्तते नान्यत् पश्यामः सिद्धिकारणम् ।।(म.शा. ८.१२)

--म.शा.वृ., पृ. २०-२१, बौ.भा.प्र. १९८३।

[१] न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ।। (म.शा. ३)

.. स्वत उत्पादो न सम्भवति, सा--

तस्माद्धि तस्य भवने न गुणोऽस्ति कश्चिज्ज्ञातस्य जन्म पुनरेव च नैव युक्तम्। (म.अ. ६/८), इत्यादिना मध्यमकावतारादिद्वारेणावसेया। आचार्यबुद्धपालितस्त्वाह-- न स्वत उत्पद्यन्ते भावाः ; तदुत्पादवैयर्थ्यात्, अतिप्रसंगदोषाच्च। न हि स्वात्मना विद्यमानानां पदार्थानां पुनरुत्पादे प्रयोजनमस्ति। अथ सन्नपि जायेत, न कदाचिन्न जायेत इति। ....परतोऽपि नोत्पद्यन्ते भावाः ; पराभावादेव। एतच्च-- **न हि स्वभावो भावानां प्रत्ययादिषु विद्यते। (म.शा. १/५),** इत्यत्र प्रतिपादयिष्यति। ततश्च पराभावादेव नापि परत उत्पद्यन्ते। अपि च--

अन्यत् प्रतीत्य यदि नाम परोऽभविष्यज्जायेत तर्हि बहुलः शिखिनोऽन्धकारः।
सर्वस्य जन्म च भवेत् खलु सर्वतश्च तुल्यं परत्वमखिलेऽजनकेऽपि यस्मात् ।।(म.अ. ६/१४)

इत्यादिना परत उत्पत्तिप्रतिषेधोऽवसेयः। ......द्वाभ्यामपि नोपजायन्ते भावाः, उभयपक्षाभिहितदोषप्रसङ्गात्, प्रत्येकमुत्पादासामार्थ्याच्च। वक्ष्यति हि-- **स्यादुभाभ्यां कृतं दुःखं स्यादेकैककृतं यदि।** (म.शा. १२/९) इति। अहेतुतोऽपि नोत्पद्यन्ते-- **हेतावसति कार्यं च कारणं च न विद्यते।** (म.शा. ८/४), इति वक्ष्यमाणदोषप्रसङ्गात्। **गृह्यते नैव च जगद्यदि हेतुशून्यं स्याद्यद्वदेव गगनोत्पलवर्णगन्धौ।** (म.अ. ६/९९), इत्यादिदोषप्रसङ्गाच्च।।

--म.शा.वृ., १/३, पृ. ६, १३-१४, बौ.भा.प्र. १९८३।

समाधिव्यायामेत्यार्याष्टाङ्गिकमार्गाश्चैते चारुतया[१] ।।११३।।

---

[१] द्रष्टव्यम्-- तत्र भिक्षवः कतम आर्याष्टाङ्गो मार्गः? तद्यथा-- सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्संकल्पः, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्तः, सम्यगाजीवः, सम्यग्व्यायामः, सम्यक्स्मृतिः सम्यक्समाधिश्च। तत्र भिक्षवः सम्यग्दृष्टिः कतमा? अस्त्ययं लोकः। अस्ति परलोकः। अस्ति माता। अस्ति पिता। अस्ति दत्तम्। अस्ति हुतम्। अस्ति इष्टानिष्टसुकृतदुष्कृतानां कर्मणां फलविपाकः। सन्ति लोके सम्यग्गताः, सम्यक्प्रतिपन्ना इति। इयं भिक्षवः सम्यग्दृष्टिः। तद्विपरीता मिथ्यादृष्टिः।

सम्यक्संकल्पः कतमः? बुद्धत्वादिपरिणामितं शीलं दानं च, न चक्रवर्त्त्यादिपरिणामितम्। अयं भिक्षवः सम्यक्संकल्पः।

सम्यग्वाक् कतमा? इह भिक्षवः पारुष्यानृतपैशुन्यसम्भिन्नप्रलापवर्जिता वाक्। इयमुच्यते भिक्षवः सम्यग्वाक्।

सम्यक्कर्मान्तः कतमः? कायवाङ्मनसां दशकुशलेषु कर्मपथेषु व्यापारः। तत्र कायिकं त्रिविधम्- प्राणातिपातादत्तादानकाममिथ्याचाराद्विरतिः। वाचिकं चतुर्विधम्- अनृतपैशुन्यपारुष्यसम्भिन्नप्रलापाद् विरतिः। मानसं त्रिविधम्- अभिध्याव्यापादमिथ्यादृष्टिभ्यो विरतिः।

तत्र सम्यगाजीवः कतमः? भिक्षोस्तावत् कुहना लपना नैमितिकत्वं नैष्पेषिकत्वं लाभेन लाभप्रतिकांक्षा च। तत्र कुहना कतमा? भिक्षुर्दानपतिं दृष्ट्वा पर्यङ्कं बद्ध्वा पथि शून्यागारे वा निषीदति- ध्यायी भिक्षुरयमर्हन्निति लाभसत्कारो मे भविष्यति। एवमादिका कुहनेत्युच्यते। तत्र लपना कतमा? इह भिक्षुर्लाभसत्कारनिमित्तमेव त्वं मे माता, त्वं मे पिता, त्वं मे भगिनी, त्वं मे दुहितेति एवमन्यान्यपि प्रियवचनानि ब्रवीति। एवमादिका लपनेत्युच्यते। तत्र नैमित्तिकत्वं कतमत्? भिक्षुस्तावत् पिण्डपातं परिभुज्य असकृद् ब्रूते-- यादृशोऽयं पिण्डपास्तादृशोऽन्येषूपासकगृहेषु न लभ्यते। अलाभसत्कारचित्तस्य तु वदतोऽदोषः। इदमुच्यते नैमित्तिकत्वम्। तत्र नैष्पेषिकत्वं कतमत्? भिक्षुस्तावत् यत्र गृहे पिण्डपातं न लभते, दापयितुकामश्च भवति, तत्र ब्रूते-- अदानपतयो हि निरयं गच्छन्ति। यूयमप्यदानपतयो व्यक्तं निरयगामिन इति। नरकभयभीताः पिण्डपातमनुप्रयच्छन्ति। तं च लब्ध्वा परिभुङ्क्ते। इदमुच्यते नैष्पेषिकत्वम्। तत्र लाभेन लाभप्रतिकांक्षा कतमा? भिक्षुस्तावदात्मीयेन धनेन शोभनानि चीवराणि चोपक्रीय उपासकेभ्यो दर्शयति-- ईदृशानि वयं वस्त्राणि लाभामहे इति। ते लज्जिता यानि वस्त्राणि प्रयच्छन्ति तानि परिभुङ्क्ते। इयमुच्यते भिक्षवो लाभेन लाभप्रतिकांक्षा। अयं भिक्षवो मिथ्याजीवः। अस्माद्विरतिरिति सम्यगाजीवः।

इह खलु भिक्षवः उपासकस्य मिथ्याजीवः। विषविक्रयः, शस्त्रविक्रयः, सत्त्वविक्रयः, मद्यविक्रयः, मांसविक्रयः, अप्रत्यवेक्षिततिलसर्षपपीडनं मिथ्याजीवः। अस्माद्विरतिः। अयमुच्यते भिक्षवः सम्यगाजीवः।

तत्र सम्यग्व्यायामः कतमः? इह भिक्षवोऽभिवादनवन्दनप्रत्युत्थानाञ्जलिसामीचीकर्म करणीयम्। अयमुच्यते भिक्षवः सम्यग्व्यायामः।

तत्र भिक्षवः सम्यक्स्मृतिः कतमा? इह खलु भिक्षवो भिक्षुः स्त्रियं दृष्ट्वा उत्पन्ने रागे बाह्याध्यात्मिकयोः शरीरयोरशुभाकारेण यथाभूतदर्शी भवति-- सन्त्यस्मिन् काये केशा रोमाणि नखा दन्ता रजो मलं त्वङ्

इत्यत्र **सम्यग्दृष्टिस्तावदनास्रवा** प्रज्ञा। लपनादिवितथाजीवविरतिः **सम्यगाजीवः**। वीर्यं तावत् **सम्यग्व्यायामः**, स एव चत्वारि सम्यक्प्रहाणानि। आलम्बनानुस्मृतिरेव **सम्यक्स्मृतिः**। सा च चतस्रः स्मृतयः, तथा हि--कायगतानुस्मृतिः, वेदनानुस्मृतिः, चित्तानुस्मृतिः धर्मानुस्मृतिश्चेत्यालम्बनानुस्मृतयः।[1]

मांसम् अस्थि स्नायुः शिरा वृक्का हृदयं प्लीहा क्लोमकः आमाशयः पक्वाशयः अन्त्राणि अन्त्रगुणाः औदरीयकं यकृत् पुरीषम् अश्रुः स्वेदः खेटः सिंहाणको वसा लसिका मज्जा मेदः पित्तं श्लेष्मा पूयं शोणितं मस्तकं मस्तकलुङ्गः उच्चारप्रस्रावैः पूर्णं नानाप्रकारस्याशुचेरिति। इयमुच्यते भिक्षवः सम्यक्स्मृतिः।

सम्यक्समाधिः कतमः? चत्वारि ध्यानानि। इह भिक्षवो भिक्षुर्विविक्तं कामैर्विविक्तं पापकैरकुशलधर्मैः सवितर्कं सविचारं विवेकजं प्रीतिसुखं प्रथमं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। स वितर्कविचाराणां व्युपशमादध्यात्मसंप्रसादाच्चेतस एकोतीभावादवितर्कमविचारं समाधिजं प्रीतिसुखं द्वितीयं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। स प्रीतेर्विरागादुपेक्षको विहरति स्मृतः संप्रजानन् सुखं च कायेन प्रतिसंवेदयति। यत्तदार्या आचक्षते उपेक्षकः स्मृतिमान् सुखविहारीति तृतीयं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। स सुखस्य च प्रहाणाद् दुखस्य च प्रहाणात् पूर्वमेव च सौमनस्यदौर्मनस्ययोः अस्तङ्गमाददुःखासुखमुपेक्षास्मृतिपरिशुद्धं चतुर्थं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। इमानि खलु भिक्षवश्चत्वारि ध्यानानि। अयमुच्यते सम्यक्समाधिः। अयं भिक्षव आर्याष्टाङ्गो मार्गः।

--अ.वि.सू., पृ. ३४-४२, २३१, के.पी.जा.सं., १९७१ ; ध.सं.(म.सू.सं.), पृ. ३३२ ; समा.सू., पृ. ३७३ ; बौ.द.मी.(हिन्दी), पृ. ५५ ; बौ.सि.सा.(हिन्दी), पृ. ७६ ; श.प्र.सू., 'क' पुट् पृ. ५, भो.सं. ; अक्षय.म.सू., 'म' पुट्, भो.सं., पृ. १६५ ; शालि.सू.(म.सू.सं), पृ. १००, मि.सं. ;

अष्टानामार्यमार्गाङ्गानामालम्बनं कतमत्। तदुत्तरकालं चतुर्णामार्यसत्यानां यथाभूतता। स्वभावः कतमः। सम्यग्दृष्टिः सम्यक् संकल्पः, सम्यग् वाक्, सम्यक्कर्मान्तः सम्यगाजीवः सम्यग्व्यायामः सम्यक्स्मृतिः सम्यक्समाधिश्च। सम्यग्दृष्टिः परिच्छेदाङ्गम्। सम्यक्संकल्पः परसंप्रापणाङ्गम्। सम्यग्वाक्कर्मान्ताजीवाः परसंप्रत्ययाङ्गम्। दर्शनशीलाजीवविशुद्धितामुपादाय। सम्यग्व्यायामः क्लेशावरणविशोधनाङ्गम्। सम्यक्समाधिः वैशेषिकगुणावरणविशोधनाङ्गम्। सहायः कतमः। तत्संप्रयुक्ताश्चित्तचैतसिकाधर्माः। भावना कतमा। भावना तु बोध्यङ्गवत्। भावनाफलं कतमत्। परिच्छेदः परसंप्रापणं परसंप्रत्ययः क्लेशावरणविशोधनमुपक्लेशावरणविशोधनं वैशेषिकगुणावरणविशोधनं च।

--अभि.समु., पृ. ७४-७५, वि.भा.प्र., १९५०।

[1] द्रष्टव्यम्-- तत्र भिक्षवः कतमानि चत्वारि स्मृत्युपस्थानानि? १. इह भिक्षवो भिक्षुरध्यात्मं काये कायानुदर्शी विहरति, आतापी संप्रजानन् स्मृतिमान् विनीय लोके अभिध्यादौर्मनस्ये। बहिर्धा काये कायानुदर्शी विहरति। अध्यात्मबहिर्धाकाये कायानुदर्शी विहरति आतापी संप्रजानन् स्मृतिमान् विनीय लोकेऽभिध्यादौर्मनस्ये। २. अध्यात्मवेदनासु, बहिर्धावेदनासु, अध्यात्मबहिर्धावेदनासु वेदनानुदर्शी विहरति आतापी संप्रजानन् स्मृतिमान् विनीय लोके अभिध्यादौर्मनस्ये। ३. अध्यात्मचित्ते, बहिर्धाचित्ते,

स्मृत्युपस्थानान्येव स्मृत्युपस्थानमिति। ये स्मृत्युपस्थानस्यैवंविधं व्याख्यानमनुतिष्ठन्ति तेषां मतेन स्मृत्युपस्थानं तावत् प्रज्ञैव। चतुर्थध्यानं तावत् **सम्यक्समाधिः**। वाचिकाश्चत्वारः कुशलाः कर्मपथा एव **सम्यग्वागि**ति। विरतित्रयस्वभावाः कायिकाः कुशलाः कर्मपथास्तु **सम्यक्कर्मान्तः**। अव्यापाद-निर्याणादयो वितर्काः **सम्यक्संकल्पः**, विविधाः कुशलवितर्काश्च सम्यक्संकल्पः। आर्यमार्गस्येमानि अष्टौ अङ्गानि उपशमार्थं निर्वाणस्य चाधिगमाय भावयितव्यानि।

अस्य तावदार्यमार्गस्यालम्बनभूतानि चत्वारि आर्यसत्यानि[1] दर्शयितुमाह--

जातिरियं दुःखमेव तृष्णा च तस्य समुदयो महान् ज्ञेयः ।
निर्वृतिस्तन्निरोधस्तदधिगमाय चाष्टाङ्गिकोऽयं मार्गः ।।११४।।

इति । कतमानि चत्वारि तद्यथा- दुःखसत्यम्, समुदयसत्यम्, निरोधसत्यम्, मार्गसत्यञ्च। कतमत् दुःखसत्यम्? इत्युक्तम् । ''**संक्षेपेण पञ्चोपादानस्कन्धा**

अध्यात्मबहिर्धाचित्ते चित्तानुदर्शी विहरति आतापी संप्रजानन् स्मृतिमान् विनीय लोके अभिध्यादौर्मनस्ये। ४. अध्यात्मधर्मेषु, वहिर्धाधर्मेषु, अध्यात्मबहिर्धाधर्मेषु धर्मानुदर्शी विहरति आतापी संप्रजानन् स्मृतिमान् विनीय लोके अभिध्यादौर्मनस्ये। इमानि भिक्षवश्चत्वारि स्मृत्युपस्थानानि।

--अ.वि.सू., पृ. २८, के.पी.जा.सं.।

[१] द्रष्टव्यम्-- चत्वार्यार्यसत्यानि दुःखं समुदयो निरोधो मार्गश्च।

--अभि.समु., पृ. ३६, वि.भा.प्र. ;

तत्र भिक्षवः कतमानि चत्वार्यार्यसत्यानि? तद्यथा-- दुःखमार्यसत्यम्, दुःखसमुदय आर्यसत्यम्, दुःखनिरोध आर्यसत्यम्, दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपदार्यसत्यम्।

--अ.वि.सू., पृ. १४, को.पी.जा.सं. ;

सूत्रेऽप्येष सत्यानां दृष्टान्त इति। व्याध्यादिसूत्रे। कथम्? ''चतुभिरङ्गैः समन्वागतो भिषक् शल्यापहर्ता राजार्हश्च भवति राजयोग्यश्च, राजाङ्गत्वे च संख्यां गच्छति। कतमैश्चतुर्भिः? आबाधकुशलो भवति, आबाधसमुत्थानकुशलः, आबाधप्रहाणकुशलः, प्रहीणस्य चाबाधस्यायत्यामनुत्पादकुशलः। एवमेव चतुर्भिरङ्गैः समन्वागतस्तथागतोऽर्हन् सम्यक्सम्बुद्धोऽनुत्तरो भिषक् शल्यापहर्तेत्युच्यते। कतमैश्चतुर्भिः? इह भिक्षवस्तथागतोऽर्हन् सम्यक्सम्बुद्ध इदं दुःखमार्यसत्यमिति यथाभूतं प्रजानाति। अयं दुःखसमुदयः, अयं दुःखनिरोधः, इयं दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदार्यसत्यमिति यथाभूतं प्रजानाति'' इति।

--अभि.को.टी., पृ. ८७३-८७४, बौ.भा.प्र. ; महा.व्यु. पृ. २६, भो.सं. ; ध.सं.(म.सू.सं.), पृ. ३३० ।

दुःखम्''[१] इत्युक्तम्। या हि पञ्चोपादानस्कन्धानां लाक्षणिकोत्पत्तिः सा दुःखसत्यम्।[२] जातिरपि सा संस्कारदुःखतया दुःखमिति वेदितव्यम्। एतदेवाभिप्रेत्य पञ्चोपादानस्कन्धा दुःखमिति निर्दिष्टम्। सूत्रे 'जातिर्दुःखम्' इत्यादिनाऽभिहितम्।[३]

समुदयसत्यं कतमत्? **तृष्णा च तस्य समुदयो महान्** इत्याद्याह। **येयं तृष्णा पौनर्भविकी नन्दीरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी, यदुत कामतृष्णा भवतृष्णा विभवतृष्णा चेति**। तस्येति दुःखस्य। अस्याः समस्तदुःखानामुदयो भवतीति (तृष्णा)

---

[१] कस्मात् स्कन्धा उपादानमित्युच्यन्ते। उपादानेन सहितत्वात् स्कन्धा उपादनमित्युच्यन्ते। उपादानं कतमत्। स्कन्धेषु च्छन्दो रागश्च। कस्माच्छन्दो रागश्चोपादानमित्युच्यते। अनागतवर्त्तमानस्कन्धानामभिनिर्वर्त्तनतोऽपरिहारतश्च। अनागतेऽभिलाषाद् वर्त्तमानेऽध्यवसानाच्च च्छन्दो रागश्चोपादानमित्युच्यते। कस्माद् धातव आयतनानि च सोपादानधर्मा इत्युच्यन्ते। तत्र स्कन्धवन्निर्देशः।

--अभि.समु., पृ. २, वि.भा.प्र. १९५० ।

[२] द्रष्टव्यम्-- दुःखसत्यं कतमत्। तत्सत्त्वजन्मतो जन्माधिष्ठानतश्च वेदितव्यम्। सत्त्वजन्म कतमत्। नरकसत्त्वजन्मतिर्यक्प्रेतेषु मनुष्येषु पूर्वविदेहेष्वपरगोदानीयेषु जाम्बूद्वीपेषु उत्तरेषु कुरुषु देवेषु चतुर्माहाराजकायिकेषु त्रायस्त्रिंशेषु यामेषु तुषितेषु निर्माणरतिषु परनिर्मितवशवर्त्तिषु ब्रह्मपुरोहितेषु महाब्रह्मेषु परित्ताभेष्वप्रमाणशुभेषु शुभकृत्स्नेष्वनभ्रकेषु पुण्यप्रसवेषु बृहत्फलेष्वसंज्ञिसत्त्वेष्वबृहेष्वतपेषु सुदृशेषु सुदर्शनेष्वकनिष्ठेष्वाकाशानन्त्यायतनेषु विज्ञानानन्त्यायतनेष्वाकिञ्चन्यायतनेषु नैवसंज्ञानासंज्ञायतनेषु।।

--अभि.समु., पृ. ३६, वि.भा.प्र. १९५०।

[३] द्रष्टव्यम्-- जातिर्दुःखं जरा दुःखं व्याधिर्दुःखं मरणं दुःखम् अप्रियसंप्रयोगो दुःखं प्रियविप्रयोगो दुःखं यदपीच्छन्न लभते तदपि दुःखं संक्षिप्तेन पञ्चोपादानस्कन्धा दुःखम्। जातिः किमुपादाय दुःखम्। संवाधदुःखतां तदन्यदुःखाश्रयतां चोपादाय। जरा किमुपादाय दुःखम्। काले विपरणतिदुःखतामुपादाय। व्याधिः किमुपादाय दुःखम्। भूतेषु विपरिणतिदुःखतामुपादाय। मरणं किमुपादाय दुःखम्। जीवितविप्रणाशदुःखतामुपादाय। अप्रियसंप्रयोगः किमुपादाय दुःखम्। संयोगजदुःखतामुपादाय। प्रियविप्रयोगः किमुपादाय दुःखम्। विप्रयोगजदुःखतामुपादाय। यदपीच्छन्न लभते तत् किमुपादाय दुःखम्। काम्यफलाभावजदुःखतामुपादाय। संक्षिप्तेन पञ्चोपादानस्कन्धाः किमुपादाय दुःखम्। दौष्ठुल्यदुःखतामुपादाय।

--अभि.समु., पृ. ३७, वि.भा.प्र.;

तद्यथा- जातिर्दुःखम्, जरादुःखम्, व्याधिर्दुःखम्, मरणं दुःखम्, प्रियवियोगो दुःखम्, अप्रियसंयोगो दुःखम्, यदपीच्छन् पर्येषमाणे न लभते तदपि दुःखम्, संक्षिप्तेन पञ्चोपादानस्कन्धा दुःखम्।

--अ.वि.सू., पृ. १५, के.पी.जा.सं.।

हेतुरित्यर्थः। महानित्यनेन तृष्णाया आलम्बनबहुत्वं निर्दर्शितम्, अन्यथा नैव युज्यते तस्य महत्त्वम्।[१]

तत्र **पौनर्भविकी** इति पुनर्भवोत्पादिकेत्यभिप्रायः। **नन्दीरागसहगता** सौमनस्यसहगतो राग इत्यर्थः। तत्र **तत्राभिनन्दिनी** इति अस्याः पुनर्भवालम्बकत्वं निर्दिष्टम्। **कामतृष्णेति** या कामधात्वालम्बना। **भवतृष्णेति** या रूपारूप्यधात्वालम्बनेति। **विभवतृष्णा** तावद् आत्मीयाभावमालम्बते।

निरोधसत्यं कतमत्? **निर्वृतिस्तन्निरोधः** इत्युक्तम्। समुदयसत्यस्य यो निरोधः, स निर्वाणमिति। तन्निरोधसत्यमिति ज्ञेयम्, तस्यास्तृष्णायाः सदा निरोधाद् व्युपशमाच्चेति। अत एवात्र तृष्णाक्षयमेव निर्वाणमिति कथनेन सोपधिशेषनिर्वाणमित्यादर्शितं भवति।[२]

---

[१] द्रष्टव्यम्-- इदं खो पन दुक्खसमुदयं अरियसच्चं -यायं तण्हा पोनोब्भविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी। --महा.व.(पालि), पृ. १३, मा.सं. ;

तत्र कतमत् समुदयार्यसत्यम्? येयं तृष्णा पौनर्भविकी नन्दीरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी, यदुत कामतृष्णा भवतृष्णा विभवतृष्णाश्चेति। --बो.च.पं. ९/४६, पृ. २०८, मि.सं. ;

समुदयसत्यं कतमत्। क्लेशःक्लेशाधिपतेयश्च कर्म। प्राधान्यनिर्देशस्तु भगवता तृष्णा पौनर्भविकी नन्दीरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी समुदयसत्यनिर्देशेन निर्दिष्टा। --अभि.समु., पृ. ४३, वि.भा.प्र. ;

दुःखसमुदय आर्यसत्यं कतमत्? तद्यथा-- तृष्णा पौनर्भविकी, नन्दीरागसहगता, तत्रतत्राभिनन्दिनी। इदमुच्यते दुःखसमुदय आर्यसत्यम्। --अ.वि.सू., पृ. १५, के.पी.जा.सं.।

[२] द्रष्टव्यम्-- दुःखनिरोध आर्यसत्यं कतमत्? यदस्या एव तृष्णायाः पौनर्भविक्या नन्दीरागसहगतायास्तत्रतत्राभिनन्दिन्या अशेषतः प्रहाणं, प्रतिनिःसर्गो, व्यन्तीभावः, क्षयो, विरागो, निरोधो, व्युपशमोऽस्तंगमः। इदमुच्यते दुःखनिरोध आर्यसत्यम्।
--अ.वि.सू., पृ. १५, के.पी.जा.सं. ;

निरोधसत्यं कतमत्। लक्षणतः गाम्भीर्यतः संवृतितः परमार्थतः अपरिपूरितः परिपूरितः निरलंकारतः सालंकारतः शेषतः अशेषतः अग्रतः पर्यायतश्च निरोधसत्यं वेदितव्यम्।
--अभि.समु., पृ. ६२, वि.भा.प्र.।

मार्गसत्यं कतमत्? **तदधिगमाय चाष्टाङ्गिकोऽयं मार्गः** इत्युक्तम्।[1] निर्वाणप्रापकं मार्गसत्यं तावद् यो ह्युपर्युक्तः आर्याष्टाङ्गिको मार्ग इत्यर्थः।

यत्नः सदा विधेयश्चतुरार्यसत्यप्रतिवेधायैवम् ।
क्रोडे श्रियश्च येषां गृहस्थास्तरन्ति क्लेशनदीं ज्ञानात् ।।११५।।

इत्यनेन निर्वाणाधिगमाय योज्यते। **एवम्** इति यथोक्ताकारायां मार्गभावनायां सदैव सर्वत्र यत्नः करणीयः। तत्कस्मै प्रयोजनाय? **चतुरार्यसत्यप्रतिवेधाय** चत्वारि आर्यसत्यानि साक्षात्कर्तुम्। यतस्तानि आर्याणां सत्यानि अत आर्यसत्यानीत्युच्यन्ते।[2] यतो हि आर्यैः स्रोत-आपन्नादिभिस्तानि सत्यत्वेन दृष्टानि। कथमस्माभिः राजकार्येषु व्यापृतैर्गृहस्थजनैस्तानि चतुरार्यसत्यानि द्रष्टुं शक्यन्त इति चेत्? **क्रोडे श्रियश्च** इत्याद्युक्तम्। एवं ह्युक्तं यद् राजकार्येषु व्यापृता बिम्बिसारादयो

---

[1] द्रष्टव्यम्-- मार्गसत्यं कतमत्। येन दुःखं परिजानीते समुदयं प्रजहाति निरोधं साक्षात्करोति मार्गं भावयति। एतत् संक्षेपेण मार्गसत्यलक्षणमित्युच्यते। पुनः मार्गः पञ्चविधः। संभारमार्गः प्रयोगमार्गः दर्शनमार्गः भावनामार्गः निष्ठामार्गश्च।

--अभि.समु., पृ. ६५, वि.भा.प्र. ;

तत्र दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपदार्यसत्यं कतमत्? अयमेव सम्यग्दृष्ट्यादिरार्याष्टाङ्गो मार्गः। तद्यथा-- सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्संकल्पः, सम्यक्वाक्, सम्यक्कर्मान्तः, सम्यगाजीवः, सम्यक्स्मृतिः, सम्यक्स्माधिरिति। इदमुच्यते दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपदार्यसत्यम्।

--अ.वि.सू., पृ. १५-१६, के.पी.जा.सं.।

[2] द्रष्टव्यम्-- आर्यसत्यानीति सूत्र उच्यन्ते। कोऽस्यार्थः? आर्याणामेतानि सत्यानि तस्मादार्यसत्यानीति सूत्र एवोक्तम्। किमन्येषामेतानि मृषा? सर्वेषामेतानि सत्यानि; अविपरीतत्वात्। आर्यैस्तु यथैतानि तथा दृष्टानि, नान्यैः। अत आर्याणामेतानि सत्यान्युच्यन्ते न त्वनार्याणाम्; विपरीतदर्शनात्।

"यदार्याः सुखतः प्राहुस्तत् परे दुखतो विदुः।
यत् परे सुखतः प्राहुस्तदार्या दुःखतो विदुः ।।

--अभि.को.भा., पृ. ८७४, बौ.भा.प्र. ;

व्याधिर्ज्ञेयो व्याधिर्हेतुः प्रहेयः स्वास्थ्यं प्राप्यं भेषजं सेव्यमेवम्।
दुःखं हेतुस्तन्निरोधोऽथ मार्गो ज्ञेयं हेयः स्पर्शितव्यो निषेव्यः ।। --म.उ.तं. ४/५२ ।

राजानश्चतुरार्यसत्यज्ञानेन क्लेशौघम् उत्तीर्णवन्तस्तस्मात् त्वयाऽपि यत्न आस्थेय इति।[१]

ये दृष्टार्यसत्याश्च नाविर्भवन्ति तेऽङ्कुरवत् पृथिवीतः ।
नावतरन्ति च गगनात् तेऽपि पृथग्जनाः क्लेशवशा हि पूर्वम् ।।११६।।

इत्यादिना पुरुषार्थतया आर्यमार्गस्य समापादनं प्रदर्शितम्। **नावतरन्ति च गगनात् तेऽपि** इति ते आदित एव परिनिष्पन्नज्ञाना नात्र आयाताः। **नाविर्भवन्ति तेऽङ्कुरवत् पृथिवीतः** इति न शस्यवत् ते पुरुषार्थं विनैव भूमिगर्भाज्जाताः। अथ कथमिति चेत्? पृथग्जनावस्थातः प्रयत्नं विधाय कल्याणमित्राणि संश्रित्य क्लेशनदीमुत्तीर्णवन्तः। अत एव मा भैषीरित्यभिप्रायः।[२] सम्प्रति तावत्--

---

[१] द्रष्टव्यम्--

देवेषु च्युतिदुःखमित्यवगमात् पर्येष्टिदुःखं नृषु प्राज्ञा नाभिलषन्ति देवमनुजेष्वैश्वर्यमप्युत्तमम्।
प्रज्ञायाश्च तथागतप्रवचनश्रद्धानुमान्यादिदं दुःखं हेतुरयं निरोध इति च ज्ञानेन संप्रेक्षणात् ।।
--म.उ.तं. ४/५१ ।

[२] तुलनीयम्--

नैवावसादः कर्त्तव्यः कुतो मे बोधिरित्यतः।

कुतो मे बोधिरिति, कथमहं वराकः सम्यक्संबोधिभाजनम्? बुद्धत्वं हि तीक्ष्णेन्द्रियस्य आरब्धवीर्यस्य अपरिमितपुण्यज्ञानसम्भारैः अतिदुष्करकर्मानुष्ठानैः अनेकैश्च कल्पासंख्येयैः कस्यचित् पुरुषविशेषस्य साध्यं भवति। अहं तु न तादृश इति कथं मद्विधानां तथाविधं बुद्धत्वं संभाव्येत, इत्येवमाकारमनसिकारादवसादो विषादो न कर्तव्यः, महार्थभ्रंशस्य हेतुत्वात्। यथोक्तम्-- अवसादोऽप्यनर्थ इति (शि.समु. ३४)। कस्मात्?

यस्मात्तथागतः सत्यं सत्यवादीदमुक्तवान्।।

यस्मात् तथागतः इदं वक्ष्यमाणं सत्यमवितथमुक्तवान् कथितवान्। कथं ज्ञायते इत्याह-- सत्यावादीति। ज्ञानक्रियासंभवादविपरीतवादी। अतः सत्याभिधानहेतुपदमेतत्। किं तत्सत्यमुक्तवान्--

तेऽप्यासन् दंशमशका मक्षिकाः कृमयस्तथा।
यैरुत्साहवशात् प्राप्ता दुरापा बोधिरुत्तमा ।।

इत्याह। तेऽपि बुद्धा भगवन्तः पूर्वं शाक्यमुनिरत्नशिखिदीपंकरप्रभृतयः संसारसागरावर्तान्तर्गताः पृथग्जनावस्थायां परिभ्रमन्त एवंभूता एवासन् बभूवुः, यैरुत्साहबलात् वीर्योत्कर्षसामर्थ्यात् संभारान् संभृत्य प्राप्ता अधिगता दुरापा दुर्लभप्रतिलम्भा बोधिरुत्तमा अनुत्तरा। आरब्धवीर्यस्य न किंचिद्दुष्करमिति भावः। इदं तत् सत्यम्।

चित्तं हि धर्ममूलं भगवतोक्तमतस्तदपि साधु दमयेच्च ।
भो निर्भय, किं बहुना कथनेन यतोऽयमेव हितोपदेशः[१] ।।११७।।

इत्यनेन संक्षेपेण शिक्षयति। **निर्भय** इति सम्बोधनम्। अयमेव हितः प्रियश्चाववादः। कथमिति चेत्? **तदपि साधु दमयेच्च** इति अकुशलस्थानेभ्यश्चित्तं विनिवार्य कुशलेषु प्रतिष्ठापनीयमित्यर्थः। कुत इति चेत्? **चित्तं हि धर्ममूलं भगवतोक्तम्** इति।[२] हिर्यस्मादित्यर्थः। यतो हि भगवता सर्वेषां कुशलधर्माणां मूलं

किमुताहं नरो जात्या शक्तो ज्ञातुं हिताहितम्।
सर्वज्ञनीत्यनुत्सर्गाद्बोधिं किं नाप्नुयामहम् ।।

किं पुनरहं मनुष्यभूतो जन्मना। शक्तो ज्ञातुं हिताहितमिति। इदं हितमिदमहितम्, शुभमशुभं च कर्मेत्युपदिष्टम्, ज्ञातुमवबोद्धुं समर्थोऽस्मि, इति विचिन्त्य सर्वज्ञस्य सर्ववस्तुतत्त्ववेदिनः नीतिर्नयः उपादेयतत्त्वप्रतिपादनम्। तस्य अनुत्सर्गादपरित्यागात्। तस्य आदानोपादानसेवनादित्यर्थः। बुद्धत्वं नाप्नुयामहम्। काक्का पठनाद् आप्नुयामेवेति। एतद्भगवता रत्नमेघे दर्शितम्--

इह बोधिसत्त्वो नैवं चित्तमुत्पादयति- दुष्प्राप्या बोधिर्मनुष्यभूतेन सता। इदं च मे वीर्यं परीत्तं च हीनं च। कुसीदोऽहम्। बोधिश्च आदीप्तशिरश्चैलोपमेन बहून् कल्पान् बहूनि कल्पशतानि बहूनि कल्पसहस्राणि समुदाचरता समुदानेतव्या। तत्राहमुत्सहे ईदृशं भारमुद्वोढुम्। किं तर्हि बोधिसत्त्वेनैवं चित्तमुत्पादयितव्यम्- येऽपि तेऽभिसंबुद्धास्तथागता अर्हन्तः सम्यक्संबुद्धाः, येऽपि वा अभिसंभोत्स्यन्ते, तेऽपि ईदृशेनैव नयेन, ईदृश्या प्रतिपदा, ईदृशेनेव वीर्येणाभिसंबुद्धाः, यावन्न च ते तथागतभूता एवाभिसंबुद्धाः। अहमपि तथा तथा घटिष्ये, तथा तथा व्यायंस्ये सर्वसत्त्वसाधारणेन वीर्येण सर्वसत्त्वारम्बणेन वीर्येण यथाहमप्यनुत्तरां सम्यक्संवोधिमभिसंभोत्स्ये इति।

--बो.च.पं., ७/१७-१९, पृ. १२०-१२१, मि.सं. ;

दुःखं स्कन्धा उपादत्ताः कर्मक्लेशौ समुद्भवः।
द्वौ निरोधौ च निर्वाणं पक्ष्योऽध्वा सप्तत्रिंशकः।। --ध.धा.द.गी.(पुनरुद्धारः), ७० का.।

[१] द्रष्टव्यम्-

सब्बपापस्स अकरणं कुलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ।। --धम्म., १४/५

[२] तुलनीयम्--

यदुक्तमार्यरत्नमेघे-- चित्तपूर्वंगमाः सर्वधर्माः। चित्ते परिज्ञाते सर्वधर्माः परिज्ञाता भवन्ति। अपि च--

चित्तेन नीयते लोकश्चित्तं चित्तं न पश्यति।
चित्तेन चीयते कर्म शुभं वा यदि वाशुभम्।।

चित्तं भ्रमते अलातवत्। चित्तं विभ्रमते तरंगवत्। चित्तं दहते दवाग्निवत्। चित्तं रोहयते (हरते) महाम्बुवत्।

चित्तमेव निर्दर्शितं, तस्मात्त्वया चित्तस्य सम्यग् दमनं कर्तव्यम्, यथा-- **''मनःपूर्वङ्गमा धर्माः''**[1] इति। अतः चित्तप्रसादेन सर्वसुखं विक्षिप्तचित्तेन च सर्वं दुःखमिति संक्षेपार्थः।

एवं व्युपपरीक्ष्यमाणश्चित्ते सूपस्थितस्मृतिर्विहरति, न च चित्तस्य वशं गच्छति। अपि तु चित्तमेवास्य वशं गच्छति। चित्तेनास्य वशीभूतेन सर्वे धर्मा वशीभवन्तीति।

--बो.च.पं.(उद्धृतः), पृ. ५२, मि.सं. ;

अपि च--

तस्मात्स्वधिष्ठितं चित्तं मया कार्यं सुरक्षितम्।
चित्तरक्षाव्रतं मुक्त्वा बहुभिः किं मम व्रतैः ।। १८।।

एवमुत्पादितबोधिचित्तेन शिक्षारक्षणे यत्नवता मनसि कर्तव्यम्-- स्वधिष्ठितं स्मृत्या सुरक्षितं संप्रजन्येन वक्ष्यमाणरीत्या मया स्वचित्तं कर्तव्यं तदेकाग्रमानसेन। अत्रैव सर्वेषामन्तर्भावात्। अतश्चित्तरक्षणमेव प्रधानं व्रतम्। तद्विहाय किमन्यैर्व्रतैर्बहुभिरपि मम प्रयोजनम्? न किंचित्। तद्रहितस्य निष्फलत्वात्। एतावती चेयं बोधिसत्त्वशिक्षा यदुत चित्तपरिकर्म। एतन्मूलत्वात् सर्वसत्त्वार्थानाम्। तद्यथा धर्मसंगीतिसूत्रे कीर्तितम्-- मतिविक्रमबोधिसत्त्व आह-- योऽयं धर्मो धर्म इत्युच्यते, नायं धर्मो देशस्थो न प्रदेशस्थोऽन्यत्र स्वचित्ताधीनो धर्मः। तस्मान्मया स्वचित्तं स्वाराधितं स्वधिष्ठितं सुपरिजितं सुसमारब्धं सुनिगृहीतं कर्तव्यम्। तत्कस्य हेतोः? यत्र चित्तं तत्र गुणदोषाः। तद्बोधिसत्त्वो दोषेभ्यश्चित्तं निवार्य गुणेषु प्रवर्तयति। तदुच्यते-- चित्ताधीनो धर्मः, धर्माधीना बोधिरिति। एवं चित्तायत्ततां सर्वत्र निश्चित्य चित्तदृढतायामुदाहरणमाह--

यथा चपलमध्यस्थो रक्षति व्रणमादरात्।
एवं दुर्जनमध्यस्थो रक्षेच्चित्तव्रणं सदा ।। १९।। --बो.च.पं., पृ. ५५, मि.सं. ;

फन्दनं चपलं चित्तं दूरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी, उसुकारो व तेजनं।।

दुन्निग्गहस्स लहुनो, यत्थकामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं।। --धम्म. ३/१, ३ ;

चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते।। --लं.सू., १०/१४५ ;

चित्तेन नीयते लोकः, चित्तेन परिकृष्यते।
एकधर्मस्य चित्तस्य सर्वधर्मा वशानुगाः।। --अभि.को.स्फु.(सं.नि.१.२.७), पृ. १३८, बौ.भा.प्र.।

[1] द्रष्टव्यम्--

मनःपूर्वंगमा धर्मा मनःश्रेष्ठा मनोजवाः।
मनसा चेत्प्रदुष्टेन भाषते वा करोति वा।

यन्मयोपदिष्टं तत्सप्रयासैरपि भिक्षुभिर्दुःसाध्यम् ।
चर्यागुणान् सेवस्व शिक्षामाचर जीवनं च कुरु सार्थम् ।।११८।।

यन्मयोपदिष्टम् इत्यादिनैवमुक्तम्। यावन्तो मया धर्मा देशिताः, न केवलं सर्वेषां तेषां साधनेन तथागतशासनेऽवस्थानं भवति, अपितु साधितेऽप्येकधर्मे अवस्थितिर्भवति। यतो हि तत् सर्वं (धर्मजातं) तु त्यक्तगृहैर्भिक्षुभिरपि दुःसाध्यम्, का कथा तावद् गृहस्थानामिति। अत एव तेषु (उपदिष्टेषु धर्मेषु) कस्यचन एकस्य शिक्षापदगुणस्य यथासामर्थ्यं भावनां कृत्वा तत्प्रतिपत्त्या जीवनं सफलीकुर्वीत। तदेव सर्वधर्माणां प्राप्तिहेतुर्भविष्यतीत्यभिप्रायः।

एवं धर्मदेशनया चित्तं प्रमुदितं कृत्वा महायाने प्रवेशाय अध्याशयमुत्पादयितुमाह--

सर्वेषां कुशलानि तु सर्वार्थमनुमोद्य स्वचर्यात्रयीं च ।
बुद्धत्वाय परिणाम्य[1] ततस्तदनेन पुण्यराशिना भवता ।।११९।।

ततस्तं दुःखमन्वेति चक्रं वा वहतः पदम्।। १३।।
मनःपूर्वंगमा धर्मा मनःश्रेष्ठा मनोजवाः।
मनसा चेत्प्रसन्नेन भाषते वा करोति वा।
ततस्तं सुखमन्वेति छाया वा अनुयायिनी।। १४।।
--महा.क.वि.सू.(म.सू.सं.), पृ. १८८, मि.सं.।

[1] तुलनीयम्--
पारंपर्येण साक्षाद्वा सत्त्वार्थं नान्यदाचरेत्।
सत्त्वानामेव चार्थाय सर्वं बोधाय नामयेत्।।
अन्ततः स्वयमाहारादिक्रियया परप्रेरणया अपरापरदूतप्रेरणया वा, साक्षात् स्वयमेव आमिषदानादिना वा, यत् सत्त्वानां हितसुखहेतुर्न भवति, तन्न कुर्यात् कारयेद्वा। न चैतदेव केवलम्। किंचित् सत्त्वानामेव संसारदुःखपतितानां ततो निःसरणाय सर्वं कुशलमूलमनुत्तरायां सम्यक्संबोधौ परिणामयेत्।
--बो.च.पं., ५/१०१, पृ. ७६, मि.सं. ;
बोधिचर्यावतारं मे यद्विचिन्तयतः शुभम्।
तेन सर्वे जनाः सन्तु बोधचर्याविभूषणाः।। --बो.च., १०/१ ।

जन्मस्वप्रमेयेषु देवनरलोकयोगिनश्च वशीकृत्य ।
दुःखिनोऽनुग्राह्यास्त्वसहाया अवलोकितेश्वरचर्याभिः[1] ।।१२०।।

इति। 'यावन्ति संसारे कानिचित् सास्रवाणि, अनास्रवाणि लौकिकानि लोकोत्तराणि कुशलानि तानि सर्वाणि यथा सम्यक्संबुद्धैरनुमोदितानि तथैव अहमपि अनुत्तरयाऽनुमोदनया अनुमोदे' इत्यादिभिः अनुमोदनापदैरनुमोदयितव्यम्। अहं बुद्धो भवेयम् अनाथानां नाथः, अशरणानां शरणः, अत्राणानां परित्राता, अनिकेतानां निकेतः **स्वचर्यात्रयीं च बुद्धत्वाय परिणाम्य** इत्यनुमोदनापरिणामनासम्भूतेन अनेन पुण्यस्कन्धेन त्वम् अपरिमितायुर्भव इति[2] व्याख्यातव्यम्।

केन क्रमेणेति चेद्? इत्याह-- **जन्मस्वप्रमेयेषु** इति। असंख्येयानि जन्मानि गृहीत्वा। कुत्र? **देवनरलोकयोगिनश्च वशीकृत्य** इति सर्वत्र देवेलोके मनुष्यलोके च योगैश्वर्यमधिगत्य बोधिसत्त्वसमाधिमाहात्म्येन धातुत्रयं वशीकृत्य। अन्यच्च--

---

१ द्रष्टव्यम्--

दशदिग्व्योमपर्यन्तसर्वसत्त्वार्थसाधने।
यथा चरति मञ्जुश्रीः सैव चर्या भवेन्मम।। --बो.च., १०/५४ ;

पारंपर्येण साक्षाद्वा सत्त्वार्थ नान्यदाचरेत्।
सत्त्वानामेव चार्थाय सर्वं बोधाय नामयेत्।। --बो.च., ५/१०१।

२ तुलनीयम्--

अनाथानामहं नाथः सार्थवाहश्च यायिनाम्।
पारेप्सूनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च।।
दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम्।
दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम्।।
चिन्तामणिर्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधिः।
भवेयं कल्पवृक्षश्च कामधेनुश्च देहिनाम् ।। --बो.च. ३/१७-१९ ;

सर्वासु दिक्षु यावन्तः कायचित्तव्यथातुराः।
ते प्राप्नुवन्तु मत्पुण्यैः सुखप्रामोद्यसागरान्।।
आकाशस्य स्थितिर्यावद्यावच्च जगतः स्थितिः।
तावन्मम स्थितिर्भूयाज्जगद्दुःखानि निघ्नतः ।।
--बो.च., १०/२, ५५ का. ।

दुःखिनोऽनुग्राह्यास्त्वसहाया अवलोकितेश्वरचर्याभिः इति यथा भगवान् आर्यावलोकितेश्वरः करुणार्द्रचित्तेन सिंह-गज-सर्पाग्नि-चौर-बन्धन-जल-राजादिभिः विविधान् अनेकान् सत्त्वान् परित्रायते, तथैव त्वमपि आर्तसत्त्वान् अनुगृहाण। एवमत्र पूर्वेण तावत् बुद्धधर्माणां परिपाकः उत्तरेण च सत्त्वपरिपाकः प्रतिपादितः।

एवं सम्भारसमृद्ध्या चरमभविको भूत्वा व्याधिजरादिधर्मान् परिहृत्य लोकनाथो भव, इत्याह--

चरमं भवं गृहीत्वा व्याधिजरारागद्वेषांश्च प्रहाय ।
बुद्धक्षेत्रे भगवानमिताभ इव लोकेशोऽमितायुर्भव ।।१२१।।

इति। कुत्र लोकनाथः स्यादिति चेत्? परिशुद्धे बुद्धक्षेत्र इति। किंविशिष्ट इति? **लोकेशोऽमितायुः** इति सुखावत्यां यथा भगवान् अमिताभस्तथा बुद्धो भव। अथवा जरारोगादीन् निराकृत्य बुद्धक्षेत्रं च शोधयित्वेति। एवं परिशोध्य तत्र बुद्धक्षेत्रे उत्पद्य चरमभवे लोकनाथो भवेति। कुत्रेति चेद्? बुद्धक्षेत्रे स्वकृतकुशलमूलैः परिशुद्धे। किंविशिष्टः? **अमितायुः** इति सुखावत्यां यथा भगवान् अमिताभस्तादृशो बुद्धो भवेदित्यर्थः। अथवा रोगादीन् निराकृत्य बुद्धक्षेत्रं च परिशोध्येत्येवं तत्र परिशुद्धे बुद्धक्षेत्रे समुत्पद्य चरमभवे लोकेशो जगन्नाथो भव।

प्रज्ञाशीलत्यागोद्भूतविमलख्यातिं भुवि खे स्वर्गे च ।
लोके प्रसार्य शमयन् नरान् युवतिसुखरतदेवांश्च भूमौ ।।१२२।।

इत्येवं यथोक्तं बुद्धत्वपदमवाप्य यथोचितं काले अनन्तसत्त्वानामर्थं संसाध्य यथा बुद्धेन परिनिर्वाणमधिगतं तथैव (त्वमपि) परिनिर्वाणं प्राप्नुहीति देशितम्। तत्र **प्रज्ञाशीलत्यागोद्भूतविमलख्यातिम्,** इति योजनीयम्। एवंविधः स भगवान् प्रज्ञा (विद्या) सम्पन्नः, निर्वेधभागीयप्रज्ञया समन्वितत्वात्। स च शीलसम्पन्नोऽपि अनुपहतादिगुण-विशिष्टानुत्तरशीलस्कन्धसम्पन्नत्वात्। एवमेव स भगवान् त्यागसम्पन्नः, यतो हि सर्वं तेन परित्यक्तम्। एवं प्रसादितेषु गुणेषु प्रसन्नमनसा अनुरक्तिजननार्थं

विमला कीर्तिः प्रसारिता परिवर्धितेत्यर्थः। **विमल** इति अनुपमत्वमादर्शितम्। पुनः कुत्र प्रसार्यत इति चेद्? देवभूमौ स्वर्गे, आकाशेऽन्तरिक्षे पृथिव्यां मनुष्यलोके च। अपि च, भूमौ मनुष्यलोके मनुष्यान् स्वर्गे च देवान् निश्चितं शमयन्नित्यनेन योज्यम्। कीदृशो विशेष इति? **युवतिसुखरते**ति उत्तमाभिर्युवतिभिः सह सुखानुभूतिस्तु उत्तमयुवतिरतिसुखेन आनन्दानुभव इत्यनेन आनन्दिता प्रमत्ता देवा मनुष्याश्च प्रशमनीया इति शीलादिषु स्थाप्या इत्यर्थः। नियमेन आर्यधर्मेषु प्रतिष्ठापनं सन्दर्शितम्। अत एवोक्तं देवा मनुष्याश्च, आर्यधर्मभाजनीभूतत्वात्तेषाम्। अन्यथा असुरा अपि उत्तमयुवतिरतिसुखेन आनन्दिता भवन्त्येव। एवं लोके महती कीर्तिर्विस्तारिता देवमनुष्याणां हितमपि निर्दिष्टम्।

क्लेशोपहतसत्त्वस्य जातिभयमरणनाशकं जिनेन्द्राख्यम् ।
लोकोत्तरमक्लिष्टं शान्ताभयाक्षयनामैव पदमाप्नुहि ।।१२३।।

इत्यनेन पूर्वागत एवार्थो वेदितव्यः। पदार्थयोः क्रमयोगस्तावदेवम्-- तथाविधं जगन्नाथत्वमवाप्य महतीं कीर्तिमपि प्रसार्य देवमनुष्यानपि शमयित्वा निर्वाणपदं प्राप्नुयादिति।[1] **तत्र क्लेशोपहतसत्त्वस्य** इति क्लेशपीडिताः सन्ति प्रायशः सत्त्वाः।

---

१ द्रष्टव्यम्--

इयं सानुत्तरा बोधिः सर्वबुद्धैः प्रकाशिता।
भावनां भावयित्वेह निर्वाणं लभते शिवम्।।
यावन्तः संवृतेर्दोषास्तावन्तो निर्वृतेर्गुणाः।
निर्वृतिः स्यादनुत्पत्तिः सर्वदोषैर्न लिप्यते ।।
--नैरा.परि.महा.सू.(म.सू.सं.), २५-२६ का. ;

चित्तमेव संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं निर्वाणमिति कथ्यते।।
--त.सं.पं., पृ. २३०, बौ.भा.प्र., १९८१ ;

अप्रहीणमसम्प्राप्तम् अनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अनिरुद्धमनुत्पन्नम् एतन्निर्वाणमुच्यते।।

यद्धि नैव प्रहीयते रागादिवत्. नापि प्राप्यते श्रामण्यफलवत्, नाच्युच्छिद्यते स्कन्धादिवत्, यच्चापि न नित्यमशून्यवत्, तत् स्वभावतोऽनिरुद्धमनुत्पन्नं च निर्वाणमुक्तम्। तत् कुतस्तस्मिन्नित्थंविधे निष्प्रपञ्चे

जातिभयमरणानां नाशकमिति तावत् **जातिभयमरणनाशकम्** । यस्मिन् (निर्वाणे) तत्प्रहाणस्वभावस्तत्तथा। पुनरत्र भयं तु सत्कायदृष्ट्याऽऽनीतम्। जातिस्तावद् अविद्यातः कर्मतः तृष्णातश्च प्रभवति। मरणं तु केषाञ्चित् कर्मक्षयात् केषाञ्चिदायुःपरिक्षयात् केषाञ्चिच्च विषमापरिहाराच्च त्रिधा वेदितव्यम्। बुद्धेन भगवता तेषां सत्त्वानां हिताय तेषां प्रहाणं कृतम्। **लोकोत्तरम्** इत्यादि सर्वाण्यपि निर्वाणस्यैव विशेषणपदानि। तत्र लोकोत्तरमिति निरुपधिशेषनिर्वाणधातौ लोकनिरोधात्। सोपधिशेषमपि लौकिकचित्तेनाज्ञेयत्वाल्लोकोत्तरं तथापि तन्नात्र परिगृह्यते बुद्धत्वेन संगृहीतत्वात्। **नामैव** नाममात्रमित्यनेन तद्भावनिराकरणम्। यथोक्तं सूत्रे-- **"पञ्चेमानि (भिक्षवः) नाममात्राणि अतीतानागतनिर्वाणाप्रतिसंख्यानिरोधपुद्गलाश्च"** इति। **शान्तम्** प्रपञ्चैरबाधितत्वात्। **अभयम्** तावत् भेतव्याभावात्। **अक्लिष्टम्** इति अनास्रवम्।

क्लेशकल्पना येषां क्लेशानां प्रहाणान्निर्वाणं भवेत्? कुतो वा स्कन्धकल्पना, तत्र येषां स्कन्धानां निरोधात् तद्भवेत्? यावद्धि एताः कल्पना प्रवर्तन्ते तावन्नास्ति निर्वाणाधिगमः, सर्वप्रपञ्चपरिक्षयादेव तदधिगमात्। .... यदा चैव बुद्धा भगवन्तः सर्वप्रपञ्चोपशान्तरूपे निर्वाणे शिवेऽस्थानयोगेन नभसीव हंसराजाः स्थिताः स्वपुण्यज्ञानसम्भारपक्षपातवाते वातगगने वा गगनस्याकिञ्चनत्वात्, तदा सर्वनिमित्तानुपलम्भात्र क्वचिद्देवेषु वा मनुष्येषु वा न कस्यचिद्देवस्य वा न कश्चिद्धर्मः सांक्लेशिको वा वैयवदानिको वा देशित इति विज्ञेयम्। यथोक्तमार्यतथागतगुह्यसूत्रे-- "यां च रात्रिं शान्तमते, तथागतोऽनुत्तरां सम्यक्सम्वोधिमभिसम्बुद्धः, यां च रात्रिमनुपादाय परिनिर्वास्यति, अत्रान्तरे तथागतेनैकमप्यक्षरं नोदाहृतम् नापि प्रव्याहरति, नापि प्रव्याहरिष्यति। अथ च यथाधिमुक्ताः सर्वसत्त्वा नानाधात्वाशयास्तां तां विविधां तथागतवाचं निश्चरन्तीं संजानन्ति। तेषामेव पृथक् पृथग्भवति-- 'अयं भगवानस्मभ्यमिमं धर्मं देशयति, वयं च तथागतस्य धर्मदेशनां श्रृणुमः'। तत्र तथागतो न कल्पयति न विकल्पयति। सर्वकल्पजालवासनाप्रपञ्चविगतो हि शान्तमते तथागतः" इति विस्तरः। तथा--

अवाचऽनक्षराः सर्वशून्याः शान्तादिनिर्मलाः।
य एवं जानाति धर्मान् कुमारो बुद्ध सोच्यते।। ....

उक्तं च भगवता--

अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम्।
आकाशेन कृतो ग्रन्थिराकाशेनैव मोचितः ।।

--म.शा.वृ., पृ. २२९, २३७, बौ.भा.प्र. १९८३।

अक्षयम् इति नित्यत्वाद् विकाररहितत्वाच्च। एतादृशं निरुपधिशेषनिर्वाणधातुपदं प्राप्नुयादित्यर्थः।

इति आचार्यमहामतिना कृता व्यक्तपदा सुहृल्लेखटीका समाप्ता।।

भारतीयाचार्यसर्वज्ञदेवेन भोटानुवादकेन भन्ते पलचेग-महादयेन अनूद्य सुनिर्णीता।

भवतु सर्वमङ्गलम्

༄༅། །མགོན་པོ་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛད་པའི་
བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག་གི་
རྩ་བ་བཞུགས་སོ།།

नापनेयमतः किञ्चित् प्रक्षेप्तव्यं न किञ्चन।
द्रष्टव्यं भूततो भूतं भूतदर्शी विमुच्यते।।

--अभिसमयालंकार, ५/२१

རྒྱ་གར་སྐད་དུ། སུཧྲྀལླེཁ། བོད་སྐད་དུ། བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག
འཇམ་དཔལ་གཞོན་ནུར་གྱུར་པ་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ།།

ཡོན་ཏན་རང་བཞིན་དགེ་འོས་བདག་གིས་ནི།།
བདེ་བར་གཤེགས་པའི་གསུང་བསྟན་ལས་བྱུང་བའི།།
བསོད་ནམས་འདུན་སླད་འཕགས་པའི་དབྱངས་འདི་དག།
ཉུང་ཟད་ཅིག་བསྙེབས་ཁྱོད་ཀྱིས་གསན་པའི་རིགས།། ༡ །།

ཇི་ལྟར་བདེ་གཤེགས་སྐུ་གཟུགས་ཤིང་ལས་ཀྱང་།།
བགྱིས་པ་ཅི་འདྲའང་རུང་སྟེ་མཁས་པས་མཆོད།།
དེ་བཞིན་བདག་གི་སྙན་ངག་འདི་ངན་ཡང་།།
དམ་ཆོས་བརྗོད་ལ་བརྟེན་སླད་སྨད་མི་བགྱི[1]།། ༢ །།

ཐུབ་པ་ཆེན་པོའི་བཀའ་ནི་སྨན་[2]དགུ་ཞིག།
ཁྱོད་ཀྱིས་[3]ཐུགས་སུ་ལྟ་ཡང་ཆུད་མོད་ཀྱི།།

---

[1] བགྱིད་ སྣར་ཐང་དཔར་མ།

[2] སྨན་ སྡེ་དགེ། གསེར་བྲིས།

[3] ཀྱི་ སྡེ། སྣ། གསེར་བྲིས།

རྡོ་ཐལ་ལས་བགྱིས་དགུང་ཟླའི་འོད་ཀྱིས་ནི།།
ཆེས་དཀར་ཉིད་དུ་ཅི་སྟེ་མི་བགྱིད་[1]ལགས།། ༣།

རྒྱལ་བས་སངས་རྒྱས་ཆོས་དང་དགེ་འདུན་དང་།།
གཏོང་དང་ཚུལ་ཁྲིམས་ལྷ་རྗེས་དྲན་པ་དྲུག།
རབ་ཏུ་བཀའ་སྩལ་དེ་དག་སོ་སོ་ཡི།།
ཡོན་ཏན་ཚོགས་ཀྱིས་རྗེས་སུ་དྲན་པར་བགྱི།། ༤ །།

དགེ་བའི་ལས་ལམ་བཅུ་པོ་ལུས་དང་ནི།།
ངག་དང་ཡིད་ཀྱིས་རྟག་ཏུ་བསྟེན་[2]བགྱི་ཞིང་།།
ཆང་རྣམས་ལས་ལྡོག་དེ་བཞིན་དགེ་བ་ཡི།།
འཚོ་བ་ལ་ཡང་མངོན་པར་དགྱེས་པར་མཛོད།། ༥ །།

ཡོངས་སྤྱོད་གཡོ་བ་སྙིང་པོ་མེད་མཁྱེན་ནས།།
དགེ་སློང་བྲམ་ཟེ་བཀྲེན་དང་བཤེས་རྣམས་ལ།།

---

[1] བགྱིས་ སྣར་ཐང་།
[2] བརྟེན་ སྣར་ཐང་།

སྦྱིན་པ་ཚུལ་བཞིན་སྐྱལ་[1]བགྱི་ཕ་རོལ་དུ[2]།།
སྦྱིན་ལས་གཞན་པའི་གཉེན་མཆོག་མ་མཆིས་སོ།། ༦ །།

ཁྱོད་ཀྱིས་[3]ཚུལ་ཁྲིམས་མ་ཉམས་མོད་མི་དམའ།།
མ་འདྲིས་མ་སྤྲགས་[4]པ་དག་བསྟེན་[5]པར་མཛོད།།
ཁྲིམས་ནི་རྒྱུ་དང་མི་རྒྱུའི་ས་བཞིན་དུ།།
ཡོན་ཏན་ཀུན་གྱི་གཞི་རྟེན་ལགས་པར་གསུངས།། ༧ །།

སྦྱིན་དང་ཚུལ་ཁྲིམས་བཟོད་བརྩོན་བསམ་གཏན་དང་།།
དེ་བཞིན་ཤེས་རབ་གཞལ་མེད་ཕ་རོལ་ཕྱིན།།
འདི་དག་རྒྱས་མཛོད་སྲིད་པའི་རྒྱ་མཚོ་ཡི།།
ཕ་རོལ་ཕྱིན་པ་རྒྱལ་བའི་དབང་པོ་[6]མཛོད།། ༨ །།

1	རྩལ་	སྣ། གསེར་བྲིས།
2	དུ།	སྣ། ཅོ་ནེ།
3	ཀྱི་	སྡེ་དགེ
4	སྐྱགས་	སྣ། གསེར་བྲིས།
5	བསྟན་	སྣར་ཐང་།
6	པོར་	མི་རིགས།

གང་ལ་ཕ་དང་མ་དག་མཆོད་བྱེད་པའི[1]།།
རིགས་དེ་ཚངས་བཅས་སློབ་དཔོན་བཅས་པའང་ལགས།།
དེ་དག་ལ་མཆོད་གྲགས་པར་འགྱུར་བ་དང་།།
སླད་མ་ལ་ཡང་མཐོ་རིས་འགྱུར་པ་ལགས།། ༩ །།

འཚེ་[2]དང་ཆོམ་རྐུན་འཁྲིག་པ་བརྫུན་དང་ནི།།
ཆང་དང་དུས་མིན་ཟས་ལ་ཆགས་པ་དང་།།
མལ་སྟན་མཐོ་ལ་དགའ་དང་གླུ་དག་དང་།།
གར་དང་ཕྲེང་བའི་ཁྱད་པར་རྣམས་སྤོང་ཞིང་།། ༡༠ །།

དགྲ་བཅོམ་ཚུལ་ཁྲིམས་རྗེས་སུ་བྱེད་པ་ཡི་།།
ཡན་ལག་བརྒྱད་པོ་འདི་དག་དང་ལྡན་ན།།
གསོ་སྦྱོང་འདོད་སྤྱོད་ལྷ་ལུས་[3]ཡིད་འོང་བ།།
སྐྱེས་པ་བུད་མེད་དག་ལ་སྩོལ་བར་བགྱིད།། ༡༡ །།

སེར་སྣ་གཡོ་སྒྱུ་ཆགས་དང་སྙོམ་[4]ལས་དང་།།
མངོན་པའི་ང་རྒྱལ་འདོད་ཆགས་ཞེ་སྡང་དང་།།

---

[1] མཆོད་པ་ཡི། མི་རིགས། རྡོར་གླིང་།
[2] ཚེ་ སྣར་ཐང་།
[3] ལྷ་ཡུལ་ སྣར་ཐང་།
[4] སྙོམས་ སྣར་ཐང་།

རིགས་དང་གཟུགས་དང་ཐོས་པ་ཡང་ཚོ་དང་།།
དབང་ཐང་ཆེ་བས་རྒྱགས་པ་དགྲ་བཞིན་གཟིགས།། ༡༧ །།

བག་ཡོད་བདུད་རྩིའི་གནས་ཏེ་བག་མེད་པ།།
འཆི་བའི་གནས་སུ་ཐུབ་པས་བཀའ་སྩལ་ཏོ།།
དེ་བས་ཁྱོད་ཀྱི་དགེ་ཆོས་སྤེལ་སླད་དུ།།
གུས་པས་རྟག་ཏུ་བག་དང་བཅས་པར་མཛོད།། ༡༨ །།

གང་ཞིག་སྔོན་ཆད་བག་མེད་གྱུར་པ་ལ[1]།།
ཕྱི་[2]ནས་བག་དང་ལྡན་པར་གྱུར་དེ་[3]ཡང་།།
ཟླ་བ་སྤྲིན་བྲལ་ལྟ་བུར་རྣམ་མཛེས་ཏེ།།
དགའ་བོ་སོར་ཕྲེང་མཐོང་ལྡན་བདེ་བྱེད་བཞིན།། ༡༩ །།

འདི་ལྟར་བཟོད་མཚུངས་དཀའ་ཐུབ་མ་མཆིས་པས།།
ཁྱོད་ཀྱིས་ཁྲོ་བའི་གོ་སྐབས་དབྱེ་མི་བགྱི།།[4]

---

[1] ལས སྣ། མི་རིགས།

[2] ཕྱིས་ སྣ།

[3] ཏེ་ སྡེ། སྣ། གསེར་བྲིས།

[4] དབྱེ་མེད་བགྱིད། མི་རིགས་དང་། དབྱེ་མི་བགྱིས་ རོར་གླིང་།

ཁྲོ་བ་སྤངས་པས་ཕྱིར་མི་ལྡོག་པ་ཉིད།།
འཐོབ་པར་འགྱུར་བར་སངས་རྒྱས་ཞལ་གྱིས་བཞེས།། ༡༥ །།

བདག་ནི་འདིས་སྤྱོས་འདིས་བཏགས་[1]ཕམ་པར་བྱས།།
འདི་ཡིས་བདག་གི་ནོར་ཕྲོགས་གྱུར་ཏོ་[2]ཞེས།།
ཁོན་དུ་འཛིན་པས་འཁྲུག་ལོང་རྣམས་[3]བསྐྱེད་དེ།།
ཁོན་འཛིན་རྣམ་སྤངས་བདེ་བར་གཉིད་ཀྱིས་ལོག།། ༡༦ །།

སེམས་ཅན་[4]ཆུ་དང་ས་དང་རྡོ་བ་ལ།།
རི་མོ་བྲིས་པ་དེ་འདྲར་རིག་[5]པར་བགྱི[6]།།
དེའི་ནང་ཉོན་མོངས་ཅན་ལ་དང་པོ་ནི།།
མཆོག་སྟེ་ཆོས་འདོད་རྣམས་ལ་ཐ་མ་ལགས།། ༡༧།།

རྒྱལ་བས་སྙིང་ལ་འབབ་དང་བདེན་པ་དང་།།
ལོག་པར་སྨྲ་ལྡན་སྐྱེས་བུ་རྣམས་ཀྱི་[7]ནི།།

---

[1] གཏག་ སྡེ་དགེ
[2] ཏེ་ སྡེ་དགེ
[3] རྣམ་ སྡེ་དགེ
[4] སེམས་ནི་ སྣར་ཐང་།
[5] རིགས་ མི་རིགས། རྡོར་གླིང་།
[6] གྲིས། སྣར་ཐང་།

སྲུང་རྩི་མེ་རྟོག་མི་གཙང་ལྷ་བུའི་ཚིག།
རྣམ་གསུམ་བཀའ་སྩལ་དེ་ལས་ཐ་མ་སྤྱང་[1]།། ༡༨ །།

སྣང་ནས་སྣང་བའི་མཐར་ཐུག་སྨུན་པ་ནས།།
སྨུན་པའི་མཐར་ཐུག་སྣང་ནས་སྨུན་མཐར་ཐུག།
སྨུན་ནས་སྣང་བའི་མཐར་ཐུག་གང་ཟག་ནི།།
བཞི་[2]སྟེ་དེ་དག་རྣམས་ཀྱི་དང་པོ་མཛོད།། ༡༩ །།

མི་ནི་ཨ་མྲའི་འབྲས་བཞིན་མ་སྨིན་ལ།།
སྨིན་པ་དང་འདྲ་སྨིན་ལ་མ་སྨིན་འདྲ།།
མ་སྨིན་མ་སྨིན་པར་སྣང་སྨིན་ལ་ནི།།
སྨིན་པར་སྣང་ཞེས་བགྱི་བ་འདྲ་རྟོགས་མཛོད།། ༢༠ །།

གཞན་གྱི་ཆུང་མ་མི་ལྷ་མཐོང་ན་ཡང་།།
ན་ཚོད་མཐུན་པར་མ་དང་བུ་མོ་དང་།།
སྲིང་མོའི་འདུ་ཤེས་བསྐྱེད་བགྱི་ཆགས་གྱུར་ན།།
མི་གཙང་ཉིད་དུ་ཡང་དག་བསམ་པར་བགྱི།། ༢༡ །།

---

[7] ཀྱིས་ སྣ། གསེར།

[1] སྤྱངས། གསེར་བྲིས།

[2] གཞི་ སྡེ་དགེ

གཡོ་བའི་སེམས་ནི་ཐོས་མཆུངས་བུ་ལྷ་བུར།།
གཏེར་བཞིན་སྲོག་དང་འདྲ་བར་བསྲུང་བགྱི་སྟེ།།
གདུག་པ་དུག་དང་མཚོན་དང་དགྲ་བོ་དང་།།
མེ་བཞིན་འདོད་པའི་བདེ་ལ་ཡིད་འབྱུང་མཛོད།། ༢༧ །།

འདོད་པ་རྣམས་ནི་ཞུང་ཁྲོལ་བསྐྱེད་[1]པ་སྟེ།།
རྒྱལ་བའི་དབང་པོས་ཀིམྤའི་འབྲས་འདྲར་གསུངས།།
དེ་དག་སྤང་[2]བགྱི་དེ་ཡང་ལྕགས་སྒྲོག་[3]གིས།།
འཁོར་བའི་བཙོན་རར་འཛིག་རྟེན་འདི་དག་བཅིངས།། ༢༨ །།

གང་དག་དབང་པོ་དྲུག་ཡུལ་རྣམས་ལ་ནི།།
རྟག་ཏུ་མི་བརྟེན་གཡོ་དང་གང་དག་ཅིག།
གཡུལ་ངོར་དགྲ་ཚོགས་ལས་རྒྱལ་དེ་དག་ལས།།
མཁས་རྣམས་དང་པོ་དཔའ་རབ་ལགས་པར་འཚལ།། ༢༩ །།

---

[1] སྐྱེད་ སྣར་ཐང་།
[2] སྤངས་ སྣ། གསེར་བྲིས།
[3] སྒྲོགས་ གསེར་བྲིས།

བུད་མེད་གཞོན་ནུའི་ལུས་ནི་ཡོགས་ཤིག་ཏུ།།
དྲི་ང་བ་དང་སྣོ་དགུ་ཇོད་པ་དང་།།
མི་གཙང་ཀུན་སྣོད་འདྲ་བ་དགང་དཀའ་དང་།།
པགས་པས་གཡོགས་དང་རྒྱན་ཡང་ཡོགས་ཤིག་གཟིགས།། ༣༥ །།

ཇི་ལྟར་མཛེ་ཅན་སྲིན་བུས་ཉེན་པ་ནི།།
བདེ་བའི་དོན་དུ་མེ་ལ་ཀུན་བསྟེན་ཀྱང་།།
ཞི་བར་མི་འགྱུར་དེ་དང་འདྲ་བར་ནི།།
འདོད་པ་རྣམས་ལ་[1]ཆགས་པའང་མཁྱེན་པར་མཛོད།། ༣༦ །།

དོན་དམ་གཟིགས་པར་བགྱི་སླད་དངོས་རྣམས་ལ།།
ཚུལ་བཞིན་ཡིད་ལ་བགྱིད་[2]པ་དེ་གོམས་མཛོད།།
དེ་དང་འདྲ་བར་ཡོན་ཏན་ལྡན་པ་ཡི།།
ཆོས་གཞན་འགའ་ཡང་མཆིས་པ་མ་ལགས་སོ།། ༣༧ །།

སྐྱེས་བུ་རིགས་གཟུགས་ཐོས་དང་ལྡན་རྣམས་ཀྱང་།།
ཤེས་རབ་ཚུལ་ཁྲིམས་བྲལ་བ་བཀུར་མ་ལགས།།

---

[1] ལས་ མི་རིགས་དཔེ་སྐྲུན་ཁང་།
[2] ཡིད་ལ་བྱེད་ སྣ། གསེར་བྲིས།

དེ་ལྟས་གང་ལ་ཡོན་ཏན་འདི་གཉིས་ལྡན།།
དེ་ནི་ཡོན་ཏན་གཞན་དང་བྲལ་ཡང་མཆོད།། ༣༨ །།

འཇིག་རྟེན་མཁྱེན་པ་རྙེད་དང་མ་རྙེད་དང་།།
བདེ་དང་མི་བདེ་སྙན་དང་མི་སྙན་དང་།།
བསྟོད་སྨད་[1]ཅེས་བགྱི་འཇིག་རྟེན་ཆོས་བརྒྱད་པོ།།
བདག་གི་ཡིད་ཡུལ་མིན་པར་མགོ་སྙོམས་མཛོད།། ༣༩ །།

ཁྱོད་ཀྱིས་བྲམ་ཟེ་དགེ་སློང་ལྷ་དང་ནི།།
མགྲོན་དང་ཡབ་ཡུམ་དག་དང་བཙུན་མོ་དང་།།
འཁོར་གྱི་སླད་དུའང་སྡིག་པ་མི་བགྱི་སྟེ།།
དམྱལ་བའི་རྣམ་སྨིན་སྐལ་ནོད་འགའ་མ་མཆིས།། ༤༠ །།

སྡིག་པའི་ལས་རྣམས་སྤྱད་པ་འགའ་ཡང་ནི།།
དེ་ཡི་མོད་ལ་མཚོན་བཞིན་མི་གཅོད་ཀྱང་།།
འཆི་བའི་དུས་ལ་བབ་ན་སྡིག་པ་ཡི།།
ལས་ཀྱི་[2]འབྲས་བུ་གང་ལགས་མངོན་པར་འགྱུར།། ༤༡ །།

---

[1] སྨོད་ ཅོ་ནེ།

[2] ཀྱིས་ སྣར་ཐང་།

དད་དང་ཚུལ་ཁྲིམས་ཐོས་དང་གཏོང་བ་དང་[1]།།
དྲི་མེད་ངོ་ཚ་ཤེས་དང་ཁྲེལ་ཡོད་དང་།།
ཤེས་རབ་ནོར་བདུན་ལགས་པར་ཐུབ་པས་གསུངས།།
ནོར་གཞན་ཕལ་པ་དོན་མ་མཆིས་རྟོགས་མཛོད།། ༡༢ །།

རྒྱན་པོ་འགྲེད་དང་འདུས་ལ་ལྟ་[2]བ་དང་།།
ལེ་ལོ་སྡིག་པའི་གྲོགས་ལ་བརྟེན་པ་དང་།།
ཆང་དང་མཚན་མོ་རྒྱུ་བ་ངན་སོང་བ།།
གྲགས་པ་ཉམས་པར་འགྱུར་བ་དེ་དྲུག་སྤོངས[3]།། ༡༣ །།

ནོར་རྣམས་ཀུན་གྱི་ནང་ན་ཆོག་ཤེས་པ།།
རབ་མཆོག་ལགས་པར་ལྷ་མིའི་སྟོན་པས་གསུངས།།
ཀུན་དུ་[4]ཆོག་ཤེས་མཛོད་ཅིག་ཆོག་མཁྱེན་ན།།
ནོར་མི་བདོག་ཀྱང་ཡང་དག་འབྱོར་པ་ལགས།། ༡༤ །།

དེས་པ་བདོག་མང་ཇི་ལྟར་སྡུག་བསྔལ་བ།།
འདོད་པ་ཆུང་རྣམས་དེ་ལྟ་མ་ལགས་ཏེ།།

---

[1] དད་དང་གཏོང་དང་ཐོས་པ་དང་། མི་རིགས་དཔེ་སྐྲུན་ཁང་། ནོར་གླིང་དཔར་མ།

[2] བལྟ་ སྣར་ཐང་།

[3] སྤང་། སྡེ་དགེ

[4] ཏུ་ སྣ། གསེར་བྲིས། མི་རིགས། ནོར་གླིང་།

ཀླུ་མཆོག་རྣམས་ལ་མགོ་བོ་ཇི་སྙེད་པ།།
དེ་ལས་བྱུང་བའི་སྡུག་བསྔལ་དེ་སྙེད་དོ།། ༣༥ །།

རང་བཞིན་དགྲར་[1]འབྲེལ་གཤེད་མ་ལྟ་བུ་དང་།།
ཁྲིམ་ཐབ་བརྙས་[2]བགྱིད་རྗེ་མོ་ལྟ་བུ་དང་།།
ཆུང་ངུའང་རྐུ་[3]བ་ཆོམ་རྐུན་ལྟ་བུ་ཡི།།
ཆུང་མ་གསུམ་པོ་དེ་དག་རྣམ་པར་སྤང་།། ༣༦ །།

སྲིང་མོ་ལྟ་བུར་རྗེས་མཐུན་གང་ཡིན་དང་།།
མཛའ་མོ་བཞིན་དུ་སྙིང་ལ་འབབ་པ་དང་།།
མ་བཞིན་ཕན་པ་[4]འདོད་དང་བྲན་མོ་བཞིན།།
དབང་གྱུར་གང་ཡིན་རིགས་ཀྱི་ལྷ་བཞིན་བཀུར།། ༣༧ །།

ཁ་ཟས་སྨན་དང་འདྲ་བར་རིག་[5]པ་ཡིས།།
འདོད་ཆགས་ཞེ་སྡང་མེད་པར་བསྟེན་[6]བགྱི་སྟེ།།

---

[1] དགྲ་ སྣ། གསེར་བྲིས།
[2] བསྙད་ སྣ། གསེར་བྲིས།
[3] བརྐུ་ སྣར་ཐང་།
[4] པར་ སྣར་ཐང་།
[5] རིགས་ སྡེ་དགེ

རྒྱགས་ཕྱིར་མ་ལགས་བསྐེམས་པའི་ཕྱིར་མ་ལགས།།
འཚོག་ཕྱིར་མ་ལགས་ལུས་གནས་འབའ་ཞིག་ཕྱིར།། ༣༨ །།

རིག་[1]པའི་བདག་ཉིད་ཉིན་པར་མཐའ་དག་དང་།།
མཚན་མོ་[2]ཐུན་གྱི་སྟོད་སྨད་འདས་[3]ནས་ནི།།
མནལ་ཚེའང་འབྲས་བུ་མེད་པར་མི་འགྱུར་བར།།
དྲན་དང་ལྡན་པར་དེ་དག་བར་དུ་མཉོལ།། ༣༩ །།

བྱམས་དང་སྙིང་རྗེ་དགའ་དང་དགའ་བ་དང་།།
བཏང་སྙོམས་རྟག་ཏུ་ཡང་དག་བསྒོམ་[4]མཛོད་ཅིག[5]།
གོང་མ་བརྙེས་[6]པར་མ་གྱུར་དེ་ལྷ་ནའང་།།
ཚངས་པའི་འཇིག་རྟེན་བདེ་བ་ཐོབ་པར་འགྱུར།། ༤༠ །།

---

[6] བརྟེན་ སྣ། གསེར་བྲིས།
[1] རིགས་ སྣ། མི་རིགས། རྡོར་གླིང་།
[2] མཚན་མོའི་ སྣ། གསེར་བྲིས། རྡོར་གླིང་།
[3] བཟླས སྡེ་དགེ
[4] སྒོམ་ སྣར་ཐང་།
[5] བསྒོམ་པར་བགྱི། རྡོར་གླིང་།
[6] བརྙེད་ སྣར་ཐང་།

འདོད་སྤྱོད་དགའ་དང་བདེ་དང་སྡུག་བསྔལ་དག།
རྣམ་པར་སྤངས་པའི་བསམ་གཏན་བཞི་པོ་ཡིས།།
ཚངས་དང་འོད་གསལ་དག་དང་དགེ་རྒྱས་དང་།།
འབྲས་བུ་ཆེ་ལྷ་རྣམས་དང་སྐལ་མཉམ་ཐོབ[1]།། ༩༧ །།

རྟག་དང་མངོན་པར་ཞེན་དང་གཉེན་པོ་མེད།།
ཡོན་ཏན་གཙོ་ལྡན་བཞི་ལས་བྱུང་བའི་ལས།།
དགེ་དང་མི་དགེ་རྣམ་ལྔ་ཆེན་པོ་སྟེ།།
དེ་བས་[2]དགེ་བ་སྤྱོད་ལ་བརྩོན་པར་བགྱི།། ༩༨ །།

ལན་ཚྭ་སྲང་འགས་[3]ཆུ་ནི་ཉུང་ངུ་ཞིག།
རོ་བསྒྱུར་བགྱིད་ཀྱི་གངྒཱའི་ཀླུང་མིན་ལྟར།།
དེ་བཞིན་སྡིག་པའི་ལས་ནི་ཆུང་ངུ་ཡང་།།
དགེ་བའི་རྩ་བ་ཡང་[4]ལ་མཁྱེན་པར་བགྱི[5]།། ༩༩ །།

---

[1] འཐོབ་ སྣར་ཐང་།
[2] ནས སྣར་ཐང་།
[3] འགའ་ སྣར་ཐང་།
[4] ཡངས་ སྣར་ཐང་། ནོར་གླིང་།
[5] མཛོད། ནོར་གླིང་།

རྒོད་དང་འགྱོད་དང་གནོད་སེམས་རྨུགས་པ་དང་།།
གཉིད་དང་འདོད་ལ་འདུན་དང་ཐེ་ཚོམ་སྟེ།།
སྒྲིབ་པ་ལྔ་པོ་འདི་དག་དགེ་བའི་ནོར།།
འཕྲོག་པའི་ཆོམ་རྐུན་ལགས་པར་མཁྱེན་[1]པར་མཛོད།། ༩༤ །།

དད་དང་བརྩོན་འགྲུས་དག་དང་དྲན་པ་དང་།།
ཏིང་འཛིན་ཤེས་རབ་ཆོས་མཆོག་ལྔ་ཉིད་དེ།།
འདི་ལ་མངོན་བརྩོན་མཛོད་ཅིག་འདི་དག་ནི།།
སྟོབས་དབང་ཞེས་བགྱི་རྩེ་མོར་གྱུར་པའང་ལགས།། ༩༥ །།

ན་ཀ་འཆི་སྡུག་བྲལ་དང་དེ་བཞིན་དུ།།
ལས་ནི་བདག་གིར་བྱས་[2]ལས་མ་འདས་ཞེས།།
དེ་ལྟར་ཡང་དང་ཡང་དུ་སེམས་པ་ནི།།
དེ་ཡི་གཉེན་པོའི་སྒོ་ནས་རྒྱགས་མི་འགྱུར།། ༩༦ །།

གལ་ཏེ་མཐོ་རིས་ཐར་པ་མངོན་བཞེད་ན།།
ཡང་དག་ལྟ་ལ་གོམས་པ་ཉིད་དུ་མཛོད།།

---

[1] རིགས་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།

[2] བྱ་ རྫོར་གླིང་།

གང་ཟག་ལོག་པར་ལྟ་བས་ལེགས་སྤྱད་ཀྱང་།།
ཐམས་ཅད་རྣམ་པར་སྨིན་པ་མི་བཟད་ལྡན།། ༩༧ ||

མི་ནི་ཡང་དག་ཉིད་དུ་མི་བདེ་ཞིང་།།
མི་རྟག་བདག་མེད་མི་གཙང་རིག་པར་[1]བགྱི།།
དྲན་པ་ཉེ་བར་མ་བཞག་[2]རྣམས་ཀྱིས་ནི།།
ཕྱིན་ཅི་ལོག་བཞིར་ལྟ་བ་ཕུང་བྲོལ་[3]བ།། ༩༨ ||

གཟུགས་ནི་བདག་མ་ཡིན་ཞེས་གསུངས་ཏེ་[4]བདག།
གཟུགས་དང་མི་ལྡན་[5]གཟུགས་ལ་བདག་གནས་མིན།།
བདག་ལ་གཟུགས་མི་གནས་ཏེ་དེ་བཞིན་དུ།།
ཕུང་པོ་ལྷག་མ་བཞི་ཡང་སྟོང་རྟོགས་བགྱི།། ༩༩ ||

ཕུང་པོ་འདོད་རྒྱལ་ལས་མིན་དུས་ལས་མིན།།
རང་བཞིན་ལས་མིན་ངོ་བོ་ཉིད་ལས་མིན།།

---

[1] པས་ ཅོ་ནེ།
[2] གཞག་ སྣར་ཐང་།
[3] བཀྲོལ་ གསེར་བྲིས།
[4] གསུངས་སྟེ་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[5] ལྡ་མིན་ གསེར་བྲིས། སྣར་ཐང་། རྡོར་གླིང་།

དབང་ཕྱུག་ལས་མིན་རྒྱུ་མེད་ཅན་མིན་ཏེ།།
མི་ཤེས་ལས་དང་སྲིད་ལས་བྱུང་རིག་མཛོད།། ༥༠ །།

ཚུལ་ཁྲིམས་བརྟུལ་ཞུགས་མཆོག་འཛིན་རང་ལུས་ལ།།
ཕྱིན་ཅི་ལོག་པར་ལྟ་དང་ཐེ་ཚོམ་སྟེ།།
ཀུན་དུ་[1]སྦྱོར་བ་འདི་གསུམ་ཐར་པ་ཡི།།
གྲོང་ཁྱེར་སྒོ་འགེགས་[2]ལགས་པར་མཁྱེན་པར་གྱིས[3]།། ༥༡ །།

ཐར་པ་བདག་[4]ལ་རག་ལས་འདི་ལ་ནི།།
གཞན་གྱིས་གྲོགས་བགྱིར་[5]ཅི་ཡང་མ་མཆིས་པས།།
ཐོས་དང་ཚུལ་ཁྲིམས་བསམ་གཏན་ལྡན་པ་ཡིས[6]།།
བདེན་པ་རྣམ་པ་བཞི་ལ་འབད་པར་མཛོད།། ༥༢ །།

ལྷག་པའི་ཚུལ་ཁྲིམས་ལྷག་པའི་ཤེས་རབ་དང་།།
ལྷག་པའི་སེམས་ལ་རྟག་ཏུ་བསླབ་པར་བགྱི།།

---

[1] ཀུན་ཏུ་ གསེར་ཕྲེས། སྣར་ཐང་། རྡོར་གླིང་།
[2] འགགས་ སྣར་ཐང་།
[3] བགྱིས། ཅོ་ནེ་དཔར་མ་དང་། མཛོད། གསེར་ཕྲེས། མི་རིགས།
[4] དག་ སྣར་ཐང་།
[5] བགྱིད་ སྣར་ཐང་། མི་རིགས།
[6] ཡི། གསེར་ཕྲེས།

བསླབ་པ་བརྒྱ་རྩ་ལྔ་བཅུ་ལྷག་གཅིག་[1]ནི།།
གསུམ་པོ་འདི་ནང་ཡང་དག་འདུ་བར་འགྱུར།། ༥༣ །།

དབང་ཕྱུག་ལུས་གཏོགས་[2]དྲན་པ་བདེ་གཤེགས་ཀྱིས།།
བགྲོད་པ་གཅིག་པའི་ལམ་དུ་[3]ཉེ་བར་བསྟན།།
དེ་ནི་བསྲིམས་ནས་མངོན་པར་བསྲུང་བགྱི་སྟེ།།
དྲན་པ་ཉམས་པས་ཆོས་ཀུན་འཇིག་པར་འགྱུར།། ༥༤ །།

ཚེ་ནི་གནོད་མང་རླུང་གིས་བཏབ་པ་ཡི།།
ཆུ་ཡི་ཆུ་བུར་བས་ཀྱང་མི་རྟག་ན།།
དབུགས་རྔུབ་དབུགས་འབྱུང་གཉིད་ཀྱིས་[4]ལོག་པ་ལས།།
སད་ཁོམ་གང་ལགས་དེ་ནི་ངོ་མཚར་ཆེ།། ༥༥ །།

ལུས་མཐའ་ཐལ་བ་མཐར་སྐམ་མཐར་འདྲུལ་[5]ཞིང་།།
ཐ་མར་མི་གཙང་སྙིང་པོ་མ་མཆིས་པ[6]།།

---

[1] ལྷག་ཅིག་ སྡེ་དགེ
[2] རྟོག་ སྡེ་དགེ
[3] དེ་ སྣར་ཐང་།
[4] ཀྱི་ སྣར་ཐང་།
[5] འདྲུལ་ ཅོ་ནེ་དཔར་མ་དང་། འདྲུ་ གསེར་བྲིས།

རྣམ་པར་འཇིག་དེངས་སྨུགས་པར་འགྱུར་བ་སྟེ།།
སོ་སོར་འགྲེས་ཆོས་ཅན་དུ་མཁྱེན་པར་མཛོད།། ༥༦ །།

ས་དང་ལྷུན་པོ་རྒྱ་མཚོ་ཉི་མ་བདུན།།
འབར་བས་བསྲེགས་[1]པའི་ལུས་ཅན་འདི་དག་ཀྱང་།།
ཐལ་བ་[2]ཡང་ནི་[3]ལུས་པར་མི་འགྱུར་ན།།
ཤིན་ཏུ་ཉམ་ཆུང་མི་ལྷ་སྨོས་ཅི་འཚལ།། ༥༧ །།

དེ་ལྟར་འདི་ཀུན་མི་རྟག་བདག་མེད་དེ།།
སྐྱབས་མེད་མགོན་མེད་གནས་མེད་དེ་སླད་དུ།།
འཁོར་བ་ཆུ་ཤིང་སྙིང་པོ་མེད་པ་ལས[4]།།
མི་མཆོག་ཁྱོད་ཀྱི་[5]ཐུགས་ནི་དབྱུང་[6]བར་མཛོད།། ༥༨ །།

---

[6] པར། ཇོར་གླིང་།

[1] བསྲེག་ སྣར་ཐང་།

[2] བར་ སྣར་ཐང་།

[3] ཐལ་བ་ཙམ་ཡང་ ཇོར་གླིང་།

[4] ལ། སྣར་ཐང་། མི་རིགས། ཇོར་གླིང་།

[5] ཀྱིས་ སྣར་ཐང་། མི་རིགས། ཇོར་གླིང་།

[6] འབྱུང་ ཇོར་གླིང་།

རྒྱ་མཚོ་གཅིག་གནས་[1]གཉའ་ཤིང་བུ་ག་དང་།།
རུས་སྦལ་ཕྲད་པ་བས་ཀྱང་དུད་འགྲོ་ལས།།
མི་ཉིད་ཆེས་ཐོབ་དཀའ་བས་མི་དབང་གིས།།
དམ་ཆོས་སྤྱོད་[2]པས་དེ་འབྲས་མཆིས་པར་མཛོད།། ༥༩ །།

གང་ཞིག་གསེར་སྣོད་རིན་ཆེན་སྤྲས་པ་ཡིས།།
ངན་སྐྱུགས་འཕྱུགས་[3]པར་བགྱིད་པ་དེ་བས་ནི།།
གང་ཞིག་མི་རུ་སྐྱེས་ནས་སྡིག་པ་དག།
བགྱིད་པ་དེ་ནི་ཆེས་རབ་བླུན་པ་ལགས།། ༦༠ །།

མཐུན་པར་གྱུར་པའི་ཡུལ་དུ་གནས་པ་དང་།།
སྐྱེས་བུ་དམ་པ་ལ་ནི་བརྟེན་[4]པ་དང་།།
བདག་ཉིད་[5]ལེགས་སྨོན་སྔོན་ཡང་བསོད་ནམས་བགྱིས[6]།།
འཁོར་ལོ་ཆེན་པོ་བཞི་ནི་ཁྱོད་ལ་མངའ།། ༦༡ །།

---

[1] གཉག་ སྣར་ཐང་།
[2] སྤྱད་ སྣར་ཐང་།
[3] འཆག་ སྣར་ཐང་དཔར་མ་དང་། འཕྱུག་ ཇོར་གླིང་། མི་རིགས།
[4] བསྟེན་ མི་རིགས། ཇོར་གླིང་།
[5] བདག་གི་ གསེར་བྲིས།
[6] བགྱིད། སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།

དགེ་བའི་བཤེས་གཉེན་བསྟེན་[1]པ་ཚངས་པར་སྤྱོད།།
ཡོངས་སུ་རྫོགས་པ་[2]ཐུབ་པས་གསུངས་དེའི་ཕྱིར།།
སྐྱེས་བུ་དམ་པ་བསྟེན་[3]བགྱི་རྒྱལ་བ་ལ[4]།།
བརྟེན་ནས་རབ་ཏུ་མང་པོས་ཞི་བ་ཐོབ།། ༨༧ །།

ལོག་པར་ལྟ་བ་འཛིན་དང་དུད་འགྲོ་དང་།།
ཡི་དགས་ཉིད་དང་དམྱལ་བར་སྐྱེ་བ་དང་།།
རྒྱལ་བའི་བཀའ་མེད་པ་དང་མཐའ་འཁོབ་ཏུ།།
ཀླ་ཀློར་སྐྱེ་དང་གླེན་ཞིང་ལྐུགས་པ་ཉིད།། ༨༨ །།

ཚེ་རིང་ལྷ་ཉིད་གང་ཡང་རུང་བར་[5]ནི།།
སྐྱེ་བ་ཞེས་བགྱི་མི་ཁོམ་སྐྱོན་བརྒྱད་པོ།།
དེ་དག་དང་བྲལ་ཁོམ་པ་རྙེད་ནས་ནི།།
སྐྱེ་བ་བཟློག་པའི་སླད་དུ་འབད་པར་མཛོད།། ༨༩ །།

---

[1] བརྟེན་ སྣར་ཐང་། ཇོར་གླིང་།

[2] པར་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས། མི་རིགས། ཇོར་གླིང་།

[3] བརྟེན་ གསེར་བྲིས། ཇོར་གླིང་།

[4] ལས་ ཅོ་ནེ།

[5] རུང་བ་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།

དེས་པ་འདོད་པས་ཕོངས་དང་འཆི་བ་དང་།།
ན་དང་རྒ་སོགས་སྡུག་བསྔལ་དུ་མ་ཡི།།
འབྱུང་གནས་འཁོར་བ་ལ་ནི་སྐྱོ་མཛད་ཅིང་།།
འདི་ཡི་ཉེས་པའི་ཤེས་ཀྱང་གསན་པར་མཛོད།། ༧༥ །།

ཕ་ནི་བུ་ཉིད་མ་ནི་ཆུང་མ་ཉིད།།
སྐྱེ་བོ་དགྲར་གྱུར་པ་དག་བཤེས་ཉིད་དང་།།
བཟློག་པ་ཉིད་དུ་མཆི་བས་དེ་སླད་དུ།།
འཁོར་བ་དག་ན་ངེས་པ་འགའ་མ་མཆིས།། ༧༦ །།

རེ་རེས་རྒྱ་མཚོ་བཞི་བས་ལྷག་པ་ཡི[1]།།
འོ་མ་འཐུངས་ཏེ་ད་དུང་སོ་སོ་ཡི།།
སྐྱེ་བོའི་རྗེས་སུ་འབྲང་[2]བའི་འཁོར་བ་པས།།
དེ་བས་ཆེས་[3]མང་ཉིད་ཅིག་གཏུང་འཚལ་ལོ།། ༧༧ །།

རེ་རེའི་བདག་ཉིད་རུས་པའི་ཕུང་པོ་ནི།།
ལྷུན་པོ་མཉམ་པ་སྙེད་ཅིག་འདས་གྱུར་ཏེ།།

---

[1] ཡིས་ གསེར་བྲིས།
[2] འབྲེང་ སྣར་ཐང་།
[3] ཆོས སྡེ་དགེ

མ་ཡི་ཐུག་མཐའ་རྒྱ་ཤུག་ཚི་གུ་[1]ཙམ།།
རི་ལྟར་བགྲངས་ཀྱང་ས་ཡི་ལང་མི་འགྱུར།། ༦༨ ||

བརྒྱ་བྱིན་འཇིག་རྟེན་མཆོད་འོས་གྱུར་ནས་ནི[2]།།
ལས་ཀྱི་དབང་གིས་ཕྱིར་ཡང་ས་སྟེང་ལྟུང་།།
འཁོར་ལོས་སྒྱུར་བ་ཉིད་དུ་གྱུར་[3]ནས་ཀྱང་།།
འཁོར་བ་དག་ཏུ་ཡང་བྲན་ཉིད་དུ་འགྱུར།། ༦༩ ||

མཐོ་རིས་བུ་མོའི་ནུ་མ་རེག་པ་[4]ལ།།
རེག་པའི་བདེ་བ་ཡུན་རིང་སྤྱོད་[5]ནས་སླར།།
དམྱལ་བར་འཐག་གཅོད་དབང་བའི་[6]འཕྲུལ་[7]འཁོར་གྱིས[8]།།
རེག་པ་ཤིན་ཏུ་མི་བཟད་བསྟེན་[9]འཚལ་ལོ།། ༧༠ ||

---

[1] ཚིག་གུ་ སྣར་ཐང་། མི་རིགས།
[2] ནས་ཀྱང་། སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[3] བྱུང་ གསེར་བྲིས། སྣར་ཐང་།
[4] རྒྱས་པ་ མི་རིགས།
[5] སྦྱངས་ རྡོར་གླིང་།
[6] དབྲད་པའི་ སྣར་ཐང་། མི་རིགས།
[7] འཁྲུལ་ སྡེ་དགེ
[8] གྱི། སྣར་ཐང་།

རྐང་པའི་རིག་པས་ཉམ་[1]པར་བདེ་བཟོད་པ།།
ལྷུན་པོའི་སྒོ་ལ་ཡུན་རིང་[2]གནས་ནས་ནི།།
སླར་ཡང་མི་མྱུར་རོ་སྨྱུག་[3]རྒྱུ་བ་ཡི།།
སྡུག་བསྔལ་མི་བཟད་ཕོག་[4]སྐམ་བཤིད་འཚལ་ལོ།། ༧༡ ||

མཐོ་རིས་བུ་མོས་འཁྲོངས་ཞིང་དགའ་བ་དང་།།
རྣམ་པར་མཛེས་འཚལ་སྟོན་པར་རྩེས་[5]ནས་སླར།།
འདབ་མ་རལ་གྲི་འདྲ་ཚལ་ནགས་[6]རྣམས་ཀྱིས།།
རྐང་ལག་རྣ་བ་སྣ་གཅོད་འཐོབ་པར་འགྱུར།། ༧༢ ||

དལ་གྱིས་འབབ་པ་ལྷ་ཡི་བུ་མོ་ནི།།
གདོང་མཛེས་གསེར་གྱི་པདྨ་ལྡན་[7]བཞུགས་[8]ནས།།

---

[9] བསྙེན་ སྣར་ཐང་།
[1] ཉམས་ སྣར་ཐང་། ཧོར་གླིང་། མི་རིགས།
[2] རིངས་ གསེར་བྲིས།
[3] སྨྱུགས་ སྣར་ཐང་། མི་རིགས། ཧོར་གླིང་།
[4] འཕོག་ ཧོར་གླིང་།
[5] རྩེད་ ཧོར་གླིང་།
[6] གནས་ ཧོར་གླིང་། མི་རིགས།
[7] ལྷུན་ སྣར་ཐང་། མི་རིགས། ཧོར་གླིང་།

སླར་ཡང་དམྱལ་བའི་ཆུ་བོ་རབ་མེད་པར།།
ཚ་སྒྲོ་བཟོད་གླགས་[1]ཆུ་ཚན་འཇུག་འཚལ་ལོ།། ༧༣ ||

ལྷ་ཡུལ་འདོད་བདེ་[2]ཤིན་ཏུ་ཆེན་པོ་དང་།།
ཚངས་ཉིད་ཆགས་བྲལ་བདེ་བ་ཐོབ་ནས་སླར།།
མནར་མེད་མེ་ཡི་བུད་ཤིང་གྱུར་པ་ཡི[3]།།
སྡུག་བསྔལ་རྒྱུན་མི་འཆད་པ་[4]བསྙེན་འཚལ་ལོ།། ༧༤ ||

ཉི་མ་ཟླ་བ་ཉིད་ཐོབ་རང་ལུས་ཀྱི[5]།།
འོད་ཀྱིས་འཇིག་རྟེན་མཐའ་དག་སྣང་བྱས་ཏེ།།
སླར་ཡང་མུན་ནག་[6]སླག་ཏུ་ཕྱིན་གྱུར་ནས།།
རང་གི་ལག་པ་བརྐྱང་པའང་མི་[7]མཐོང་འགྱུར།། ༧༥ ||

8	ཞུགས་	སྣར་ཐང་།
1	བརྡག་	སྡེ་དགེ
2	སྡེ་	ཇོར་གླིང་།
3	ཡིས།	སྣར་ཐང་། མི་རིགས།
4	པར་	མི་རིགས། ཇོར་གླིང་།
5	ཀྱིས།	ཅོ་ནེ།
6	གནག་	སྣར་ཐང་།
7	མ་	སྣར་ཐང་།

དེ་ལྟར་ཉོངས་པར་འགྱུར་འཚལ་བཟོད་ནམས་ནི།།
རྣམ་གསུམ་མར་མེའི་སྣང་བ་རབ་བཞེས་ཤིག།
གཅིག་པུ་ཉི་མ་ཟླ་བས་མི་བཟི་བའི།།
སྨུན་ནག་མཐའ་ཡས་ནང་དུ་འཛུག་འཚལ་ལོ།། ༧༦ །།

སེམས་ཅན་ཉེས་པར་སྤྱད་པ་སྤྱོད་རྣམས་ལ།།
ཡང་སོས་ཐིག་ནག་རབ་ཏུ་ཚ་བ་དང་།།
བསྡུས་འཇོམས་ངུ་འབོད་མནར་མེད་ལ་སོགས་པའི།།
དམྱལ་བ་རྣམས་སུ་རྟག་ཏུ་སྡུག་བསྔལ་འགྱུར།། ༧༧ །།

ཁ་ཅིག་ཏིལ་བཞིན་འཚེར་ཏེ་དེ་བཞིན་གཞན།།
ཕྱེ་མ་ཞིབ་མོ་བཞིན་དུ་ཕྱེ་མར་རློག།
ཁ་ཅིག་སོག་ལེས་འདྲ་སྐེ་དེ་བཞིན་གཞན།།
སྐྲ་རེ་མི་བཟད་སོ་རྣོན་རྣམས་ཀྱིས་[1]གཤགས[2]།། ༧༨ །།

དེ་བཞིན་གཞན་དག་ཁྲོ་ཆུ་བཞུས་[3]བ་ཡི།
ཁྲུ་བ་འབར་བ་[4]འཁྲིགས་པ་ལྡུད་པར་[5]བགྱིད།།

---

[1] ཀྱི་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[2] གསོག། གསེར་བྲིས། ཧོར་ཕྱིང་། མི་རིགས།
[3] བཞུ་ སྡེ་དགེ

ཁ་ཅིག་ལྷུགས་ཀྱི་གསལ་ཤིང་རབ་འབར་བ[1]།།
ཚེར་མ་ཅན་ལ་ཀུན་དུ་[2]རྒྱུད་[3]པར་བགྱིད།། ༥༩ །།

ཁ་ཅིག་ལྷུགས་ཀྱི་མཆེ་བ་ལྡན་པའི་ཁྱི།།
གདུམ་པོས་དབད་[4]ཅིང་ལག་པ་གནམ་དུ་བསྒྲེང་།།
དབང་མེད་གཞན་དག་ལྷགས་མཚུ་རྣོན་པོ་དང་།།
སེན་མོ་མི་བཟད་ལྡན་པའི་ཁྭ་རྣམས་འཐོག[5]། ༦༠ །།

ཁ་ཅིག་སྲིན་བུ་སྦྲུར་བ་སྦྲ་ཚོགས་དང་།།
ཤ་སྦྲང་སྦྲང་བུ་མཚུ་རིངས་[6]ཁྲི་ཕྲག་དག[7]།

---

4 བས་ རྡོར་གླིང་།

5 ཏྲིང་བར་ སྣར་ཐང་།

1 བའི་ སྣར་ཐང་།

2 ཀུན་ཏུ་ སྣར་ཐང་།

3 ཀུན་ཏུ་རྒྱུས་ མི་རིགས།

4 དབྲད་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།

5 སེན་མོ་བཟང་ལྡན་པ་ཡི་ཁྭ་རྣམས་འཐོབ། སྣར་ཐང་།

6 ཤ་སྦྲང་སྦྲང་མ་ནག་པོ་ སྣར་ཐང་། རྡོར་གླིང་།

7 དང་། རྡོར་གླིང་།

རིག་ན་མི་བཟད་ཚ་སྒྲོལ་ཆེར་འཕྲིན་[1]པས།།
ཟ་བར་བགྱིད་ཅིང་འགྲེ་ལྡོག་སྣྲེ་སྡུགས་འདོན།། ༡༡ ༎

ཁ་ཅིག་མདག་མེ་འབར་བའི་ཚོགས་སུ་ནི།།
རྒྱུན་མི་འཆད་པར་རབ་སྲེག་ཁ་ཡང་བགྲད།།
ཁ་ཅིག་ལྕགས་ལས་བྱས་པའི་ཟངས་ཆེན་དུ།།
སྐྱིའུ་ཚུགས་འབྲས་ཀྱི་ཐུང་འཕེང་[2]བཞིན་དུ་འཚེད།། ༡༢ ༎

སྡིག་ཅན་དབུགས་འབྱུང་འགགས་[3]པ་ཙམ་ཞིག་གི།།
དུས་ཀྱིས་[4]བར་དུ་ཚོད་རྣམས་དམྱལ་བ་ཡི།།
སྡུག་བསྔལ་གཞལ་ཡས་ཐོས་ནས་རྣམ་སྟོང་དུ།།
མི་འཛིག་གང་ལགས་རྡོ་རྗེའི་རང་བཞིན་ནོ།། ༡༣ ༎

དམྱལ་བ་བྲིས་པ་མཐོང་དང་ཐོས་པ་དང་།།
དྲན་དང་བཀླགས་དང་གཟུགས་སུ་བགྱིས་རྣམས་ཀྱང་།།

---

[1] འབྲིན་ སྣར་ཐང་། མི་རིགས། རྡོར་གླིང་།

[2] ཐུང་ཕེང་ སྣར་ཐང་། རྡོར་གླིང་།

[3] འགག་ སྣར་ཐང་།

[4] ཀྱི་ མི་རིགས། རྡོར་གླིང་།

འཇིགས་པ་སྐྱེ་བར་འགྱུར་ན་མི་བཟད་པའི།།
རྣམ་སྨིན་ཉམས་སུ་མྱོང་ན་སྨོས་ཅི་འཚལ།། ༨༤ །།

བདེ་བ་ཀུན་གྱི་ནང་ན་སྲིད་ཟད་པ[1]།།
བདེ་བའི་[2]བདག་པོར་བགྱིད་པ་ཇི་ལྟ་བར།།
དེ་བཞིན་སྡུག་བསྔལ་ཀུན་གྱི་ནང་ན་ནི།།
མནར་མེད་དམྱལ་བའི་སྡུག་བསྔལ་རབ་མི་བཟད།། ༨༥ །།

འདི་ན་ཉིན་གཅིག་མདུང་ཐུང་སུམ་བརྒྱ་ཡིས།།
རབ་ཏུ་དྲག་བཏབ་སྡུག་བསྔལ་གང་ལགས་པ།།
དེས་[3]ནི་དམྱལ་བའི་སྡུག་བསྔལ་ཆུང་ངུ་ལའང་།།
ཚོལ་ཡང་མི་བགྱིད་[4]ཆར་ཡང་མི་ཕོད་དོ།། ༨༦ །།

དེ་ལྟར་སྡུག་བསྔལ་ཤིན་ཏུ་མི་བཟད་ལོ།།
བྱེ་བ་ཕྲག་བརྒྱར་ཉམས་སུ་མྱོང་ཡང་ནི།།

---

[1] པའི་ སྣར་ཐང་།

[2] བདེ་བ་ སྣར་ཐང་།

[3] དེ་ སྣར་ཐང་།

[4] བགྱི་ གསེར་བྲིས།

ཇི་སྲིད་མི་དགེ་དེ་ཟད་མ་[1]གྱུར་པ།།
དེ་སྲིད་སྲོག་དང་བྲལ་བར་[2]མི་འགྱུར་རོ།། ༡༧ །།

མི་དགེའི་འབྲས་འདི་རྣམས་ཀྱི་ས་བོན་ནི།།
ལུས་ངག་ཡིད་ཀྱི་[3]ཉེས་སྤྱོད་ཁྱོད་ཀྱིས་ནི།།
ཅི་ནས་དེ་རྡུལ་ཙམ་ཡང་མ་མཆིས་པ།།
དེ་ལྟར་ཉིད་ཀྱི་རྩལ་གྱིས་འབད་པར་མཛོད།། ༡༡ །།

དུད་འགྲོའི་སྐྱེ་གནས་ན་ཡང་གསོད་པ་དང་།།
བཅིངས་དང་བརྡེག་སོགས་སྡུག་བསྔལ་སྣ་ཚོགས་པ།།
ཞི་འགྱུར་དགེ་བ་སྤངས་པ་རྣམས་ལ་ནི།།
གཅིག་ལ་གཅིག་ཟ་ཤིན་ཏུ་མི་བཟད་པ།། ༡༩ །།

ཁ་ཅིག་མུ་ཏིག་བལ་དང་རུས་པ་དང་[4]།།
ཤ་དང་པགས་པའི་ཆེད་དུ་འཆི་བར་འགྱུར།།

---

[1] མི་ སྣར་ཐང་།
[2] འབལ་པར་ སྡེ་དགེ
[3] ཀྱིས་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[4] རུས་པ་ཁྲག་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།

དབང་མེད་གཞན་དག་རྗོག་པ་ལག་པ་དང་།།
ལྕགས་དང་ལྕགས་ཀྱུ་འདེབས་པས་[1]བཏབ་སྟེ་བཀོལ།། ༨༠ །།

ཡི་དྭགས་ན་ཡང་འདོད་པས་འཕོངས་པ་ཡིས[2]།།
བསྐྱེད་པའི་སྡུག་བསྔལ་རྒྱུན་ཆགས་མི་འཚོས་པ།།
བཀྲེས་སྐོམ་གྲང་དྲོ་ངལ་དང་འཇིགས་པ་ཡིས།།
བསྐྱེད་པ་ཤིན་ཏུ་མི་བཟད་བསྟེན་འཚལ་ལོ།། ༨༡ །།

ཁ་ཅིག་ཁ་ནི་ཁབ་ཀྱི་མིག་ཙམ་ལ།།
ལྟོ་བ་རི་ཡི་གཏོས་ཙམ་བཀྲེས་པས་ཉེན།།
མི་གཙང་ཀྱི་ནར་བོར་བ་ཙུང་ཟད་ཀྱང་།།
འཚལ་བའི་མཐུ་དང་ལྡན་པ་མ་ལགས་སོ།། ༨༢ །།

ཁ་ཅིག་པགས་རུས་ལུས་ཤིང་གཅེར་བུ་སྟེ[3]།།
ཏ་ལའི་ཡང་ཏོག་[4]བསྐམས་པ་ལྟ་བུ་ལགས།།

---

[1] བཏབ་པས་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[2] ཡི། སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[3] གཅེར་བུ་ཡི། སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[4] ཡ་ཐོག་ རྡོར་གླིང་།

ཁ་ཅིག་མཚན་ཞིང་ཁ་ནས་[1]འབར་བ་སྐྱེ།།
ཟས་སུ་འབར་བའི་ཁར་བབས་བྱེ་མ་འཚལ།། ༨༣ ||

སྨད་རིགས་འགའ་ནི་རྣག་[2]དང་ཕྱི་ས་དང་།།
ཁྲག་སོགས་མི་གཙང་བ་ཡང་མི་རྙེད་དེ།།
ཕན་ཚུན་གདོང་དུ་འཚོག་ཅིང་མགྲིན་པ་ནས།།
ལྦ་བ་སྦྲུང་བ་སྨིན་པའི་རྣག་འཚལ་ལོ།། ༨༤ ||

ཡི་དགས་རྣམས་ལ་སོས་ཀའི་[3]དུས་སུ་ནི།།
ཟླ་བའང་ཚ་ལ་དགུན་ནི་ཉི་མའང་གྲང་།།
ལྗོན་ཤིང་འབྲས་བུ་མེད་འགྱུར་འདི་དག་གིས།།
བལྟས་པ་ཙམ་གྱིས་ཀླུང་ཡང་བསྐམ་པར་འགྱུར།། ༨༥ ||

བར་ཆད་མེད་པར་སྡུག་བསྔལ་རྟེན་[4]གྱུར་པ།།
ཉེས་པར་སྤྱོད་[5]པའི་ལས་ཀྱི་ཞགས་པ་ནི།།

---

[1] ཁ་ན་ སྣར་ཐང་།
[2] གནག་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[3] སོས་གའི་ སྣར་ཐང་དཔར་མ་དང་། སོ་གའི་ མི་རིགས། རྫོར་གླིང་།
[4] བརྟེན་ རྫོར་གླིང་། མི་རིགས།
[5] སྤྲད་ གསེར་བྲིས།

སྲ་བས་བཅིངས་པའི་ལུས་[1]ཅན་ཁ་ཅིག་ཡོ།།
ལྡེ་སྟོང་དག་དང་ཁྲིར་ཡང་འཆི་མི་འགྱུར།། ༨༥ །།

དེ་ལྟར་ཡི་དགས་རྣམས་ཀྱིས་སྣ་ཚོགས་པའི།།
སྡུག་བསྔལ་རོ་གཅིག་ཐོབ་པ་གང་ལགས་པ།།
དེ་ཡི་རྒྱུ་ནི་སྐྱོ་བོ་འཇུངས་དགའ་བ།།
སེར་སྣ་འཕགས་མིན་ལགས་པར་སངས་རྒྱས་གསུངས།། ༨༦ །།

མཐོ་རིས་ན་ཡང་བདེ་ཆེན་དེ་དག་གི།།
འཆི་འཕོའི་སྡུག་བསྔལ་ཉིད་ནི་དེ་བས་ཆེ།།
དེ་ལྟར་བསམས་ནས་ཡ་རབས་རྣམས་ཀྱིས་ནི།།
ཟད་འགྱུར་མཐོ་རིས་སླད་དུ་སྲེད་མི་བགྱི།། ༨༧ །།

ལུས་ཀྱི་ཁ་དོག་མི་སྡུག་འགྱུར་བ་དང་།།
སྟན་ལ་མི་དགའ་མེ་ཏོག་ཕྲེང་རྙིང་[2]དང་།།
གོས་ལ་དྲི་མ་ཆགས་དང་ལུས་ལས་[3]ནི།།
སྔོན་ཆད་མེད་པའི་རྡུལ་འབྱུང་ཞེས་བགྱི་བ[4]།། ༨༨ །།

---

[1] ལས་ སྣར་ཐང་།

[2] རྙིངས་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།

[3] ལ་ སྣར་ཐང་།

མཐོ་རིས་འཆི་འཕོ་སྔོན་བཀྲིད་འཆི་ལྟས་ལྔ་[1]།།
ལྷ་ཡུལ་གནས་པའི་ལྷ་རྣམས་ལ་འབྱུང་སྟེ།།
ས་སྟེང་མི་རྣམས་འཆི་བར་འགྱུར་བ་དག།
སྔོན་པར་བྱེད་པའི་འཆི་ལྟས་རྣམས་དང་འདྲ།། ༡༠༠ །།

ལྷ་ཡི་འཇིག་རྟེན་དག་ནས་འཕོས་པ་ལ།།
གལ་ཏེ་དགེ་བའི་ལྷག་མ་འགའ་མེད་ན།།
དེ་ནས་དབང་མེད་དུད་འགྲོ་ཡི་དགས་དང་།།
དམྱལ་བར་གནས་པ་གང་ཡང་རུང་བར་འགྱུར།། ༡༠༡ །།

ལྷ་མིན་དག་ནའང་རང་བཞིན་གྱིས་ལྷ་ཡི།།
དཔལ་ལ་སྡང་ཕྱིར་ཡིད་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ་ཆེ།།
དེ་དག་བློ་དང་ལྡན་ཡང་འགྲོ་བ་ཡི།།
སྒྲིབ་པས་བདེན་པ་མཐོང་བ་མ་མཆིས་སོ།། ༡༠༢ །།

འཁོར་བ་དེ་འདྲ་ལགས་པས་ལྷ་མི་དང་།།
དམྱལ་བ་ཡི་དགས་དུད་འགྲོ་རྣམས་དག་ཏུ།། [2]

---

[4] ཞེས་བྱ་བ།   སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།

[1] སྔོན་བྱེད་ལྟ་ལྟས་ལྔ།   སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།

སྐྱེ་བ་བཟང་པོ་མ་ལགས་སྐྱེ་བ་ནི།།
གནོད་པ་དུ་མའི་སྣོད་གྱུར་ལགས་མཁྱེན་མཛོད།། ༡༠༣ །།

མགོ་འམ་གོས་ལ་གློ་བུར་མེ་ཤོར་ན།།
དེ་དག་བཟློག་ཕྱིར་[1]བགྱི་བ་བཏང་ནས་ཀྱང་།།
ཡང་སྲིད་མེད་པར་བགྱི་སླད་འབད་འཚལ་ཏེ།།
དེ་[2]བས་ཆེས་མཆོག་དགོས་པ་གཞན་མ་མཆིས།། ༡༠༤ །།

ཚུལ་ཁྲིམས་དག་དང་བསམ་གཏན་ཤེས་རབ་ཀྱིས།།[3]
མྱ་ངན་འདས་ཞི་དུལ་བ་དྲི་མེད་པའི།།
གོ་འཕང་མི་རྒ་[4]མི་འཆི་ཟད་མི་འཚལ།།
ས་ཆུ་མེ་རླུང་ཉི་ཟླ་བྲལ་ཐོབ་མཛོད།། ༡༠༥ །།

དྲན་དང་ཆོས་རབ་འབྱེད་དང་བརྩོན་འགྲུས་དང་།།
དགའ་དང་ཤིན་ཏུ་སྦྱངས་དང་ཏིང་འཛིན་དང་།།

---

[2] དམྱལ་བ་དུད་འགྲོ་ཡི་དྭགས་རྣམས་དག་ཏུ། སྣར་ཐང་།
[1] ཕྱིར་བཟློག་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[2] འདི་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[3] ཚུལ་ཁྲིམས་དག་དང་ཤེས་རབ་བསམ་གཏན་གྱིས། སྣར་ཐང་།
[4] རྒས་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།

བཏང་སྙོམས་འདི་བདུན་བྱང་ཆུབ་ཡན་ལག་སྟེ།།
མྱ་ངན་འདས་ཐོབ་བགྲོད་པའི་དགེ་ཚོགས་ལགས།། ༡༠༦ །།

ཤེས་རབ་མེད་པར་བསམ་གཏན་ཡོད་མིན་ཏེ།།
བསམ་གཏན་མེད་པར་ཡང་ནི་ཤེས་རབ་མེད།།
གང་ལ་དེ་གཉིས་[1]ཡོད་པས་སྲིད་པ་ཡི།།
རྒྱ་མཚོ་གནག་རྗེས་ལྷ་བུར་འཚལ་བར་བགྱི།། ༡༠༧ །།

ལུང་མ་བསྟན་པ་བཅུ་བཞི་འཇིག་རྟེན་ན།།
ཉི་མའི་གཉེན་གྱིས་རབ་གསུངས་གང་དག་ལགས།།
དེ་དག་རྣམས་ལ་བསམ་པར་མི་བགྱི་སྟེ།།
དེ་ཡིས་[2]བློ་ནི་ཞི་བར་བགྱིད་མ་ལགས།། ༡༠༨ །།

མ་རིག་པ་ལས་ལས་ཏེ་དེ་ལས་ནི།།
རྣམ་ཤེས་དེ་ལས་མིང་དང་གཟུགས་རབ་འབྱུང་།།
དེ་ལས་སྐྱེ་མཆེད་དྲུག་སྟེ་དེ་ལས་ནི[3]།།
རེག་པ་ཀུན་དུ་[4]འབྱུང་བར་ཐུབ་པས་གསུངས།། ༡༠༩ །།

---

[1] དེ་ཉིད་ སྡེ་དགེ ཅོ་ནེ།
[2] ཡི་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[3] དྲུག་སྟེ་དེ་དག་ལས། སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།

རིག་པ་ལས་ནི་ཚོར་བ་ཀུན་འབྱུང་སྟེ།།
ཚོར་བའི་གཞི་ལས་སྲིད་པ་འབྱུང་བར་འགྱུར།།
སྲིད་པས་ལེན་པ་བསྐྱེད་པར་འགྱུར་བ་སྟེ།།
དེ་ལས་སྲིད་པ་སྲིད་ལས་སྐྱེ་བ་ལགས།། ༡༡༠ །།

སྐྱེ་བ་ཡོད་ན་སྨྱ་ངན་ན་ཚ་དང་།།
འདོད་པས་ཕོངས་དང་འཆི་དང་འཇིགས་སོགས་ཀྱི།།
སྡུག་བསྔལ་ཕུང་པོ་ཤིན་ཏུ་ཆེ་འབྱུང་སྟེ།།
སྐྱེ་བ་འགགས་པས་འདི་ཀུན་འགག་པར་འགྱུར།། ༡༡༡ །།

རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་འདི་རྒྱལ་བ་ཡི།།
གསུང་གི་མཛོད་ཀྱི་གཅེས་པ་ཟབ་མོ་སྟེ།།
གང་གིས་འདི་ནི་ཡང་དག་མཐོང་བ་དེས[1]།།
སངས་རྒྱས་དེ་ཉིད་རིག་པས[2]རྣམས་མཆོག་མཐོང་།། ༡༡༢ །།

ཡང་དག་ལྟ་དང་འཚོ་དང་རྩོལ་བ་དང་།།
དྲན་དང་ཏིང་འཛིན་ངག[3]དང་ལས་མཐའ་དག།[4]

---

[4] ཀུན་ཏུ་ སྣར་ཐང་།
[1] སྟེ་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[2] རིག་པ་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།

ཡང་དག་རྟོག་ཉིད་ལམ་གྱི་ཡན་ལག་བརྒྱད།།
འདི་ནི་ཞི་བར་བགྱི་སླད་བསྒོམ་པར་བགྱི[1]།། ༡༡༣ །།

སྐྱེ་འདི་སྡུག་བསྔལ་སྲིད་པ་ཞེས་བགྱི་བ།།
དེ་ནི་དེ་ཡི་ཀུན་འབྱུང་རྒྱ་ཆེན་ཏེ།།
འདི་འགོག་པ་ནི་ཐར་པ་ལགས་ཏེ་དེ[2]།།
འཐོབ་བགྱི[3]འཕགས་ལམ་ཡན་ལག་དེ་བརྒྱད་ལགས།། ༡༡༤ །།

དེ་ལྟར་འཕགས་པའི་བདེན་པ་བཞི་པོ་དག།
མཐོང་བར་བགྱི་སླད་རྟག་ཏུ་བརྩོན་པར་བགྱི།།
པང་ན་དཔལ་གནས་ཁྱིམ་པ་རྣམས་ཀྱིས་ཀྱང་།།
ཤེས་པས་ཉོན་མོངས་ཆུ་བོ་ལས་བརྒལ་གྱི[4]།། ༡༡༥ །།

---

[3] དག་ གསེར་བྲིས། སྡེ་དགེ
[4] དྲན་དང་ཏིང་ངེ་འཛིན་ངག་ལས་མཐའ་དང་། སྣར་ཐང་།
[1] བགྱིད། སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[2] ལམ། སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[3] དེ་ཐོབ་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[4] བགྱི། རྡོར་གླིང་།

གང་དག་ཆོས་མངོན་བགྱིས་[1]པ་དེ་དག་ཀྱང་།།
གནམ་[2]ལས་བབས་པ་མ་ལགས་ལོ་ཏོག་བཞིན།།
ས་རུམ་ལས་[3]འབྲོན་མ་ལགས་དེ་དག་སྟོན།།
ཉོན་མོངས་རག་ལས་སོ་སོའི་སྐྱེ་བོར་བས།། ༡༡༦ ।།

བསྒྲིངས་དང་བྲལ་ལ་མང་དུ་གསོལ་ཅི་འཚལ།།
ཕན་པའི་གདམས་ངག་དོན་པོ་འདི་ལགས་ཏེ།།
ཁྱོད་ཀྱིས་ཐུགས་དུལ་མཛོད་ཅིག་བཅོམ་ལྡན་གྱིས།།
སེམས་ནི་ཆོས་ཀྱི་རྩ་བ་ལགས་པར་གསུངས།། ༡༡༧ ।།

ཁྱོད་ལ་དེ་སྐད་གདམས་པ་གང་ལགས་དེ།།
བས་པར་དགེ་སློང་གིས་ཀྱང་བགྱི་བར་དཀའ།།
འདི་ལ་གང་ཞིག་སྤྱོད་པའི་ངོ་བོ་དེའི།།
ཡོན་ཏན་བསྟན་པས་སྐུ་ཚེ་དོན་ཡོད་མཛོད།། ༡༡༨ ।།

ཀུན་གྱི་དགེ་བ་ཀུན་ལ་ཡི་རང་ཞིང་།།
ཉིད་ཀྱི་[4]ལེགས་པར་སྤྱད་པ་རྣམ་གསུམ་ཡང་།།

---

[1] བགྱིད་ སྣར་ཐང་།
[2] གནས་ སྣར་ཐང་།
[3] ནས་ སྣར་ཐང་།

སངས་རྒྱས་ཉིད་ཐོབ་བགྱི་སྐད་ཡོངས་བསྔོས་ནས།།
དེ་ནས་དགེ་བའི་ཕུང་པོ་འདི་ཡིས་ཁྱོད།། ༡༡༩ །།

སྐྱེ་བ་དཔག་ཏུ་མེད་པར་ལྷ་མི་ཡི།།
འཇིག་རྟེན་ཀུན་གྱི་རྣལ་འབྱོར་དབང་མཛད་ནས།།
འཕགས་པ་སྤྱན་རས་གཟིགས་དབང་སྤྱོད་པ་ཡིས།།
འགྲོ་བ་[1]ཉམ་ཐག་མང་པོ་རྗེས་བཟུང་སྟེ།། ༡༢༠ །།

འཁྲུངས་ནས་ན་ཆ་འདོད་ཆགས་ཞེ་སྡང་རྣམས།།
བསལ་ཏེ་སངས་རྒྱས་ཞིང་དུ་བཅོམ་ལྡན་འདས།།
འོད་དཔག་མེད་དང་འདྲ་བར་འཇིག་རྟེན་གྱི།།
མགོན་པོ་སྐུ་ཚེ་དཔག་ཏུ་མེད་པར་མཛོད།། ༡༢༡ །།

ཤེས་རབ་ཚུལ་ཁྲིམས་གཏོང་འབྱུང་གྲགས་ཆེན་དྲི་མ་མེད།།
ལྷ་ཡུལ་ནམ་མཁའ་དང་ནི་ས་སྟེང་རྒྱས་མཛད་ནས།།
ས་ལ་མི་དང་མཐོ་རིས་ལྷ་ནི་ན་ཆུང་མཆོག།
བདེ་དགས་[2]དགའ་བ་ངེས་པར་རབ་ཏུ་ཞི་མཛད་དེ།། ༡༢༢ །།

---

[4] ཉིད་ཀྱིས་ སྣར་ཐང་། གསེར་བྲིས།
[1] སྐྱེ་བོ་ མི་རིགས། ཧོར་སྒྲིང་།
[2] བདེ་དགའ་ སྣར་ཐང་།

ཉོན་མོངས་ཉམ་ཐག་སེམས་ཅན་ཚོགས་ཀྱི་འཇིགས་སྐྱེ་དང་།།
འཆི་བ་ཞི་འཛད་རྒྱལ་བའི་དབང་པོ་ཉིད་བརྙེས་ནས།།
འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་མིང་ཙམ་ཞི་ལ་མི་བསྙེངས་པ།།
མི་བགྲེས་ཉོངས་པ་མི་མངའི་གོ་འཕང་བརྙེས་པར་མཛོད།། ༡༢༣ ||

བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག་སློབ་དཔོན་འཕགས་པ་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛའ་བོ་བདེ་སྤྱོད་ལ་བསྐུར་བ་རྫོགས་སོ།། ||

རྒྱ་གར་གྱི་མཁན་པོ་སརྦཛྙདེབ་དང་། ཞུ་ཆེན་གྱི་ལོ་ཙྪ་བ་འབན་དེ་དཔལ་བརྩེགས་ཀྱིས་བསྒྱུར་ཅིང་ཞུས་ཏེ་གཏན་ལ་ཕབ་པའོ།། ||

|| || སརྦམངྒལམ྄ || ||

༄༅། །སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛད་པའི་བཤེས་པའི་
སྤྲིང་ཡིག་དང་། སློབ་དཔོན་བློ་གྲོས་ཆེན་པོས་
མཛད་པའི་དེའི་རྒྱ་ཆེར་བཤད་པ་
ཚིག་གསལ་ཅེས་བྱ་བ་
བཞུགས་སོ།།

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते।।

--मूलमध्यमककारिका, २४/१०

༄༅། །སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛད་པའི་བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག་དང་ སློབ་དཔོན་བློ་གྲོས་ཆེན་པོས་མཛད་པའི་དེའི་རྒྱ་ཆེར་བཤད་པ་ ཚིག་གསལ་ཅེས་བྱ་བ་བཞུགས་སོ།།

༄༅། །རྒྱ་གར་སྐད་དུ། བྱཀྟཔདཱ་སུཧྲྀལླེཁ་ཊཱི་ཀཱ། བོད་སྐད་དུ། བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག་གི་རྒྱ་ཆེར་བཤད་པ་ཚིག་གསལ་བ། འཕགས་པ་འཇམ་དཔལ་གཞོན་ནུར་གྱུར་པ་ལ་ཕྱག་འཚལ་ལོ། །སློབ་དཔོན་ཀླུ་སྒྲུབ་ཀྱིས་མཛའ་བོ་རྒྱལ་པོ་[1]བདེ་སྤྱོད་ལ་སྤྲིང་ཡིག་ཡོན་ཏན་ཅན་འདི་བསྐུར་བས་ན་བཤེས་པའི་འཕྲིན་ཡིག་ཅེས་བྱ་བའོ[2]།།

དེ་ལ་ཡོན་ཏན་རང་བཞིན་ཞེས་བྱ་བ་ནི་བོད་པ་སྟེ། སྔོན་གྱི་དགེ་བའི་རྩ་བ་ལས་ངེས་པར་སྐྱེད་པའི་ཕྱིར། རང་བཞིན་ནི་རྒྱུ་ཡིན་ནོ། །དེ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར། དགེ་[3]འོས་ཞེས་འཆད་པར་འགྱུར་ཏེ། གང་ཞིག་འདས་པའི་དུས་ན་དགེ་བ་བྱེད་པ་དེ་ནི། ད་ལྟར་བྱུང་བའི་དུས་ན། དགེ་[4]བའི་སྐལ་པ་ཅན་དུ་འགྱུར་རོ། །འདིས་ནི་འདི་དམ་པའི་ཆོས་མཉན་པའི་འོས་ཉིད་ཡིན་པར་བཤད་དེ། དེ་ལྟ་བས་ན་ཁྱོད་ཀྱིས་འཕགས་པའི་དབྱངས་འདི་དག་གསན་པའི་རིགས་སོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ། །དེ་དག་སུམ་ནི་བྱས། ཅིའི་ཕྱིར་ནི་བྱས་ཤེ་ན།. བདག་གིས་ནི།

དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་གསུང་བསྟན་ལས་བྱུངབའི།།
བསོད་ནམས་འདུན་སླད་འཕགས་པའི་དབྱངས་འདི་དག།

---

[1] རྒྱལ་པོ་ པེ། སྣ། ཅོ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] བྱའོ། པེ། སྣ། གསེར།

[3] དགེར་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] བདེ་ པེ། སྣ། གསེར།

ཚུང་ཟད་ཅིག་བརྟེན་བས་ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་སོ། །དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་གསུང་བསྟན་ཅེས་བྱ་བ་ནི་རབ་ཏུ་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་སྟེ། དེ་ལས་བྱུང་བའི་བསོད་ནམས་གང་ཡིན་པ་དེ་ལ་འདུན་པའི་ཕྱིར་བདག་གིས[1]། འཕགས་པའི་དབྱངས་འདི་དག་བརྟེན་བས་ཤིང་སྦྱར་གྱིས། གསན་པའི་རིགས་སོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ། །འཕགས་པའི་དབྱངས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཚིགས་སུ་བཅད་པའི་མིང་ངོ་། །དེ་དག་ཀྱང་ཅི་ཙམ་ཞིག་ཅེ་ན། ཚུང་ཟད་ཅིག་ཅེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། འདིས་ནི་ཚིག་མངས་པའི་འཇིགས་པ་སྤོང་བར་བྱེད་དོ། །རྣམ་པ་གཞན་དུ་ན། ཡོན་ཏན་རང་བཞིན་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཡོན་ཏན་གྱི་ངོ་བོ་ཉིད་ཅེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་སྟེ། འདིས་ནི་འདི་དགེ་བའི་མཚན་[2]ཉིད་ཡིན་པར་བཤད་དོ། །དགེ་[3]འོས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་དགེ་བར་འོས་པ་ཉིད་དེ། དགེ་བའི་བསམ་པ་ཅན་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་དགེ་བར་འོས་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་བས་ན་དམ་པའི་ཆོས་མཉན་པའི་རིགས་སོ་ཞེས་སྟོན་པར་བྱེད་དེ། དགེ་བ་ནི་དེའི་[4]སྔོན་དུ་འགྲོ་བ་ཅན་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ།། ལྷག་མ་ནི་སྔ་མ་ཡིན་ནོ། །གལ་ཏེ་ཁྱོད་ཀྱི་སྙན་དངགས་བཟང་པོ་མ་ཡིན་པ་འདི་མི་ཉན་ནོ་སྙམ་དུ་སེམས་ན་དེའི་ཕྱིར།

ཇི་ལྟར་བདེ་གཤེགས་སྐུ་གཟུགས་ཤིང་ལས་ཀྱང་།།

ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ཀྱང་ཞེས་བྱ་བའི་སྒྲས་[5]ནི། རྡོ་བ་དང་འཇིམ་པ་ལ་སོགས་པ་བསྡུའོ། །ཅི་འདྲའང་[6]རུང་ཞེས་བྱ་བ་དེས་ནི་བཟང་པོའམ་བཟང་པོ་མ་ཡིན་པ་ཡང་རུང་ཞེས་

---

[1] གི པེ།

[2] མཚན་ པེ། སྣ། ཅོ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[3] དགེར་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] དེ་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] སྒྲ་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] འདྲ་ཡང་ པེ། སྣ། གསེར།

བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །ཇི་ལྟར་ཤིང་ལས་དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་སྐུ་གཟུགས་བྱས་པ་ཅི་འདྲའང་རུང་བ་[1]ནི་བཞི་པོའི་ཁྱད་པར་ལ་མཁས་པ་རྣམས་ཀྱིས་མཆོད་པར་བྱ་བ་ཡིན་པ་དེ་བཞིན་དུ་བདག་གི་སྙན་དངགས་འདི་ཡང་ངན་ཞིང་བཟང་པོ་མ་ཡིན་ཡང་། དམ་པའི་ཆོས་ཀྱི་གཏམ་ལ་བརྟེན་པའི་ཕྱིར་བསྔགས་པར་བྱ་བ་ཡིན་ནོ་ཞེས་སྟོན་པར་བྱེད་དེ[2]། བསྔགས་པར་བྱ་བ་ཡིན་པའི་ཕྱིར། མཉན་པར་བྱ་བ་ཡང་ཡིན་ནོ་སྙམ་དུ་དགོངས་པ་ཡིན་ནོ། །འོན་ཏེ[3]ངས་དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་བཀའ་རྣམས་ཤེས་ཟིན་པ་ཉིད་བས། ཡང་སྙན་དངགས་འདིས་ཇི་ཞིག་བྱ་སྙམ་དུ་སེམས་ན་དེའི་ཕྱིར།

ཐུབ་པ་ཆེན་པོའི་བཀའ་ནི་སྙན་དགུ་ཞིག།
ཁྱོད་ཀྱི་ཐུགས་སུ་ལྷ་ཡང་ཆུད་མོད་ཀྱི།།

ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ཡང་ཞེས་བྱ་བའི་སྒྲས་ནི་ཐོས་པ་དང་རབ་ཏུ་བཤད་པ་དང་བསྒོམ་པ་དག་བསྡུའོ། །འདི་སྐད་དུ་ཁྱོད་ཀྱི་ཐུབ་པ་ཆེན་པོ་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་བཀའ་སྙན་པ་དག་ལྷ་ཐུགས་སུ་ཆུད་མོད་ཀྱི། འོན་ཀྱང་སྙན་དངགས་འདི་སྙད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན།

རྡོ་ཐལ་ལས་བགྱིས་དཀྱུང་ཟླའི་འོད་ཀྱིས་ནི།།
ཆེས་དཀར་ཉིད་དུ་ཅི་སྟེ་མི་བགྱིད་ལགས།།

ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་སོ། །ནི་ཞེས་བྱ་བ་ནི་འདི[4]ལྟར་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་སྟེ། འདི་ལྟར་གཞལ་

---

[1] འདྲ་ཡང་རུང་བཟང་བ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] དོ། པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཏེ་ཡང་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] འདི་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲེས་སུ་མེད།

མེད་ཁང་[1]རྡོ་ཐལ་ལས་བྱས་པ་རང་བཞིན་གྱིས་དཀར་བ་ཡང་ཟླ་བའི་འོད་ཟེར་རྣམས་ཀྱིས་བཟླས་པ་བཞིན་དུ་དཀར་པོ་ཉིད་དུ་བྱེད་པས་བཀའ་སྩལ་ཟིན་པ་ལ་ཡང་བཟླས་ན། ཚེས་གསལ་བ་ཉིད་དུ་འགྱུར་བས་སྐན་དངགས་འདི་སྨད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལ་ཉོན་མོངས་པ་དང་སྐྱེ་བ་བག་ཆགས་དང་བཅས་པ་དེ་[2]མེད་པའི་ཕྱིར། ཐུབ་པ་ཆེན་པོ་ནི་[3]དེ་བཞིན་གཤེགས་པའོ། །ལེགས་པར་གསུངས་པའི་ཕྱིར་སྐན་པ་ཡིན་ནོ།།

འདི་མན་ཆད་རྒྱལ་བས་སངས་རྒྱས་ཆོས་དང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ནི་ཆོས་བསྟན་པ་ཡིན་ནོ། །སྡིག་པའི་ཆོས་ལས་རྒྱལ་བའི་ཕྱིར། རྒྱལ་བ་ནི་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་རྣམས་ཏེ་ཇི་སྐད་དུ།

སྡིག་པའི་ཆོས་ལས་ང་རྒྱལ་བས།།
དེ་བས་ཉེར་འགྲོ་ང་རྒྱལ་བའོ།།[4]

ཞེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུའོ། །རྗེས་སུ་དྲན་པ་དྲུག །རབ་ཏུ་བཀའ་སྩལ་ཞེས་བྱ་བ་དྲུག་གང་ཞེ་ན་འདི་ལྟ་སྟེ། སངས་རྒྱས་རྗེས་སུ་དྲན་པ་དང་། ཆོས་རྗེས་སུ་དྲན་པ་དང་། དགེ་འདུན་རྗེས་སུ་དྲན་པ་དང་། གཏོང་བ་རྗེས་སུ་དྲན་པ་དང་། ཚུལ་ཁྲིམས་རྗེས་སུ་དྲན་པ་དང་། ལྷ་རྗེས་སུ་དྲན་པའོ། །དེ་ལ་སངས་རྒྱས་ལ་དམིགས་པའི་དྲན་པ་ཉིད་རྗེས་སུ་དྲན་པ་ཡིན་ཏེ། དེ་བཞིན་དུ་ཐམས་ཅད་ལ་སྦྱར་རོ། །ཡང་རྗེས་སུ་དྲན་པ་དེ་དག་ཇི་ལྟར་བསྒོམ་པར་བྱ་ཞེ་ན། རང་རང་གི་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། སངས་རྒྱས་ལ་སོགས་པ་[5]སོ་སོའི་ཡོན་ཏན་རྣམས་

---

[1] གཞལ་མེད་ཁང་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།
[2] བཅས་ཏེ་ པེ། སྣ། གསེར།
[3] ནི་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།
[4] རྒྱལ་བ། པེ། སྣ། གསེར།
[5] པའི་ པེ། སྣ། གསེར།

ཀྱིས་[1]རྗེས་སུ་དྲན་པ་དེ་དག་རྗེས་སུ་དྲན་པར་བྱ་ཞིང་ཡིད་ལ་བྱའོ་ཞེས་བྱའི་ཐ་ཚིག་གོ །འདིར་ནི་སངས་རྒྱས་ལ་སོགས་པ་ཉིད་རྗེས་སུ་དྲན་པ་དག་ཡིན་པར་བཤད་དེ། རྗེས་སུ་དྲན་པའི་གནས་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེའི་ཕྱིར་སངས་རྒྱས་ལ་སོགས་པ་དེ་དག་རང་[2]རང་གི་ཡོན་ཏན་གྱི་[3]ཚོགས་རྣམས་ཀྱིས་[4]རྗེས་སུ་དྲན་པར་བྱའོ་ཞེས་བྱས་ན་ལེགས་པར་འགྱུར་བ་ཉིད་དོ།།

ཡང་སངས་རྒྱས་ལ་སོགས་པའི་ཡོན་ཏན་གང་དག་ཡིན་ཞེ་ན། རེ་ཞིག་སངས་རྒྱས་ཀྱི་ཡོན་ཏན་[5]ནི། འདི་ལྟར་དེ་ནི་བཅོམ་ལྡན་འདས་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་དགྲ་བཅོམ་པ་ཡང་དག་པར་རྫོགས་པའི་སངས་རྒྱས་རིག་པ་དང་ཞབས་སུ་ལྡན་པ། བདེ་བར་གཤེགས་པ་འཇིག་རྟེན་མཁྱེན་པ། སྐྱེས་བུ་འདུལ་བའི་[6]ཁ་ལོ་སྒྱུར་བ། བླ་ན་མེད་པ། ལྷ་དང་མི་རྣམས་ཀྱི་སྟོན་པ། སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཞེས་བྱ་བ་སྟེ། དེ་ལྟ་བུ་ལ་སོགས་པ་ནི། དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་ཡོན་ཏན་ཡིན་ནོ། །འདི་ལྟར་[7]བཅོམ་ལྡན་འདས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་[8]འཇིག་རྟེན་ན་སྣང་བའི་རྣམ་པར་[9]གྲགས་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི། འདི་ལྟར་བཅོམ་ལྡན་འདས། འདི་ལྟར་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཞེས་ཚིག་ཐམས་ཅད་དང་སྦྱར་བར་བྱ་སྟེ། འདི་ལྟ་བུ་ཡང་ཡིན། འདི་ལྟ་བུ་ཡང་

---

[1] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] རང་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[3] ཀྱིས་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] ཀྱི་ཡོན་ཏན་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[6] བ་ པེ།

[7] འདི་ལྟར་དེ་ནི་ པེ། སྣ། གསེར།

[8] ལ་ནི་ གསེར།

[9] རྣམ་པར་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

ཡིན་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །དེས་[1]འདོད་ཆགས་ལ་སོགས་པ་བཅོམ་པ་ཉིད་ཀྱིས་བཅོམ་ལྡན་འདས་སོ། །བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སྙིང་པོ་ལ་བཞུགས་པ་ལ། བར་ཆད་བྱ་བར་བརྩོན་པའི་བདུད་བཅོམ་པའི་ཕྱིར་ཡང་བཅོམ་ལྡན་འདས་སོ། །རྣམ་པ་གཅིག་ཏུ་ན་འདི་ལ་སྐལ་བ་ཡོད་པས་ན་བཅོམ་ལྡན་འདས་དེ་དབང་ཕྱུག་ལ་སོགས་པ་དང་ལྡན་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་དངོས་པོ་ཇི་ལྟ་བར་གནས་པ་[2]དེ་དག་དེ་བཞིན་དུ་རྟོགས་ཤིང་ཐུགས་སུ་ཆུད་པས་ན་དེ་བཞིན་གཤེགས་པའོ། །ཇི་སྐད་གསུངས་པ་དེ་[3]ཁོ་ན་ལྟར་ཡིན་གྱིས་གཞན་[4]དུ་མི་འགྱུར་བའི་ཕྱིར་ཡང་དེ་བཞིན་གཤེགས་པའོ།།

དགྲ་བཅོམ་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཉོན་མོངས་པའི་དགྲ་བཅོམ་པའི་ཕྱིར་རོ། །འཁོར་བའི་འཁོར་ལོའི་རྩིབས་བཅོམ་པས་འདིའི་ཕྱིར་ཡང་དགྲ་བཅོམ་པའོ། །སྙེད་པ་དང་བཀུར་སྟིས་མཆོད་པར་འོས་པའི་ཕྱིར་ཡང་དགྲ་བཅོམ་པའོ། །ཡང་དག་པར་རྫོགས་པའི་སངས་རྒྱས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་འདིས་ཆོས་རྣམས་ཡང་དག་པར་[5]ཕྱིན་ཅི་མ་ལོག་པར་ཀུན་ནས་སངས་རྒྱས་པས་ན་ཡང་དག་པར་རྫོགས་པའི་སངས་རྒྱས་སོ། །རིག་པ་དང་ཞབས་སུ་ལྡན་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་རིག་པ་དང་ཞབས་སུ་ལྡན་པ་སྟེ། མཁྱེན་པ་དང་ཞབས་ལྟ་བུ་ཚུལ་ཁྲིམས་དང་ཏིང་ངེ་འཛིན་དག་དང་ལྡན་པའི་ཕྱིར་རིག་པ་དང་ཞབས་སུ་ལྡན་པའོ། །བདེ་བར་གཤེགས་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་མཛེས་པའི་གནས་སུ་གཤེགས་པའི་ཕྱིར་བདེ་བར་གཤེགས་པ་ཞེས་བྱའོ། །ཕྱིར་མི་ལྡོག་པར་གཤེགས་པའི་ཕྱིར་ཡང་བདེ་བར་གཤེགས་པ་སྟེ། རིམས་ནད་ལེགས་པར་བྱང་བ་བཞིན་ནོ།།

---

[1] དེ་ལ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] ཇི་ལྟར་རྣམ་པར་གནས་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] དེ་དེ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] གནས་ པེ།

[5] པ་ པེ། སྣ། གསེར།

འཇིག་རྟེན་མཁྱེན་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་འཇིག་པས་ན་འཇིག་རྟེན་ནོ། །དེ་ཡང་རྣམ་པ་གཉིས་ཏེ། སེམས་ཅན་གྱི་འཇིག་རྟེན་དང་སྣོད་ཀྱི་འཇིག་རྟེན་ནོ། །དེ་དག་མཁྱེན་པས་ན་འཇིག་རྟེན་མཁྱེན་པ་སྟེ་སེམས་ཅན་གྱི་འཇིག་རྟེན་གྱི་ནི་རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བའི་ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་རྣམ་པར་གཞག་[1]པ་ཡོངས་སུ་མཁྱེན་པའི་ཕྱིར་དང་། སྣོད་ཀྱི་འཇིག་རྟེན་གྱི་ཡང་ས་དང་རི་ལ་སོགས་པ་འབྱུང་བ་དང་གནས་པ་[2]དང་ཚད་ལ་སོགས་པ་ཡོངས་སུ་མཁྱེན་པའི་ཕྱིར་འཇིག་རྟེན་མཁྱེན་པ་ཞེས་བྱའོ། །རྣམ་པ་གཅིག་ཏུ་ན་འཇིག་རྟེན་གྱི་ཐ་སྙད་བཟང་པོ་ཡོངས་སུ་མཁྱེན་པའི་ཕྱིར་འཇིག་རྟེན་མཁྱེན་པ་ཞེས་བྱའོ། །སྐྱེས་བུ་འདུལ་བའི་ཁ་ལོ་སྒྱུར་བ། བླ་ན་མེད་པ་ཞེས་[3]བྱ་བ་ལ། གདུལ་བར་རུང་བ་ནི་གདུལ་བའོ། །དེ་དག་ནི་སྐྱེས་བུ་ཡང་ཡིན་ལ། གདུལ་བ་ཡང་ཡིན་པས་སྐྱེས་བུ་གདུལ་བའོ། །དེ་དག་གི་ཁ་ལོ་སྒྱུར་བ་ནི་སྐྱེས་བུ་འདུལ་བའི་ཁ་ལོ་སྒྱུར་བ་སྟེ་དེ་དག་གདུལ་བའི་ཕྱིར་རོ། །བླ་ན་མེད་པ་ནི་ཉན་ཐོས་དང་རང་སངས་རྒྱས་དག་པས་ཁྱད་པར་དུ་འཕགས་པའི་ཕྱིར་ཏེ་འདུལ་བ་ནི་འདིར་འཕགས་པའི་ལམ་ཐོབ་པ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ། །དེས་ནི་འདི་འདུལ་[4]བར་འགྱུར་ཏེ། ཡང་དམུ་རྒོད་ཀྱི་ངོ་བོར་མི་འགྱུར་བའི་ཕྱིར་རོ། །ལྷ་དང་མི་རྣམས་ཀྱི་སྟོན་པ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་ལྷ་དང་མི་ཞེས་སྨོས་པ་ནི་དེ་དག་མཆོག་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རམ། འཕགས་པའི་ལམ་གྱི་སྣོད་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། །ཕྱིན་ཅི་མ་ལོག་པར་སྟོན་པའི་ཕྱིར་སྟོན་པ་སྟེ། དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་ཡོན་ཏན་འདི་དག་ནི་[5]བསམ་པ་

---

[1] བཞག་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] པ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[3] ཞེས་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[4] དུལ་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] འདི་ནི་ པེ། སྣ། གསེར།

ཇི་ལྟ་བ་བཞིན་དུ་[1]ཆོས་སྟོན་པས་རབ་ཏུ་ཕྱེ་བ་བསྟན་པ་ཡིན་པའི་ཕྱིར[2]། སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཞེས་བྱ་བ་ནི། དེ་ཁོ་ན་ཉིད་ཐུགས་སུ་ཆུད་པའི་ཕྱིར་སངས་རྒྱས་ཞེས་བྱ་སྟེ། ཚིག་གི་མཛུག་མི་མངོན་པར་བྱས་པའི་[3]ཕྱིར་རོ། །རྣམ་པ་གཅིག་ཏུ་ན་བློ་རྒྱས་པའི་ཕྱིར་ཏེ། པདྨ་རྒྱས་པ་བཞིན་ནོ། །ཡང་ན་མི་ཤེས་པའི་གཉིད་ལས་[4]སད་པའི་ཕྱིར་ཏེ་སྐྱེས་བུ་གཉིད་སད་པ་བཞིན་ནོ། །འདི་ནི་ཚིག་འདི་རྣམས་ཀྱི་བསྡུས་པའི་དོན་ཡིན་ཏེ། རྒྱས་པར་ནི་བསྟན་བཅོས་གཞན་དག་ལས་ཁོང་དུ་ཆུད་པར་བྱའོ། །སངས་རྒྱས་རྗེས་སུ་དྲན་པ་བཤད་ཟིན་ཏོ།།

ཆོས་ཀྱི་ཡོན་ཏན་ནི་ལེགས་པར་གསུངས་པ་ལ་སོགས་པ་[5]ཡིན་ཏེ། འདི་ལྟ་སྟེ་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་ཆོས་ནི་ལེགས་པར་གསུངས་པ་ཡང་དག་པར་མཐོང་བ་དང་ནད་མེད་པ་དུས་ཚད་པ་མེད་པ། འདི་མཐོང་བ་ལ་དོན་[6]ཡོད་པ། ཉེ་བར་གཏོད་པ། མཁས་པ་རྣམས་ཀྱི་[7]སོ་སོར་རང་གི་རིག་པར་བྱ་བ་སྟེ། བསྟན་པའི་ཆོས་དང་རྟོགས་པའི་ཆོས་ཞེས་བྱ་བ་ཆོས་རྣམ་པ་གཉིས་བསྟན་ཏོ། །དེ་ལ་བསྡུས་པའི་དོན་ནི་ལེགས་པར་གསུངས་པ་ཞེས་བྱ་བ་འདིས་ནི་ཐོག་མ་དང་བར་དང་ཐ་མར་དགེ་བ་ཉིད་ཀྱིས་[8]བསྟན་པའི་ཆོས་བཤད་ལ། ལྷག་མ་རྣམས་ཀྱིས་ནི་

---

[1] ཏུ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] ཕྱེ་བ་ཡིན་པར་བསྟན་ཏོ། པེ། སྣ། གསེར།

[3] བྱ་བའི་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] གཉིད་གཉིས་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] ལ་སོགས་པ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[6] དོན་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མི་སྣང་།

[7] ཀྱིས་ པེ། སྣ། གསེར།

[8] ཀྱིས་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

རྟོགས་པའི་ཆོས་བཤད་དོ་[1]ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ཏེ། ཧ་ཅང་ཚིག་མངས་སུ་དོགས་པས་མ་སྤྲོས་སོ།།

དགེ་འདུན་གྱི་ཡོན་ཏན་ནི་ལེགས་པར་ཞུགས་པ་ལ་སོགས་པ་ཡིན་ཏེ། འདི་ལྟ་སྟེ་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་ཉན་ཐོས་ཀྱི་དགེ་འདུན་ནི་ལེགས་པར་ཞུགས་པ། དྲང་པོར་ཞུགས་པ། རིགས་པར་ཞུགས་པ། མཐུན་པར་ཞུགས་པ་འདི་ལྟ་སྟེ། སྐྱེས་བུ་ཟུང་བཞི་དང་། སྐྱེས་བུ་གང་ཟག་ཡ་བརྒྱད་པོ་དག་ཡིན་ནོ། །བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་ཉན་ཐོས་ཀྱི་དགེ་འདུན་འདི་ནི་ཀུན་དུ་སྦྱིན་པའི་འོས་སུ་གྱུར་པ། རབ་ཏུ་སྦྱིན་པའི་འོས་སུ་གྱུར་པ། བསྙོར་བར་བྱ་བའི་འོས་སུ་གྱུར་པ། ཐལ་མོ་སྦྱར་བའི་འོས་སུ་གྱུར་པ། འཇིག་རྟེན་གྱི་བསོད་ནམས་ཀྱི་ཞིང་བླ་ན་མེད་པ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ། །འདིར་ཡང་བསྡུས་པའི་དོན་ནི་འཕགས་པའི་དགེ་འདུན་སློབ་པ་[2]དང་མི་སློབ་པའི་ཡོན་ཏན་རྣམ་པ་གཉིས་བསྟན་ཏེ་ལེགས་པར་ཞུགས་པ་ལ་སོགས་པ་ཚིག་བཞིས་ནི་བསླབ་པའི་ཡོན་ཏན་བཤད་དོ། །ཀུན་དུ་སྦྱིན་པའི་འོས་སུ་གྱུར་པ་ལ་སོགས་པས་ནི་མཆོད་པར་འོས་པ་ཉིད་ཀྱི་ཡོན་ཏན་བསྟན་ཏོ་ཞེས་བཤད་པ་[3]ཡིན་ནོ།།

གཏོང་བའི་ཡོན་ཏན་ནི་ཀྱེ་མ་བདག་སྐྱེ་བུའི་ཡོན་ཏན་ནི་[4]སེར་སྣའི་དྲི་མ་ཀུན་ནས་ལངས་པ་རྣམས་ཀྱི་ནང་ནས་སེར་སྣའི་དྲི་མ་དང་བྲལ་བའི་སེམས་ཀྱིས་གནས་ཤིང་མཆོད་སྦྱིན་ཁོར་མོར་བྱེད་པ་དང་། ལག་པ་རྐྱོང་བ་དང་། རྣམ་པར་གཏོང་བ་ལ་དགའ་བ་དང་། སྦྱིན་པ་ལ་འགོད་པར་དགའ་བ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་བདག་གིས་རྙེད་པ་ལེགས་པར་རྙེད་པ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ཏེ། འདིར་ཡང་རང་གི་རྒྱུད་དུ་གཏོགས་པའི་སྦྱིན་པའི་ཡོན་ཏན་སེར་སྣའི་དྲི་

---

[1] ལ། ལྷག་མ་རྣམས་ཀྱིས་ནི་རྟོགས་པའི་ཆོས་བཤད་དོ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་དཔར་མ་རྣམས་སུ་མི་གསལ།

[2] པ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[3] ཞེས་བྱ་བ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཀྱེ་མ་བདག་སྐྱེ་གུའི་ པེ། སྣ། གསེར།

མ་སྤངས་པ་དང་། སྦྱིན་པའི་ངང་ཚུལ་ཅན་དང་། ལུས་ཀྱིས་བརྩོན་འགྲུས་བརྩམས་པ་དང་། དངོས་པོ་ཡོངས་སུ་གཏོང་བ་དང་། དེ་ལ་མངོན་པར་དགའ་བ་ཞེས་བྱ་བ་རྣམས་བསྟན་ཏོ།།

ཚུལ་ཁྲིམས་ཀྱི་ཡོན་ཏན་ནི་བདག་གི་ཚུལ་ཁྲིམས་ནི་མ་ཉམས་པ། སྐྱོན་མེད་པ། མ་འདྲེས་པ། མ་གོས་པ། རང་དབང་ཡོད་པ། མཁས་པས་བསྔགས་པ། ཏིང་ངེ་འཛིན་བསྒྲུབ་པ་དག་ཡིན་ནོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ། །འདིར་ཡང་རང་གི་རྒྱུད་དུ་གཏོགས་པའི་ཚུལ་ཁྲིམས་ཁོ་ནའི་ཡོན་ཏན་རྣམས་བསྟན་ཏེ། ཚིག་རྣམས་ཀྱི་དོན་ནི་[1]འོག་ནས་བསྟན་པར་བྱའོ།།

ལྷའི་ཡོན་ཏན་ནི་རྒྱལ་ཆེན་རིས་[2]བཞི་པའི་[3]ལྷ་དག་དང་། སུམ་ཅུ་རྩ་གསུམ་པ་ནས་གཞན་འཕྲུལ་དབང་བྱེད་ཀྱི་བར་ག་ཡོད་དོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ཏེ། ལྷ་དེ་[4]རྣམས་དང་བདག་ཉིད་ཀྱི་ཡོན་ཏན་དག་རྗེས་སུ་དྲན་པར་བྱེད་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལ་སྐྱེ་བའི་ལྷ་རྣམས་ཀྱི་སྐྱེ་བའི་རྒྱུད་དུ་གྱུར་པའི་ཡོན་ཏན་དང་། བདག་ཉིད་ཀྱི་ཚུལ་ཁྲིམས་དང་། ཏིང་ངེ་འཛིན་དང་། ཤེས་རབ་ཀྱི་ཡོན་ཏན་རྣམས་ནི་ལྷའི་ཡོན་ཏན་ཡིན་ནོ་ཞེས་བཤད་དོ[5]། །དོན་དུ་ན་འདིར་རང་གི་ཡོན་ཏན་རྣམས་ཁོ་ན་ལྷའི་ཡོན་ཏན་དག་དང་མཚུངས་པར་བྱས་ནས་དྲན་པ་ནི་རྗེས་སུ་དྲན་པ་ཞེས་བྱ་བར་བཤད་དོ།།

རྗེས་སུ་དྲན་པའི་གནས་དྲུག་ནི་སེམས་དང་བར་བྱེད་པའི་ཕྱིར་དང་། བསོད་ནམས་ཆེན་པོ་[6]རྒྱུ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་དང་པོ་ཉིད་དུ་བསྟན་ནས། དེ་ལ་སེམས་མངོན་པར་དད་པས་དགེ་

---

[1] ནི་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] རིགས་ གསེར།

[3] བཞིའི་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] དེ་དག་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] དེ། པེ། སྣ། གསེར།

[6] ཆེན་པོའི་ པེ། སྣ། གསེར།

བ་བྱའོ་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར།

དགེ་བའི་ལས་ལམ་བཅུ་པོ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། འབྲས་བུ་ཡིད་དུ་[1]འོང་བའི་ཕྱིར་དགེ་བའོ། །བྱ་བའི་ངོ་བོ་ཉིད་ཡིན་པའི་ཕྱིར་ལས་ཀྱང་ཡིན་ལ། བདེ་འགྲོའི་ལམ་ཡང་ཡིན་པས་ལས་ཀྱི་ལམ་མོ། །ལས་ཀྱི་ལམ་བཅུ་པོ་དེ་དག་ཀྱང་གང་ཞེ་ན། འདི་ལྟ་སྟེ། སྲོག་གཅོད་པ་སྤོང་བ་དང་། མ་བྱིན་པར་[2]ལེན་པ་སྤོང་བ་དང་། འདོད་པས་[3]ལོག་པར་གཡེམ་པ་སྤོང་བ་དང་། བརྫུན་དུ་སྨྲ་བ་སྤོང་བ་དང་། ཕྲ་མ་སྤོང་བ་དང་། ཚིག་རྩུབ་མོ་སྤོང་བ་དང་། ཚིག་ཀྱལ་བ་སྤོང་བ་དང་། བརྣབ་སེམས་མེད་པ་དང་། གནོད་སེམས་མེད་པ་དང་། ཡང་དག་པའི་ལྟ་བ་སྟེ། དགེ་བའི་ལས་ཀྱི་ལམ་བཅུ་པོ་འདི་དག་བསྟེན་པར་བྱའོ། །ཡང་དེ་དག་ཇི་ལྟར་བསྟེན་པར་བྱ་ཞེ་ན། ལུས་དང་ནི། །ངག་དང་ཡིད་ཀྱིས་རྟག་ཏུ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། དེ་ལ་སྲོག་གཅོད་པ་སྤོངབ་ལ་སོགས་པ་གསུམ་ནི་ལུས་ཀྱིས་རྟག་ཏུ་བསྟེན་པར་བྱའོ། །བརྫུན་དུ་སྨྲ་བ་སྤོང་བ་ལ་སོགས་པ་བཞི་ནི། ངག་གིས་རྟག་ཏུ་བསྟེན་པར་བྱའོ།། བརྣབ་སེམས་མེད་པ་ལ་སོགས་པ་གསུམ་ནི་ཡིད་ཀྱིས་རྟག་ཏུ་བསྟེན་པར་བྱའོ། །རྟག་ཏུ་ཞེས་བྱ་བ་འདིས་ནི་ལས་ཀྱིས་བྱས་པ་དང་བསགས་པ་སྟོན་པར་བྱེད་དོ།།

དེ་ལ་ཇི་ལྟར་སྲོག་གཅོད་པར་འགྱུར་ཞེ་ན། སྲོག་ཆགས་[4]ཕ་རོལ་ཡང་ཡིན་སྲོག་ཆགས་ཡིན་པར་ཡང་འདུ་ཤེས། གསད་པའི་སེམས་ཀྱང་ཉེ་བར་གནས་པར་གྱུར། བརྩོལ་བ་[5]ཡང་བྱས། དེས་ཀྱང་ཤི་ན་སྲོག་བཅད་པ་ཡིན་ཏེ། སྡིག་པའི་ཁྱད་པར་ནི་གཞི་དང་བསམ་

---

[1] ཏུ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] སྲོག་ཆགས་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[5] བཙལ་བར་ པེ། སྣ། གསེར།

པ་དང་སྦྱོར་བའི་ཁྱད་པར་ལས་རིག་པར་བྱའོ།།

ཇི་ལྟར་མ་བྱིན་པར་བླངས་པར་འགྱུར་ཞེ་ན། གཞན་གྱིས་ཡོངས་སུ་བཟུང་བ་ཡང་[1] ཡིན། གཞན་གྱིས་ཡོངས་སུ་བཟུང་བ་ཡང་འདུ་ཤེས། རྐུ་[2]བའི་སེམས་ཀྱང་ཉེ་བར་གནས། གནས་ནས་ཀྱང་སྤགས་ན་མ་བྱིན་པར་ལེན་པ་ཡིན་ཏེ། འདིར་སྡིག་པའི་ཁྱད་པར་ནི་རྫས་དེ་གང་གི་ཡིན་པ་དེའི་ཁྱད་པར་དང་སྦྱོར་བ་དང་བསམ་པའི་ཁྱད་པར་ལས་རིག་པར་བྱའོ།།

ཇི་ལྟར་འདོད་པས་ལོག་པར་གཡེམ་པར་འགྱུར་ཞེ་ན། བུད་མེད་གཞན་གྱིས་བསྲུངས་པའམ། ཆོས་ཀྱིས་བསྲུངས་པའམ། རང་གི་བུད་མེད་ལ་ཡང་དུས་མ་ཡིན་པ་དང་། གནས་མ་ཡིན་པ་དང་། ཡུལ་མ་ཡིན་པ་དང་། ཡན་ལག་མ་ཡིན་པ་འཁྲིག་པའི་ཆོས་བསྟེན་ན་[3] འདོད་པས་ལོག་པར་གཡེམ་པ་ཡིན་ཏེ། འདིར་ཡང་སྡིག་པའི་ཁྱད་པར་ནི་གཞི་དང་བསམ་པ་དང་སྦྱོར་བའི་ཁྱད་པར་ལས་རིག་པར་བྱའོ།།

དེ་ལ་ཇི་ལྟར་ན་བརྫུན་དུ་སྨྲས་པར་འགྱུར་ཞེ་ན། སླུ་བའི་བསམ་པ་དང་ལྟ་བ་[4]ཡིད་ལ་བཞག་ནས། དོན་རྣམ་པར་གོ་བ་ལ་ཚིག་ཏུ་སྨྲ་བའམ། ལུས་ཀྱི་རྣམ་པར་རིག་པར་བྱེད་པས་ཀྱང་[5]རུང་སྟེ་དེ་ལྟ་ན་བརྫུན་དུ་སྨྲས་པ་ཡིན་ཏེ། ཐེ་ཚོམ་ཟ་བའི་དངོས་པོ་ལ་ངེས་པ་བཞིན་དུ་སྨྲ་བ་ཡང་བརྫུན་སྨྲ་བ་ཁོ་ན་ཡིན་ནོ། །འདིར་ཡང་སྡིག་པའི་ཁྱད་པར་ནི་བསླུ་བར་བྱ་བའི་ཁྱད་པར་དང་བསམ་པའི་ཁྱད་པར་ལས་རིག་པར་བྱའོ།།

---

[1] ཡང་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] བརྐུ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ནས་ པེ།

[4] བའི་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] བྱེད་ཀྱང་ པེ། སྣ། གསེར།

ཇི་ལྟར་ཕྲ་མ་བྱས་པར་འགྱུར་ཞེ་ན། དགའ་[1]འདོད་པའམ་དབྱེ་བའི་བསམ་པས་འགའ་ཞིག་ལས་གཞན་ཞིག་ལ་མི་དགའ་བ་ཐོས་ནས་དེ་ལ་བསྙད་པར་གྱུར་པ་དང་། དེ་ལས་ཐོས་ནས་འདི་ལ་བསྙད་པར་གྱུར་ན་ཡང་དག་པ་ཡང་རུང་། ཡང་དག་པ་མ་ཡིན་པ་ཡང་རུང་སྟེ། དེ་ལྟ་ན་ཕྲ་མ་བྱས་པ་ཡིན་ནོ། །ཡང་དག་པ་མ་ཡིན་པ་སྨྲས་ན་ཡང་[2]བརྫུན་དུ་སྨྲས་པ་ཡང་ཅིའི་ཕྱིར་མི་འགྱུར་ཞེ་ན། ཁ་ཅིག་ན་རེ་འགྱུར་བ་ཁོ་ན་ཡིན་ནོ་[3]ཞེས་ཟེར་རོ། །དེ་ནི་དེ་ལྟར་གཟུང་བར་མི་བྱ་སྟེ། ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། འདི་དབྱེ་བའི་བསམ་པ་ཅན་ཡིན་གྱི། བསླུ་བའི་བསམ་པ་ནི་མེད་པས་སོ། །དེ་ལྟར་བྱས་ན་ཡང་དག་པ་མ་ཡིན་པ་ཚིག་རྩུབ་མོ་སྨྲས་ན་ཡང་བརྫུན་དུ་སྨྲས་པར་མི་འགྱུར་ཏེ། བསམ་པ་གཉིས་ཅིག་ཅར་མི་སྲིད་པའི་ཕྱིར་རོ།།

ཇི་ལྟར་ཚིག་རྩུབ་མོ་སྨྲས་པར་འགྱུར་ཞེ་ན་ཐོས་[4]པའི་སེམས་དང་ལྡན་པས། ཕ་རོལ་པོ་སྡུག་བསྔལ་བར་བྱ་བར་འདོད་པས་། དོན་མངོན་པར་གོ་བ་ལ་ཚིག་ཏུ་སྨྲ་ན་ཚིག་རྩུབ་མོ་སྨྲས་པ་ཡིན་ནོ།། དོན་མངོན་པར་མི་གོ་བ་ལ་ཚིག་འཁྱལ་[5]པར་འགྱུར་རོ།།

ཇི་ལྟར་ཚིག་འཁྱལ་པར་[6]སྨྲས་པར་འགྱུར་ཞེ་ན། བརྫུན་དུ་སྨྲ་བ་[7]ལ་སོགས་པ་གསུམ་མ་གཏོགས་པ་ཚིག་གཞན་གང་ཞིག་ཉོན་མོངས་པ་ཅན་གྱི་སེམས་ཀྱིས་བརྗོད་ན། དེ་ལྟར་ན་

---

[1] དབྱེ་བར པེ། སྣ། གསེར།

[2] ཡང་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[3] ཁོ་ནའོ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཁྲོས་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] བཀྱལ་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] བཀྱལ་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[7] སྨྲས་ པེ། སྣ། གསེར།

ཚིག་ཀྱལ་[1]བ་སྨྲས་པ་ཡིན་ནོ། །ལས་ཀྱི་ལམ་གསུམ་པོ་འདི་དག་ཀྱང་བརྫུན་དུ་སྨྲ་བ་བཞིན་ལུས་ཀྱིས་ཀྱང་བྱེད་ལ་[2]སྡིག་པའི་ཁྱད་པར་ཡང་བརྫུན་དུ་སྨྲ་བ་དང་འདྲ་བ་ཁོ་ནར་རིག་པར་བྱའོ།།

ཇི་ལྟར་བརྣབ་སེམས་སུ་འགྱུར་ཞེ་ན། གལ་ཏེ་གཞན་གྱི་བདོག་པ་དག་ལ་འདོད་པ་སྐྱེད་པར་བྱེད་ན་དེ་ལྟར་ན་བརྣབ་སེམས་སུ་འགྱུར་བ་ཡིན་ནོ།།

ཇི་ལྟར་གནོད་སེམས་ཡིན་ཞེ་ན། གལ་ཏེ་སེམས་ཅན་གཞན་ལ་ཞེ་སྡང་ན་དེ་ལྟ་ན་གནོད་སེམས་སུ་གྱུར་པ་ཡིན་ནོ།།

ཇི་ལྟར་ལོག་པར་ལྟ་བར་འགྱུར་ཞེ་ན། གལ་ཏེ་ལས་དགེ་བ་དང་མི་དགེ་བ་རྣམས་ཀྱི་འབྲས་བུ་མེད་དོ་སྙམ་དུ་ངེས་པར་སེམས་ན་དེ་ལྟ་ན་ལོག་པར་ལྟ་བར་འགྱུར་རོ། །ལས་ཀྱི་ལམ་གསུམ་པོ་འདི་དག་གི་སྡིག་པའི་ཁྱད་པར་ནི་བསམ་པའི་ཁྱད་པར་ཁོ་ན་ལས་རིག་པར་བྱ་ལ་བརྣབ་སེམས་ཀྱིས་ནི་དམིགས་པའི་དབང་གིས་ཀྱང་སྡིག་པའི་ཁྱད་པར་དུ་འདོད་དེ། མི་དགེ་བའི་ལས་ཀྱི་ལམ་བཅུ་པོ་འདི་དག་སྤོང་བའི་དབང་གིས་དགེ་བ་བཅུའི་ལས་ཀྱི་ལམ་བསྟེན་པར་བྱའོ།།

ཆང་རྣམས་ལས་ལྡོག་པར་མཛོད་ཅིག་ཅེས་བྱ་བ་ལ། ཆང་ནི་ཁ་ན་མ་ཐོ་བ་ཆེན་པོའི་རྒྱུ་ཉིད་ཡིན་མོད་ཀྱང་། སྤྱད་པ་ཁོ་ནས་མི་དགེ་བ་ཉིད་མ་ཡིན་པས་ལས་ཀྱི་ལམ་རྣམས་ཀྱི་ནང་དུ་མ་བཤད་དེ་དེ་ལྟ་བས་ན་ལོགས་ཤིག་ཏུ་དགག་པར་སྟོན་ཏོ། །མང་པོའི་ཚིག་ནི་ཆང་ནི་སྨྱོས་པར་འགྱུར་བ་ཉིད་དུ་ཁྱད་པར་མེད་ཀྱང་རྒྱུའི་ཁྱད་པར་ལས་རིག་པར་བྱ་སྟེ། བཙོས་

---

[1] བཀྱལ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] བྱེད་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

པའི་ཚང་ནི་བུ་རམ་ཚང་དང་། འབྲས་ཕྱེའི་ཚང་དང་། སྦྲང་རྩིའི་ཚང་སྟེ་[1]རྣམ་པ་གསུམ་མོ།། སྦྱར་བའི་ཚང་ནི་མེ་ཏོག་ལས་མནན་པ་ལ་སོགས་པ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ།།

དགེ་བའི་འཚོ་བ་ལ་ཡང་མངོན་པར་དགྱེས་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་མཛོད་ཅེས་བྱ་བར་སྦྱར་ཏེ། དགེ་བའི་འཚོ་བ་ནི་གཞན་ལ་མི་གནོད་པར་འཇུག་པ་གང་ཡིན་པའོ། །དེ་ལྟར་དགེ་བའི་ལས་ལ་རྣམ་པར་གནས་པས་བདོག་པ་ཇི་ལྟ་བ་བཞིན་དུ་སྦྱིན་པ་སྦྱིན་པར་བྱའོ་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར། **ཡོངས་སྤྱོད་གཡོ་བ**་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །སྤྱད་པར་བྱ་བ་ཡིན་པས། ཡོངས་སྤྱོད་དེ་འདི་ནི་སྦྱིན་པར་བྱ་བའི་དངོས་པོ་ཟས་དང་སྐོམ་ལ་སོགས་པའི་ཚིག་བླ་དགས་སོ། །ཡོངས་སྤྱོད་དེ་དག་ཀྱང་མི་བརྟན་པའི་ཕྱིར་གཡོ་བའོ། །ངོམས་མི་ཤེས་པའི་ཕྱིར་སྙིང་པོ་མེད་པ་སྟེ། འདིས་ནི་ཡོངས་སྤྱོད་རྣམས་ལ་ཀུན་དུ་འཛིན་པ་ལྡོག་པར་བྱེད་དོ། །**མཆིན་ནས**་ཞེས་བྱ་བ་ནི་རྫོགས་པར་བྱས་ནས་སོ། །དགེ་སློང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་སྦྱིན་པའི་ཞིང་རྣམ་པ་གསུམ་པོ་སྟོན་ཏོ[2]། །སྦྱིན་གནས་ཀྱི་ཞིང་ནི་དགེ་སློང་དང་བྲམ་ཟེ་རྣམས་སོ། །སྙིང་རྗེའི་ཞིང་ནི་བཀྲེན་པ་རྣམས་སོ། །ཕན་འདོགས་པའི་ཞིང་ནི་བཤེས་པ་རྣམས་སོ། །**ཚུལ་བཞིན**་ཞེས་བྱ་བ་འདིས་ནི་གུས་པར་བྱ་བ་བསྟན་ཏོ། །དེ་ནི་གཅིག་ཏུ་རྣམ་པར་སྨིན་པ་ཡིད་དུ་འོང་བའི་རྒྱུ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་ཏེ། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་དགེ་སློང་དག་བསོད་སྙོམས་[3]གུས་པར་བྱས་པ་རྣམས་ཀྱི་རྣམ་པར་སྨིན་པ་ནི་འདོད་པ་ལྷུག་པ། དགའ་བ་[4]ཡིད་དང་འཐད་པ་སོ་སོར་མྱོང་བར་འགྱུར་རོ་ཞེས་གསུངས་སོ།།

---

[1] ཚང་དང་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[2] གསུམ་སྟོན་ཏེ། ཅོ། སྣ། གསེར།

[3] བསོད་ནམས་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[4] དགའ་བ་ ཅོ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

སྦྱིན་ལས་གཞན་པའི་གཉེན་མཆོག་མ་མཆིས་སོ། །ཞེས་བྱ་བ་འདིས་ནི་སྦྱིན་པ་ཕན་[1] ཆེན་པོ་འདོགས་པ་ཡིན་པ་ཉིད་དུ་སྟོན་ཏེ། འདིས་ནི་འདིར་སྦྱིན་པ་ལ་བརྟེན་པར་བྱ་བ་[2]ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ། །ལོངས་སྤྱོད་རྣམས་ལ་མི་ལྟ་བས་ཚུལ་ཁྲིམས་ཡང་དག་པར་བླངས་ནས་བསྲུང་བར་བྱའོ་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར།།

ཁྱོད་ཀྱི་ཚུལ་ཁྲིམས་མ་ཉམས་མོད་མི་དམའ། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། ། དེ་ལ་མ་ཉམས་པ་ནི་ཇི་ལྟར་ཡང་དག་པར་བླངས་པ་ལས་གཅིག་ལས་ཀྱང་མ་འདས་པའི་ཕྱིར་རོ། །ཚུལ་ཁྲིམས་གཅིག་ལས་འདས་པས་ནི་ཉམས་པར་འགྱུར་རོ། །བསླབ་པ་མང་པོ་ཞིག་ལས་འདས་པས་ནི་སྐྱོན་ཅན་དུ་འགྱུར་རོ། །དེ་གཉི་ག་མེད་པར་བསྟན་པའི་ཕྱིར། **།མ་ཉམས་མོད་མི་དམའ་**ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། ཚུལ་ཁྲིམས་སྐྱོན་ཅན་ནི་མོད་དམའ་བ་ཡིན་ནོ། །མ་འདྲེས་ཞེས་བྱ་བ་ལ་ཚུལ་ཁྲིམས་འདྲེས་པ་ནི་མི་དགེ་བའོ། །འདྲེན་མར་འདུག་པ་གང་ཡིན་པ་སྟེ། དེ་མེད་པའི་ཕྱིར་མ་འདྲེས་པའོ། །མ་སྨྲགས་པ་ནི་སྲིད་པ་དང་ལོངས་སྤྱོད་ཀྱི་དོན་དུ་ཡོངས་སུ་མ་བསྔོས་པའི་ཕྱིར་རོ། །ཚུལ་ཁྲིམས་འདི་ཉིད་རྣམ་པ་གཞན་དུ་མི་འགྱུར་བའི་ཕྱིར་མ་གོས་པ་ཞེས་བྱ་སྟེ། གོས་པ་ནི་རྣམ་པ་གཞན་དུ་སྟོན་ཏོ། །མ་ཉམས་པ་ལ་སོགས་པའི་ཡོན་ཏན་དང་ལྡན་པའི་ཚུལ་ཁྲིམས་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་རང་དབང་ཡོད་པ་ཡང་ཡིན་ཏེ། སྲིད་པའི་བྲན་ཉིད་ལས་ཐར་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ཉིད་ཀྱི་ཚུལ་ཁྲིམས་དེ་ནི་མཁས་པ་འཕགས་པ་རྣམས་ཀྱིས་བསྔགས་པ་[3]ཡིན་ལ། ཏིང་ངེ་འཛིན་སྒྲུབ་པར་བྱེད་པ་ཡང་ཡིན་ཏེ། ཚུལ་ཁྲིམས་དང་ལྡན་

---

[1] ཕན་ པེ། སྣ། གསེར་ཁྲིས་སུ་མེད།

[2] བསྟན་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] པ་ཡང་ པེ། སྣ། གསེར།

པའི་སེམས་མཉམ་པར་འཇོག་པའི་ཕྱིར་རོ[1]། །ཚུལ་ཁྲིམས་དེ་ལྟ་བུ་དེ་[2]ཁྱོད་ཀྱིས་བརྟེན་པར་བྱའོ། །ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན།

ཁྲིམས་ནི་རྒྱུ་དང་མི་རྒྱུའི་ས་བཞིན་དུ། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ནི་ཞེས་བྱ་བའི་སྒྲ་ནི་འདི་ལྟར་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །ཇི་ལྟར་ས་ནི་འགྲོ་བ་རྒྱུ་བ་དང་མི་རྒྱུ་བའི་སྐྱེ་བ་དང་། གནས་པ་དང་འཕེལ་བའི་རྒྱུར་གྱུར་པ་དེ་བཞིན་དུ་ཚུལ་ཁྲིམས་ཀྱང་ཏིང་ངེ་འཛིན་ལ་སོགས་པ་ཡོན་ཏན་[3]ཐམས་ཅད་ཀྱི་གཞི་རྟེན་ཡིན་ནོ། །འདིས་ནི་གུས་པ་བསྐྱེད་པའི་ཕྱིར་ཚུལ་ཁྲིམས་ཀྱི་སྐྱེས་བུ་བྱེད་པའི་འབྲས་བུ་བསྟན་ཏེ། དེ་ལྟར་རེ་ཞིག་སྦྱིན་པ་དང་། ཚུལ་ཁྲིམས་སྤྱིར་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །ད་ནི་ཐེག་པ་ཆེན་པོ་ལ་གཟུད་པའི་ཆེད་དུ་སྦྱིན་པ་ལ་སོགས་པ་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པའི་[4]བསྡུས་པ་རྣམས་བསྟན་པའི་ཕྱིར།

སྦྱིན་དང་ཚུལ་ཁྲིམས་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །དེ་ལ་བྱང་ཆུབ་ཏུ་སེམས་བསྐྱེད་པས། སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ལ་ཕན་པར་བྱ་བའི་ཕྱིར། སྦྱིན་པ་ནི་སྦྱིན་པའི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་ཡིན་ཏེ་ཚུལ་ཁྲིམས་ལ་སོགས་པའི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་ཡང་དེ་དང་འདྲ་བར་རིག་པར་བྱའོ། །བཟོད་པ་ནི་འདིར་གཞན་གྱིས་གནོད་པ་བྱས་པ་ལ་མི་མཛེད་པའི་བཟོད་པ་དང་། སྡུག་བསྔལ་དང་དུ་ལེན་པའི་བཟོད་པ་ཞེས་བྱ་བ་བཟོད་པ་རྣམ་པ་གཉིས་སུ་བཞེད་དོ། །བརྩོན་འགྲུས་ནི་སེམས་ཅན་གྱི་དོན་དུ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་ཆོས་བཙལ་[5]བར་སྤྲོ་བའོ། །བསམ་གཏན་ནི་སེམས་ཅན་གྱི་དོན་བྱེད་པ་དང་། བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་ཏིང་ངེ་འཛིན་སྒྲུབ་པར་བྱེད་པའི་

---

[1] ཕྱིར་རོ། པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] དེ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[3] ཡོན་ཏན་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[4] པས་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] བཙལ་ པེ། སྣ། གསེར།

བསམ་གཏན་བཞི་པའོ[1]། །ཤེས་རབ་ནི་ཆོས་ཐམས་ཅད་ཡང་དག་པ་ཇི་ལྟ་བ་བཞིན་དུ་ཤེས་པར་བྱེད་པ་དང་། སེམས་ཅན་རྣམས་ལ་དོན་ཕྱིན་ཅི་མ་ལོག་པར་རབ་ཏུ་སྟོན་པར་བྱེད་པའི་རབ་ཏུ་བྱེད་[2]པ་གང་ཡིན་པ་སྟེ། ཤེས་རབ་དེ་ལྟ་བུ་ནི། ཉན་ཐོས་ལ་སོགས་པ་ལ་མེད་པའི་ཕྱིར་གཞལ་དུ་མེད་པ་ཞེས་བྱའོ།།

ཕ་རོལ་ཕྱིན་པ་འདི་དག་རྒྱས[3]མཛད་ཅེས་བྱ་བ་ནི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་འདི་རྣམས་སྐབས་ཤིག་ཅེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། སྲིད་པའི་རྒྱ་མཚོའི་ཕ་རོལ་ཕྱིན་པ་རྒྱལ་བའི་དབང་པོ་མཛོད། །ཅེས་བྱ་བ་སྨོས་སོ། །དེ་ལ་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་མཛོད་ཅེས་བྱ་བ་ནི་ཕ་རོལ་ཏུ་སོན་པར་གྱིས་ཤིག་ཅེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །གང་གིས་ཤེ་ན་སྲིད་པའི་རྒྱ་མཚོའོ། །ཉན་ཐོས་དང་རང་སངས་རྒྱས་དག་ཀྱང་སྲིད་པའི་རྒྱ་མཚོའི་ཕ་རོལ་ཏུ་སོན་པ་ཡིན་པས། རྒྱལ་བའི་དབང་པོ་ཞེས་བྱ་བས་ཁྱད་པར་དུ་བྱེད་དེ། འདི་སྐད་དུ་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་དྲུག་རྫོགས་ནས། སངས་རྒྱས་ཉིད་ཐོབ་པས[4]ཁྱོད་ཀྱིས་ཀྱང་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་རྣམས་རྫོགས་པར་གྱིས་ལ། སངས་རྒྱས་སུ་གྱིས་ཤིག་ཅེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ།།

དེ་བཞིན་དུ་སྦྱིན་པ་ལ་སོགས་པ་དང་ལྡན་པའི་ཁྱིམ་པ་དག་ཀྱང་ཡོད་པས་དེ་དག་གི་དགེ་བའི་ལས་གཞན་བསྟན་པའི་ཕྱིར།

གང་ལ་ཕ་དང་མ་དག་མཆོད་པ་ཡི།།
རིགས་དེ་ཚངས་བཅས········· །།

---

[1] བཞིའོ། པེ། སྣ། གསེར།

[2] རབ་བྱེད་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] སངས་རྒྱས་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཐོབ་པར་ པེ། སྣ། གསེར།

ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །དེ་ལ་རིགས་གང་ལ་ཕ་དང་མ་དག་མཆོད་པའི་ཞེས་བྱ་བ་འདིས་ནི། རིགས་འདི་ལ་མི་དང་མི་མ་ཡིན་པས་བྱས་པའི་གནོད་པ་མེད་པར་བསྟན་[1]ཏོ། །ཚངས་པ་དང་བཅས་པ་ཉིད་ཀྱིས་ནི་རིགས་དེ་ལྷས་བྱིན་གྱིས་བརླབས་པ་ཉིད་དུ་སྟོན་ཏོ། །སློབ་དཔོན་དང་བཅས་པ་ཉིད་ཀྱིས་ནི། བླ་མའི་ཁྱད་པར་གྱིས་བྱིན་གྱིས་བརླབས་པ་ཉིད་དུ་སྟོན་ཏོ། །གཞན་ཡང་མཐོང་བའི་ཆོས་དང་། ཚེ་ཕྱི་མའི་ཕན་ཡོན་བསྟན་པའི་ཕྱིར། **དེ་དག་མཆོད་**ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། དེ་གཉིས་ལ་མཆོད་པ་ནི་དེ་དག་ལ་མཆོད་པའོ། །ཕ་དང་མ་དག་ལ་མཆོད་པ་ནི་མཐོང་བའི་ཆོས་ལ་ཡང་དག་[2]པར་འགྱུར་ལ་ཕ་རོལ་ཏུ་ཡང་མཐོ་རིས་སུ་འགྱུར་ཏེ། དེ་ལྟ་བས་ན་ཁྱིམ་ན་གནས་པས་བསྒྲིམས་ཏེ་ཕ་དང་མ་དག་ལ་མཆོད་པ་བྱའོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ།།

ཁྱིམ་ན་གནས་པ་རྣམས་ལ་དུས་ཐམས་ཅད་དུ་ཚངས་པར་སྤྱོད་པ་དཀའ་བའི་ཕྱིར་ན་ཉིན་ཞག་གཅིག་པའི་ཚངས་པར་སྤྱོད་པ་ལ་ཡང་སྤྲུར་བའི་ཆེད་དུ་གསོ་སྦྱོང་ཡན་ལག་བརྒྱད་པ་བསྟན་པའི་ཕྱིར། **འཚེ་**དང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །དེ་ལ་འཚེ་བ་ནི་སྲོག་གཅོད་པའོ། །ཆོམ་རྐུན་ནི་མ་བྱིན་པར་ལེན་པའོ། །འཁྲིག་པ་ནི་བཤང་བ་དང་གཅི་བ་དང་ཁའི་ལམ་དུ་ལོག་པར་སྒྲུབ་པའོ། །བརྫུན་ནི་བརྫུན་དུ་སྨྲ་བའོ། །ཆང་ནི་བཙོས་པའི་ཆང་དང་སྦྱར་བའི་ཆང་ངོ་། །དུས་མིན་ཟས་ནི་ཉི་མ་ཕྱེད་ཡོལ་ནས་དུས་སུ་རུང་བའི་དངོས་པོ་སྤྱོད་པའོ། །མལ་སྟན་མཐོན་པོ་[3]ནི་ཁྲི་དང་ཁྲིའུ་ཚད་ལས་འདས་པའོ། །གླུ་དག་དང་གར་ནི་འཇིག་རྟེན་གྲགས་

---

[1] སྟོན་ ཐེ། སྣ། གསེར།

[2] གྲགས་ ཐེ། སྣ། གསེར།

[3] མཐོ་བ་ ཐེ།

པ་ཕོ་ནའོ། །སྙོམས་དང་ཕྲེང་བ་སྤྱོད་པ་ནི་ཆེ་བའི་དོན་དུ་བཀག་གི་ནད་པའི་[1]ནད་གསོ་བའི་ཕྱིར་ནི་མ་ཡིན་ནོ། །བརྒྱད་པོ་དེ་དག་ནི་གསོ་སྦྱོང་གི་ཡན་ལག་ཡིན་ནོ། །ཡང་འདི་དག་གང་གི་ཡན་ལག་ཆ་ཤེས་སུ་གྱུར་པ་ཡིན་པ། འདིའི་སྡོམ་པ་གཞན་གང་ཞིག་ཡོད་ཅེ་ན། འགའ་ཡང་མེད་དེ་འོན་ཀྱང་སྤྱིའི་[2]ཡན་ལག་ཅེས་བྱ་སྟེ། ཕྱི་མ་ལ་ཡན་ལག་ལྔ་པ་བཞིན་ནོ།།

ཡང་ཡན་ལག་འདི་དག་[3]ཉིད་དགྲ་བཅོམ་པའི་ཚུལ་ཁྲིམས་ཀྱི་རྗེས་སུ་བྱེད་པ་ཡིན་ནམ་ཞེ་ན། གང་གི་ཕྱིར་འདི་སྐད་དུ།

དགྲ་བཅོམ་ཚུལ་ཁྲིམས་རྗེས་སུ་བྱེད་པ་ཡི།། [4]
ཡན་ལག་བརྒྱད་པོ་འདི་དག་དང་ལྡན་ན།།

ཞེས་བཤད་དེ་འདི་སྐད་དུ་ཡན་ལག་དང་པོ་འདིས་བདག་འཕགས་པ་དགྲ་བཅོམ་པ་དེ་དག་གི་ཚུལ་ཁྲིམས་ཀྱི་རྗེས་སུ་སློབ་པོ། །རྗེས་སུ་བགྱིད་དོ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་འབྱུང་ངོ་ཞེ་ན། འདིར་དགྲ་བཅོམ་པའི་ཚུལ་ཁྲིམས་ནི་ཡན་ལག་རྣམས་ཡིན་ལ། དགྲ་བཅོམ་པའི་ཚུལ་ཁྲིམས་ཀྱི་རྗེས་སུ་བྱེད་པ་ནི་གང་ཟག་ཡིན་པར་སྣང་ངོ་། །དེ་ལྟ་ཡིན་དང་འདིར་རྟེན་གྱིས་བརྟན་པ་བསྟན་ཏེ། དཔེར་ན་ཁྲིའུ་དག་སྒྲོགས་སོ་ཞེས་བྱ་བ་ལྟ་བུ་ཡིན་པས་ཉེས་པ་མེད་དོ།།

ད་ནི། གསོ་སྦྱོང་འདོད་སྤྱོད་ཟླ་ལུས་ཡིད་འོང་བ། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་གསོ་སྦྱོང་གི་སྡོམ་པ་འདིའི་རྣམ་པར་སྨིན་པའི་འབྲས་བུ་སྟོན་པར་བྱེད་དེ། འདི་སྐད་དུ། ཉིན་ཞག་གཅིག་པའི་གསོ་སྦྱོང་གི་སྡོམ་པས་ནི་འདོད་པ་ན་སྤྱོད་པའི་ལྷ་དྭག་གི་ནང་གར་འདོད་པར་སྐྱེ་

---

[1] ནད་པའམ་ པེ། གསེར།

[2] སྤྱིའི་རེ་རེ་ལ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] དག་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[4] ཡིས། པེ། སྣ། གསེར།

བར་འགྱུར་རོ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །**སྐྱེས་པ་བུད་མེད་དག་ལ**་ཞེས་བྱ་བ་ནི་སྐྱེས་པ་དག་དང་བུད་མེད་ག་ལ་སྦྱིན་པར་བྱེད་ཀྱིས[1]། གཞན་མ་ཉིང་ལ་སོགས་པ་ལ་ནི་མ་ཡིན་ཏེ། དེ་དག་ལ་སྡོམ་པ་སྐྱེ་བ་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །**སྐྱོལ་བར་བགྱིད**་ཅེས་བྱ་བ་ནི་སྦྱིན་པར་བྱེད་པའོ།།

ཁྲིམས་པ་དེ་དག་ཉིད་ལ་བྱ་བ་ངན་པ་ལ་ཆགས་པའི་ཉེས་པས་སེར་སྣ་ལ་སོགས་པ་འབྱུང་ལ། དེ་དག་ཀྱང་ངན་སོང་གི་རྒྱུ་ཡིན་པས་དེ་ལས་བཟློག་པར། **སེར་སྣ**་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །དེ་ལ་**སེར་སྣ**་ནི་སྦྱིན་པ་དང་མི་མཐུན་པར་རང་གི་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་ལ་ཀུན་ཏུ་འཛིན་པའོ། །**གཡོ**་ནི་སེམས་ཀྱི་གྱུ་བ་སྟེ་གང་གིས་ན་རང་གི་བསམ་པ་རབ་ཏུ་མི་བརྟན་པའོ།། **སྒྱུ**་ནི་གཞན་སླུ་བ་སྟེ་གང་གིས་ན་འདི་ལྟར་འདིས་བསམ་པ་ཤེས་ནས་གླ྄་རྙེད་པར་མི་འགྱུར་བར་[2]གཞན་སྐྲོངས་པར་བྱེད་པའོ། །**ཆགས་པ**་ནི་བདག་ལ་སྲེད་པ་དང་ཡོངས་སྤྱོད་ལ་སྲེད་པའོ། །**སློམ་ལས**་ནི་བརྩོན་འགྲུས་ཀྱི་མི་མཐུན་པའི་ཕྱོགས་ཀྱི་ཆོས་ཏེ། ལེ་ལོ་ཞེས་བྱའོ[3]། །**མངོན་པའི་ང་རྒྱལ**་ནི་ཁྱད་པར་ཐོབ་པར་བྱ་བ་མ་ཐོབ་པར་བདག་གིས་ཐོབ་བོ་སྙམ་དུ་ང་རྒྱལ་བྱེད་པ་གང་ཡིན་པའོ། །**འདོད་ཆགས**་ནི་འཁྲིག་པ་ལ་སྲེད་པའོ། །**ཞེ་སྡང**་ནི་སེམས་ཅན་རྣམས་ལ་ཀུན་ནས་མནར་སེམས་པ་སྟེ། ཆོས་བརྒྱད་པོ་འདི[4]་དག་དང་། རིགས་ཀྱིས་རྒྱགས་པ་ལ་སོགས་པ་ལྔ་དང་མི་དགེ་བའི་ཆོས་བཅུ་གསུམ་ལ་དགྲ་བཞིན་དུ་བལྟ་བར་བྱ་སྟེ། དེ་རྣམས་དང་ལྷན་ཅིག་འགྲོགས་པར་མི་བྱའོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །དེ་ལ་རྒྱགས་པ་ནི་ཆོས་དེ་

---

[1] ཀྱི། པེ། སྣ། གསེར།

[2] འདི་ལྟར་འདིས་བསམ་པ་ཤེས་ནས་གླགས་རྙེད་པར་མི་འགྱུར་བར་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་པར་མར་ཡིག་ཕྲེང་འདི་མི་གསལ།

[3] ཞེས་པའོ། པེ། སྣ། གསེར།

[4] དེ་ པེ། སྣ། གསེར།

རྣམས་ཀྱིས་སེམས་གཟེངས་རབ་ཏུ་མཐོབ་པ་[1]སྟེ། གང་གིས་ན་ར་རོ་བ་བཞིན་དུ་ཆོས་དང་ཆོས་མ་ཡིན་པ་སྒྲུབ་པར་མི་འགྱུར་བའོ[2]། །དེ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར་རྒྱགས་པ་ནི་རང་གི་ཆོས་ལ་ཆགས་པའི་སེམས་ནི་ཡོངས་སུ་གཏུགས་པའོ་ཞེས་འབྱུང་སྟེ། རང་གི་ཆོས་ལ་སོ་སོའི་[3]འདོད་ཚོགས་ཀྱིས་དེ་ཁོ་ན་ལ་སེམས་དེ་ཡོངས་སུ་གཏུགས་ཤིང་ཡོངས་སུ་ཟད་པར་འགྱུར་གྱི། ཆོས་སམ་ཆོས་མ་ཡིན་པ་གཞན་སྒྲུབ[4]པར་མི་འགྱུར་བ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །

ཁྱིམ་པ་རྣམས་ལ་ཡང་བག་དང་བཅས་པར་བྱ་བ་ཡོད་པས་དེ་དག་དེ་ལ་དགོད་པར་བཞེད་ནས། བག་ཡོད་བདུད་རྩིའི་གནས་ཏེ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། བག་ཡོད་པ་ནི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་བདུད་རྩིའི་རྟེན་ཡིན་ནོ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །བག་མེད་པ་ནི་འཆི་བའི་གནས་ཡིན་ནོ། །ཇི་ལྟར་ཤེས་ཤེ་ན། ཐུབ་པས་བཀའ་སྩལ་ཏོ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །དེ་བཞིན་གཤེགས་པས་བཀའ་སྩལ་པའི་ཕྱིར་རོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་སྟེ།

བག་ཡོད་བདུད་རྩིའི་གནས་ཡིན་ཏེ།།
བག་མེད་པ་ནི་འཆི་བའི་གནས།།
བག་ཡོད་འཆི་བར་མི་འགྱུར་ཏེ།།
བག་མེད་པ་ནི་རྟག་ཏུ་འཆི།། [5]

ཞེས་ཚིགས་སུ་བཅད་པ་དེ་བཀའ་སྩལ་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལ་བག་ཡོད་པ་ནི་དགེ་བའི་ཆོས་བསྒོམ་པའོ། །བཟློག་པ་ནི་བག་མེད་པ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ།།

---

[1] མཐོ་བ་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[2] མི་འགྱུར་རོ། ཡེ། སྣ། གསེར།

[3] ལ་སོང་བའི་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[4] བགྲུབ་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[5] ཚིགས་སུ་བཅད་པའི་མདོ། བག་ཡོད་ལེའུ། ཤློཀ ༡

དེ་བས་ཁྱོད་ཀྱིས་དགེ་ཆོས་སྤེལ་སླད་དུ། །ཞེས་བྱ་བ་ནི་གང་གི་ཕྱིར་དེ་ལྟར་བག་ཡོད་པ་ཕན་ཡོན་ཆེ་བ་དེའི་ཕྱིར་ཁྱོད་ཀྱིས་དགེ་བའི་ཆོས་སྤེལ་བར་བྱ་བའི་ཕྱིར་རྟག་ཏུ་བག་ཡོད་པར་བྱ་སྟེ། དགེ་བའི་ཆོས་ལ་གོམས་པ་དོར་བར་མི་བྱའོ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ།།

འོན་ཏེ་ཁྱོད་ཀྱིས་ཁོ་བོའི་དོན་ཞིག་བྱ་བར་ཆད་ན། དང་པོ་ཉིད་ནས་ཅི་སྟེ་མ་སྨྲས་ཁོ་བོ་སྔར་བག་མེད་པར་གྱུར་ཟིན་པས། བག་ཡོད་པས་ཅི་བྱར་ཡོད་སྙམ་དུ་སེམས་ན་དེའི་ཕྱིར། **གང་ཞིག་སྔོན་ཆད་བག་མེད་གྱུར་པ་ལས།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། འདི་སྐད་དུ། གང་ཞིག་སྔོན་ཆད་བག་མེད་པར་གྱུར་པ་དེ་ཡང་གལ་ཏེ་ཕྱིས་བག་ཡོད་པ་ལ་བརྟེན་ན་དེ་ནི་མཛེས་པ་ཉིད་དེ། དཔེར་ན་ཟླ་བ་སྤྲིན་དང་བྲལ་བ་བཞིན་ནོ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །ཅི་[1] སེམས་ཅན་དེ་ལྟ་བུར་འགའ་ཙམ་མཐོང་ངམ་ཞེ་ན། །མཐོང་ངོ་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར། དགའ་བོ་སོར་ཕྲེང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །དགའ་བོ་ཞེས་བྱ་བ་ཤཱཀྱ་གཞོན་ནུ་འདོད་ཆགས་ཆེན་པོ་ཞིག་ཡོད་དེ། དེ་ནི་རང་གི་ཆུང་མ་ལ་ཤིན་ཏུ་ལྷག་པར་ཆགས་པས་དེ་མེད་པར་ཐང་ཅིག་ཙམ་ཡང་དགའ་བ་[2]མི་སྤྱོད་དོ། །དེ་འདྲ་བ་དེ་དེ་བཞིན་གཤེགས་པས་ཁྱིམ་ནས་ཁྲིད་དེ་རབ་ཏུ་ཕྱུང་ངོ་། །རབ་ཏུ་ཕྱུང་ཡང་ཉིན་དང་མཚན་དུ་དེ་ཁོ་ན་ལ་རྗེས་སུ་རྟོག་པར་བྱེད་ཀྱིས་ཆོས་ལ་ནི་མ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལྟ་བུ་ལ་[3]དེ་བཞིན་གཤེགས་པས་དགྲ་བཅོམ་པ་ཉིད་ཐོབ་པའི་དབང་དུ་[4]མཛད་དོ།།

---

[1] ཇི་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] བ་ པེ། སྣ། གསེར་ཁྲིས་སུ་མེད།

[3] ལས་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] དབར་དུ་ པེ། སྣ། གསེར།

སོར་མོའི་ཕྲེང་བ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་བྲམ་ཟེའི་བུ་ཞིག་གོ །དེ་ནི་བླུན་པོ་ཞིག་སྟེ་འདི་ལྟར་དེས་ཆོས་སུ་འགྱུར་རོ་ཞེས་བྱ་བ་བླ་མའི་ལུང་མཐུན་ནས་མི་དགུ་བརྒྱ་དགུ་བཅུ་རྩ་དགུ་བསད་དོ། །དེ་[1]ཡང་ཕྱིས་དེ་བཞིན་གཤེགས་པས་རབ་ཏུ་ཕྱུང་ནས། ཁམས་གསུམ་ལས་འདོད་ཆགས་དང་བྲལ་བར་གྱུར་ཏོ།།

མཐོང་ལྡན་ནི་མ་སྐྱེས་དགྲའོ། །དེ་ནི་ཞེ་སྡང་ཅན་ཞིག་སྟེ། འདི་ལྟར་དེས་མི་དགེ་བའི་གྲོགས་པོ་དང་ཕྲད་པ་དང་། སྔོན་གྱི་ཤ་ཁོན་ཆགས་པས་ཕ་ཆོས་དང་ལྡན་པའི་རྒྱལ་པོ་གསད་[2]དོ། །དེ་ཡང་དགེ་བའི་བཤེས་གཉེན་དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་བསྟན་[3]པ་ཁོ་ན་ལ་བརྟེན་ནས། དམྱལ་བའི་མེའི་བུད་ཤིང་ལས་ཐར་རོ།།

རིགས་ཀྱི་བུ་བདེ་བྱེད་[4]ཡང་ཚུལ་བཞིན་མ་ཡིན་པ་ཡིད་ལ་བྱེད་པའི་དབང་གིས་གཞན་གྱི་ཆུང་མ་ལ་ཉལ་པོ་བྱ་བའི་ལེ་ལན་གྱིས་མ་བསད་ནས། དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་བསྟན་པ་ཁོ་ན་ལ་བརྟེན་ཏེ། ཕོ་ཡོང་བརྡབས་པ་དང་འདྲ་བར་དམྱལ་བའི་ཉེ་རྗེ་ལས་ཐར་ཏེ། མཐོ་རིས་ཀྱི་འཇིག་རྟེན་གྱི་བདེ་བ་ཉམས་སུ་མྱོང་བར་གྱུར་ཏོ་ཞེས་གྲགས་ཏེ། དེ་ལྟར་དགའ་བོ་ལ་སོགས་པ་དེ་དག་ཀྱང་སྔོན་བག་མེད་པར་གྱུར་པ་ལས་ཕྱིས་བག་ཡོད་པའི་དབང་གིས་སྡུག་བསྔལ་གྱི་ཁྱད་པར་དེ་དང་དེ་ལས་ཐར་པས། ཁྱོད་ཀྱང་སྔོན་བག་མེད་པར་གྱུར་དུ་ཟིན་ཀྱང་ཕྱིས་བག་ཡོད་པར་བྱ་དགོས་སོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ།།

---

[1] དེ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] བསད་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] པའི་བསྟན་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[4] བདེ་ལྡན་ པེ། སྣ། གསེར།

ཁྲིམས་པ་རྣམས་ལ་མི་འདོད་པ་དུ་མ་འཕབ་པའི་དབང་གིས་[1]ཁྲོ་བ་མང་བའི་ཕྱིར་དེ་ལ་འདུན་པ་ལས་བཟློག་པའི་ཆེད་དུ་བཟོད་པ་བསྟན་པའི་ཕྱིར[2]། **འདི་ལྟར་བཟོད་མཚུངས་དཀའ་ཐུབ[3]མ་མཆིས་པས།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །བཟོད་པ་དང་འདྲ་བའི་དཀའ་ཐུབ་ནི་མེད་ཀྱི་བཟོད་པ་ཁོ་ན་དཀའ་ཐུབ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་མཆོག་ཡིན་ཏེ། **བཟོད་པ་དཀའ་ཐུབ་དམ་པ་**ཞེས་ཚིགས་སུ་ཅད་པ་དེ་དག[4]བཀའ་སྩལ་པའི་ཕྱིར་རོ[5]། །འདི་སྐད་དུ་བཟོད་པ་དང་ལྡན་པ་ཁོ་ན་དཀའ་ཐུབ་ཅན་ཡིན་གྱི། སེམས་ཁྲོ་བས་ཉམས་པ་[6]ལ་རླུང་དང་ཆུ་དང་རྩ་བ་དང་འབྲས་བུ་ཟ་ཞིང་ལུས་སྐམ་པ་དང་། རལ་པ་དང་ཡོ་མ་དང་ཤིང་ཤུན་དང་། ཐལ་ཐུལ་གྱོན་པ་ནི་མ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །འདི་ལྟར་བཟོད་པ་དང་ལྡན་པས་ནི་ཉོན་མོངས་པ་རྣམས་གདུང་བར་བྱེད་ལ། ཅིག་ཤོས་ཀྱིས་ནི་ལུས་སོ། །ལུས་གདུངས་པ་ཙམ་གྱིས་ནི་བདེ་འགྲོ་ཡང་མི་ཐོབ་ན་ཐར་པ་ལྟ་ཞིག་སྨོས་ཀྱང་ཅི་དགོས། གང་གི་ཕྱིར།

དེ་ལྟར་བཟོད་པ་ཕན་ཡོན་ཆེ་བ་དེ་ཡི་ཕྱིར།།
ཁྱོད་ཀྱིས་ཁྲོ་བའི་གོ་སྐབས་དབྱེ་མི་བགྱི།།

བཟོད་པའི་ཡོན་ཏན་གཞན་ཡང་བསྟན་པའི་ཕྱིར། **ཁྲོ་བ་སྤངས་པས་ཕྱིར་མི་ཟློག་པ་ཉིད།** །ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ[7]། ཁྲོ་བ་སྤངས་པ་གང་གི་དབང་གིས་ན་འདོད་པའི་

---

[1] གི་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[2] བསྟན་པར། ཡེ། སྣ། གསེར།

[3] ཐུབ་དཀའ་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[4] ཅད་དེ་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[5] ཕྱིར། ཡེ། སྣ། གསེར།

[6] པ་ ཡེ། སྣ། གསེར་ཁྲིས་སུ་མེད།

[7] སྨོས་སོ། ཡེ། སྣ། གསེར།

ཁམས་སྡུག་བསྔལ་དུ་མ་དང་འབྲེལ་བར་འོང་བར་མི་འགྱུར་བའི་ཕྱིར་མི་ལྡོག་པ་ཉིད་ཀྱང་ཐོབ་སྟེ། གནས་འདི་ལ་ནི་སངས་རྒྱས་ཞལ་གྱིས་བཞེས་སོ། །གཉའ་བོ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་སྟེ། ཇི་སྐད་དུ་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་དགེ་སློང་དག་འདི་ལྟ་སྟེ། ཁྲོ་བ་སྤོངས་ཤིག་དང་། ཁྱོད་ཕྱིར་མི་ལྡོག་པའི་གཉའ་བོར་གྱུར་པ་ང་ཡིན་ནོ་ཞེས་བྱ་བ་ལྟ་བུའོ། །དེ་ལ་བཟོད་པ་གང་ཡིན་ཞེ་ན། མི་ཁྲོ་བ་དང་། ཁྲོ་བ་སྐྱེས་ན་ཡང་དེའི་མོད་ཁོ་ན་ལ་ཞི་བར་བྱེད་ཀྱིས་[1]ཞེ་ལ་འཛིན་པར་མི་བྱེད་པ་གང་ཡིན་པའོ། །དེ་ལ་ཁྲོ་བ་གང་ཞེ་ན། སེམས་ཅན་དང་སེམས་ཅན་མ་ཡིན་པ་དག་ལས་མི་འདོད་པ་ཉེ་བར་འབབ་པ་དེ་[2]ལྟར་བྱུང་བ་ལ་བརྟེན་ནས། སེམས་གཏུམ་པ་གང་ཡིན་པ་སྟེ། ཚིག་པ་ཟ་བ་ཞེས་ཀྱང་བྱའོ།།

བདག་ནི་འདིས་སྤྱོས་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་བཟོད་པ་ཁོ་ན་སྟོན་ཏོ། །ཁོན་དུ་འཛིན་པའི་ཡུལ་རྣམ་པ་བཞི་སྟེ[3]། འདིས་བདག་སྤྱོས་སོ། །འདིས་བདག་གཏགས་སོ། ། འདིས་བདག་ཕམ་[4]པར་བྱས་སོ། །འདིས་བདག་གི་ནོར་ཕྲོགས་སོ་ཞེས་དེ་ལྟར་ཁོན་དུ་འཛིན་ཅིང་དེ་ལྟར་གཞན་གྱིས་གནོད་པ་བྱས་པ་ཞེ་ལ་འཛིན་ན་ཁྲོ་བའི་ཉེས་རྩོམ་འཁྲུག་ལོང་རྣམས་སྐྱེད་དོ། །གང་གི་[5]སེམས་ལ་དེ་ལྟ་བུར་འཛིན་པ་མེད་ཅིང་ཁོན་དུ་འཛིན་པ་རྣམ་པར་སྤངས་པ་དེ་ནི་སེམས་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ་མེད་པའི་ཕྱིར། བདེ་བར་གཉིད་ཀྱིས་ལོག་གི །ཅིག་ཤོས་ནི་སེམས་སྡུག་བསྔལ་བར་འགྱུར་བའི་ཕྱིར་སྡུག་བསྔལ་ཞིང་གཉིད་ཀྱིས་ལོག་གོ །

---

[1] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།
[2] ད་ པེ། སྣ། གསེར།
[3] སྟོན་ཏོ། པེ། སྣ། གསེར།
[4] ཕན་ པེ།
[5] གིས པེ། སྣ། གསེར།

ད་ནི་**སེམས་ཅན་ཆུ་དང་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས། སེམས་ཅན་སོ་སོའི་སྐྱེ་བོ་ཐམས་ཅད་ལ་ཡང་ཇི་སྐད་བཤད་པའི་དགེ་བ་དང་མི་དགེ་བའི་སེམས་དག་ཀུན་དུ་[1]འབྱུང་བས། དེ་ལ་ཁྱོད་ཀྱིས་དགེ་བ་ལ་ནི་སེམས་བརྟན་པར་བྱས་[2]ལ། མི་དགེ་བ་ལ་ནི་སེམས་མི་བརྟན་པར་བྱའོ་ཞེས་བྱ་བ་དེ་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ནི་ཆུ་ལ་རི་མོ་བྲིས་པ་ལྟ་བུ་དང་། ས་ལ་རི་མོ་བྲིས་པ་ལྟ་བུ་དང་། རྡོ་ལ་རི་མོ་བྲིས་པ་རྣམ་པ་གསུམ་སྟེ། དེ་ལྟར་སེམས་ཅན་རྣམ་པ་གསུམ་དུ་རིག་པར་བྱའོ། །ཆུ་ལ་རི་མོ་བྲིས་པ་ལྟ་བུ་ཡང་ཁ་ཅིག་ནི་མི་དགེ་བ་ལའོ། །ཁ་ཅིག་ནི་དགེ་བ་ལ་སྟེ། རྡོ་ལ་རི་མོ་བྲིས་པའི་བར་ཡང་དེ་དང་འདྲའོ། །དེའི་ནང་ན་ཉོན་མོངས་པ་ཅན་རྣམས་ལ་ནི་དང་པོ་སྟེ། ཆུ་ལ་རི་མོ་བྲིས་པ་ལྟ་བུ་མཆོག་ཡིན་ལ། ཆོས་[3] འདོད་པ་རྣམས་ཀྱི་ནང་ན་ནི་[4]ཐ་མ་སྟེ། རྡོ་ལ་རི་མོ་བྲིས་པ་ལྟ་བུ་མཆོག་ཡིན་ནོ། །དེ་བས་ན་ཁྱོད་ཀྱིས་མི་དགེ་བ་ལ་ནི་ཆུ་ལ་རི་མོ་བྲིས་པ་ལྟ་བུར་བྱས་ལ། དགེ་བ་ལ་ནི་རྡོ་ལ་རི་མོ་བྲིས་པ་ལྟ་བུར་བྱའོ་སྙམ་དུ་དགོངས་པ་ཡིན་ནོ།།

ཇི་ལྟར་སེམས་ཅན་རྣམས་ཀྱི་སེམས་རྣམ་པ་གསུམ་ཡིན་པ་དེ་བཞིན་དུ་ངག་ཀྱང་རྣམ་པ་གསུམ་མོ་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར[5]། **རྒྱལ་བས་སྙིང་ལ་འབབ་པ་དང་།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། རྒྱལ་བས་ཚིག་རྣམ་པ་གསུམ་བཀའ་སྩལ་ཏོ་ཞེས་བྱ་བར་སྦྱར་རོ། །དེ་དག་གང་ཞེ་ན། **སྦྲང་རྩི་མེ་ཏོག་མི་གཙང་ལྟ་བུའི་ཚིག** །ཅེས་བྱ་བ་སྨོས་སོ།།

---

[1] ཀུན་ཏུ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] བྱ་ པེ། སྣ། དང་། བྱ་བ་ གསེར་བྲིས་པར་མ།

[3] ཆོས་ལ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ནི་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[5] ཕྱིར་རོ། པེ། སྣ། གསེར།

དེ་དག་ཀྱང་སུའི་ཡིན་ཞེ་ན།
སྙིང་ལ་འབབ་དང་བདེན་པ་དང་།།
ལོག་པར་སྨྲ་ལྡན་སྐྱེས་བུ་རྣམས་ཀྱིས་ནི།།

ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །ཚིག་སྙན་པ་ནི་སྦྲང་རྩི་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ། །དེ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར་སྙིང་ལ་འབབ་ཅིང་དགའ་བར་བྱེད་པས་ན་[1]སྙིང་ལ་འབབ་པ་ཞེས་བྱའོ། །ཚིག་བདེན་པ་ནི་[2]མེ་ཏོག་ལྟ་བུ་སྟེ། བསྔགས་པར་བྱ་བ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། །ཚིག་ལོག་པ་ནི་མི་གཙང་བ་ལྟ་བུ་སྟེ། སྨད་པའི་ཕྱིར་ཚིག་གསུམ་པོ་དེ་[3]དག་གི་ནང་ནས་[4]ཚིག་ཐ་མ་ནི་[5]མི་གཙང་བ་ལྟ་བུ་སྟེ། དེ་ཁྱོད་ཀྱིས་སྤང་བར་བྱའོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །

སེམས་ཅན་འཁོར་བ་ན་འཁོར་བ་རྣམས་ཀྱི་སྤྱོད་པ་རྣམ་པ་བཞི་སྟེ། དེ་བས་ན་ཁྱོད་ཀྱི་[6]སྤྱོད་པ་མཆོག་ལ་གནས་པར་བྱའོ་ཞེས་དེ་ལ་སྦྱར་བའི་ཕྱིར། སྣང་ནས་སྣང་བའི་མཐར་ཐུག་ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། མདོ་ལས་ནི་སྣང་བ་ལས་[7]སྣང་བའི་མཐར་[8]འགྲོ་བ་ཞེས་འབྱུང་ངོ་། །དེ་ལ་སྣང་ནས་སྣང་བའི་མཐར་ཐུག་ཅེས་བྱ་བ་ནི་ལྷ་དང་མིའི་[9]དབང་ཐང་

---

[1] ན་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།
[2] དེ་ཉི པེ། སྣ། གསེར།
[3] འདི་ པེ། སྣ། གསེར།
[4] ནས་ཐ་མ་སྤང་ པེ། སྣ། གསེར།
[5] ནི་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།
[6] ཀྱིས་ པེ། སྣ། གསེར།
[7] ནས་ པེ། སྣ། གསེར།
[8] སྣང་བར པེ། སྣ། གསེར།
[9] མི་ པེ། སྣ། གསེར།

ཆེན་པོ་རྣམས་ཀྱི་ནང་དུ་སྐྱེས་ནས་ཡང་དེ་ཉིད་དུ་སྐྱེ་བ་གང་ཡིན་པའོ། །མུན་པ་ནས་མུན་པའི་མཐའ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ངན་འགྲོའམ་མི་དབང་ཐང་ཆུང་ངུ་རྣམས་ཀྱི་ནང་དུ་སྐྱེས་ནས་ཡང་དེ་ཉིད་དུ་སྐྱེ་བ་གང་ཡིན་པའོ། །**སྣང་[1]ནས་མུན་[2]མཐར་ཐུག**་ཅེས་བྱ་བ་ནི་ལྷ་དང་མི་དབང་ཐང་ཆེན་པོ་རྣམས་ཀྱི་ནང་དུ་སྐྱེས་ནས། ངན་སོང་གསུམ་དང་མི་དབང་ཐང་ཆུང་བ་རྣམས་ཀྱི་ནང་དུ་སྐྱེ་བ་གང་ཡིན་པ་སྟེ་དཔེར་ན་འཛངས་དགའ་ལྟ་བུའོ། །**མུན་ནས་སྣང་བའི་མཐར་ཐུག**་ཅེས་བྱ་བ་ནི་ངན་སོང་གསུམ་དང་མི་དབང་ཐང་ཆུང་ངུ་[3]རྣམས་ཀྱི་ནང་དུ་སྐྱེས་ནས་ལྷའི་འཇིག་རྟེན་དང་མི་དབང་ཐང་ཆེན་པོ་རྣམས་ཀྱི་ནང་དུ་སྐྱེ་བ་གང་ཡིན་པ་སྟེ། དཔེར་ན་ལྷའི་བུ་སྤྲལ་བ་ལྟ་བུའོ། །དེ་དག་ནི་གང་ཟག་བཞི་སྟེ། དེ་དག་གི་ནང་ནས་དང་པོ་མཛད་དེ་[4]སྣང་བ་ནས་སྣང་བར་འགྲོ་བར་མཛོད་ཅིག་ཅེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ།།

ད་ནི་ཁྱིམ་པ་རྣམས་ནི་སེམས་ཅན་མང་པོ་དང་འགྲོགས་དགོས་ཏོ། །དེ་བས་ན་དེ་དག་ལ་ཇི་ལྟར་རིགས་པར་བསླབ་པར་[5]བསྟན་པའི་ཕྱིར། དེ་དག་གི་སྤྱོད་པའི་ཁྱད་པར་བསྟན་པ་ལ[6]། **མི་ནི་ཨམྲའི་འབྲས་བཞིན**་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །ཨམྲའི་འབྲས་བུ་ནི་རྣམ་པ་བཞི་སྟེ། ལ་ལ་ནི་མ་སྨིན་[7]ཡང་ཕྱི་རོལ་ནས་སྨིན་པ་ལྟ་བུར་སྣང་ངོ་། །ལ་ལ་ནི་སྨིན་ཡང་སྔོན་པོའི་ངོ་བོ་དང་མ་བྲལ་བས་མ་སྨིན་པ་ལྟ་བུར་སྣང་ངོ་། །ལ་ལ་ནི་མ་སྨིན་ལ་མ་སྨིན་པ་

---

[1] སྣང་བ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] མུན་པའི་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཆུང་བ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] མཛོད་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] བསླབ་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] ནི། པེ། སྣ། གསེར།

[7] སྨིན་པར་ པེ། སྣ། གསེར།

ཉིད་དུ་སྣང་ངོ་། །ལ་ལ་ནི་སླིན་[1]ལ་སླིན་པ་ཉིད་དུ་སྣང་ངོ་། དེ་དང་འདྲ་བར་གང་ཟག་ཀྱང་རྣམ་པ་བཞིར་རིག་པར་བྱ་སྟེ། དེ་ལ་དང་པོ་ནི་བསམ་པ་ཉམས་ལ་སྦྱོར་བ་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་ཡིན་ནོ། །གཉིས་པ་ནི་སྦྱོར་བ་ཉམས་ལ་བསམ་པ་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་ཡིན་ནོ། །གསུམ་པ་ནི་གཉི་ག་ཉམས་པ་ཡིན་ནོ། །བཞི་པ་ནི་[2]གཉི་ག་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་ཡིན་ནོ།།

དེ་ཁྱིམ་པ་རྣམས་ལ་ནི་འདོད་པས་ལོག་པར་གཡེམ་པ་སྤོང་དཀའ་བའི་ཕྱིར། དེ་ཡང་གཞན་གྱི་ཆུང་མ་མཐོང་བ[3]སྔོན་དུ་འགྲོ་བ་ཅན་ཡིན་པས་དེ་ལས་བཟློག་པའི་ཕྱིར། གཞན་གྱི་ཆུང་མ་མི་ལྟ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། མདོ་ལས་ནི་བཙུན་པ་བུད་མེད་ལ་ཇི་ལྟར་བསྒྲུབ་པར་བགྱི་ཞེས་གསོལ་བ་དང་། ཀུན་དགའ་བོ། མི་ལྟ་བས་སོ་ཞེས་བཀའ་སྩལ་ཏོ། །འདིར་ནི་ཁྱིམ་པའི་སྐབས་ཡིན་པས་གཞན་གྱི་ཆུང་མ་ཞེས་བཤད་དོ། །འོན་ཏེ་ཇི་ལྟར་མཐོང་བར་གྱུར་ན། དེ་ལ་ཡང་མ་དང་བུ་མོ་དང་། སྲིང་མོའི་འདུ་ཤེས་བསྐྱེད་པར་བྱའོ[4]། །དེ་ཡང་བཙལ་དུ་མ་ཡིན་གྱི། འོན་ཀྱང་ན་ཚོད་མཐུན་པར་རོ། །དེ་ལྟར་བསམས་ཀྱང་གལ་ཏེ་འདོད་ཆགས་སྐྱེ་བ་ལྟ་ན་ཆགས་པས་[5]ཆགས་པར་[6]གྱུར་ན་བུད་མེད་དེ་ལ་དྲི་ང་བ་དང་སྒོ་དགུ་ཛོད་པ་དང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ཇི་སྐད་འཆད་པར་འགྱུར་བ་ལྟ་བུར་མི་གཙང་བ་ཉིད་དུ་འང་ཡང་དག་པར་[7]བསམ་པར་བགྱིའོ[8]།།

---

[1] སླིན་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] ནི་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[3] མཐོང་བ་ པེ་ཅིང་པར་མར་དང་། མཐོང་ན་ སྣ། གསེར་པར་མ་རྟུ་གསལ།

[4] བགྱིའོ། པེ། སྣ། གསེར།

[5] ཆགས་པས་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[6] པར་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[7] པར་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

གལ་ཏེ་མི་གཙང་བ་ཉིད་དུ་བསམས་སུ་ཟིན་ཡང་གཙང་བའི་སེམས་བྱུང་ན། དེའི་ཚེ་ཇི་ལྟར་བྱ་ཞེ་ན་སེམས་བསྲུང་བར་བྱའོ་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར་རོ། **།གཡོ་བའི་སེམས་ནི་ཐོས་མཚུངས་བུ་ལྟ་བུར།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། འདི་སྐད་དུ། ཇི་ལྟར་འཇིག་རྟེན་ན་ཐོས་པ་ལ་སོགས་པ་དོན་ཆེན་པོ་ཉིད་ཀྱིས་[1]བསྲུང་བ་དེ་ཁོ་ན་བཞིན་དུ་ཁྱོད་ཀྱིས་སེམས་བསྲུང་བར་བྱའོ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །འདིར་ཡང་བསྲུངས་ན་བདེ་བ་ཐོབ་པར་འགྱུར་ཏེ། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་འདི་སྐད་དུ། **སེམས་དུལ་བ་[2]ནི་བདེ་བ་འཐོབ།**[3] །ཅེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུའོ།། གཞན་ཡང་གདུག་པ་ལ་སོགས་པ་བཞིན་དུ་འདོད་པའི་བདེ་བ་དག་ལ་ཡིད་འབྱུང་བར་གྱིས་ཤིག །དེ་ལ་གདུག་པ་ནི་སྦྲུལ་ལོ། །དེ་ནི་མ་རུངས་པ་ཉིད་ཀྱིས་ཡིད་འབྱུང་བའི་རྒྱུ་ཡིན་པས་སོ། །དུག་ནི་གསོད་པར་བྱེད་པའི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་སོ། །མཚོན་ནི་སྡུག་བསྔལ་བསྐྱེད་པའི་རྒྱུ་ཉིད་ཀྱིས་སོ། །དགྲ་བོ་ནི་བདེ་བའི་གེགས་བྱེད་པའི་རྒྱུ་ཉིད་ཀྱིས་སོ། །མེ་ནི་གདུང་བར་བྱེད་པའི་རྒྱུ་ཉིད་ཀྱིས་སོ། །ཡུལ་རྣམས་ཀྱང་བདག་དང་གཞན་ལ་གནོད་པའི་རྒྱུ་ཉིད་ཀྱིས་གདུག་པ་བཞིན་དུ་མ་རུངས་པ་ཡིན་ནོ། །དགེ་བའི་ལས་ཆུད་གཟོན་པར་བྱེད་པ་ཉིད་ཀྱིས་དུག་བཞིན་དུ་གསོད་པར་བྱེད་པའི་བདག་ཉིད་ཡིན་ནོ། །ཉོན་མོངས་འདྲེན་པར་བྱེད་པའི་ཕྱིར་མཚོན་བཞིན་དུ་སྡུག་བསྔལ་བསྐྱེད་པའི་རྒྱུ་ཡིན་ནོ། །ལྷ་དང་མིའི་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་ཐག་སྲིང་བར་བྱེད་པའི་ཕྱིར་དགྲ་བོ་བཞིན་དུ་བདེ་བའི་གེགས་བྱེད་པའི་རྒྱུ་ཡིན་ནོ། །འགྱོད་པ་བསྐྱེད་པའི་ཕྱིར་མེ་བཞིན་དུ་གདུང་[4]བར་བྱེད་པའི་རྒྱུ་ཡིན་ནོ། །དེ་བས་ན་འདོད་པའི་བདེ་ལ་ཡིད་

---

[8] བགྱི། པེ། སྣ། གསེར།

[1] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] བས་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཚིགས་སུ་བཅད་པའི་མདོ། ༣།༣

[4] གདུག་ གསེར།

འབྱུང་མཛོད། །གཞན་ཡང་འདོད་པ་རྣམས་ནི་ཕུང་བསྐྱེད་པར་བྱེད་པ་སྟེ། དེའི་ཕྱིར་ཡང་འདོད་པའི་བདེ་བ་དག་ལ་ཡིད་འབྱུང་བར་གྱིས་ཤིག །

ཡང་ན་ཅིའི་ཕྱིར་འདོད་པའི་བདེ་བ་ཉམས་སུ་སྤྱོང་བ་དག་ལ་གདུག་པ་ལ་སོགས་པ་བཞིན་དུ་ཡིད་འབྱུང་བར་བྱ་ཞེ་ན། འདོད་པ་རྣམས་ན་[1]ཕུང་བསྐྱེད་པ་སྟེ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །ནི་ཞེས་བྱ་བའི་སྒྲ་ནི་གང་གི་ཕྱིར་ཞེས་[2]བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །དེ་དག་ན་ཉེ་བར་སྤྱོད་པའི་དུས་ན་བདེ་བསྐྱེད་མོད་ཀྱིས། འོན་ཀྱང་མཇུག་ཏུ་ཕུང་བ་སྐྱེད་པར་བྱེད་པ་པོ་ན་ཡིན་པས་མཁས་པ་རྣམས་ཀྱིས་ཁ་ཟས་དུག་ཅན་བཞིན་སྤང་བར་བྱ་བ་པོ་ན་ཡིན་ནོ། །འདི་ལྟར་འདོད་པ་རྣམས་ནི་དང་པོ་དགའ་བར་བྱེད་པ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར་དང་ཐ་མར་ཡོངས་སུ་གདུང་བར་བྱེད་པ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར། **རྒྱལ་བའི་དབང་པོས་ཀིམྤའི**་འབྲས་འདྲར་གསུངས། །དཔེར་ན་ཀིཁྲཙབཀའི[3]འབྲས་བུ་ཤུནཔ་ཙམ་ཞིག་བཟང་གི་ནང་ངན་པ་དང་འདྲའོ། །གཞན་ཡང་འདོད་པ་རྣམས་ནི་འཁོར་བར་འཆིང་བའི་རྒྱུར་གྱུར་པའི་ཕྱིར་ཡང་[4]སྤང་བར་བྱ་བ་པོ་ན་ཡིན་ནོ་ཞེས་དེ་སྟོན་པར་བྱེད་དེ། དེའི་ལྕགས་སྒྲོག་གིས་འཁོར་བའི་བཙོན་རར་འཇིག་རྟེན་འདི་དག་བཅིངས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཡུལ་གྱི་ལྕགས་སྒྲོག་གི་འཁོར་བའི་བཙོན་རར་སེམས་ཅན་གྱི་འཇིག་རྟེན་འདི་བཅིངས་སོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ།།

ད་ནི་གང་ཞིག་དབང་པོ་ཚར་གཅོད་པར་བྱེད་པ་དེ་སྟགས་[5]པའི་སྒོ་ནས་དེ་ལ་ཕན་བསྐྱེད་པའི་ཕྱིར། གང་དག་དབང་པོ་དྲུག་ཡུལ་རྣམས་ལ་ནི། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ།

---

[1] ནི་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] བྱ་བའི་སྒྲ་ནི་གང་གི་ཕྱིར་ཞེས་ པེ། སྣ།

[3] ཀིམ་པའི་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཡང་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲེང་སུ་མེད།

[5] བསྟགས་ པེ། སྣ། གསེར།

ཡུལ་དང་ཕྲད་ནས་འགྱུར་བའི་ཕྱིར་དེ་ལ་མི་བརྟན་པ་ཞེས་བྱའོ། །ཡུལ་ལ་མངོན་པར་འདོད་པ་ཉིད་ཀྱིས་གཡོ་བ་ཡིན་ནོ། །གང་དག་ཅིག་དབང་པོ་དྲུག་པོ་དེ་དག་ལས་རྒྱལ་བར་བྱེད་པ་དང་། གང་དག་ཅིག་འཐབ་མོའི་གཡུལ་ངོར་དགྲའི་ཚོགས་ལས་རྒྱལ་བར་བྱེད་པ་དེ་དག་ལས་མཁས་ཤིང་མཛངས་པ་རྣམས་ནི། དང་པོ་དབང་པོ་ལས་རྒྱལ་བར་བྱེད་པ་གང་དག་ཡིན་པ་དཔའ་རབ་ཞིགས་[1]པར་འཚལ་ཏེ་འདོད་དོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །འདི་ལྟར་དུད་འགྲོ་ཡང་གཡུལ་ལས་རྒྱལ་བར་སྣང་སྟེ། དེ་དག་གིས་དབང་པོ་ལས་རྒྱལ་བར་བྱ་བར་མི་ནུས་སོ།།

གང་ཡང་མི་གཙང་བ་ཉིད་དུ་འང་ཡང་དག་བསམ་པར་བགྱི་ཞེས་བཤད་པ་དེ་བསྟན་པའི་ཕྱིར། བུད་མེད་གཞོན་ནུའི་ལུས་ནི་ཡོགས་ཤིག་ཏུ། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། ། དེ་ལ་ལུས་ཞེས་བྱ་བའི་[2]སྒྲ་ནི་ལུས་དྲི་ང་བ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པའི་ཚུལ་དུ་རེ་རེ་དང་སྦྱར་བར་བྱའོ། །འདིར་ལུས་ནི་དྲི་ང་བ[3]དང་། དབྱིབས་དང་། མི་གཙང་བའི་རྟེན་དང་ངོམས་མི་ཤེས་པ་དང་། ཁོང་ན་སྙིང་པོ་མེད་པའི་སྒོ་ནས་བཟང་པོ་མ་ཡིན་པ་རྣམ་པ་ལྔ་སྨོས་སོ[4]། །དེ་བས་ན་བུད་མེད་གཞོན་ནུའི་ལུས་འདི་ལྟ་བུ་ཡང་ཡོགས་ཤིག་ཏུ་ལྟོས་ལ། རྒྱན་ཡང་ཡོགས་ཤིག་ཏུ་ལྟོས་ཤིག་དང་། དེ་ནས་འདོད་ཆགས་ཀྱི་མེ་ཞི་བར་འགྱུར་གྱི། གང་གི་ཚེ་རྒྱན་རྣམས་དང་། ལུས་གཅིག་ཏུ་ཟླུམ[5]སྟེ་བལྟས་པ་དེའི་ཚེ་ནི་འདོད་ཆགས་ཀྱི་མེ་མཆེད་པ་ཁོ་ན་འགྱུར་བས་ཁྱོད་ཀྱིས་དེ་ལྟར་བལྟ་བར་མི་བྱའོ་སྙམ་དུ་དགོངས་པ་ཡིན་ནོ།།

---

[1] ལགས་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] བྱ་བ་ཤེས་བྱའི་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ང་བ་ པེ། སྣ། གསེར་ཁྲིམས་སུ་མེད།

[4] སྨོས། པེ། སྣ། གསེར།

[5] བཟླུམས་ པེ། སྣ། གསེར།

གཞན་ཡང་ངོམས་པར་བྱ་བའི་ཕྱིར་ལུས་ལ་ཉེ་བར་སྤྱོད་པར་འདོད་ན། འདོད་པ་རྣམས་ལ་ནི་བསྐལ་པ་བརྒྱ་ཕྲག་ཏུ་ཡང་ངོམས་པ་མེད་པས་དེ་དག་བསྟེན་ཏེ་[1]ཅི་བྱ་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར། **ཇི་ལྟར་མཛེ་ཅན་སྲིན་བུས་ཉེན་པ་ན།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །ཇི་ལྟར་མཛེ་ཅན་སྲིན་བུས་བཙུགས་པ་བསལ་བའི་ཕྱིར་མེ་བསྟེན་ཀྱང་ཞི་བར་མི་འགྱུར་བ་དེ་བཞིན་དུ་བྱིས་པ་དག་འདོད་པའི་གདུང་བ་བསལ་བའི་ཕྱིར་ཡུལ་རྣམས་བསྟེན་ཀྱང་ངོམས་པར་མི་འགྱུར་གྱི་རྣམ་པར་ཉམས་པར་འགྱུར་བ་འབའ་ཤིག་ཏུ་ཟད་དེ། འདི་ནི་རེ་ཞིག་[2]འདོད་པའི་འདོད་ཆགས་རྣམ་པར་གནོན་པར་[3]སྦྱོར་བ་བཤད་པ་ཡིན་ནོ།།

འདི་ཙམ་གྱིས་ནི་དེ་ཀུན་དུ་[4]འཆད་པ་མ་ཡིན་པས་ཁྱོད་དེ་ཀུན་དུ་[5]གཙད་[6]པར་འདོད་ན་ལམ་འདི་བསྒོམ་པར་བྱའོ་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར་རོ། **།དོན་དམ་གཟིགས་པར་བགྱི་སླད་དངོས་རྣམས་ལ།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སགས་པ་སྨོས་ཏེ། དོན་དམ་པར་[7]ནི་ཆོས་རྣམས་[8]ཀྱི་ངོ་བོ་ཉིད་ཕྱིན་ཅི་མ་ལོག་པའོ། །དེ་མཐོང་བར་བྱ་བའི་ཕྱིར་ཏེ། དེའི་ཡུལ་ཅན་གྱི་ཡེ་ཤེས་བསྐྱེད་པའི་ཕྱིར་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། **།དངོས་རྣམས་ལ། །ཚུལ་བཞིན་ཡིད་ལ་བགྱིད་པ་དེ།** །ཞེས་

---

[1] ཉེན་དེས་ པ། སྣ། གསེར།

[2] རེ་ཞིག་ པ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[3] པའི་ པ། སྣ། གསེར།

[4] ཏུ་ པ། སྣ། གསེར།

[5] ཏུ་ པ། སྣ། གསེར།

[6] བཅད་ པ། སྣ། གསེར།

[7] པ་ པ། སྣ། གསེར།

[8] རྣམས་ པ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

བྱ་བ་ནི་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་ཕུང་པོའི་[1]དངོས་པོ་རྣམས་ལ་དམིགས་ནས་ཚུལ་བཞིན་ཡིད་ལ་བྱེད་པ་སྟེ། དོན་དམ་པའི་ཡེ་ཤེས་སྐྱེ་བ་དང་། མཐུན་པའི་ཡིད་ལ་བྱེད་པ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །འདིར་ཡིད་ལ་བྱེད་པ་སྨོས་པས་ནི་སེམས་དང་སེམས་ལས་བྱུང་བའི་ཚོགས་མཐའ་དག་བཟུང་སྟེ། འདིར་གཙོ་བོ་བསྟན་པ་མཛད་པ་ཡིན་ནོ། **།ཡིད་ལ་བྱ་བ་དེ་གོམས་མཛོད།** །ཅེས་བྱ་བ་ནི་ཕྱིན་ཅི་མ་[2]ལོག་པའི་ཚུལ་དུ་ཡང་དང་ཡང་མངོན་དུ་བྱས་ནས་མནོས་ཤིག་ཅེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །དེ་ལྟར་བསྒོམས་ཏེ་ཅི་ཞིག་བྱ་ཞེ་ན། **དེ་དང་འདྲ་བར་ཡོན་ཏན་ལྡན་པ་ཡི།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །དོན་དམ་པའི་ཡེ་ཤེས་བསྐྱེད་ཅིང་ཉོན་མོངས་པ་ཉེ་བར་ཞི་བའི་རིམ་གྱིས་སེམས་ཅན་རྣམས་མྱ་ངན་ལས་འདའ་བའི་བདེ་བ་དང་སྦྱོར་བར་བྱེད་པ་གང་ཡིན་པ་འདི་ནི་ཡོན་ཏན་དང་ལྡན་པའི་ཆོས་ཡིན་ཏེ། འདི་དང་འདྲ་བའི་ཆོས་གཞན་ནི་འཇིག་རྟེན་ན་འགའ་ཡང་མེད་པས་འདི་ཁོ་ན་ཆོས་ཐམས་ཅད་པས་ཡོན་ཏན་དང་ལྡན་པ་ཡིན་ནོ། །ཡིད་ལ་བྱེད་པ་དེ་ཡང་ངེས་པར་[3]འབྱུང་བའི་ཆ་དང་མཐུན་པའི་གནས་སྐབས་ན་མི་རྟག་པ་དང་། སྡུག་བསྔལ་བ་དང་། སྟོང་པ་དང་བདག་མེད་པའི་རྣམ་པ་ཅན་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱ་སྟེ། དེ་ནི་འཕགས་པའི་ལམ་སྐྱེ་བ་དང་། མཐུན་པ་ཡིན་ནོ།།

ད་ནི་ཤེས་རབ་[4]འདིའི་ཆེ་བའི་བདག་ཉིད་བརྗོད་པའི་ཕྱིར། **སྐྱེས་བུ་རིགས་གཟུགས་ཐོས་དང་ལྡན་རྣམས་ཀྱང་།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། རིགས་དང་ལྡན་པ་རྒྱལ་རིགས་ཤིང་སྦལ་ཆེན་པོ་ལྟ་བུ་ལ་སོགས་པར་སྐྱེས་པ་དང་ལྡན་པ་[5]གང་དག་ཡིན་པ་དང་།

---

[1] པོ་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[2] མ་ ཅོ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[3] པས་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[4] ཤེས་པ་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[5] དང་ལྡན་པ་ ཅོ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

གཟུགས་དང་ཁ་དོག་དང་། དབྱིབས་དང་མཚན་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་གང་དག་ཡིན་པ་དང་། ཐོས་པ་དང་ལྡན་པ་བསྟན་བཅོས་ཐམས་ཅད་ལ་འཇིགས་པ་མེད་པ་གང་དག་ཡིན་པ་དེ་དག་ཀྱང་གལ་ཏེ་ཇི་སྐད་བཤད་པའི་ཤེས་རབ་[1]དང་ཚུལ་ཁྲིམས་དང་བྲལ་བའི་འཇིག་རྟེན་ན་བཀུར་བ་མ་ཡིན་ཞིང་། གུས་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ལ། ཡིད་བརྟན་པར་བྱ་བ་ཡང་མ་ཡིན་གྱིས[2]། རིགས་ལ་སོགས་པ་མེད་དུ་ཟིན་ཀྱང་ཤེས་རབ[3]དང་ཚུལ་ཁྲིམས་དང་ལྡན་ན་[4]མཆོད་པར་བྱ་བ་ཁོ་ན་ཡིན་པས། འདི་ཁོ་ན་ལ་འབད་པར་བྱའི། རིགས་ལ་སོགས་པས་ང་རྒྱལ་ནི་མི་བྱའོ་སྙམ་དུ་དགོངས་པ་ཡིན་ནོ། །འཇིག་རྟེན་མཁྱེན་པ་རྙེད་དང་མ་རྙེད་དང་། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་འཕགས་པའི་ལམ་སྐྱེ་བ་དང་མཐུན་པ་ཁོ་ན་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །འཇིག་རྟེན་གྱི་ཆོས་ལ་གནས་པ་ལ་[5]འཕགས་པའི་ལམ་སྐྱེ་བ་མེད་པའི་ཕྱིར། འདིས་གདོན་མི་ཟ་བར་འཇིག་རྟེན་གྱི་ཆོས་རྣམས་ལ་མཉམ་པ་ཉིད་རྙེད་དོ[6]། །འདིར་འཇིག་རྟེན་གྱི་ཆོས་ནི་རྙེད་པ་མ་རྙེད་པ་ལ་སོགས་པ་ལ་དམིགས་པའི་[7]ཡིད་བདེ་བ་དང་ཡིད་མི་བདེ་བ་ཡིན་གྱི། རྙེད་པ་ལ་སོགས་པ་ནི་མ་ཡིན་ཏེ། འཕགས་པ་རྣམས་ལ་ཡང་མངའ་བའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་དམིགས་པའི་དབང་གིས་འཇིག་རྟེན་གྱི་ཆོས་རྣམ་པ་བརྒྱད་ཉིད་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ། །དེ་ལ་མི་སྙན་པ་[8]

---

[1] ཤེས་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] གྱི། པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཤེས་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ན་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] ལ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[6] ཉིད་དོ། པེ། སྣ། གསེར།

[7] དམིགས་པའི་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[8] པ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

དང་སྨད་པ་ནི་ལྐོག་དང་ལྐོག་མ་ཡིན་པའི་བྱེ་བྲག་ལས་རིག་པར་བྱའོ། །འཇིག་རྟེན་གྱི་ཆོས་བརྒྱད་པོ་འདི་དག་**མགོ་སྐོམས་མཛོད་**ཅེས་བྱ་བ་ནི་ཡིད་བདེ་བ་དང་ཡིད་མི་བདེ་བ་མ་བསྐྱེད་ཅེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །དེ་ཉིད་ཀྱི་ཡིད་ཀྱི་ཡུལ་མ་ཡིན་པར་གྱུར་ཏེ། གང་གི་ཕྱིར་དེ་དག་གི་གཞི་ཅན་གྱི་ཉོན་མོངས་པ་འདིའི་སེམས་འཁྲུག་[1]པར་བྱེད་པ་རྣམས་སྐྱེ་བར་འགྱུར་བ་ལྟ་བུར། རྙེད་པ་དང་མ་རྙེད་པ་ལ་སོགས་པ་འདི་[2]ཡུལ་གྱི་དངོས་པོར་མི་འགྱུར་རོ།།

གཞན་ཡང་འཇིག་རྟེན་ན་ཆོས་མ་ཡིན་པ་ཡང་ཆོས་སུ་གྲགས་ཏེ། དེ་ལས་ལྡོག་པའི་ཕྱིར། **།ཁྱོད་ཀྱིས་བྲམ་ཟེ་དགེ་སློང་ལྷ་དང་ནི།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ཁྱོད་ཀྱིས་དགེ་སློང་དང་བྲམ་ཟེ་དང་ལྷ་དང་མགྲོན་དང་མ་ལ་[3]སོགས་པ་[4]འདི་དག་གི་དོན་དུ་སྡིག་པ་མི་བྱའོ། །ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན[5]། **དམྱལ་བའི་རྣམ་སྨིན་སྐལ་ནོད་འགའ་མ་མཆིས།** །ཞེས་[6]སྨོས་ཏེ། འདི་དག་གི་དོན་དུ་སྡིག་པ་བྱས་པ་ཡང་ཁྱོད་ཁོ་ན་དམྱལ་བའི་སྡུག་བསྔལ་དང་[7]སྤྱོར་བར་བྱེད་ཀྱིས[8]། མ་ལ་སོགས་པ་དེ་དག་དམྱལ་བའི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་སྐལ་པ་ལེན་པར་མི་བྱེད་དོ།།

---

[1] འཁྲུགས་ པེ། གསེར།
[2] འདིའི་ པེ། སྣ། གསེར།
[3] ལྷ་དང་མགོན་པོ་ལ་ པེ། སྣ། གསེར།
[4] པ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།
[5] ཞེ་ན། པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།
[6] ཞེས་བྱ་བ་ པེ། སྣ། གསེར།
[7] བསྔལ་ལ་ པེ། སྣ། གསེར།
[8] ཀྱི། པེ། སྣ། གསེར།

གལ་ཏེ་བྲམ་ཟེ་ལ་སོགས་པའི་དོན་དུ་སྡིག་པ་བྱས་པ་[1]རྣམ་པར་སྨིན་པ་མི་འདོད་པ་ཅན་དུ་གྱུར་ན། ཅིའི་ཕྱིར་དེའི་མོད་ལ་རྣམ་པར་སྨིན་པར་མི་འགྱུར་སྙམ་དུ་སེམས་ན། **སྡིག་པའི་ལས་རྣམས་སྤྱད་པ་འགའ་ཡང་ནི།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། འདི་སྐད་དུ་སྡིག་པའི་ལས་ཀྱིས་[2]དེའི་མོད་ཁོ་ན་ལ་མཚོན་ཆ་བཞིན་དུ་གཅོད་པར་མི་བྱེད་མོད་ཀྱི། འོན་ཀྱང་འཆི་བའི་དུས་ལ་བབ་པ་ན་སྡིག་པའི་ལས་ཀྱི་འབྲས་བུ་མངོན་པར་འགྱུར་རོ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །དུས་དེའི་ཚེ་དགེ་བ་དང་མི་དགེ་བའི་ལས་གང་བྱས་པ་དེ་མངོན་དུ་འགྱུར་ཏེ། དཔེར་ན་ཕྱེམ་རེད་ཀྱི་དུས་སུ་རི་བརྩེགས་པ་རྣམས་ཀྱི་གྲིབ་སོ་འབབ་པ་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ། །དེ་མཐོང་ནས་ཁ་ཅིག་ནི་བཞིན་མདངས་གསལ་བཞིན་དུ་འཆིའོ། །གཞན་དག་ནི་བཞིན་གྱི་མདོག་[3]ངན་པར་གྱུར་ནས་འཆིའོ། །དེ་དག་ཁོ་ན་ལ་དམིགས་ནས་འཆི་འཕོ་བའི་[4]སེམས་ཀྱི་མཇུག་ཐོགས་སུ་ཉིང་མཚམས་སྦྱོར་བའི་སེམས་འབྱུང་སྟེ། དེའི་ཚེ་[5]ན་ལས་ཀྱི་[6]རྣམ་པར་སྨིན་པ་[7]སྨིན་པར་འགྱུར་རོ། །འབྲས་བུ་ནི་རྣམ་པར་སྨིན་པའོ།།

དེ་ལྟར་འཇིག་རྟེན་གྱི་ཆོས་རྣམས་དང་ཕྲལ་ཏེ། འཕགས་པའི་ཆོས་ལ་དགོངས་[8]པར་བཞེད་ནས་**དད་དང་ཚུལ་ཁྲིམས་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་**སྨོས་[9]སོ། །དེ་ལ་དད་པ་ནི་ལས་དང་

---

[1] པ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།
[2] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།
[3] བཞིན་མདངས་ པེ། སྣ། གསེར།
[4] འཕོས་པའི་ པེ། སྣ། གསེར།
[5] དེ་ལྟར་ པེ། སྣ། གསེར།
[6] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།
[7] སྨིན་པ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།
[8] དགོད་ པེ། སྣ། གསེར།

འབྲས་བུ་དང་བདེན་པ་[1]དང་དཀོན་མཆོག་ལ་མངོན་པར་ཡིད་ཆེས་པའོ། །ཚུལ་ཁྲིམས་ནི་མི་དགེ་བ་སྤོང་བ་ཡང་དག་པར་ལེན་པའོ། །དེ་ཡང་སྡོམ་པ་རྣམ་པ་བརྒྱད་དུ་རིག་པར་བྱའོ། །འདི་ལྟ་སྟེ། དགེ་སློང་གི་སྡོམ་པ་དང་། དགེ་སློང་མའི་སྡོམ་པ་དང་། དགེ་སློབ་མའི་སྡོམ་པ་དང་། དགེ་སྦྱོང་གི་སྡོམ་པ་དང་། དགེ་སྦྱོང་མའི་སྡོམ་པ་དང་། དགེ་བསྙེན་གྱི་སྡོམ་པ་དང་། དགེ་བསྙེན་མའི་སྡོམ་པ་དང་། བསྙེན་གནས་ཀྱི་སྡོམ་པའོ། །གཏོང་བ་ནི་མཆོད་པ་དང་ཕན་འདོགས་པར་འདོད་པས་ཅི་རིགས་པར་དངོས་པོ་གཏོང་བ་གང་ཡིན་པའོ། །ཐོས་པ་ནི་དགེ་བའི་བསམ་པས་ཐར་པ་དང་། མཐུན་པའི་ཆོས་མཉན་པ་དང་འཛིན་པའོ[2]། །དྲི་མེད་ཅེས་ཟློས་པས་ནི་ཐོས་པ་རྣམ་པར་བྱང་བ་ཉིད་དུ་སྟོན་ཏོ། །ངོ་ཚ་ཤེས་པ་ནི་བདག་གི་དབང་དུ་བྱས་ནས། ཁ་ན་མ་ཐོ་བས་འཛེམ་པ་གང་ཡིན་པའོ། །ཁྲེལ་ཡོད་པ་ནི་གཞན་གྱི་དབང་དུ་བྱས་ནས་ཁ་ན་མ་ཐོ་བས་མཛེམ་པ་གང་ཡིན་པ་དང་། ཤེས་རབ་ནི་ཆོས་རྣམས་ཀྱི་རང་དང་སྤྱིའི་མཚན་ཉིད་རབ་ཏུ་རྣམ་པར་འབྱེད་པར་ཞུགས་པ་གང་ཡིན་པའོ། །དེ་དག་ནི་ནོར་བདུན་ལགས་པར་ཐུབ་པས་གསུངས་ཏེ། ཟག་པ་མེད་པའི་བདེ་བའི་རྒྱུ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་དང་ཐུན་མོང་མ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། །གསེར་ལ་སོགས་པ་འཇིག་རྟེན་ན་[3]གྲགས་པའི་ནོར་གཞན་ནི། དོན་མ་མཆིས་ཤིང་གསོབ་དང་ཡ་མ་བརླ་[4]སྟེ། ཉོན་མོངས་པ་ཉེ་བར་ཞི་བའི་རྒྱུ་མ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་དང་། ཐུན་མོང་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ།།

---

[9] པ་ཟློས་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[1] བདེ་བ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] འཛིན་པ་སྟེ། པེ། སྣ། གསེར།

[3] ན་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[4] བརླ་བ་ པེ། སྣ། གསེར།

དེ་ལྟར་འཕགས་པའི་ནོར་བསགས་པར་བཤད་ནས་དེ་ཚུད་མི་ཟ་བའི་[1]ཐབས། **རྒྱན་པོ་འགྱེད་**དང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །དེ་ལ་**རྒྱན་པོ་འགྱེད་**པ་ནི་ཚོ་ལོའི་[2]རྒྱན་པོ་འགྱེད་པ་ལ་སོགས་པ་རྣམ་པ་དུ་མའོ། །འདུས་[3]པ་ལ་ལྟ་བ་ནི་དགའ་སྟོན་ལ་སོགས་པ་ལ་སྐྱེ་བོ་ཕལ་པོ་ཆེ་འདུས་པའོ། །ཞི་ཤོ་ནི་དགེ་བ་བྱས་པ་དག་ལ་མི་སྤྲོ་བའོ། །སྡིག་པའི་གྲོགས་པོ་ནི་གང་ཟག་གང་ལ་བརྟེན་ནས་དགེ་བ་ལ་མི་འཇུག་ལ་མི་དགེ་བ་ལ་ནི་འཇུག་པར་འགྱུར་བའོ། །ཆང་ནི་བཙོས་པའི་ཆང་དང་སྦྱར་བའི་ཆང་ངོ་། **།མཚན་མོ་རྒྱུ་བ་**ནི་ཉི་མ་ནུབ་པ་དང་ཁྱིམ་གཞན་དང་གྲོང་གཞན་ལ་སོགས་པར་འགྲོ་བའོ། །དྲུག་པོ་དེ་དག་ནི་ངན་སོང་བ་ཡིན་ཏེ། དེ་དག་ལ་བརྟེན་ནས་ལོངས་སྤྱོད་དང་། འཚོ་བ་དང་དགེ་བའི་ཆོས་ཉམས་པར་འགྱུར་བའི་ཕྱིར་རོ། ། ངན་སོང་གི་རྒྱུ་ལ་ངན་སོང་ཞེས་བྱ་སྟེ། དཔེར་ན་ན་སྨན་ལ་[4]ཚེ་ཞེས་བྱ་བ་ལྟ་བུའོ། །མདོ་ལས་ནི་ཁྱིམ་བདག་གི་བུ་དྲུག་པོ་འདི་དག་ནི་ངན་སོང་གི་སྒོ་ཡིན་ནོ་ཞེས་གསུངས་ཏེ། དེར་ནི་རྒྱུའི་དོན་ཡིན་པར་གསལ་བ་ཁོ་ནར་གོའོ། །གྲགས་པ་ཉམས་པར་འགྱུར་བ་ཞེས་བྱ་བ་འདིས་ནི་དེ་དག་གི་ཉེས་དམིགས་གཞན་སྟོན་ཏོ། །གང་གི་ཕྱིར་དེ་ལྟར་[5]ཡིན་པས་དེ་དག་ལྷག་པར་སྤྱོད་པ་[6]ཡོངས་སུ་སྤང་བའི་སྒོ་ནས་སྤོང་ཤིག །

ཡང་ཕྱིའི་ནོར་གྱི་གཉེན་པོར་ཀུན་ནས་ཉོན་མོངས་པ་མེད་པའི་ཐབས་གཞན་བསྟན་

---

[1] ཟན་པའི་ ཡེ། སྣ། གསེར།
[2] འགྱེད་པའི་ཚོས་ལོས་ གསེར།
[3] ལུས་ ཡེ། སྣ། གསེར།
[4] མར་ལ་ ཡེ། སྣ། དང་། མར་མལ་ གསེར་ཕྲིས་པར་མ་དྭུ་གསལ།
[5] དེ་ལྟ་ ཡེ། སྣ། གསེར།
[6] པས་ ཡེ། སྣ། གསེར།

པའི་ཕྱིར[1]། ནོར་རྣམས་ཀུན་གྱི་ནང་ན་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། གསེར་ལ་སོགས་པ་ཕྱིའི་ནོར་ཐམས་ཅད་བས་ནི་ཚིག་ཤེས་པའི་ནོར་རབ་མཆོག་སྟེ། ཁྱད་པར་དུ་འཕགས་པ་ཡིན་པར་གསུངས་སོ། །སུས་ཤེས་[2]ན་ལྷ་མིའི་སྟོན་པས་ཏེ[3]། སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །གང་གི་ཕྱིར་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་དེ་སྐད་དུ་གསུངས་པ་དེའི་ཕྱིར་དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་བཀའི་རྗེས་སུ་འབྲངས་པ་ཁྱོད་ཀྱིས[4]ཚིག་ཤེས་པར་གྱིས་ཤིག་སྙམ་དུ་དགོངས་པ་ཡིན་ནོ། །ཚིག་ཤེས་པ་ལ་ཡོན་ཏན་ཅི་ཞིག་ཡོད་ཅེ་ན།

ཚིག་མཁྱེན་ན།།
ནོར་མི་བདོག་ཀྱང་ཡང་དག་འབྱོར་པ་ལགས།།

ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། ན་ཞེས་བྱ་བ་ནི་གང་གི་ཕྱིར་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །ནོར་མི་བདོག་པ་ནི་གསེར་ལ་སོགས་པའི་ནོར་མེད་པས་སོ། །དེ་ཡང་ཚིག་ཤེས་པས་ཡང་དག་པར་འབྱོར་པ་ཡིན་ཏེ། ནོར་གྱི་འབྲས་བུ་ནི་ཚིག་ཤེས་པ་ཡིན་པའི་ཕྱིར། གལ་ཏེ་ནོར་མེད་དུ་ཟིན་ཀྱང་ཚིག་ཤེས་ན་དབུལ་བཞིན་དུ་ཡང་ནོར་དང་ལྡན་པ་ཁོ་ན་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ། །ཚིག་ཤེས་པ་ཡང་གང་ཡིན་ཞེ་ན། གང་ཞིག་འདས་པ་ལ་རྗེས་སུ་སྨྲ་ངན་མི་བྱེད། མ་འོངས་པ་ལ་མངོན་པར་འདོད་པ་མི་བྱེད། ད་ལྟར་བྱུང་བ་ལ་ལྷག་པར་ཆགས་པ་མེད་པ་དེའི་ཚོས་གང་ཡིན་པ་སྟེ། དེས་ན་འདི་ལ་ཚིག་ཤེས་པ་ཞེས་བྱའོ།།

དེ་ལྟར་ཚིག་ཤེས་པའི་ཡོན་ཏན་བཤད་ནས། ཚིག་མི་ཤེས་པ་རྣམས་ཀྱི་ཉེས་དམིགས་

---

[1] བསྟན་པའི་ཕྱིར་། པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] ཤེ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] པ་སྟེ་། པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

བསྟན་པའི་ཕྱིར། དེས་པ་བདོག་མང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། དེས་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་བོད་པ་ཡིན་ནོ། །སྡོད་སྤྱོད་པ་[1]ལ་སོགས་པ་ཡོ་བྱད་མང་པོ་བདོག་པ་རྣམས་ཇི་ལྟར་བསྲུང་བ་དང་སྦ་བ་ལ་སོགས་པ་དང་། ཆུད་ཟོས་ན་ཡང་སྡུག་བསྔལ་སྐྱེ་བ་ལྟར་ཡོ་བྱད་མང་པོ་མི་བདོག་པ་རྣམས་ལ་ནི་དེ་ལྟར་མ་ཡིན་ནོ། །ཇི་ལྟར་ཤེས་ཤེ་ན། **ཀླུ་མཆོག་རྣམས་ཀྱི་མགོ་བོ་ཇི་སྙེད་པ།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། དཔེར་ན་ཀླུ་གང་ལ་མགོ་བོ་བདུན་ཡོད་པ་དེ་ལ་དེ་དག་ལས་བྱུང་བའི་སྡུག་བསྔལ་ཡང་དེ་སྙེད་ཁོ་ན་ཡོད་ལ། གང་ལ་གསུམ་ཡོད་པ་དེ་ལ་ནི་ཆེས་ཉུང་ངུ་ཡོད། གང་ལ་གཅིག་ཡོད་པ་དེ་ལ་ནི་ཆེས་ཤིན་ཏུ་ཉུང་ངུ་ཡོད་པ་དེ་བཞིན་དུ། བདོག་པའི་ཁྱད་པར་གྱིས་[2]སྡུག་བསྔལ་གྱི་ཁྱད་པར་རིག་པར་བྱའོ།།

ཁྱིམ་ན་གནས་པ་རྣམས་ལ་བུད་མེད་ཡོངས་སུ་བཟུང་བར་[3]མི་འགལ་བའི་ཕྱིར་དེ་དག་[4]གི་སྐྱོན་དང་ཡོན་ཏན་དཔྱད་པས་ཀུན་ནས་ཉོན་མོངས་པ་མེད་པའི་ཐབས་བསྟན་པའི་ཕྱིར[5]། **རང་བཞིན་དགྲར་[6]འབྲེལ་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། རང་བཞིན་གྱིས་[7]དགྲ་དང་འབྲེལ་ཞིང་ལྡན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །ཆུང་མ་དེ་འདྲ་བ་ནི་གཤེད་མ་ལྟ་བུ་ཡིན་ཏེ། དེ་བས་ན་སྤང་བར་བྱའོ། །དེ་ལས་རང་བཞིན་གྱིས་[8]དགྲ་ནི་གང་ཞིག་སྐྱེས་པ་གསོད་པར་

---

[1] སྤྱད་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] གྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] གཟུང་བ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཏེ་བདག་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] བསྟན་པར། པེ། སྣ། གསེར།

[6] དགྲས་ པེ། སྣ། གསེར།

[7] གྲིས་ པེ། སྣ། གསེར་ཁྲིམས་སུ་མེད།

[8] གྲི་ པེ། སྣ། གསེར།

འདོད་པའོ[1]། །ཁྱིམ་ཐབ་བརྟས་བགྱིད་ཅེས་བྱ་བ་ནི་ཁྱོད་[2]ལ་བརྟས་པ་[3]བྱེད་པས་ན་ཁྱིམ་ཐབ་བརྟས་བགྱིད་དེ། བུད་མེད་དེ་འདྲ་བ་ནི་ཇོ་མོ་[4]དང་མཚུངས་པས་དེ་ཡང་སྲུང་བར་བྱ་བ་ཁོ་ན་ཡིན་ནོ། །ཆུང་མ་གང་ཞིག་ཆུང་ངུ་[5]རྐུ་བ་དེ་ཡང་ཆོམ་རྐུན་མ་ལྟ་བུ་ཡིན་པས་སྲུང་བར་བྱ་བ་ཁོ་ན་ཡིན་ནོ།།

འོ་ན་ཆུང་མ་ཅི་འདྲ་བ་ཅིག་བླང་བར་བྱ་ཞེ་ན། སྲིང་མོ་ལྟ་བུར་རྗེས་མཐུན་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ཇི་ལྟར་སྲིང་མོ་མིང་པོའི་རྗེས་སུ་མཐུན་ཞིང་དེའི་ཚིག་ཁྱད་དུ་མི་གསོད་པ་དེ་བཞིན་དུ། ཆུང་མ་ཁྱོའི་རྗེས་སུ་མཐུན་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་བཀུར་བ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བྱ་བར་སྦྱར་རོ། །ཇི་ལྟར་མཛའ་བོ་[6]མཛའ་མོའི་[7]སྙིང་ལ་འབབ་ཅིང་རིམ་གྲོར་[8]བྱ་བའི་ཁྱད་པར་དེ་དང་དེས་སྙིང་དགའ་བ་དེ་བཞིན་དུ། ཁྱོའི་སྙིང་ལ་འབབ་པའི་ཆུང་མ་གང་ཡིན་པ་དེ་ཡང་བཀུར་བ་ཁོ་ན་[9]ཡིན་ནོ། །ཇི་ལྟར་མ་བུ་ལ་ལུས་དང་སེམས་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ་དང་བྲལ་བར་འདོད་པས་ཕན་པར་འདོད་ཅིང་ཕན་པར་འདོད་པའི་ངང་ཚུལ་ཅན་ཡིན་པ་དེ་བཞིན་དུ་ཁྱོ་ལ་

---

[1] བྱེད་པ་པོའོ། པེ། སྣ། གསེར།

[2] ཁྱོ་ སྣ། གསེར།

[3] བརྟས་པར་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཇོ་མོ་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] ཆུང་ངུ་ཡང་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] མཛའ་མོ་ པེ། སྣ། གསེར།

[7] མཛའ་བོའི་ པེ། སྣ། གསེར།

[8] རིམ་གྲོ་ པེ། སྣ། གསེར།

[9] ཁོ་ན་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

ཕན་པར་འདོད་པའི་རྐྱང་མ་གང་ཡིན་པ་དེ་ཡང་བཀུར་པ་ཕོ་ན་ཡིན་ནོ། །བྲན་མོ་བཞིན་དུ་[1] དབང་བསྒྱུར་[2]གང་ཡིན་པ་སྟེ་ཇི་ལྟར་བྲན་མོ་དགའ་མགུར་བྱར་ཡོད་པ་ཉིད་ཀྱི་དབང་དུ་འགྱུར་པ་དེ་བཞིན་དུ་ཁྱོའི་དབང་དུ་[3]འགྱུར་བའི་རྐྱང་མ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་བཀུར་བ་ཕོ་ན་ཡིན་ནོ། །རྐྱང་མ་བཞི་པོ་དེ་དག་ནི་རིགས་ཀྱི་ལྷ་ཞེས་བྱ་སྟེ། རིགས་མི་ཉམས་པའི་རྒྱུ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ།།

འདི་མན་ཆད་ནི་ཏིང་ངེ་འཛིན་ལ་སྦྱར་བའི་ཕྱིར། བསམ་གཏན་གྱི་སྦྱོར་བ་སྟོན་ཏོ། ། བསམ་གཏན་ལ་[4]གཅེས་པའི་ཆོས་ནི་གཉིས་ཏེ། ཟས་ཀྱི་ཚོད་[5]ཟིན་པ་དང་། མི་ཉལ་བར་བརྩོན་པའོ། །དེ་ལ་རེ་ཞིག་ཟས་ཀྱི་ཚོད་[6]ཟིནཔའི་དབང་དུ་བྱས་ནས[7]།

ཁ་ཟས་སྨན་དང་འདྲ་བར་རིགས་པ་ཡིས། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ལུས་ནི་རྨ་ལྟ་བུ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། །དཔེར་ན་སྨན་ཧ་ཅང་ཡང་ཉུང་ངུ་མ་ཡིན་ཧ་ཅང་མང་པོ་ཡང་མ་ཡིན་པར་བཏང་ན། དེ་ལྟ་ན་ཕན་ཐོགས་པར་འགྱུར་བ་དེ་བཞིན་དུ་ཟས་ཀྱང་ཧ་ཅང་ཉུང་ངུ་ཡང་མ་ཡིན་ཧ་ཅང་མང་པོ་ཡང་མ་ཡིན་པར་བསྟེན་པར་བྱ་སྟེ། དེ་ལྟ་ན་ལུས་[8]ཀྱང་བརྟན་[9]

---

[1] དུ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] འགྱུར་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] འགྱུར་པ་དེ་བཞིན་དུ་ཁྱོའི་དབང་དུ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[4] ལག་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] ཟས་ཀྱི་ཛོད་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] ཛོད་ པེ། སྣ། གསེར།

[7] ན། པེ། སྣ། གསེར།

[8] ལུས་ཀྱིས་ པེ། སྣ། གསེར།

[9] སྟོན་ པེ། སྣ། གསེར།

པར་འགྱུར་ལ། གནོད་པ་ཡང་བསྐྱེད་པར་མི་འགྱུར་རོ། །དོན་འདི་ཉིད་རིགས་པ་ཡིས་ཞེས་བྱ་བ་འདིས་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །འདོད་ཆགས་ཞེ་སྡང་མེད་པར་བསྟེན་བགྱི་སྟེ། །ཞེས་བྱ་བ་ནི་དེ་ཙམ་དུ་བཟའ་བ་གང་ཡིན་པ་དེ་ཡང་འདོད་ཆགས་དང་ཞེ་སྡང་དག་དང་མ་འབྲེལ་བར་བྱའོ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །ཇི་ལྟར་ཞེ་ན་དེ་བསྟེན་པ་ཡང་[1]། ཆགས་ཕྱིར་མ་ལགས་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ཆགས་པར་འདོད་པ་གང་ཞིག་ཆགས་པར་བྱའོ་སྙམ་པ་དང་འཚག་པར་བྱའོ་སྙམ་ནས་ཟས་ཟ་བ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་འདོད་ཆགས་ཀྱིས་[2]ཟ་བ་ཡིན་ནོ། །གང་ཞིག་བསྐྱེམས་པའི་ཕྱིར་ཟ་བ་དེ་ནི། བསྐྱེམས་པའི་འབྲས་བུ་དེ་ནི་གཞན་ལ་གནོད་པར་བྱེད་པ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་ཞེ་སྡང་གིས་[3]ཟ་བ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལ་ཆགས་པ་ནི་འདོད་ཆགས་ཀྱི་རྒྱུ་ལུས་དང་སེམས་ཀྱི་འགྱུར་བ་འགའ་ཁོ་ན་ཡིན་ནོ། །འཚག་[4]ནི་ཡན་ལག་དང་ཉིང་ལག་རྒྱས་པའོ། །བསྐྱེམས་པ་ནི་ཉམས་སྟོབས་སོ།།

དེ་དག་མེད་པར་ལུས་གནས་པ་འབའ་ཞིག་གི་ཕྱིར་ཏེ། སྲོག་གི་དབང་པོ་ཡོངས་སུ་གཟུང་[5]བའི་ཕྱིར་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །མི་ཉལ་བར་བརྩོན་པའི་དབང་དུ་བྱས་ནས་རིགས་པའི་བདག་ཉིད་ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ[6]། དེ་ལ་རིགས་པའི་བདག་ཉིད་ནི་དགེ་བ་ལ་མངོན་པར་བརྩོན་པ་ལ་བྱའོ། །དགེ་བ་ལ་སྦྱོར་བས་ཉིན་པར་མཐའ་[7]དག་དས་ནས་ཏེ།

---

[1] དེ་བསྟན་པར། པེ། སྣ། གསེར།

[2] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] གི་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] མཚག་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] བསྲུང་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] སྨོས་སོ། པེ། སྣ། གསེར།

[7] ཐ་ པེ། སྣ། གསེར།

འདས་པར་བྱས་ནས་སོ། །ཡོངས་སུ་རྫོགས་པར་བྱས་ནས་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་སྟེ། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ཇི་སྐད་དུ། ཉིན་པར་འཆག་པ་དང་། འདུག་པ་དག་གིས་སྒྲིབ་པར་འགྱུར་བའི་ཆོས་རྣམས་ལས་སེམས་ཡོངས་སུ་སྦྱོང་བར་བྱེད་དོ[1]། །ཡོངས་སུ་སྦྱངས་ནས་[2]ཞེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ། **།མཚན་མོའི་ཐུན་གྱི་སྟོད་སྨད་**ཅེས་བྱ་བ་ནི་རིགས་པའི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་ཉིན་མོ་ཁོ་ན་འདའ་བ་འབའ་ཞིག་ཏུ་མ་ཟད་དོ། །འོ་ན་ཅི་ཞེ་ན། རིགས་པའི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་[3]མཚན་མོ་ཡང་ཆ་སྟོད་དང་ཆ་སྨད་འདས་ནས་ཏེ། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ཇི་སྐད་དུ་མཚན་མོའི་ཐུན་དང་པོ་ལ་འཆག་པ་དང་། འདུག་པ་དག་གིས་སྒྲིབ་པར་འགྱུར་བའི་ཆོས་རྣམས་ལས་སེམས་ཡོངས་སུ་སྦྱོང་བར་བྱེད་དོ། །ཡོངས་སུ་སྦྱངས་ནས་ཐུན་བར་མ་ལ་[4]གཙུག་ལག་ཁང་གི་ཕྱི་རོལ་དུ་རྐང་པ་བཀྲུས་ཏེ། གཙུག་ལག་ཁང་དུ་ཞུགས་ནས་གློ་གཡས་པ་ཕབ་སྟེ། རྐང་པའི་ཐོག་ཏུ་རྐང་པ་བཞག་ལ། དྲན་པ་དང་ལྡན་ཞིང་ཤེས་བཞིན་དུ་སེང་གེའི་གཟིམས་ཐབས་[5]སུ་ཉལ་བར་བྱེད་དོ། །དེ་ཐུན་ཐ་མ་ལ་མྱུར་བ་མྱུར་བར་ལངས་ནས་འཆག་པ་དང་འདུག་པ་དག་གིས་སྒྲིབ་པར་འགྱུར་བའི་ཆོས་རྣམས་ལས་སེམས་ཡོངས་སུ་སྦྱོང་བར་བྱེད་དོ་ཞེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ།[6] །དེ་དག་བར་དུ་མནོལ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཐུན་དང་པོ་དང་ཐུན་ཐ་མ་དག་གི་བར་གྱི་ཐུན་གང་ཡིན་པ་དེར་ཉོལ་ཅིག་ཅེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །དེ་ཡང་གྱི་

---

[1] སེམས་ཡོངས་སུ་སྦྱོང་བར་བྱེད་དོ། པེ། སྣར། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[2] ནས་ པེ། སྣར། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[3] ཀྱི་ པེ། སྣར། གསེར།

[4] བར་མ་ལ་གནས་ལ་ པེ། སྣར། གསེར།

[5] སྙབས པེ། སྣར། གསེར།

[6] སྤྱོད་འཇུག་དཀའ་འགྲེལ། ལེའུ་ལྔ་པ། ཤོག ༩༦

ན་[1]ཉལ་བར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ནོ། །འོན་ཀྱང་རིང་པར་[2]མི་ཐོགས་པར་ལངས་ལ་དགེ་བ་བྱའོ་སྙམ་པའི་དྲན་པ་དང་ལྡན་པར་བྱ་སྟེ། དེ་ལྟ་བུའི་དྲན་པ་ཉེ་བར་བཞག་ནས་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། **མནལ་ཚེའང**་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། འདི་སྐད་དུ་ལུས་དགེ་བ་ལ་སྦྱོར་བཟོད་པར་བྱས་ནས་ལངས་ཏེ། དགེ་བ་བྱའོ་སྙམ་པ་དེ་ལྟ་བུས་ཉལ་བ་ནི་གཉིད་ལོག་ཀྱང་དགེ་བའི་སེམས་པ་སྔོན་དུ་གཏོང་[3]བའི་ཕྱིར། དགེ་བ་ཁོ་ན་སྐྱེ་བར་འགྱུར་བས་དུས་དེ་ན་[4]ཡང་ཚེ་དོན་མེད་[5]པར་མི་འགྱུར་རོ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ།།

དེ་ལྟར་ལུས་དང་སེམས་ལས་སུ་རུང་བར་བྱས་ནས། བསམ་གཏན་གྱི་སྦྱོར་བའོ་[6] ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར། **བྱམས་དང**་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། བྱམས་པ་ལ་སོགས་པ་ནི་བསམ་གཏན་གྱི་སྦྱོར་བ་ཡིན་ཏེ། དེ་དག་ལ་གོམས་པས་བསམ་གཏན་དང་པོ་ལ་སོགས་པ་སྐྱེ་བའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལ་བྱམས་པར་བྱེད་པས་ན་བྱམས་པ་སྟེ། སྡུག་པར་[7]བྱེད་ཅེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །སྙིང་རྗེ་བར་བྱེད་པས་[8]ན་སྙིང་རྗེ་སྟེ། སྡུག་བསྔལ་བར་མི་བྱེད་ཅེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །དགའ་བར་བྱེད་པས་ན་དགའ་བ་སྟེ། རངས་པར་བྱེད་ཅེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །རིགས་པར་[9]

---

[1] ན་ གསེར་ཕྲིས་པར་མར་མེད།

[2] རིང་པོ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] བཏང་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ན་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] མེད་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[6] སྦྱོར་བ་བྱའོ་ པེ། སྣ། གསེར།

[7] སྡུག་བསྔལ་བར་ གསེར།

[8] པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[9] པས་ པེ། སྣ། གསེར།

ལྷ་བས་ན་བཏང་སྙོམས་ཏེ། ཕྱོགས་སུ་མ་ལྷུང་བར་ལྷ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །བྱམས་པ་གང་ཡིན་ཞེ་ན། སེམས་ཅན་རྣམས་ལ་བདེ་བ་དང་སྦྲོད་པའི་རྣམ་པར་ཞུགས་པའོ། །སྙིང་རྗེ་ནི་སྡུག་བསྔལ་དང་བྲལ་བའི་རྣམ་པར་ཞུགས་པའོ། །དགའ་བ་ནི་བདེ་བ་དང་མི་འབྲལ་བའི་རྣམ་པར་ཞུགས་པའོ། །བཏང་སྙོམས་ནི་བར་མ་[1]གནས་པའི་རྣམ་པར་ཞུགས་པ་སྟེ། བྱམས་པ་ལ་སོགས་པའི་ཆོས་བཞི་པོ་དེ་དག་རྟག་ཏུ་བསྒོམ་པར་བྱའོ། །དེ་ལ་རེ་ཞིག་བྱམས་པ་བསྒོམ་པར་འདོད་པ་ནི་ཚུལ་ཁྲིམས་ཡོངས་སུ་སྲུངས་ནས། ཕྱོགས་དབེན་པ་ཞིག་ཏུ་སྟེན་[2]བདེ་བ་ལ་འདུག་ཅིང་སངས་རྒྱས་ལ་སོགས་པའི་ཡོན་ཏན་རྗེས་སུ་དྲན་པས་སེམས་བཟང་པོ་བསྐྱེད་དེ། གང་ཟག་ཡོན་ཏན་དང་ལྡན་པ་བཀུར་སྟི་བྱ་བར་འོས་པ། བླ་མ་ལྷ་བུའི་གནས་ཞིག་ལ་དད་པ་བསྐྱེད་ནས་སྐྱེས་བུ་དམ་པ་འདི་བདེ་བར་གྱུར་ཅིག་སྙམ་པའི་ཡིད་ལ་བྱེད་པ་འཇུག་པར་བྱེད་དེ། ཇི་སྲིད་དུ་འདིའི་སེམས་ཆུང་ངུ་བྱུང་བ་དེ་[3]སྲིད་དུ་འཇུག་པར་བྱེད་དོ། །དེ་ནས་གང་ཟག་སྡུག་པ་ལ་སེམས་གཏོད་པར་བྱེད་དེ། དེ་ལ་ཡང་ཇི་སྲིད་དུ་འདི་ལ་གང་ཟག་ཕ་མ་དང་མཉམ་པའི་སེམས་སྐྱེས་པ་དེ་སྲིད་དུ་སེམས་གཏོད་པར་བྱེད་དོ། །དེ་ནས་གང་ཟག་ཐ་མ་ལ་གཏོད་པར་བྱེད་དེ། དེ་[4]སྲིད་དུ་གང་ཟག་ཐ་[5]མ་གཉིས་དང་མཉམ་པའི་སེམས་སྐྱེས་པ་དེ་སྲིད་དུ་གཏོད་པར་བྱེད་དོ། །དེ་ནས་གང་ཟག་མི་སྡུག་པ་ལ་སེམས་གཏོད་པར་བྱེད་དེ། དེ་ལ་ཡང་དེ་སྲིད་དུ་གཏོད་པར་བྱེད་དོ། །གལ་ཏེ་འདི་ལ་གང་ཟག་ཤ་ཁོན་ཅན་ཞིག་ཡོད་ན་དེ་ལ་འདི་

---

[1] མར་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[2] སྟན་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[3] དེའི་ གསེར།

[4] ཇི་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[5] ཕ་ ཡེ། སྣ། གསེར།

བདེ་བར་གྱུར་ཅིག་སྙམ་པའི་སེམས་[1]སྐྱེད་པར་བྱེད་དེ། དེ་ལ་[2]ཡང་ཇི་སྲིད་དུ་སྡུ་མ་དག་དང་ལྷན་ཅིག་ཏུ་སྙམ་པའི་སེམས་སྐྱེས་པ་དེ་སྲིད་དུ་སྐྱེད་པར་བྱེད་དེ། འདི་ཙམ་གྱིས་ན་འདིའི་བྱམས་པའི་སེམས་ཀྱིས་རྣམ་པར་གྲོལ་བ་མཚམས་ཐ་དད་པ་བསྒོམ་པ་ཡིན་ནོ།།

དེ་ཕྱིན་ཆད་ནི་ཕྱོགས་ཁྱབ་པར་བྱེད་པའི་དབང་གིས་ཡིད་ལ་བྱེད་པར་རིག་པར་བྱ་སྟེ། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་[3]ཇི་སྐད་དུ་དེ་བྱམས་པ་དང་ལྡན་པའི་སེམས་ཁོ་ན་མེད་པ་འགྲན་ཟླ་མེད་པས་ཕྱོགས་གཅིག་ཏུ་མོས་ནས་ཁྱབ་པར་བྱ་སྟེ། རྫོགས་པར་བྱས་ནས་གནས་སོ་ཞེས་བྱ་བའི་བར་རྒྱས་པར་གསུངས་པ་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ། །སྙིང་རྗེ་ནི་གང་ཟག་སྡུག་བསྔལ་བ་མགོན་མེད་པ་སྐྱབས་མེད་པ་ལ་དམིགས་ནས་རིམ་པ་འདི་ཉིད་ཀྱིས་འཇུག་པར་བྱའོ། །དགའ་བ་ནི་གང་ཟག་སྡུག་པ་ལ་དམིགས་ནས་རིམ་པ་འདི་ཉིད་ཀྱིས་བསྒྲུབ་པར་བྱའོ། །བཏང་སྙོམས་ནི་གང་ཟག་ཐ་མལ་པ་ལ་དམིགས་ནས་རིམ་གྱིས་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ལ་འཇུག་པར་བྱ་སྟེ། དེ་ལྟར་རྟག་ཏུ་བྱམས་པ་དང་། སྙིང་རྗེ་དང་དགའ་བ་དང་བཏང་སྙོམས་བསྒོམ་པར་བྱའོ། །ཡང་བྱམས་པ་ལ་སོགས་པ་དེ་ལྟར་བསྒོམས་[4]པ་རྣམས་ཀྱི་འབྲས་བུ་[5]ཅི་ཞིག་ཡིན་[6]ཞེ་ན། གོང་མ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ[7]། འདི་སྐད་དུ་བྱམས་པ་ལ་སོགས་པ་དེ་ལྟར་བསྒོམས་པས་ནི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་འཐོབ་པར་འགྱུར་རོ། །འོན་ཏེ་ཇི་ཞིག་ལྟར་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་མ་

---

[1] སེམས་བསྐྱེད་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] ལས་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཀྱིས་ པེ། སྣ།

[4] བསྒོམ་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] བྲས་བུ་ནི་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] ཞིག་བྱ་ པེ། སྣ། གསེར།

[7] སྨོས་སོ། པེ། སྣ། གསེར།

ཐོབ་ན་འོན་ཀྱང་ཚངས་པའི་འཇིག་རྟེན་བདེ་བ་ཐོབ་པར་འགྱུར། གཟུགས་ཀྱི་ཁམས་སུ་འདོད་པའི་ཁྲོ་བའི་ཡོངས་སུ་གདུང་བ་དང་བྲལ་བའི་བསམ་གཏན་སྐྱོན་མེད་པ་ཞི་བ་ཉམས་སུ་མྱོང་བར་འགྱུར་རོ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ།།

དེ་ལྟར་བྱམས་པ་ལ་སོགས་པ་ཡོངས་སུ་གྲུབ་པས་[1]བསམ་གཏན་བཞི་འཐོབ་པོ་ཞེས་[2]བསྟན་པའི་ཕྱིར། འདོད་སྤྱོད་ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །འདི་ལྟར་རྣམ་པར་སྤངས་ཞེས་བྱ་བའི་སྐབས་ནི་འདོད་པ་རྣམ་པར་སྤངས་པ་དང་། སྤྱོད་པ་རྣམ་པར་སྤངས་པ་དང་། དགའ་བ་རྣམ་པར་སྤངས་པ་དང་། བདེ་བ་དང་སྡུག་བསྔལ་བ་[3]རྣམ་པར་[4]སྤངས་པ་ཞེས་བྱ་བ་རེ་རེ་དང་སྦྱར་ཏེ། དེ་དག་ནི་གོ་རིམས་བཞིན་དུ་བསམ་གཏན་བཞི་ཡིན་ནོ། །བསམ་གཏན་བཞི་པོ་དེ་དག་ཐོབ་པས། འབྲས་བུ་ཅི་ཞིག་ཐོབ་པར་འགྱུར་ཞེ་ན། རྣམ་པར་སྨིན་པའི་འབྲས་བུ་བསྟན་པའི་ཕྱིར། **ཚངས་དང་འོད་གསལ་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། བསམ་གཏན་དང་པོ་བསྒོམས་པས་ནི་ཚངས་རིས་ཀྱི་ལྷ་རྣམས་དང་སྐལ་བ་མཉམ་པར་སྐྱེ་བར་འགྱུར་རོ། །གཉིས་པས་ནི་འོད་གསལ་བ་རྣམས་དང་ངོ་། །གསུམ་པས་ནི་དགེ་རྒྱས་པ་རྣམས་དང་ངོ་། །བཞི་པས་ནི་འབྲས་བུ་ཆེ་བའི་ལྷ་རྣམས་དང་སྐལ་པ་མཉམ་པར་སྐྱེ་བར་འགྱུར་རོ།། དེ་ལ་བསམ་གཏན་དང་ལ་སོགས་པ་འདོད་པ་རྣམ་པར་སྤང་བ་ལ་སོགས་པ་ནི་མདོའི་རྗེས་སུ་འབྲང་བ་ཁོ་ནས་རིག་པར་བྱའོ། །སྤྱོད་པ་རྣམ་པར་སྤངས་པས་ནི་རྟོག་པ་མེད་པ་ཡང་བཤད་པ་ཡིན་ཏེ། གང་ན་སྤྱོད་པ་མེད་པ་དེ་ན་གདོན་མི་ཟ་བར་རྟོག་པ་ཡང་མེད་པས་སོ། །བདེ་བ་

---

[1] པ་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[2] ཐོབ་པ་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[3] བ་ ཡེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[4] མང་བར་ སྣ།

དང་སྡུག་བསྔལ་རྣམ་པར་སྤངས་པས་ནི་བདེ་བ་ཡང་མ་ཡིན་སྡུག་བསྔལ་བ་[1]ཡང་མ་ཡིན་པའི་ཚོར་བ་སྟོན་པར་བྱེད་དོ།།

དེ་ནི་འདོད་པ་ན་སྤྱོད་པའི་དགེ་བ་དང་མི་དགེ་བ་རྣམས་ཀྱི་ལྕི་ཡང་གི་བྱེ་བྲག་བསྟན་པའི་ཕྱིར། **རྟག་དང་མངོན་པར་ཞེན་དང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ།** དེ་ལ་ལས་ཀྱི་[2]ལྕི་བ་ཉིད་ནི་རྒྱུ་བཞི་པོ་སྦྱོར་བའི་ཁྱད་པར་དང་། བསམ་པའི་ཁྱད་པར་དང་། གཉེན་པོའི་ཁྱད་པར་དང་། གཞིའི་ཁྱད་པར་གྱི་སྒོ་ནས་བཤད་དོ། །དེ་ལ་སྦྱོར་བའི་ཁྱད་པར་ནི་ལས་ཆུང་ངུ་ལ་ཡང་དུས་རིང་མོ་ཞིག་ཏུ་སྦྱར་བའི་ཕྱིར་རོ། །ལས་དུས་ཡུན་ཐུང་ངུ་ཡང་ཉོན་མོངས་པ་དང་། རབ་ཏུ་དང་བ་དྲག་པོ་དང་ལྡན་པའི་བསམ་པའི་ཁྱད་པར་ལས་ལྕི་བར་འགྱུར་རོ། །ལས་བྱས་པ་ཡང་གཉེན་པོ་སྟོབས་དང་ལྡན་པས་ཟིལ་གྱིས་མནན་ན་ཉམ་ཆུང་ངུར་འགྱུར་ལ། ལས་དེ་ཉིད་གཉེན་པོ་མེད་པར་གྱུར་ན་སྟོབས་དང་ལྡན་པར་འགྱུར[3]། གཞི་ནི་རྣམ་པ་གཉིས་ཏེ་ཡོན་ཏན་དང་ལྡན་པ་དང་། ཕན་འདོགས་པའོ། དེ་ལ་ཡོན་ཏན་དང་ལྡན་པ་ནི་དཀོན་མཆོག་གསུམ་དང་། གང་ཟག་འགོག་པ་ལས་ལངས་པ་ལ་སོགས་པ་ཁ་ཅིག་གོ །ཕན་འདོགས་པ་ནི་ཕ་དང་མ་དག་དང་གཞན་ཡང་ཕན་པ་ཁྱད་པར་ཅན་འདོགས་པ་དཔེར་ན། ཤ་བཀྲ་བ[4]དང་དོམ་དང་སྤྲེའུ་ལ་སོགས་པ་ལྟ་བུའོ། །དེ་ལྟར་ན་དགེ་བ་དང་མི་དགེ་བའི་ལས་རྣམ་པ་ལྔ་པོ་དེ་ནི་འབྲས་བུ་ངེས་པ་དང་། མང་པོ་འབྱིན་པའི་ཕྱིར་ཆེན་པོ་སྟེ། དེ་ལས་ཁྱོད་ཀྱིས་མི་དགེ་བ་ཡོངས་སུ་སྤངས་ཏེ། དགེ་བ་སྒྲུབ་པ་ལ་བརྩོན་པར་བགྱིའོ།།

---

[1] བ་ པེ། སྣར། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] ལས་ཀྱི་ པེ། སྣར། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[3] འགྱུར་རོ། པེ། སྣར། གསེར།

[4] བ་ པེ། སྣར། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

ལན་ཚྭ་སྲང་འགས་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི། ལས་ཆུང་ངུ་ནི་མང་པོའི་སྟོབས་དང་ལྡན་པས་ཟིལ་གྱིས་གནོན་པར་འགྱུར་ཞེས་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །བསྡུས་པའི་དོན་ནི་དེ་བས་ན། ཁྱོད་ཀྱི་དགེ་བ་ནི་ཉུང་ངུ་མི་དགེ་བ་ནི་མང་དུ་བྱས་ནས་འཇིགས་པ་མེད་པར་ཡང་མི་བྱ་ལ། དགེ་བ་ནི་མང་དུ་མི་དགེ་བ་ནི་ཉུང་ངུ་བྱས་ནས་ཧ་ཅང་སྙག་པར་ཡང་མི་བྱའོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ། །ཡན་ལག་གི་དོན་ནི་རྟོགས་པར་སླའོ།།

ད་ནི་རྒོད་དང་འགྱོད་དང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་བསམ་གཏན་དང་། རྣམ་པར་ཐར་པ་དང་འགལ་བའི་ཆོས་རྣམས་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །དེ་དག་འབད་དེ་[1]རྣམ་པར་སྤང་བར་བྱ་བའི་ཕྱིར་རོ། །རྒོད་པ་དང་འགྱོད་པ་ནི་སྒྲིབ་པ་གཅིག་ཡིན་ནོ། །གནོད་སེམས་ནི་གཉིས་པ་ཡིན་ནོ། །རྨུགས་པ་དང་གཉིད་ནི་གསུམ་པ་ཡིན་ནོ། །འདོད་པ་ལ་འདུན་པ་ནི་བཞི་པ་ཡིན་ནོ། །ཐེ་ཚོམ་ནི་ལྔ་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་དག་ནི་སྒྲིབ་པ་ལྔ་ཡིན་ཏེ། བསམ་གཏན་དང་རྣམ་པར་ཐར་བའི་ལམ་ལ་སྒྲིབ་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལ་རྒོད་པ་ནི་སེམས་རྣམ་པར་མ་ཞི་བ་སྟེ། ཡིད་མི་འབྱུང་བ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །འགྱོད་པ་ནི་ངན་པར་བྱས་པ་ལ་དམིགས་པའི་སེམས་ལ་གཅགས་པ་[2]སྟེ། ཕྱིས་མི་དགའ་བ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །གནོད་སེམས་ནི་ཁོང་ཁྲོ་བ་སྟེ། ཀུན་ནས་མནར་སེམས་ཀྱི་དངོས་པོ་དགུ་ལ་[3]རིག་པར་བྱའོ། །དེ་ལ་ཀུན་ནས་མནར་སེམས་ཀྱི་དངོས་པོ་དགུ་ནི་འདི་དག་ཡིན་ཏེ། བདག་ལ་གནོད་པར་བྱས་སོ། །བྱེད་དོ། །བྱེད་པར་འགྱུར་རོ་ཞེས་བྱ་བ་གསུམ་ཚན་དང་པོ་དང་། བདག་གི་མཛའ་བོ་ཡིད་དུ་འོང་བ་ཕན་པར་འདོད་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ལ་གནོད་པར་བྱས་སོ། །བྱེད་དོ། །བྱེད་པར་འགྱུར་རོ་ཞེས་བྱ་བ་གསུམ་ཚན་

---

[1] འབད་ན་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] ཆགས་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ལས་ པེ། སྣ། གསེར།

གཉིས་པ་དང་བདག་དང་མི་མཛའ་བ་ཡིད་དུ་མི་འོང་བ་གནོད་པར་འདོད་པ་ཕན་པར་མི་འདོད་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ལ་ཕན་པར་བྱས་སོ། །བྱེད་དོ། །བྱེད་པར་འགྱུར་རོ་ཞེས་བྱ་བ་གསུམ་ཚན་གསུམ་པའོ། །ཀུན་ནས་མནར་སེམས་ཀྱི་དངོས་པོ་བཅུ་པ་གནས་མ་ཡིན་པ་ཞེས་བྱ་བ་ཡང་བརྗོད་དོ། །ཀུན་ནས་མནར་སེམས་དེ་ནི་སྔོན་གྱི་ཁོན་དང་འབྲེལ་པ་ལས་རིག་པར་བྱའོ། །རྨུགས་པ་ནི་ལུས་དང་སེམས་དག་[1]ལས་སུ་མི་རུང་བ་ཉིད་དོ། །གཉིད་ནི་གཉིད་ལོག་པའོ། །འདོད་པ་ལ་འདུན་པ་ནི་འདོད་པ་རྣམས་ལ་འདོད་ཆགས་པའི་དངོས་པོ་གང་ཡིན་པ་སྟེ། སྲེད་པ་དང་མངོན་པར་འདོད་པ་ཞེས་བྱ་བ་རྣམ་གྲངས་ཡིན་ནོ། །ཐེ་ཚོམ་ནི་ཐར་པ་དང་ཐར་པའི་ལམ་ལ་ཐེ་ཚོམ་ཟ་བ་གང་ཡིན་པའོ། །སྒྲིབ་པ་ལྔ་པོ་དེ་དག་ནི་དགེ་བའི་ནོར་འཕྲོག་པར་བྱེད་པ་ཉིད་ཀྱིས་ཆོམ་རྐུན་པ་ཞེས་བྱའོ། །ཡང་ཅིའི་ཕྱིར་ཆོས་གཉིས་གཉིས་སྒྲིབ་པ་གཅིག་ཏུ་བཤད་ཅེ་ན། གཡོ་བ་དང་བླུན་པ་ཉིད་དུ་མཐུན་པའི་ཕྱིར་ཏེ། རྒོད་པ་དང་འགྱོད་པ་ནི་གཉིས་ཀ་ཡང་གཡོ་བ་ཡིན་ནོ། །རྨུགས་པ་དང་གཉིད་ནི་བླུན་པ་ཡིན་ནོ།།

དེ་ལྟར་བར་ཆད་ཀྱི་ཆོས་རྣམས་བསྟན་ནས་ཐར་པ་དང་རྗེས་སུ་མཐུན་པའི་ཆོས་རྣམས་བསྟན་པའི་ཕྱིར། དད་དང་བརྩོན་འགྲུས་དག་དང་དྲན་པ་དང་། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ཇི་ལྟར་ཐར་པ་དང་འགལ་བའི་ཆོས་ལྔ་ཡོད་པ་དེ་བཞིན་དུ་ཐར་པ་དང་རྗེས་སུ་མཐུན་པ་ཡང་། ལྔ་ཁོ་ན་ཡིན་ནོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །དད་པ་ལ་སོགས་པ་འདི་དག་གང་གི་མཇུག་ཐོགས་སུ་འཕགས་པའི་ལམ་སྐྱེ་ཞིང་གནས་སྐབས་གཞན་དུ་ཕྱིན་པ་ལ། ཆོས་མཆོག་ཅེས་བྱའོ། །ཆོས་ཀྱི་མཆོག་ཅེས་བྱ་བའི་མིང་ཁོ་ན་འཐོབ་པ་འབའ་ཞིག་ཏུ་ཡང་མ་ཟད་དོ། །འོ་ན་ཅི་ཞེ་ན། སྟོབས་ཞེས་བྱ་བ་དང་། དབང་པོ་ཞེས་བྱ་བ་དང་། རྩེ་མོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡང་འཐོབ་པོ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །དེ་ལ་སྟོབས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་བཟོད་པའི་གནས་སྐབས་ནའོ། །

---

[1] དང་ ཡེ། སྣ། གསེར།

དབང་པོ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་དྲོ་བའི་གནས་སྐབས་ནའོ། །རྩེ་མོ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་དྲོ་བར་གྱུར་པའི་མཇུག་ཐོགས་སུ་སྐྱེ་བ་གང་ཡིན་པའོ།།

དབང་པོ་ལྔ་བསྒོམ་པ་ནི་རྒྱགས་པ་སྤང་བ་སྔོན་དུ་འགྲོ་བ་ཅན་ཡིན་པས་རྒྱགས་པ་སྤང་པར་བསྟན་པའི་ཕྱིར། **ན་ཀ་འཆི་སྡུག་བྲལ་དང་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། བདག་ནི་ན་བ་དང་ཀ་བ་དང་འཆི་བ་ཞེས་བྱ་བའི་ཆོས་འདི་གསུམ་ལས་ཀྱང་མ་འདས་པ་[1]དེ་བཞིན་དུ་སྡུག་པ་དང་བྲལ་བ་དང་། ལས་བདག་གིར་བྱ་བ་ལས་ཀྱང་མ་འདས་སོ་ཞེས་དེ་ལྟར་སེམས་པ་ནི། དེའི་གཉེན་པོ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་གཉེན་པོའི་རྒྱཊ་པ་འཛིག་པར་འགྱུར་རོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །དེ་ལ་ལས་བདག་གིར་བྱ་བ་ཉིད་ནི་ལས་ཇི་ལྟ་བ་བཞིན་བདེ་བ་དང་། སྡུག་བསྔལ་བ་འབྱུང་བའོ། །ལྷག་མ་ནི་དོན་གོ་བར་ཟད་དོ།།

གལ་ཏེ་མཐོ་རིས་ཐར་པ་མངོན་བཞེད་ན། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ནི། དད་པ་ལ་སོགས་པའི་དབང་པོ་སྐྱེ་བའི་རྒྱུ་སྟོན་ཏོ། །**ཡང་དག་ལྟ་ལ་གོམས་པ་དག་ཏུ་མཛོད།** །ཅེས་བྱ་བ་དེ་ལ་ཡང་དག་པའི་ལྟ་བ་ནི་ཚེ་ཕྱི་མ་ལ་ལེགས་པར་སྤྱོད་པ་དང་། ཉེས་པར་སྤྱོད་པའི་ལས་རྣམས་ཀྱི་འབྲས་བུ་འབྱུང་བར་ཡིད་ཆེས་པ་སྟེ། འཇིག་རྟེན་ཕ་རོལ་ཡོད་པ་ཉིད་དུ་ཡིད་ཆེས་པ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །ཡང་དག་པའི་ལྟ་བ་དེ་ལྟ་བུ་མེད་ན་སྦྱིན་པ་ལ་སོགས་པ་ལེགས་པར་སྤྱོད་[2]པ་གང་ཅུང་ཟད་ཅིག་ཡོད་ཀྱང་། **ཐམས་ཅད་རྣམ་པར་སྨིན་པ་མི་བཟད་ལྡན།** །ཞེས་བྱ་སྟེ[3]། རྣམ་པར་སྨིན་པ་ཡིད་དུ་མི་འོང་བ་ཅན་ཁོ་ནར་འགྱུར་རོ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །དེ་

---

[1] འདས་ལ་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[2] སྤྱད་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[3] བྱས་ཏེ། ཡེ། སྣ། གསེར།

ལྟ་བས་ན་ཡང་དག་པའི་ལྟ་བ་ནི་དགེ་བའི་རྩ་བ་ཐམས་ཅད་སྐྱེད་པའི་རྒྱུ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བཤད་པར་འགྱུར་རོ།།

ད་ནི་མི་ནི་ཡང་དག་ཉིད་དུ་མི་བདེ་ཞིང་། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་སྐྱོ་བའི་རྒྱུ་སྟོན་ཏོ། མི་བདེ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་སྡུག་བསྔལ་བ་[1]ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །མི་རྟག་ཅེས་བྱ་བ་ནི་སྐད་ཅིག་མ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །བདག་མེད་པ་ནི་ནང་གི་བྱེད་པའི་སྐྱེས་བུ་དང་བྲལ་བ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །མི་གཙང་བ་ནི་སྤུངས་པ་[2]དང་རུལ་བའི་མི་གཙང་བ་ཉིད་དང་ལྡན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་སྟེ། མི་ནི་ཡང་དག་པའི་ཤེས་རབ་ཀྱིས་ལེགས་པར་བརྟགས་ན་དེ་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ།། གང་དག་དྲན་པ་ཉེ་བར་མ་[3]བཞག་པ་དེ་དག་ནི་ལོག་པར་འཛིན་ཏོ།།

དེས་ན་ཉེས་པ་ཅི་ཡོད་ཅེ་[4]ན།

དྲན་པ་ཉེ་བར་མ་བཞག་རྣམས་ཀྱིས་ནི།།
ཕྱིན་ཅི་ལོག་བཞིར་ལྟ་བ་ཕུང་ཁྲོལ་བ།།

ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། ཕྱིན་ཅི་ལོག་བཞི་ནི་སྡུག་བསྔལ་བ་ལ་བདེ་བའོ་[5]སྙམ་དུ་འདུ་ཤེས་ཕྱིན་ཅི་ལོག་དང་སེམས་ཕྱིན་ཅི་ལོག་དང་། ལྟ་བ་ཕྱིན་ཅི་ལོག་གོ །དེ་བཞིན་དུ་མི་རྟག་པ་ལ་རྟག་གོ་སྙམ་པ་དང་། བདག་མེད་པ་ལ་བདག་གོ་སྙམ་པ་དང་། མི་གཙང་བ་ལ་གཙང་ངོ་སྙམ་དུ་འདུ་ཤེས་ཕྱིན་ཅི་ལོག་དང་། སེམས་ཕྱིན་ཅི་ལོག་དང་། ལྟ་བ་ཕྱིན་ཅི་ལོག་དང་། ཕྱིན་ཅི་ལོག་ཏུ

---

[1] ཞེས་བྱ་བ་ནི་སྡུག་བསྔལ་བ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མི་གསལ།

[2] སྤུམ་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] མ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[4] ཅེ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[5] བདེའོ་ པེ། སྣ། གསེར།

ལྟ་བ་དེ་[1]ནི་ངན་སོང་དང་འཁོར་བའི་རྒྱུ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། །ཕུང་དཀྲོལ་བ་སྟེ། དེ་ལྟ་བས་ན་ཁྱོད་ཀྱིས་མི་ནི་སྡུག་བསྔལ་བ་ལ་སོགས་པ་ཉིད་དུ་རིག་པར་བྱའོ།།

གལ་ཏེ་མི་སྡུག་པ་[2]དང་། མི་རྟག་པ་དང་མི་གཙང་བ་ནི་ཡིན་གྲང་ན། བདག་མེད་པ་ཡིན་པར་རྟོགས་པར་མི་ནུས་ཏེ། བདག་གཅིག་མེད་ན། ལས་དགེ་བ་དང་། མི་དགེ་བ་རྣམས་ཀྱི་འབྲས་བུ་སུ་ཞིག་སྤྱོད་སྙམ་དུ་སེམས་ན། **གཟུགས་ནི་བདག་མ་ཡིན་ཞེས་གསུངས་ཏེ།** ། **བདག་ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སློས་ཏེ།** འདི་སྐད་དུ་བཤད་པ་ཡིན་ཏེ། བདག་གཅིག་ཡོད་ན་གཟུགས་ལ་སོགས་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་གཅིག་ཡིན་པ་འམ། དེ་ལས་གཞན་པ་ཞིག་ཡིན་པར་འགྱུར་གྲང་། རེ་ཞིག་གཟུགས་ལ་སོགས་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་ནི་མ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར། །གཟུགས་ནི་བདག་མ་ཡིན་གསུངས་ལ། རྣམ་པར་ཤེས་པའི་བར་ཡང་བདག་མ་ཡིན་ཞེས་གསུངས་ཏེ། རེ་ཞིག་འདི་ནི་ལུང་གི་བདག་གཟུགས་ལ་སོགས་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་ཡིན་པ་བཀག་པ་ཡིན་ནོ། །འདི་ལ་རིགས་པ་གང་ཡིན་ཞེ་ན། བདག་ནི་གཟུགས་ལ་སོགས་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་མ་ཡིན་ཏེ། གཟུགས་ལ་སོགས་པ་དང་འདྲ་བ་ཁོ་ནར་མི་རྟག་པ་ཉིད་དུ་ཐལ་བར་འགྱུར་བའི་ཕྱིར་རོ། །འོན་ཏེ་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་ལས་གཞན་པ་ཞིག་ཡིན་ནོ་ཞེ་ན། དེ་ལ་རྣམ་པ་གསུམ་སྟེ། དེས་ལྷས་བྱིན་བ་ལང་དང་ལྡན་པ་ལྟ་བུར་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་དང་ལྡན་པ་ཞིག་ཡིན་པའམ། དཔེར་ན་ལྷས་བྱིན་རེ་ལྡེ་ལ་འདུག་པ་བཞིན་དུ་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་ལ་གནས་པ་ཞིག་ཡིན་པའམ། དཔེར་ན་འབྲི་ཤིང་དང་གེལ་པ་ལ་སོགས་པ་ས་ལ་བརྟེན་པ་ལྟར་དེ་ལ་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་བརྟེན་པ་ཞིག་ཡིན་གྲང་། འདིའི་ལན་གོ་རིམས་བཞིན་དུ་བདག་གཟུགས་དང་ལྡན་**མེད**་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སློས་ཏེ། རེ་ཞིག་འདི་ནི་ལུང་ཡིན་ནོ།།

---

[1] འདི་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] སྡུག་བསྔལ་བ་ པེ། སྣ། གསེར།

རིགས་པ་བརྗོད་པར་བྱ་སྟེ། བདག་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་ལ་དབང་བ་ཅི་ཞིག་ཡོད་དེ། ལྷས་བྱིན་བ་ལང་རྣམས་ལ་བཀོལ་བ་དང་། བཞོ་བ་[1]ལ་སོགས་པ་བྱ་བར་དབང་བ་ལྟར་དེའི་འདོད་པས་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་འདོར་བ་དང་ལེན་པ་ནི་མེད་དོ། །མི་འདོད་བཞིན་དུ་ཡང་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་འཇིག་པ་མཐོང་བའི་ཕྱིར། ཇི་ལྟར་འདི་དེ་དང་ལྡན་ནོ་ཞེས་བརྗོད་པར་བྱ། ཕྱོགས་གཉིས་པ་[2]ལ་ཡང་ཇི་ལྟར་འདི་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་[3]གནས་པ་ཞེས་བརྗོད་པར་བྱ་སྟེ[4]། གཟུགས་ཅན་མ་ཡིན་པའི་ཆོས་ལ་ནི་ལྷས་བྱིན་རེ་ལྡེ་ལ་འདུག་པ་ལྟར་བླ་འོག་ཏུ་གནས་པར་རུང་བ་མ་ཡིན་ནོ། །གང་གིས་ན་དེ་དག་ན་གནས་པ་[5]མངོན་པར་གྱུར་པ་དེ་ལ་གནས་པའི་བདག་གིས་ཀྱང་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་ལ་ཕན་ཅུང་ཟད་ཀྱང་མི་འདོགས་ལ་གཟུགས་ལ་སོགས་པས་ཀྱང་དེ་ལ་ཕན་ཅུང་ཟད་ཀྱང་མི་འདོགས་སོ། །འོན་ཏེ་འདི་དེ་ལ་བཞོན་ནས་དེ་དག་འཇུག་པར་བྱེད་དེ། དཔེར་ན་རྟ་ལ་བཞོན་ནས་[6]རྟ་བཞིན་ནོ་ཞེ་ན། དེ་ཡང་རུང་བ་མ་ཡིན་ཏེ། མི་འདོད་བཞིན་དུ་ཡང་འཇུག་པ་དང་ལྡོག་པ་མཐོང་བའི་ཕྱིར། བདག་གིས་འདོད་པས་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་འཇུག་པ་དང་ལྡོག་པར་འགྱུར་བ་ནི་མེད་དོ། །ཕྱོགས་གསུམ་པ་ལ་རིགས་པ་ནི། འཁྲི་ཤིང་ལ་སོགས་པ་ནི་ས་ལ་བརྟེན་པ་ཉིད་ཡིན་ཏེ། དེ་ལ་བརྟེན་ནས་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་སྐྱེ་བ་དང་། གནས་པ་དང་འཕེལ་བ་མཐོང་བའི་ཕྱིར་རོ། །གཟུགས་ལ་སོགས་པའི་སྐྱེ་བ་ལ་སོགས་པ་ནི་དེ་ལྟར་བདག་ལ་རག་ལས་པ་མ་ཡིན་ཏེ། བདག་མེད་བཞིན་དུ་ཡང་

---

[1] བཞོན་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] གཉིས་ཀ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] པ་ལ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] སྟེ། པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] པར་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] ཞོན་པས་ པེ། སྣ། གསེར།

ཕྱིའི་གཟུགས་ལ་[1]སོགས་པར་མཐོང་བའི་ཕྱིར་རོ། །གང་དག་གི་ལྟར་ན་རྡུ་ལ་སོགས་པ་སྤྲོག་ཡོད་པ་དེ་དག་ལྟར་ན་ལན་ཚྭ་ལ་སོགས་པས་མ་ངེས་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལྟར་ན་ཕུང་པོ་ལྔ་པོ་རེ་རེ་ལ་རྣམ་པ་བཞི་བཞི་ཡིན་པས་འཇིག་ཚོགས་ལ་ལྟ་བ་རྣམ་པ་ཉི་ཤུར་བཤད་པ་ཡིན་ཏེ། འཇིག་ཚོགས་ལ་ལྟ་བའི་རིའི་རྩེ་མོ་ཉི་ཤུ་མཐོ་བ་ནི་ཡེ་ཤེས་ཀྱི་རྡོ་རྗེས་བཤིག་ནས་རྒྱུན་དུ་ཞུགས་པའི་འབྲས་བུ་ཐོབ་པར་འགྱུར་རོ།།

ད་ནི་མི་མཐུན་པའི་རྒྱུ་དང་རྒྱུ་མེད་པ་ཡོངས་སུ་སྤང་བའི་སྒོ་ནས་དངོས་པོ་རྣམས་ཀྱི་སྐྱེ་བའི་རྒྱུ་བསྟན་པའི་ཕྱིར། **ཕུང་པོ་འདོད་རྒྱལ་ལས་མིན་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། འདོད་རྒྱལ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་གནམ་བབས་སོ། །དུས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་དུས་སུ་སྨྲ་བ་རྣམས་ཀྱིས་ཆོས་ཐམས་ཅད་ཀྱི་སྐྱེ་བ་དང་འཇིག་པའི་རྒྱུ་ཆོས་རྟག་པ་ཁྱབ་པ་གཅིག་པུ་ཞིག་ཀུན་བརྟགས་པ་སྟེ། ཇི་སྐད་དུ།

དུས་ནི་འབྱུང་བ་རྣམ་སྨིན་བྱེད།།
དུས་ནི་སྐྱེ་དགུ་རྣམ་འཇིག་བྱེད།།
དུས་ནི་གཉིད་ལོག་རྣམ་སད་བྱེད།།
དུས་ནི་འདའ་བར་དཀའ་བ་ཡིན།།[2]

ཞེས་བཤད་པ་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ། །རང་བཞིན་ཡང་གྲངས་ཅན་རྣམས་ཀྱི་ཆོས་ཐམས་ཅད་ཀྱི་སྐྱེ་བའི་རྒྱུ་གྱུར་པ་སྙིང་སྟོབས་དང་རྡུལ་དང་མུན་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་གཅིག་པུ་རྟག་པ་ཁྱབ་པ་ཞིག

---

[1] གཟུགས་ལ་སོགས་པ་སྐྱེ་བ་ལ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] དབུ་མ་ཚིག་གསལ། སྡེ་བསྟན། དབུ་མ། འ། ༡༢༥བ། གཞན་ཡང་། ཇོ་བོ་རྗེས་མཛད་པའི་གཞུང་ཚན་ལྔ། ཤོག ༢༠༡། ཝཱ་ཎ་མཐོ་སློབ་ནས་པེ་སྐྲུན། ༡༩༩༨

བརྟགས་པ་ཡིན་ནོ། །ངོ་བོ་ཉིད་ནི་ཆོས་ཀྱི་བདག་གི་དངོས་པོ་སྟེ། རང་གི་ངོ་བོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །དབང་ཕྱུག་ཀྱང་།

ཕྲ་ཞིང་བསམ་གྱིས་མི་ཁྱབ་རབ་ཏུ་ཐྲབ་བྱེད་ཀུན་རིག་ཐམས་ཅད་བྱེད།།
རྣལ་འབྱོར་གོམས་པས་ཐོབ་པའི་བློ་ཅན་བསམ་གཏན་ཡུལ།།
ཉི་མ་ཟླ་བ་ཆུ་མེ་རླུང་ཕྱོགས་ནམ་མཁའི་ལུས་ཅན་ཏེ།།
ཞི་བའི་བདེ་དགའ་གྲུབ་པ་འདོད་པ་རྣམས་ཀྱིས་དབང་ཕྱུག་རྟག་ཏུ་བསྒོམ།།[1]

ཞེས་བྱ་བ་དེ་ལྟ་བུའི་ཡོན་ཏན་གྱི་ཁྱད་པར་ཅན་ཞིག་ཀུན་བརྟགས་པ་ཡིན་ནོ། །དངོས་པོ་རྣམས་དེ་དག་ལས་མི་སྐྱེ་བས་ན་མི་མཐུན་པའི་རྒྱུར་སྨྲས་པ་བཀག་པ་ཡིན་ནོ། །རྒྱུ་མེད་ཅན་མིན་ཞེས་བྱ་བ་འདིས་ནི་རྒྱུ་མེད་པར་སྨྲ་བ་བཀག་གོ །ལྷག་མ་རྣམས་ཀྱིས་ནི་དངོས་པོ་རྣམས་ཀྱི་རྒྱུ་ཕྱིན་ཅི་མ་ལོག་པ་སྟོན་ཏོ།།

དེ་ལ་དངོས་པོ་རྣམས་འདོད་རྒྱལ་ལས་མི་སྐྱེའོ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཇི་ལྟར་ཤེས་ཤེ་ན། སྐྱེས་བུའི་བྱེད་པ་འབྲས་བུ་དང་བཅས་པར་མཐོང་བའི་ཕྱིར་རོ། །འབྲས་བུ་མེད་པ་ཡང་སྣང་བ་མ་ཡིན་ནམ་ཞེ་ན། སྣང་བ་བདེན་ཏེ་དེ་ནི་[2]རྒྱུ་གཞན་མ་ཚང་བའི་ཕྱིར་རོ། །དངོས་པོ་འགའ་ཞིག་རྒྱུ་ཇི་སྙེད་ཅིག་[3]སྐྱེ་བ་ལས་གལ་ཏེ་དེ་དག་ཚོགས་ཀྱང་དངོས་པོ་དེ་མི་སྐྱེ་ན་འདོད་རྒྱལ་གྱིས་བྱུས་སོ་ཞེས་བྱ་བར་གསལ་བར་ཤེས་སོ། །དུས་ཀྱང་ཐམས་ཅད་[4]ཀྱི་སྐྱེ་བའི་རྒྱུ་མ་ཡིན་ཏེ། རྗེས་སུ་འགྲོ་བ་དང་ལྡོག་པས་མི་དམིགས་པའི་ཕྱིར་ནམ་མཁའི་མེ་ཏོག་བཞིན་ནོ། །

---

[1] རྟོག་གེ་འབར་བ། སྡེ་བསྟན། དབུ་མ། ཛ། ༡༩༩བ། གཞན་ཡང་། ཇོ་བོ་རྗེས་མཛད་པའི་གཞུང་ཚན་ལྔ། ཤོག ༡༩༩ ཝ་ཎ་མཐོ་སློབ་ནས་པེ་སྐྲུན། ༡༩༩༩

[2] ནི་ གསེར་ཕྲེང་མེད།

[3] ཅིག་གིས་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཆོས་ཐམས་ཅད་ པེ། སྣ། གསེར།

གཞན་ཡང་དེ་ནི་རྟག་པའི་ཕྱིར་དངོས་པོ་རིམ་གྱིས་སྐྱེ་བར་མི་འགྱུར་ཏེ། རྒྱུ་མ་ཚང་བས་ནི་དངོས་པོ་[1]སྐྱེ་བར་མི་འགྱུར་རོ། །དངོས་པོ་རྣམས་ཀྱི་སྐྱེ་བ་དང་འཇིག་པ་ཅིག་ཅར་དུ་ཡང་ཐལ་བར་འགྱུར་ཏེ། རྒྱུ་ལ་ཁྱད་པར་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །འོན་ཏེ་སྐྱེ་བ་དང་འཇིག་པ་[2]དེ་ལ་ཁྱད་པར་ཡོད་ན་ནི་རྟག་པ་ཉིད་དུ་མི་འགྱུར་རོ། །རྒྱུ་ལ་རྟག་པ་ཙུང་ཟད་ཀྱང་མ་མཐོང་བས་དུས་ལ་རྒྱུའི་དངོས་པོ་རྣམ་པ་ཐམས་ཅད་དུ་མེད་དོ། །འཇིག་པ་ནི་རྒྱུ་དང་ལྡན་པ་ཡང་མ་ཡིན་ཏེ། མེད་པའི་ཕྱིར་གཏན་མེད་པ་བཞིན་ནོ། །རང་བཞིན་ཡང་འདི་ཉིད་ཀྱིས་ཅི་རིགས་པར་བཀག་པར་རིག་པར་བྱའོ། །གཞན་ཡང་རང་བཞིན་ནི་འགྱུར་བར་མི་འགྱུར་ཏེ། རྟག་པའི་ཕྱིར་སྐྱེས་བུ་[3]བཞིན་ནོ། །སྐྱེས་བུའི་དོན་དུ་རང་བཞིན་འགྱུར་བ་ཡང་མ་ཡིན་ཏེ། རྟག་པའི་ཕྱིར་དཔེར་ན་རང་བཞིན་གྱི་དོན་དུ་སྐྱེས་བུ་ལྟ་བུའོ། །རང་བཞིན་སྤྱོད་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ཏེ། རྟག་པའི་ཕྱིར་སྐྱེས་བུ་ལྟ་བུ་ཁོ་ནའོ། །སྐྱེས་བུ་སྤྱོད་པར་བྱེད་པ་ཡང་མ་ཡིན་ཏེ། རྟག་པའི་ཕྱིར་[4]རང་བཞིན་ལྟ་བུ་ཁོ་ནའོ། །རང་བཞིན་ཆོས་ཐམས་ཅད་ཀྱི་ས་བོན་གྱི་རྟེན་ཡང་མ་ཡིན་ཏེ། རྟག་པའི་ཕྱིར་སྐྱེས་བུ་ལྟ་བུ་ཁོ་ནའོ། །རང་བཞིན་སྙིང་སྟོབས་དང་རྡུལ་དང་མུན་པའི་ངོ་བོ་ཉིད་ཀྱང་མ་ཡིན་ཏེ། རྟག་པའི་ཕྱིར་སྐྱེས་བུ་ལྟ་བུ་ཁོ་ནའོ། །གཞན་ཡང་རང་བཞིན་འགྱུར་བ་ཞིག་ཏུ་འགྱུར་ན་[5]ཅི་བདག་ཉིད་ཐམས་ཅད་ཀྱིས་སམ། འོན་ཏེ་ཕྱོགས་གཅིག་གིས་གལ་ཏེ་བདག་ཉིད་ཐམས་ཅད་ཀྱིས་ན་ནི་རང་བཞིན་ཆད་པར་འགྱུར་རོ། །འོན་ཏེ་ཕྱོགས་གཅིག་གིས་ན་ནི་མི་རྟག་པ་ཉིད་དུ་ཐལ་བར་འགྱུར་རོ། །ངོ་བོ་ཉིད་ལས་ཀྱང་མི་སྐྱེ་སྟེ། ཡོད་པའི་ཕྱིར་

---

[1] དངོས་པོས་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] པ་ན་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] བུའི་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཕྱིར་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] འགྱུར་བ་ པེ། སྣ། གསེར།

སྐྱེས་ཟིན་པ་བཞིན་ནོ། །དབང་ཕྱུག་ཀྱང་[1]མ་ཡིན་ཏེ། ས་ལ་སོགས་པའི་ལུས་ཅན་ཡིན་པའི་ཕྱིར་ས་ལ་སོགས་པ་ལྷ་བུ་ཁོ་ནའོ། །གཅིག་ལ་ཕན་ཚུན་འགལ་བའི་ངོ་བོ་ཉིད་ཀྱང་རུང་བ་མ་ཡིན་ལ། དུ་མའི་བདག་ཉིད་ཀྱང་མ་ཡིན་པས་འདིས་[2]ལ་སོགས་པའི་ལུས་ཅན་ཉིད་དུ་མ་ཡིན་པར་མི་སྲིད་དོ། །རབ་ཏུ་ཕྲབ་མོར་བྱེད་པ་ཡང་མ་ཡིན་ཏེ། སྐྱེ་བའི་ལུས་ཅན་ཡིན་པའི་ཕྱིར། སྐྱེ་བ་ལྷ་བུ་ཁོ་ནའོ། །ཀུན་རིག་པ་ཡང་མ་ཡིནཏེ། རབ་ཏུ་ཕྲབ་མོར་བྱེད་པའི་ཕྱིར། གྲོལ་བའི་བདག་བཞིན་ནོ། །ཐམས་ཅད་བྱེད་པ་ཡང་མ་ཡིན་ཏེ། ཕྲ་བའི་ཕྱིར་རྡུལ་ཕྲ་རབ་བཞིན་ནོ། །འདི་ནི་རྟག་པ་ཡང་མ་ཡིན་ཏེ། ས་ལ་སོགས་པའི་ལུས་ཅན་ཡིན་པའི་ཕྱིར་ས་ལ་སོགས་པ་ལྷ་བུ་ཁོ་ནའོ། །དབང་ཕྱུག་ཆོས་ཐམས་ཅད་ཀྱི་སྐྱེ་བའི་རྒྱུ་ཡང་མ་ཡིན་ཏེ། ཅིག་ཅར་མི་སྐྱེ་བའི་[3]ཕྱིར་རྫ་མཁན་བཞིན་ནོ། །གཟུགས་ལ་སོགས་པ་དབང་ཕྱུག་གིས་བསྐྱེད་པ་ཡང་མ་ཡིན་ཏེ། དངོས་པོ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་དབང་ཕྱུག་བཞིན་ནོ། །དབང་ཕྱུག་ནི་ཐམས་ཅད་བྱེད་པ་ཡང་མ་ཡིན་ཏེ། བདག་མེད་པའི་ཕྱིར་བུམ་པ་བཞིན་ནོ། །བདག་ཡོད་པ་ཉིད་ཅིག་ཡིན་ན་ནི་སྐྱེས་བུ་བཅིངས་པ་བཞིན་དུ་དབང་ཕྱུག་མ་ཡིན་པ་ཉིད་དུ་ཐལ་བར་འགྱུར་རོ། །རྒྱུ་མེད་པར་སྨྲ་བ་ནི་འཇིག་རྟེན་ཉིད་ཀྱིས་བསལ་[4]བར་ཟད་དེ། དེ་ལ་ཅུང་ཟད་ཀྱང་མི་བརྗོད་[5]དོ།།

འོ་ན་དངོས་པོ་རྣམས་ཅི་ལས་སྐྱེ་ཞེ་ན། **མི་ཤེས་ལས་དང་སྲེད་ལས་བྱུང་རིག་མཛོད།།** ཅེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། དཔེར་ན་ས་བོན་མ་ཉམས་པ་ལ་ལུད་ཀྱིས་གཡོགས་ཤིང་ཆུས་བརླན་པས་ནི་མྱུ་གུ་མངོན་པར་འགྲུབ་པར་བྱེད་དོ། །དེ་བཞིན་དུ་མི་ཤེས་པས་གཡོགས་པའི་ལས་སྲེད་

---

[1] ཀྱང་ཕྲ་བ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] འདི་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] མི་བསྐྱེད་པའི་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] སྨྲལ་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] བརྗོད་ པེ། སྣ། གསེར།

པའི་ཆུས་བརླན་པས་ཀྱང་ཡང་སྲིད་[1]པའི་མྱུ་གུ་མངོན་པར་འགྲུབ་པར་བྱེད་དོ། །དེ་ལ་མི་ཤེས་པ་ནི་བདེན་པ་རྣམས་ལ་ཀུན་ཏུ་རྨོངས་པ་སྟེ། མ་རིག་པ་དང་མི་མཐོང་བ་དང་མུན་པ་ཞེས་བྱ་བ་རྣམ་གྲངས་ཡིན་ནོ། །བྱིས་པ་མ་རིག་པས་དམུས་ལོང་དུ་གྱུར་པ་ནི་འདི་ལ་བདེ་བར་བྱ་བའི་ཕྱིར་རམ། ཕྱི་མ་ལ་བདེ་བར་བྱ་བའི་ཕྱིར་དགེ་བ་དང་མི་དགེ་བའི་ལས་བྱེད་དེ། དེ་ནི་འདིའི་མ་རིག་པའི་རྐྱེན་གྱིས་འདུ་བྱེད་ཡིན་ནོ། །ལས་ནི་རྣམ་པ་གསུམ་སྟེ། དགེ་བ་དང་མི་དགེ་བ་དང་མི་གཡོ་བའོ། །གཟུགས་དང་གཟུགས་མེད་པ་ན་སྤྱོད་པའི་དགེ་བ་ལ་ནི་མི་གཡོ་བ་ཞེས་བཤད་དེ། ལས་འདི་རྣམ་པ་གསུམ་ཆར་ཡང་མ་རིག་པའི་རྐྱེན་ཅན་ཡིན་ཞིང་ཁམས་གསུམ་པའི་སྲིད་པས་བརླན་པ་ནི་ཡང་སྲིད་པའི་མྱུ་གུ་མངོན་པར་འགྲུབ་པར་བྱེད་པར་རིག་པར་བྱའོ།། [2]

དེ་ལྟ་ཡིན་ན་འོ་ན་ཕུང་པོ་འདི་འདྲ་བ་དག་ལས་གྲོལ་བར་བྱ་བ་ལ་གྲོགས་ཀྱིས་ཤིག་ཅེ་ན། ཐར་པ་བདག་ལ་རག་ལས་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། གྲོལ་བ་ནི་རང་གི་སེམས་ལ་རག་ལས་པའི་ཕྱིར་ཐར་པ་ཐོབ་པར་བྱ་བ་ལ་གྲོགས་ཀྱིས་བསྐྱང་[3]བའི་ཁ་ན་ལས་པར་ནི་མི་འདོད་དོ། །འོ་ན་ཐབས་གང་[4]ཞེ་ན། **ཐོས་དང་ཚུལ་ཁྲིམས་བསམ་གཏན་ལྡན་པ་ཡིས། །** ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །དེ་ལ་ཐོས་པ་ནི་ལྡན་པ་དང་མཐུན་པ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ། །ཚུལ་ཁྲིམས་ནི་མ་ཉམས་པ་ལ་སོགས་པ་དང་ལྡན་པའོ། །བསམ་གཏན་ནི་ངེས་པར་འབྱེད་པའི་ཆ་དང་མཐུན་པ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱ་སྟེ། དེ་ལྟར་ཚུལ་ཁྲིམས་དང་ཐོས་པ་དང་

---

[1] ཀྱང་སྲིད་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] ཚུལ་ཁྲིམས་བརྟུལ་ཞུགས་མཆོག་འཛིན་རང་ལུས་ལ་ཞེས་སོགས་ཚིག་འདིའི་འགྲེལ་བཤད་གཞུང་འདི་དང་དཔར་མ་གཞན་གང་དུའང་གསལ་མེད་པས་འཆད་མེད་དམ་མཉམ།

[3] བཏང་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] གང་ཡིན་ པེ། སྣ། གསེར།

བསམ་གཏན་དང་ལྡན་པས་[1]བདེན་པ་[2]རྣམ་པ་བཞི་ལ་འབད་པར་གྱིས་ཤིག་དང་། དེ་ལྟར་ན། ཐར་པ་ཐོབ་པར་འགྱུར་རོ་སྙམ་དུ་དགོངས་པ་ཡིན་ནོ།།

ལྷག་པའི་ཚུལ་ཁྲིམས་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་ཐར་པའི་ལམ་ཁོ་ན་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །དེ་ལ་ལྷག་པའི་ཚུལ་ཁྲིམས་ནི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པར་ཡོངས་སུ་བསྔོས་པ་གང་ཡིན་པའོ། །ལྷག་པའི་སེམས་ནི་འཕགས་པའི་ལམ་གྱི་རྟེན་བསམ་གཏན་བཞི་ཡིན་ནོ། །ལྷག་པའི་ཤེས་རབ་ནི་ངེས་པར་འབྱེད་པའི་ཆ་དང་མཐུན་པ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ། །བསླབ་པ་གསུམ་པོ་དེ་དག་ནི་བསླབ་པ་ཐམས་ཅད་ཀུན་དུ་སྡུད་པར་[3]གྱུར་པ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར།

བསླབ་པ་བརྒྱ་རྩ་ལྔ་བཅུ་ལྷག་ཅིག་ནི།།
གསུམ་པོ་འདི་ནང་ཡང་དག་འདུ་བར་འགྱུར།།

ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། གང་གི་ཕྱིར་བསླབ་པ་གསུམ་པོ་འདིའི་ནང་དུ་བསླབ་པ་བརྒྱ་ལྔ་བཅུ་ལྷག་ཅིག་འདུ་བར་འགྱུར་བ་དེའི་ཕྱིར་བསླབ་པ་གསུམ་པོ་འདི་ལ་འབད་དེ་བསླབ་པར་བྱའོ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །བསླབ་པ་བརྒྱ་ལྔ་བཅུ་ནི་སོ་སོ་ཐར་པ་ལས་འབྱུང་བར་རིག་པར་བྱའོ།།

དབང་ཕྱུག་ལུས་རྟོག་དྲན་པ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་ཐར་པའི་[4]ལམ་ཁོ་ན་སྟོན་པར་བྱེད་དེ། ལུས་རྟོག་པ་[5]ནི་ལུས་ལ་སོང་བའོ། །ལུས་དམིགས་པ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་སྟེ། དེ་ནི་ལུས་ཀྱི་འགྲེང་བ་དང་འདུག་པ་ལ་སོགས་པའི་གནས་སྐབས་ཀྱི་རྣམ་པར་དཔྱོད་པར་བྱེད་

---

[1] པ་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[2] བདེ་བ་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[3] སྡུད་པར་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[4] པར་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[5] རྟོགས་ ཅོ། སྣ། གསེར།

པ་ཡིན་ནོ། །ལུས་སུ་རྟོག་[1]པའི་དྲན་པ་དེ་ནི་**བདེ་གཤེགས་ཀྱིས། །བསྒྲོད་པ་གཅིག་པའི་ལམ་དུ་ཉེ་བར་བསྟན།** །དེ་ཇི་སྐད་དུ་དགེ་སློང་དག་སེམས་ཅན་རྣམས་རྣམ་པར་དག་པར་བྱེད་པ་དང་སྡུག་བསྔལ་བ་དང་། ཡིད་མི་བདེ་བ་ལས་ཡང་དག་པར་འདའ་བར་བྱེད་པ་དང་རིགས་པའི་ཆོས་རྟོག་[2]པར་བྱེད་པ་དང་། མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་མངོན་དུ་བྱེད་པའི་བསྒྲོད་པ་གཅིག་པའི་ལམ་ནི་འདི་ལྟ་སྟེ། ལུས་སུ་རྟོག་པའི་དྲན་པ་ཡིན་ནོ་ཞེས་རྒྱས་པར་གསུངས་པ་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལ་བསྒྲོད་པ་གཅིག་པ་ཉིད་ནི་བདེ་བླག་དང་མྱུར་བ་དང་། །གདོན་མི་ཟ་བར་ཐོབ་པའི་རྒྱུ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་ཏེ[3]། དེ་ལྟ་བས་ན་བསྒྲོད་པ་གཅིག་པ་ཞེས་བྱ་བའི་སྒྲ་ནི་འདིར་ལམ་བསྔགས་པའི་ཚིག་ཡིན་པར་བཟླ་བར་བྱའོ། །གཅིག་ཏུ་འགྲོ་བ་ནི་བསྒྲོད་པ་གཅིག་པ་སྟེ། ལམ་ལ་རྣམ་པ་གཉིས་སུ་མེད་པས་ངོ་བོ་གཅིག་ཏུ་ཞུགས་པའི་ཕྱིར་རོ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། **།དེ་ནི་བསྒྲིམས་ནས་མངོན་པར་བསྲུང་བགྱི་སྟེ།** །ཞེས་བྱ་བ་ནི་དྲན་པ་དེ་ལྟ་བུ་དེ་ནི་དགོས་པ་ཆེ་བའི་ཕྱིར་ཁྱོད་ཀྱིས་འབད་དེ་བསྲུང་བར་བྱའོ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་ཉམས་ན་རེ་ཞིག་ཆོས་གཞན་དག་ཀྱང་འཇིག་པར་འགྱུར་ན། མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་འཐོབ་པར་བྱེད་པ་རྣམས་ལྟ་སྨོས་ཀྱང་ཅི་དགོས་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར། **དྲན་པ་ཉམས་པས་ཆོས་ཀུན་འཇིག་པར་འགྱུར།** །ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་སོ།།

འདི་མན་ཆད། **ཚེ་ནི་གནོད་མང་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་ཐར་པ་ཐོབ་པའི་རྒྱུ་སྐྱོ་བའི་[4]རྒྱུར་གྱུར་པ་འཆི་བ་ལ་དྲན་པ་ཉེ་བར་གཏོད་པར་བྱེད་དེ། ཚེ་གནོད་པ་དུ་མ་དང་འབྲེལ་

---

[1] རྟོགས་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] རྟོགས་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཏེ། པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[4] རྒྱུ་ཏེ་བོའི་ པེ། གསེར།

པ་རླུང་གིས་བཏབ་པའི་ཆུའི་ཆུ་བུར་བས་ཀྱང་མི་རྟག་ན་ཞེས་བྱ་བ་འདིས་ནི་ཚེ་སྐད་ཅིག་མ་ཉིད་ཡིན་པར་བསྟན་ཏོ། །

དབུགས་རྔུབ་དབུགས་འབྱུང་གཉིད་ཀྱིས་ཡོག་པ་ལས།།
སད་ཁོམ་གང་ལགས་དེ་ནི་ངོ་མཚར་ཆེ།།

ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཚེ་དེ་ལྟར་གནོད་པ་མང་བ་ཅན་སྐད་ཅིག་མ་ཡིན་ན། སྐྱེས་བུ་དབུགས་རྔུབ་པའམ་[1]དབུགས་རྔུབས་ནས་ཕྱིར་འབྱུང་བའམ། གཉིད་ཀྱིས་ཡོག་པ་ལ་སོགས་པ་ལས་སད་ཁོམ་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་ཡ་མཚན་ཆེའོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ། །གནོད་པ་ནི་རྣམ་པ་གཉིས་སུ་རིག་པར་བྱ་སྟེ། ཕྱི་རོལ་གྱི་ནི་རླུང་དང་ཉི་མ་དང་སྡིག་སྦྲུལ་ལ་སོགས་པའོ། །ནང་གི་ནི་རླུང་ལ་སོགས་པ་འཁྲུགས་པས་ཀུན་ནས་བསླང་བའི་ནད་ལ་སོགས་པའོ།།

ལུས་མཐའ་ཐལ་བ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་ལུས་ལ་སྙིང་པོའི་བློ་འདོར་དུ་འཇུག་པ་སྟེ། དེ་ལྟ་[2]ན་ཡང་འཆི་བ་ལ་དྲན་པ་ཉེ་བར་གཏོད་པ་[3]ཁོ་ན་ཡིན་ནོ། །དེ་ལ་ལུས་མཐའ་ཐལ་བ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པའི་དོན་ནི་མདོའི་ཚིག་ལྟའི་[4]རྗེས་སུ་འབྲངས་ནས་རིག་པར་བྱ་སྟེ། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ཇི་སྐད་དུ་དགེ་སློང་དག་ཤི་ཞིང་དུས་ལས་འདས་པའི་ལུས་ཉེ་དུ་རྣམས་ཀྱིས་མེས་བསྲེགས་པའམ། ཆུས་བསྐུར་[5]བའམ་སའི་འོག་ཏུ་འཛུད་པར་བྱེད་ཅིང་། ཡང་ན་ནི་རླུང་དང་ཉི་མ་དག་གིས་སྐམས་པར་འགྱུར་རོ། །ཡང་ན་ནི་དུད་འགྲོའི་སྐྱེ་གནས་སུ་གཏོགས་པའི་སྲོག་ཆགས་སྣ་ཚོགས་ཟ་བར་འགྱུར་རོ་ཞེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུའོ། །དེ་ལ་ལུས་

---

[1] དབུགས་རྔུབ་པའམ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མི་གསལ།

[2] ལྟར་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] གཏད་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཚིག་གི་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] བཀུར་ པེ། སྣ། གསེར།

ཞེས་བྱ་བ་ནི་རྣམ་པར་བསྒྲིས་པའི་བདག་ཉིད་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། །**མཐའ་ཐལ་བ**་ཞེས་བྱ་བ་ནི་མེས་བསྲེགས་ཞེས་བྱ་བའི་[1]དོན་ཡིན་ནོ། །**མཐར་སྐམ**་ཞེས་བྱ་བ་ནི་སའི་འོག་ཏུ་འཇུད་པར་བྱེད་ཅིང་། ཡང་ན་ནི་རླུང་དང་ཉི་མ་དག་གིས་སྐམས་[2]པར་འགྱུར་རོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཚིག་འདི་གཉིས་ཀྱི་དོན་ཡིན་ནོ། །**མཐར་འདུལ**་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཆུ་བསྐྱུར་[3]བ་ཞེས་བྱ་བའི་[4]དོན་ཡིན་ནོ།། **ཐ་མར་མི་གཙང**་ཞེས་བྱ་བ་ནི་དུད་འགྲོའི་སྐྱེ་གནས་སུ་གཏོགས་པའི་སྲོག་ཆགས་སྣ་ཚོགས་ཟ་བར་འགྱུར་རོ་ཞེས་བྱ་བ་འདིའི་དོན་ཡིན་ནོ། །**སྙིང་པོ་མ་མཆིས་པ**་ཞེས་བྱ་བ་ཅིའི་[5]ཕྱིར་[6]ཞེ་ན་འདི་ལྟར།

རྣམ་པར་འཇིག་དེངས་སྒྱུགས་པར་འགྱུར་པ་སྟེ།།
སོ་སོར་འགྲེས་ཆོས་ཅན་དུ་མཁྱེན་པར་མཛོད།།

སྙིང་པོ་མེད་པ་ཉིད་ནི་རྣམ་པར་འཇིག་པ་[7]ལ་སོགས་པ་ཉིད་ཀྱིས་སྟོན་པར་བྱེད་དོ[8]། །དེ་ལ་རྣམ་པར་འཇིག་པའི་ཆོས་ཅན་ནི་མེས་འཇོམས་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེངས་པའི་ཆོས་ཅན་ནི་རླུང་དང་ཉི་མ་ལ་སོགས་པས་སྐམས་པའི་ཕྱིར་རོ། །སྒྱུགས་པའི་ཆོས་ཅན་ནི་ཆུས་འདུལ་[9]པའི་

---

[1] བྱ་བའི་ཚིག་འདིའི་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] བསྐམས་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] བཀུར་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] བའི་འདིའི་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] ཅི་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] ཕྱིར་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[7] པ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[8] དེ། པེ། སྣ། གསེར།

[9] རྡུལ་ པེ། སྣ། གསེར།

ཕྱིར་རོ། །སོ་སོར་འགྲེས་པའི་ཆོས་ཅན་ནི་སྲོག་ཆགས་རྣམས་ཀྱིས་ཁམ་བུར་རྣམ་པར་འཇིག་པའི་ཕྱིར་རོ། །མཁྱེན་པར་མཛོད་ཅེས་བྱ་བ་ནི་རྟོགས་པར་གྱིས་ཤིག་པའོ།།

ས་དང་ལྷུན་པོ་རྒྱ་མཚོ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་ཆེསབརྟན་པ་རྣམས་ཀྱང་མི་རྟག་པ་ཉིད་དུ་མཐོང་བས་རང་གི་ལུས་ལ་ཤིན་ཏུ་སྙིང་པོ་མེད་པའི་བློ་ཉེ་བར་གཏོད་པར་བྱེད་དེ། ས་དང་ལྷུན་པོ་དང་རྒྱ་མཚོ་རྣམས་ཞེས་བྱ་བར་ཚིག་ཏུ་[1]བསྡུ་བའོ། །དེ་དག་ནི་ས་དང་ལྷུན་པོ་རྒྱ་མཚོ་ཉི་མ་བདུན་འབར་བས་བསྲེག་[2]པའི་ལུས་ཅན་ཏེ། ཉི་མ་བདུན་འབར་བ་ནི་ཉི་མ་བདུན་པོ་དག་གིས་[3]འབར་བའོ། །གང་དག་ལ་དེས་བསྲེག་པའི་ལུས་ཡོད་པ་དེ་དག་ལ་དེ་སྐད་ཅེས་བྱ་སྟེ། ས་ལ་སོགས་པ་ཉི་མ་བདུན་གྱི་ནི། །འབར་བས་བསྲེག་པའི་ལུས་ཅན་དེ་དག་ཀྱང་།

ཐལ་བ་ཡང་ནི་ལུས་པར་མི་འགྱུར་ན།།
ཤིན་ཏུ་ཉམ་ཆུང་མི་ལྟ་སྨོས་ཅི་འཚལ།།

རེ་ཞིག་ཆེ་ཐུང་[4]དུ་བསྟན་པ་དེ་དག་ཀྱང་གནས་སྐབས་དེ་ལྟ་བུར་འགྱུར་ན་རྣམ་པ་ཐམས་ཅད་དུ་ཉམ་ཆུང་བའི་ལུས་གང་ཡིན་པ་འདི་ལྟ་སྨོས་ཀྱང་ཅི་དགོས་ཏེ། འདི་ལ་མི་རྟག་པ་ཉིད་ཀྱིས་གཞོམ་པར་མི་ནུས་པའི་གནས་སྐབས་གང་ཡིན་པ་དེ་མེད་དོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལ་ས་ལ་[5]སོགས་པ་ཉི་མ་བདུན་གྱིས་བསྲེག་པ་ནི་ཉི་མ་བདུན་འཆར་བའི་མདོའི་རྗེས་སུ་འབྲངས་ནས་རིག་པར་བྱ་སྟེ། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ཇི་སྐད་དུ། དགེ་སློང་དག་གང་དུས་ཡུན་རིང་མོ་ཞིག་འདས་ནས་ཆར་པ་མི་འབབ་ལ། དེ་ནས་ས་ཆེན་པོ་འདི་ལ་ས་བོན་གྱི་ཚོགས་དང་འབྱུང་

---

[1] ཏུ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།
[2] བསྲེགས་ པེ། སྣ། གསེར།
[3] པོ་དག་གིས་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མི་གསལ།
[4] ཐང་ པེ། སྣ། གསེར།
[5] ས་ལ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

བའི་ཚོགས་གང་དག་ཡིན་པ་དང་། ཆུ་བྲན་བསྐམ་པར་འགྱུར་བའི་དུས་དེ་ཡང་ཡོད་དོ། ། དགེ་སློང་དག་གང་དུས་རིང་མོ་ཞིག་འདས་ནས་ཆར་མི་འབབ་ལ། དེ་ནས་འཇིག་རྟེན་འདིར་ཉི་མ་གཉིས་པ་ཞིག་འབྱུང་བར་འགྱུར་ཏེ། དེ་བྱུང་ནས་[1]ས་ཆེན་པོ་འདི་ལ་ཆུ་བོ་[2]ཆེན་པོ་བཞི་མ་གཏོགས་པ་ཆུ་བོ་ཐམས་ཅད་བསྐམ་པར་འགྱུར་བའི་དུས་དེ་ཡང་ཡོད་དོ། །འཇིག་རྟེན་དུ་ཉི་མ་གསུམ་པ་བྱུང་བས་ནི་ཆུ་བོ་ཆེན་པོ་བཞི་དང་མ་དྲོས་པ་ལ་སོགས་པའི་མཚོ་ཆེན་པོ་རྣམས་ཀྱང་བསྐམ་པར་འགྱུར་རོ། །འཇིག་རྟེན་དུ་ཉི་མ་བཞི་པ་བྱུང་བས་ནི་རྒྱ་མཚོ་ཆེན་པོ་ལས་ཤིང་ཏ་ལ་ཙམ་ཡང་བསྐམ་པར་འགྱུར་ལ། དཔག་ཚད་ཙམ་ཡང་བསྐམ་པར་འགྱུར་བས་ན་[3]དཔག་ཚད་བརྒྱ་རྩ་ཡང་བསྐམ་པར་འགྱུར་རོ། །འཇིག་རྟེན་དུ་ཉི་མ་ལྔ་[4]བྱུང་བས་ནི་དཔག་ཚད་ཉིས་བརྒྱ་ལ་སོགས་པའི་ཁྱད་པར་གྱི་ཆུ་བསྐམ་པར་འགྱུར་རོ། །འཇིག་རྟེན་དུ་ཉི་མ་དྲུག་པ་བྱུང་བས་ནི་ཆུའི་ཐིགས་པ་ཆུང་ངུ་ཡང་མི་ལུས་ཤིང་ས་ཆེན་པོ་འདི་དང་རིའི་རྒྱལ་པོ་རི་རབ་ཀྱང་དུ་བ་འཐུལ་བར་འགྱུར་ཏེ། དཔེར་ན་ཐང་[5]ལྷགས་བསྲེག་པ་རྩའི་ནང་དུ་བོར་བ་བཞིན་དུ་དུ་བ་འཐུལ་བར་འགྱུར་ཏེ། དུ་བ་ཀུན་དུ་འཐུལ་བར་[6]འགྱུར་རོ། །འཇིག་རྟེན་དུ་ཉི་མ་བདུན་པ་བྱུང་བས་ནི་སྟོང་གསུམ་གྱི་སྟོང་ཆེན་པོ་འཇིག་རྟེན་གྱི་ཁམས་འདི་ཀུན་[7]འབར་བར་འགྱུར་རབ་ཏུ་འབར་བར་འགྱུར་ཏེ། དཔེར་ན་མར་སར་རམ་འབྲུ་མར་བསྲེགས་ན་ཐལ་

---

[1] བས་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] བོ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[3] བ་ནས་ སྣ་པར་དང་། བས་ནས་ གསེར་བྲིས།

[4] ལྔ་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] ཐོང་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] འགྱུར་ཏེ། དུ་བ་ཀུན་དུ་འཐུལ་བར་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་ཡིག་ཕྲེང་འདི་མི་གསལ།

[7] ཀུན་ཡང་ པེ། སྣ། གསེར།

བ་ཡང་མི་ལུས་པ་བཞིན་དུ་འགྱུར་རོ། །དེ་ལྟར་འདུ་བྱེད་དུ་གཏོགས་པ་ཐམས་ཅད་མ་ལུས་པར་བསྲེགས་ནས་རང་ཡང་འཆི་བར་འགྱུར་ཏེ། རེ་ཞིག་འདི་ནི་མེས་འཇིག་པའི་དབང་གིས་ས་དང་ལྷུན་པོ་དང་རྒྱ་མཚོ་རྣམས་འཇིག་པར་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །འདི་དག་ནི་ཆུས་འཇིག་པའི་དབང་གིས་ཀྱང་འཇིག་ལ། རླུང་གིས་འཇིག་པའི་དབང་གིས་ཀྱང་འཇིག་པར་རིག་པར་བྱའོ། །དེ་ལ་ཁྱད་པར་ནི་འདི་ཡོད་དེ་ཉི་མ་གཉིས་པའི་[1]ཇི་[2]ལྟ་བ་དེ་ལྟར་ཆུས་འཇིག་པ་ལ་ནི་ཚ་སྣོ་ཆུའི་ཆར་འབབ་བོ། །རླུང་གིས་འཇིག་པ་ལ་ནི་རྣམ་པར་འཐོར་བྱེད་ཀྱི་རླུང་ཆེན་པོ་ལྡང་ངོ་།།

དེ་ལྟར་འདི་ཀུན་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་ཇི་སྐད་དུ་བཤད་པའི་དོན་གྱི་མཇུག་བསྡུས་ནས་གདམས་ངག་སྦྱིན་པར་བྱེད་དེ། མི་རྟག་པ་དང་བདག་མེད་པ་ནི་བཤད་ཟིན་པ་ཉིད་དོ། །སྐྱབས་མེད་པ་ནི་སྡུག་བསྔལ་ལས་ཡོངས་སུ་སྐྱོབ་པར་བྱེད་པའི་རྗེ་དཔོན་[3]འགའ་ཡང་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །མགོན་མེད་པ་ནི་དེ་ལྟ་བུའི་ཉེ་བའི་ཚོགས་ཀྱང་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །གནས་མེད་པ་ནི་ཐ་མལ་པར་འདུག་པ་གཞན་འགའ་ཡང་མེད་པའི་ཕྱིར་ཏེ། །གང་གི་ཕྱིར་འཇིག་རྟེན་འདི་དེ་ལྟར་སྐྱབས་མེད་པ་ཡིན་པ་དེའི་ཕྱིར་ཀྱི་མི་མཆོག་ཁྱོད་ཀྱིས་འཁོར་བ་ཆུ་ཤིང་ལྟར་སྙིང་པོ་མེད་པ་ལས་ཡིད་འབྱུང་བར་གྱིས་ཤིག་ཅེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ།།

ད་ནི་དགེ་བའི་སྣོད་མི་ཉིད་རྙེད་དཀའ་བར་རབ་ཏུ་བསྟན་པའི་ཕྱིར། རྒྱ་མཚོ་གཅིག་གནས་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། རྒྱ་མཚོ་གཅིག་ན་གནས་པས་རྒྱ་མཚོ་གཅིག་གནས་སོ། །དེ་ནི་རྒྱ་མཚོ་གཅིག་ན་གནས་པ་ཡང་ཡིན་ལ། རུས་སྦལ་ཡང་ཡིན་པས་རྒྱ་མཚོ་གཅིག

---

[1] པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] ཅི་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] དཔོན་ པེ། སྣ། གསེར།

ན་གནས་པའི་རུས་སྦལ་ལོ། །རྒྱ་མཚོ་གཅིག་ན་གནས་པའི་རུས་སྦལ་དང་གཉའ་ཤིང་བུ་ག་ལ་[1]ཞེས་བྱ་བར་ཚིག་བསྡུས་ཏེ། དེ་གཉིས་ཕྲད་པའི་རྒྱ་མཚོ་གཅིག་ན་གནས་པའི་རུས་སྦལ་དང་གཉའ་ཤིང་བུག་པར་ཕྲད་པའོ། །མི་ཉིད་ཐོབ་པ་ནི་དེ་བས་ཀྱང་དཀའ་བའོ[2]། །དོན་འདི་ཡང་མདོ་ཁོ་ན་ལས་རྒྱས་པར[3]བསྟན་ཏེ། དགེ་སློང་དག་འཇིག་རྟེན་རྒྱ་མཚོ་གཅིག་ཏུ་གྱུར་པའི་ནང་ན་རུས་སྦལ་ལོང་[4]བ་ཚེ་རིང་བ་ཡུན་རིང་པོར་འཚོ་བ་ཞིག་གནས་ཤིང་[5]དེ་ལོ་བརྒྱ་འདས་ནས་ལན་ཅིག་གྱེན་དུ་འབྱུང་ལ། རྒྱ་མཚོ་ཆེན་པོ་དེ་ན་གཉའ་ཤིང་བུ་ག་ཕུག་པ་ཅིག་ཡོད་པ་དེ་ཤར་གྱི་རླུང་གིས་བདས་ན་[6]ནི་ནུབ་ཕྱོགས་སུ་འགྲོ་ཞེས་བྱ་བ་རྒྱས་པར་བཀའ་སྩལ་ནས། དགེ་སློང་དག་གང་དུ་རུས་སྦལ་ལོང་བ་དེ་གྱེན་དུ་འབྱུང་བའི་མགྲིན་པ་གཉའ་ཤིང་དེའི་བུ་གར་ཆུད་པར་འགྱུར་བའི་དུས་དེ་ནི་ཡོད་ཀྱི། དགེ་སློང་དག་མིར་སྐྱེ་བ་ཐོབ་པ་ནི་དེ་བས་ཀྱང་ཆེས་དཀའ་བར་ང་སྨྲའོ་ཞེས་གསུངས་སོ། །དུད་འགྲོ་ལས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་དུད་འགྲོའི་སྐྱེ་གནས་ལས་[7]སོ། །དེས་ནི་[8]མི་ཐོབ་པར་ནི་དཀའ་སྟེ། དེ་དག་ཤིན་ཏུ་བླུན་པའི་ཕྱིར་རོ། །གང་གི་ཕྱིར་དེ་ལྟར་མི་ཉིད་ཐོབ་པར་ཤིན་ཏུ་དཀའ་བ་དེའི་ཕྱིར་མི་དབང་གིས། དམ་ཆོས་

---

[1] བུག་པ་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[2] དཀའོ། ཡེ། སྣ། གསེར།

[3] རྒྱས་པར་ ཡེ། སྣ། གསེར་ཕྲེས་སུ་མེད།

[4] ཞར་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[5] གནས་ཏེ། ཡེ། སྣ། གསེར།

[6] ནས་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[7] ནས་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[8] དེ་ནས་ ཡེ། སྣ།

སྤྱད་པས་མི་དེ་འབྲས་བུ་མཆིས་པར་མཛོད་ཅིག །འདིས་ནི་འདི་སྐད་དུ་ཁྱོད་ཀྱིས་ཐོས་པ་ཙམ་གྱིས་ཆོག་པར་མི་བྱའོ། །འོན་ཀྱང་ནན་ཏན་སྙིང་པོར་བྱའོ་ཞེས་བྱ་བ་བཤད་པ་ཡིན་ནོ།།

གང་ཞིག་གསེར་སྣོད་ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་[1]ནི་དེ་ལྟར་རྙེད་དཀའ་བའི་མི་ཉིད་ཐོབ་ནས། གང་ཞིག་དགེ་བ་མི་བྱེད་པ་དེ་སྨད་པའི་སྒོ་ནས་དགེ་བ་ལ་སྦྱོར་བར་བྱེད་དོ། །གསེར་གྱི་སྣོད་རིན་པོ་ཆེས་སྤྲས་པས་ངན་སྐྱུགས་དག་འཕྱགས་པར་འོས་པ་མ་ཡིན་པས་[2]གནས་མ་ཡིན་པར་སྤྱོད་པ་ནི་འཇིག་རྟེན་གྱིས་སྨད་པར་བྱ་བ་ཡིན་ནོ། །མིར་སྐྱེས་ན་གང་ཞིག་སྡིག་པ་རྣམས་བྱེད་པ་ནི་དེ་བས་ཀྱང་ཆེས་སྨད་པར་བྱ་བ་[3]ཁོ་ན་ཡིན་ཏེ། མི་ཉིད་ནི་རིན་པོ་ཆེའི་སྣོད་བས་ཀྱང་ཆེས་རྙེད་པར་དཀའ་བའི་ཕྱིར་རོ།།

ད་ནི་མཐུན་པར་འགྱུར་བའི་ཡུལ་དུ་གནས་པ་དང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་རྒྱལ་པོ་འཕགས་པའི་ལམ་གྱིས་སྣོད་ཉིད་ཡིན་པར་སྟོན་ཏོ། །དེ་ལ་མཐུན་པའི་ཡུལ་ནི་གང་ཞིག་གང་གིས་[4]སེམས་མཉམ་པར་གཞག་པ་དང་མཐུན་པ་ཡིན་ཏེ། འཚེ་བ་དང་གནོད་པ་དང་བྲལ་བའི་ཕྱིར་རོ། །སྐྱེས་བུ་དམ་པ་ལ་བརྟེན་པ་ནི་དགེ་བའི་བཤེས་གཉེན་ལ་ཡང་དག་པར་བརྟེན་པའོ།། དེ་ཡང་ལུང་[5]ཕུན་སུམ་ཚོགས་པའམ། རྟོགས་པ་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་ཡང་རུང་སྟེ། ཡོན་ཏན་དག་གིས་མཉམ་པའམ། ཁྱད་པར་དུ་འཕགས་པའི་ཡོན་ཏན་ཅན་[6]ཡིན་ནོ། །ཡང་ན་མཛའ་བོའམ། བླ་མ་ཡིད་བརྟན་དུ་རུང་བ་སྨྲ་མཁས་པ་ཚིག་བཟོད་པ་དོན་ཟབ་མོ་སྨྲ་བ་གནས་མ་

---

[1] པའི་ པེ།

[2] པར་སྤྱོད། པེ། སྣ། གསེར།

[3] བྱེད་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] གི་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] ལུས་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] ཅན་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

ཡིན་པར་སྨྲོར་བར་མི་བྱེད་པ་གང་ཡང་རུང་སྟེ། གང་གི་རྗེས་སུ་བསླབས་ནས་[1]ཚུལ་ཁྲིམས་དང་། ཐོས་པ་དང་། གཏོང་བ་དང་། ཤེས་རབ་ཀྱིས་[2]འཕེལ་བར་འགྱུར་བ་དེ་འདྲ་བ་དེ་ནི་སྐྱེས་བུ་དམ་པ་ཞེས་བྱའོ། །བདག་ཉིད་ཀྱིས་ལེགས་པའི་སྨོན་ལམ་ནི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་ཇི་སྐད་བཤད་པ་བཞིན་བྱེད་པའི་སྒོ་ནས་ལེགས་པར་སྒྲུབ་པའོ། །**སྔོན་ཡང་བསོད་ནམས་བགྱིས་ཞེས་**བྱ་བ་འདིས་ནི་ཚོགས་བསགས་པ་ཉིད་དུ་སྟོན་ཏོ། །དེ་དག་ནི་འཁོར་ལོ་ཞེས་བྱ་བ་སྟེ། འཕགས་པའི་ལམ་གྱི་ཤིང་རྟས་འགྲོ་བར་བྱེད་པ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། །འཁོར་ལོ་ཆེན་པོ་དེ་བཞི་ནི་ཁྱོད་ལ་མངའ་ཞིང་ཡོད་པས་དེའི་ཕྱིར་འཕགས་པའི་ལམ་བསྐྱེད་པའི་ཕྱིར་འབད་པར་གྱིས་ཤིག་སྙམ་དུ་དགོངས་པ་ཡིན་ནོ།།

དགེ་བའི་བཤེས་གཉེན་བསྟེན་པ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་འཕགས་པའི་ལམ་བསྐྱེད་པ་ལ་སྐྱེས་བུ་དམ་པ་ལ་བརྟེན་པ་གཙོ་བོ་ཡིན་པར་སྟོན་ཏོ། །འཕགས་པ་ཀུན་དགའ་བོས་བཅོམ་ལྡན་འདས་འདི་ལྟ་སྟེ། དགེ་བའི་བཤེས་གཉེན་དང་དགེ་བའི་གྲོགས་པོ་འདི་ནི་ཚངས་པར་སྤྱོད་པའི་ཕྱེད་ལགས་སོ་ཞེས་གསོལ་བ་དང་། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ཀུན་དགའ་བོ་ཁྱོད་དེ་[3]སྐད་དུ་དགེ་བའི་གྲོགས་པོ་འདི་ནི་ཚངས་པར་སྤྱོད་པའི་ཕྱེད་ལགས་སོ་ཞེས་བྱ་བའི་བར་མ་སྨྲ་ཤིག །ཀུན་དགའ་བོ་འདི་ལྟ་སྟེ། དགེ་བའི་བཤེས་གཉེན་དང་དགེ་བའི་གྲོགས་པོ་འདི་ནི་ཚངས་པར་སྤྱོད་པ་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པར་བྱེད་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། ཀུན་དགའ་བོ་སྐྱེ་བའི་ཆོས་ཅན་རྣམས་དགེ་བའི་བཤེས་གཉེན་ལ་བརྟེན་ནས་སྐྱེ་བ་ལས་ཡོངས་སུ་གྲོལ་ལོ་ཞེས་རྒྱས་པར་བཀའ་སྩལ་ཏོ། །གང་གི་ཕྱིར་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་དེ་སྐད་དུ་བཀའ་སྩལ་པ་

---

[1] ན་ ཡེ། གསེར།

[2] ཀྱི་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[3] འདི་ ཡེ། སྣ། གསེར།

དེའི་ཕྱིར་སྐྱེས་བུ་དམ་པ་རྣམས་ལ་བརྟེན་པར་བྱའོ། །ཡང་སྐྱེས་བུ་དམ་པ་ལ་བརྟེན་པས་[1] ཚངས་པར་སྤྱོད་པ་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པ་ཡིན་པ་ཇི་ལྟར་ཤེས་ཤེ་ན། **རྒྱལ་བ་ལ། །བརྟེན་ནས་རབ་ཏུ་མང་པོས་ཞི་བ་ཐོབ།** །ཅེས་བྱ་བ་སྨོས་སོ། དེ་ལ་ཚངས་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པའོ། །དེའི་དོན་དུ་སྤྱོད་པ་ནི་ཚངས་པར་སྤྱོད་པ་སྟེ་[2]ལམ་མོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་ཚངས་པར་སྤྱོད་པ་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པ་སྡུག་བསྔལ་བ་མཐའ་དག་ཟད་པའི་རྒྱུར་གྱུར་པ་འཕགས་པའི་ལམ་གྱི་རྒྱུ་ནི་དགེ་བའི་བཤེས་གཉེན་ཡིན་ནོ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ།།

ལོག་པར་ལྟ་བ་འཛིན་དང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་དགེ་བ་བྱ་བར་མི་རུང་བ་ཉིད་དུ་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །དེ་ལ་ལོག་པར་ལྟ་བ་འཛིན་པ་ནི་འཇིག་རྟེན་ཕ་རོལ་མེད་དོ་ཞེས་བྱ་བར་འཛིན་པ་གང་ཡིན་པའོ། །དུད་འགྲོ་ཉིད་ནི་དུད་འགྲོའི་སྐྱེ་གནས་སུ་སྐྱེ་བའོ། །ཡི་དྭགས་ཉིད་ནི་ཡི་དྭགས་ཀྱི་འཇིག་རྟེན་དུ་སྐྱེ་བའོ། །དམྱལ་བར་སྐྱེ་བ་ནི་དམྱལ་བའི་འཇིག་རྟེན་དུ་སྐྱེ་བའོ།། རྒྱལ་བའི་བཀའ་མེད་པ་ནི་སངས་རྒྱས་འབྱུང་བ་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །མཐའ་འཁོབ་ཏུ་ཀླ་ཀློར་སྐྱེ་བ་ནི་དེར་སྐྱེ་བ་གང་ཡིན་པའོ། །སངས་རྒྱས་འབྱུང་བ་ཡོད་ཀྱང་གླེན་ཞིང་ལྐུགས་པ་ཉིད་ནི་ལག་བརྡ་བྱེད་པའོ།།

ཚེ་རིང་ལྷ་ཉིད་གང་ཡང་རུང་བར་ནི། །སྐྱེ་བ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་འདུ་ཤེས་མེད་པ་དག་[3] དང་གཟུགས་མེད་པ་རྣམས་སོ། །གནས་བརྒྱད་པོ་དེ་དག་ཏུ་དགེ་བ་བྱ་བའི་དལ་བ་མེད་པས་ན་མི་ཁོམ་པ་ཞེས་བྱའོ། །དེ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར་ཉེས་པ་མང་བས་སྐྱོན་ཞེས་ཀྱང་བྱའོ། །མི་ཁོམ་པའི་སྐྱོན།

---

[1] པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] དེ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] དག་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

དེ་དག་དང་བྲལ་ཁོམ་པ་རྙེད་ནས་ནི།།
སྐྱེ་བ་བཟློག་པའི་སླད་དུ་འབད་པར་མཛོད།།

ཅེས་པ་སྨོས་ཏེ་ཕྱིན་ཆད་མི་ཁོམ་པའི་གནས་དེ་དག་ཏུ་[1]སྐྱེ་བ་བཟློག་པའི་ཆེད་དུ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ།།

ད་ནི་དེས་པ་འདོད་པས་ཡོངས་དང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་གང་སྨོས་པ་ནི་འཇིག་རྟེན་ཐམས་ཅད་ལ་མངོན་པར་མི་དགའ་བའི་འདུ་ཤེས་ཉེ་བར་སྒྲུབ་[2]ཅིང་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ལ་རྒྱུད་གཅིག་ཏུ་གཞོལ་བར་བྱ་བར་བཞེད་པ་ཡིན་ཏེ། སྡུག་བསྔལ་ཞེས་བྱ་བའི་སྒྲ་ནི་འདོད་པས་ཡོངས་པའི་སྡུག་བསྔལ་དང་། འཆི་བའི་སྡུག་བསྔལ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པའི་ཚུལ་དུ་རེ་རེ་དང་སྦྱར་རོ། །འདོད་པས་ཡོངས་པ་ལ་སོགས་པ་ནི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་རྒྱུ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་སྡུག་བསྔལ་ཞེས་བཤད་ཀྱི། ཚོར་བའི་རང་བཞིན་ཡིན་པའི་ཕྱིར་ནི་མ་[3]ཡིན་ནོ། །སོགས་པ་ཞེས་སྨོས་པས་ནི་མྱ་ངན་དང་སྨྲེ་སྔགས་འདོན་པ་ལ་སོགས་པ་གཟུང་ངོ་། །དེ་ལྟར་སྡུག་བསྔལ་དུ་མའི་འབྱུང་གནས་རྟེན་འཁོར་བ་ཉེ་བར་ལེན་པའི་ཕུང་པོ་ལྔའི་ངོ་བོ་ཉིད་ལས་སྐྱོ་མཛད་ཅིང་། ཡིད་འབྱུང་བ་བསྐྱེད་པར་བྱ་ཞིང་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །འཁོར་བ་འདིའི་ཉེས་པ་སྐྱོ་བའི་རྒྱུ་ཤས་ཀྱང་གསན་པར་མཛོད་ཅིག །འཁོར་བའི་ཉེས་པ་རིལ་བརྗོད་པར་མི་ནུས་པའི་ཕྱིར་ཕྱོགས་གཅིག་ཞལ་གྱིས་བཞེས་སོ། །འཁོར་བའི་ཉེས་པ་དེ་ཡང་རྣམ་པ་བདུན་ཞིག་བརྗོད་དེ་འདི་ལྟ་སྟེ། ངེས་པ་མེད་པའི་ཉེས་པ་དང་། ངོམས་མི་ཤེས་པའི་ཉེས་པ་དང་། ལུས་ཡང་དང་

---

[1] ཅེས་པ་སྨོས་ཏེ་ཕྱིན་ཆད་མི་ཁོམ་པའི་གནས་དེ་དག་ཏུ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་པར་མར་ཡིག་ཕྲེང་འདི་མི་གསལ།

[2] བསྒྲུབ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] མི་ པེ། སྣ། གསེར།

ཡང་དུ་འདོར་བའི་ཉེས་པ་དང་། ཡང་དང་ཡང་དུ་ཉིང་མཚམས་སྦྱོར་བའི་ཉེས་པ་དང་། ཡང་དང་ཡང་དུ་མཐོ་དམན་གྱི་ངོ་བོར་འགྱུར་བའི་ཉེས་པ་དང་། གྲོགས་མེད་པ་ཉིད་ཀྱི་ཉེས་པ་དང་། འགྲོ་བ་དྲུག་གི་ཉེས་པའི་སྡུག་བསྔལ་ཉམས་སུ་མྱོང་བའི་ཉེས་པའོ།།

དེ་ལ་ངེས་པ་མེད་པའི་དབང་དུ་བྱས་ནས། **ཕ་ནི་**[1]**བུ་ཉིད་**ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །**བཟློག་པ་ཉིད་དུ་**ཞེས་བྱ་བ་ནི་བུ་ནི་[2]ཕ་ཉིད་དུ། ཆུང་མ་ནི་མ་ཉིད་དུ། སྐྱེ་བོ་བཤེས་པ་ནི་དགྲ་བོ་[3]ཉིད་དུ་འགྱུར་[4]བའོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་འཁོར་བ་ན་ངེས་པ་འགའ་ཡང་མེད་དོ། །

ངོམས་མི་ཤེས་པའི་ཉེས་པའི་དབང་དུ་བྱ་ནས། **རེ་རེས་རྒྱ་མཚོ་བཞི་པས་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ཚིགས་སུ་བཅད་པའི་དོན་ནི་གོ་བར་ཟད་དོ།།

ལུས་ཡང་ནས་ཡང་དུ་འདོར་བའི་ཉེས་པའི་དབང་དུ་བྱས་ནས། **རེ་རེའི་བདག་ཉིད་**ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། དེ་ལ་བདག་ཉིད་རུས་པའི་ཕུང་པོ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ལུས་ཀྱི་རུས་པའི་ཕུང་པོ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ།།

ཡང་དང་ཡང་དུ་ཉིད་མཚམས་སྦྱོར་བའི་ཉེས་པའི་དབང་དུ་བྱས་ནས། **མ་ཡི་ཐུག་མཐའ་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ཇི་སྐད་དུ། དགེ་སློང་དག་དཔེར་ན་སྐྱེས་བུ་འགའ་ཞིག་གིས་ས་ཆེན་པོ་འདི་ལ་རྒྱ་ཤུག་གི་ཚི་གུ་ཙམ་གྱི་རི་ལུ་ཐོགས་ཏེ། འདི་ནི་བདག་གི་མའོ། །འདི་ནི་བདག་གི་མ་དེའི་ཡང་མའོ་ཞེས་འདོར་བར་བྱེད་ན། དགེ་

---

[1] ཕ་ཉིད་ པེ། སྣར། གསེར།

[2] བུ་ཉིད་ པེ། སྣར། གསེར།

[3] པོ་ པེ། སྣར། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[4] འགྲོ་ པེ། སྣར། གསེར།

སྐྱོང་དག་ས་ཆེན་པོ་འདིའི་འཛི་བ་ནི། ཆེས་སྤར་ཟད་པར་འགྱུར་གྱི། མི་རྣམས་ཀྱི་མ་བརྒྱུད་པ་ནི་དེ་ལྷ་མ་ཡིན་ནོ་ཞེས་ང་སྨྲའོ་ཞེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུའོ།།

ཡང་དང་ཡང་དུ་མཐོ་དམན་གྱི་ངོ་བོར་འགྱུར་བའི་ཉེས་པའི་དབང་དུ་བྱས་ནས། **བརྒྱ་བྱིན་** ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ཚིགས་སུ་བཅད་པའི་དོན་ནི་གོ་བར་ཟད་དོ། །

མཐོ་རིས་བུ་མོ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ལ་མཐོ་རིས་བུ་མོ་ནི་ལྷའི་བུ་མོ་དག་གོ །དེ་དག་གི་ནུ་མ་དང་རྐེད་པ་ལ་རེག་པ་སྟེ། རེག་པ་དེས་བདེ་བ་མྱོང་ནས་ཉམས་སུ་མྱོང་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །ཤིན་ཏུ་མི་བཟད་བསྙེན་འཚལ་ལོ། །ཞེས་བྱ་བ་ནི་རེག་པ་ཏེ་བོར་[1]མི་བཟད་པ་བསྙན་དགོས་སོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །དེ་ཡང་གང་ཞེ་ན། **འཐག་གཅོད་དབང་བའི་འཁྲུལ་འཁོར་གྱིས།** །རེག་པ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། འཁྲུལ་འཁོར་ཞེས་བྱ་བའི་སྒྲ་ནི་རེ་རེ་དང་སྦྱར་རོ། །དེ་ལ་འཐག་པའི་འཁྲུལ་འཁོར་ནི་འདི་ལྟ་སྟེ། དམྱལ་བ་བསྡུས་འཇོམས་ན་ཡོད་པ་ལྟ་བུའོ། །གཅོད་པའི་འཁྲུལ་འཁོར་ནི་དམྱལ་བ་ཐིག་ནག་ན་ཡོད་པ་ཡིན་ནོ། །དབང་[2]བའི་འཁྲུལ་འཁོར་ནི་ཚ་བ་དང་རབ་ཏུ་ཚ་བ་ན་ཡོད་པ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ།།

ཀྲང་པ་[3]རིག་པས་ཉེམ་པར་བདེ་བཟོད་པ། །ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཀྲང་པའི་རིག་པས་ཉེམ་ཞེས་བྱེད་པ་དང་། ཕར་[4]ཅེས་བྱེད་པའོ། །དེའི་བདེ་བ་བཟོད་པས་ན། ཀྲང་པའི་རིག་པས་ཉེམ་པར་བདེ་བཟོད་པ། །ཞེས་བྱ་སྟེ། བདེ་བར་རུང་ཞིང་བདེ་བའི་རྟེན་བྱེད་ཅེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །ལྷུན་པོའི་སྦོ་དེ་དང་འདྲ་བ་ལ་ཡུན་རིང་པོ་ལྷའི་ལོ་སྟོང་དུ་གནས་པ་ནི། སླར་ཡང་

---

[1] སྟེ་བོར་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] དབད་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] པའི་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] པར་ པེ། སྣ། གསེར།

མེ་མུར་རོ་མྱགས་རྒྱ་བ་ཡིས། །སྡུག་བསྔལ་མི་བཟད་ཡོག་སྣམ་བགྱི་འཚལ་ལོ། །དེ་ལ་མེ་མ་མུར་ནི་ཕུས་མོ་ནུབ་ཙམ་སྟེ། གང་དུ་རྐང་པ་བཞག་པ་ན་པགས་པ་དང་ཤ་དང་ཁྲག་ཞིག་པར་འགྱུར་ལ། བཏེག་ན་པགས་པ་དང་ཤ་དང་ཁྲག་སླར་སྐྱེ་བར་འགྱུར་བ་ཡིན་ནོ། །རོ་མྱགས་ནི་ཕྱི་སའི་འདམ་རྫབ་གང་ན་སྲོག་ཆགས་འབུམ་ཆུ་རྣོན་ཞེས་བྱ་བ་ལུས་ཐམས་ཅད་དཀར་ལ་མགོ་བོ་གནག་[1]པ་ཡིན་ཏེ། དེ་དག་གིས་སེམས་ཅན་དེ་རྣམས་ཀྱི་པགས་པ་ཡང་འཕིགས་པར་བྱེད་ཅེས་བྱ་བ་རྒྱས་པར་མདོ་ལས་ཇི་སྐད་འབྱུང་བ་བཞིན་རིག་པར་བྱའོ། །

མཐོ་རིས་བུ་མོས་འགྲོངས་ཤིང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་མཐོ་རིས་ཀྱི་བུ་མོ་དག་གིས་འགྲོངས་པ་ནི་མཐོ་རིས་བུ་མོས་འགྲོངས་པ་སྟེ། ཉེ་བར་བསྟེན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ **།མཐོ་རིས་བུ་མོས་འགྲོངས་ཤིང་དགའ་བ་དང་། །རྣམ་པར་མཛེས་ཚལ་སོན་པ་དེ་དག་རྩེ་**ནས་ཏེ་དགའ་བའི་ཚལ་དུ་སོན་པ་དང་། རྣམ་པར་མཛེས་པའི་ཚལ་དུ་སོན་པ་དག་རྩེ་[2]རྩེ་ནས། སླར་

འདབ་མ་རལ་གྲི་འདྲ་ཚལ་ནགས་རྣམས་ཀྱིས། །
རྐང་ལག་རྣ་བ་སྣ་གཅོད་འཐོབ་པ་འགྱུར། །

དེ་ལ་འདབ་མ་རལ་གྲི་ལྟ་བུའི་ཚལ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་མེ་མ་མུར་དང་རོ་མྱགས་དང་སྤུ་གྲིའི་སོ་གཏམས་པའི་ལམ་པོ་ཆེ་འདས་ནས་རྒྱས་བཅད་པ་ཞིག་ན་ནགས་ཚལ་སྔོན་པོ་ལྟ་བུ་ཞིག་སྣང་སྟེ། དེར་སེམས་ཅན་གནས་ཚོལ་བ་སྐྱབས་ཚོལ་བ་སྐྱབས་ཚོལ་བ་དེ་དག་རྒྱུག་པར་བྱེད་ཅིང་སེམས་ཅན་དེར་ཞུགས་པ་རྣམས་ལ་ལས་ལས་བྱུང་བའི་རླུང་དག་ལྡང་ཞེས་བྱ་བ་རྒྱས་པར་འབྱུང་བ་ཡིན་ནོ། །

---

1 ནག་ པེ། སྣ། གསེར།

2 རྩེ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲེང་སུ་མེད།

དལ་གྱིས་འབབ་པར་ཞུགས་ནས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ལྷའི་རྫིང་བུ་དལ་གྱིས་འབབ་པ་ཞེས་བྱ་བ་དེར་ཞུགས་ནས་སོ། །ཁྱད་པར་ཇི་ལྟ་བུ་ཅན་ཞིག་ཏུ་ཞེ་ན། ལྷའི་བུ་མོ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། གང་ན་ལྷའི་བུ་མོ་གདོང་མཛེས་པ་དང་གསེར་གྱི་པདྨ་ཡོད་པ་དེ་ལ་དེ་སྐད་ཅེས་བྱའོ། །སླར་ཡང་དམྱལ་བའི་ཆུ་བོ་རབ་མེད་བར་འཇུག་འཚལ་ལོ། །ཁྱད་པར་ཇི་ལྟ་བུ་ཅན་ཞིག་ཏུ་[1]ཞེ་ན་ཚྭ་སྒོ་བཟོད་ཐག་ཆུ་ཚན་དུ་སྟེ། **ཆུ་བོ་རབ་མེད་**ཅེས་བྱ་བ་ལ་ལོ་མ་རལ་གྲི་ལྟ་བུའི་ཚལ་འདས་ནས་དམྱལ་བ་འོབས་བཞིན་དུ་བསྐོར་ཏེ་འདུག་པ། གང་དུ་སེམས་ཅན་གནས་ཚོལ་བ་སྐྱབས་ཚོལ་བ་དེ་དག་ཅེས་བྱ་བ་རྒྱས་པར་མདོ་ལས་ཇི་སྐད་འབྱུང་བ་བཞིན་རིག་པར་བྱའོ། །བཞི་པོ་འདི་དག་ནི་ལྷག་པ་ཡིན་པར་བཤད་དེ་འདི་ལྟ་སྟེ། མེ་མ་མུར་དང་། རོ་མྱགས་དང་། ལོ་མ་རལ་གྲི་ལྟ་བུའི་ཚལ་དང་ཆུ་བོ་རབ་མེད་དོ། །ལྷག་པ་བཞི་པོ་དེ་དག་ནི་སེམས་ཅན་དམྱལ་བ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་སྒོ་བཞིན་གོ་རིམས་བཞིན་དུ་རྣམ་པར་གནས་ཏེ། དེ་ལྟ་བས་ན་སེམས་ཅན་དམྱལ་བ་ཆེན་པོ་བརྒྱད་འཆད་པར་འགྱུར་བ་རེ་རེ་ཞིང་ལྷག་པ་བཅུ་དྲུག་ཡིན་ནོ།།

ལྷ་ཡུལ་འདོད་བདེ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་འདིར་སུམ་ཅུ་རྩ་གསུམ་པ་ཡན་ཆད་ཀྱི་འདོད་པའི་ལྷ་འཐབ་བྲལ་བ་ལ་སོགས་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་དག་ཡིན་པར་བཞེད་དེ། དེ་དག་ན་ཡོད་པའི་བདེ་བ་གང་ཡིན་པ་དེ་ཐོབ་ནས་[2]སོ། །**ཤིན་ཏུ་ཆེན་པོ་**ཞེས་བྱ་བ་ནི་འདོད་པའི་བདེ་བའི་ཁྱད་པར་རོ།། ཡང་ན་ཆགས་པ་དང་བྲལ་བའི་བདེ་བའི་ཁྱད་པར་ཡིན་ཏེ། བདེ་བ་ཐམས་ཅད་ལས་ཁྱད་པར་དུ་འཕགས་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེའི་གོང་མ་གཟུགས་ཀྱི་ཁམས་ན་ནི། ཚངས་ཉིད་ཆགས་བྲལ་བདེ་བ་སྟེ། ཆགས་པ་དང་བྲལ་བ་ཉིད་ནི་འདོད་པའི་འདོད་ཆགས་རྣམ་པར་གནོན་པ་ལས་

---

[1] ཏུ་ པ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] ནས་གནས་ པ། སྣ། གསེར།

རིག་པར་བྱའོ། །བདེ་བ་དེ་འདྲ་བ་ཐོབ་ནས་[1]ཀྱང་དུས་གཞན་ན་མི་དགེ་བའི་ལས་བསགས་པའི་ཕྱིར་ལན་གྲངས་གཞན་ལ་སྐྱོང་བར་འགྱུར་བའི་ལས་ཀྱི་འཕེན་པས་སྔར། སྡུག་བསྔལ་རྒྱུན་མི་འཆད་པར་བསྟན་འཚལ་ལོ། །ཞེས་བྱ་བར་སྦྱར་རོ། །གང་དུ་དེ་བསྟེན་དགོས་ཤེ་ན། མཐར་མེད་དུའོ། །ཁྱད་པར་ཇི་ལྟ་བུ་ཅན་ཞིག་གིས་ཤེ་ན། མེའི་བུད་ཤིང་གྱུར་བ་ཡིས་ཏེ། ལུས་བསྲེགས་པས་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །

ཉི་མ་ཟླ་བ་ཉིད་ཐོབ་ཅེས་བྱ་བ་ནི་ཉི་མ་ཉིད་དང་། ཟླ་བ་ཉིད་ཐོབ་ནས་སོ། །**རང་ལུས་ཀྱི་འོད་ཀྱིས་འཇིག་རྟེན་མཐའ་དག་སྣང་བྱས་ཏེ།** །ཞེས་བྱ་བ་ནི་འཇིག་རྟེན་པའི་ཚིག་གི་ཚུལ་གྱིས་དེ་སྐད་དུ་འཆད་[2]པར་ཟད་དེ་འོད་འདི་ལྟ་བུ་ཉི་མའམ་ཟླ་བའི་ལུས་ཀྱི་འོད་ནི་མ་ཡིན་གྱི། གཞལ་མེད་ཁང་གི་ཡིན་པས། རྟེན་དང་བརྟེན་པ་དག་དབྱེ་བ་མ་བྱས་པས་དེ་སྐད་ཅེས་བཤད་པར་རིག་པར་བྱའོ། **།སྔར་ཡང་མུན་ནག་ཐག་ཏུ་ཕྱིན་གྱུར་ནས།** །ཞེས་བྱ་བ་ནི་མུན་ནག་ཐག་ཏུ་ཕྱིན་ནས་ཞེས་བྱ་བར་སྦྱར་ཏེ། དེ་ནི་འཇིག་རྟེན་གྱི་བར་དག་ན་ཡོད་པ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ། །དེར་སྐྱེས་ནས་ནི་རང་གི་ལག་པ་བརྐྱང་བའམ་མཐོང་མི་འགྱུར།།

གྲོགས་མེད་པ་ཉིད་ཀྱི་ཉེས་པའི་དབང་དུ་བྱས་ནས། **དེ་ལྟར་ནོངས་པར་འགྱུར་འཚལ་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། དེ་ལྟར་ཇི་སྐད་བཤད་པའི་རྣམ་པས་འཆི་དགོས་པ་ཡིན་པས་བསོད་ནམས་ནི། **རྣམ་གསུམ་མར་མེའི་སྣང་བ་རབ་བཞིན་ཤེག** །བསོད་ནམས་རྣམ་གསུམ་ཉིད་མར་མེའི་སྣང་བ་ཡིན་པས་ན། བསོད་ནམས་ནི་རྣམ་གསུམ་མར་མེའི་སྣང་བའོ། །བསོད་ནམས་རྣམ་པ་གསུམ་ནི་ལུས་ཀྱི་དང་། ངག་གི་དང་ཡིད་ཀྱིའོ། །ཡང་ན་སྦྱིན་པ་ལས་བྱུང་བ་དང་། ཚུལ་ཁྲིམས་ལས་བྱུང་བ་དང་། བསྒོམས་པ་ལས་བྱུང་བའོ། །ཅིའི་ཕྱིར་བསོད་ནམས་

---

[1] དེ་འདྲ་བས་ ཕེ། སྣ། གསེར།

[2] ཁྱད་ ཕེ།

ཀྱི་མར་མེའི་སྣང་བ་བླང་ཞེ་ན། **གཅིག་པུ་མུན་ནག་མཐའ་ཡས་ནང་དུ་འཇུག་འཚལ་ལོ།** ། ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། མ་འོངས་པའི་དུས་ན་ནི་མ་རིག་པའི་མུན་པས་གཡོགས་པས་མི་གསལ་བའི་ཕྱིར་དང་། ཡོངས་སུ་མ་ཆད་པའི་ཕྱིར་མུན་ནག་མཐའ་ཡས་ཞེས་བཤད་དོ། ། དེར་གཅིག་པུ་གྲོགས་མེད་པར་འཇུག་དགོས་ལ་དེ་ཡང་སྡུག་བསྔལ་དུ་མའི་འཇིགས་པ་དང་བཅས་པ་ཡིན་པས་དེའི་གཉེན་པོར་བསོད་ནམས་རྣམ་པ་གསུམ་གྱི་མར་མེའི་སྣང་བ་ལོང་ཤིག་ཅེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ།།

འདི་མན་ཆད་ཀྱི་གཞུང་ནི་འགྲོ་བ་དྲུག་གི་ངེས་པའི་སྡུག་བསྔལ་ཉམས་སུ་མྱོང་བའི་ཉེས་པའི་དབང་དུ་བྱས་པ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ། །དེ་ལ་རེ་ཞིག་དམྱལ་བའི་འགྲོ་བའི་དབང་དུ་བྱས་ནས།

སེམས་ཅན་ཉེས་པར་སྤྱོད་པ་སྤྱོད་རྣམས་ལ།།

ཡང་སོས་ཐིག་ནག་

ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ཚིགས་སུ་བཅད་པ་འདིར་ནི་ཚིག་སྡེབས་པ་ཉམས་སུ་མྱོང་དགོས་པས། དམྱལ་བ་རྣམས་བབ་བབ་ཏུ་བསྟན་པ་མཛད་དོ། །འདི་ལ་གོ་རིམས་ནི་འདི་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱ་སྟེ། ཡང་སོས་དང་། ཐིག་ནག་དང་། བསྡུས་འཇོམས་དང་། ངུ་འབོད་དང་། ངུ་འབོད་ཆེན་པོ་དང་། ཚ་བ་དང་། རབ་ཏུ་ཚ་བ་དང་། མནར་[1]མེད་པ་ཞེས་བྱ་བ་འདི་དག་ནི་སེམས་ཅན་དམྱལ་བ་ཆེན་པོ་བརྒྱད་ཡིན་ནོ། །སོགས་པ་ཞེས་བྱ་བའི་སྒྲས་ནི་ལྷག་པ་རྣམས་དང་། གྲང་བའི་དམྱལ་བ་རྣམས་དང་། ཉི་ཚེ་བའི་དམྱལ་བ་རྣམས་བསྡུས་པར་རིག་པར་བྱའོ། །རྟག་ཏུ་སྡུག་བསྔལ་འགྱུར་ཞེས་བྱ་བ་ནི་རྒྱུན་མི་འཆད་པར་སྡུག་བསྔལ་བར་འགྱུར་བའོ། །སུ་དག་ལ་དམྱལ་བ་འདི་རྣམས་རྒྱུན་མི་འཆད་པར་སྡུག་འསྔལ་བར་འགྱུར་ཞེ་

---

[1] མནར་སེམས་ པེ། སྣ། གསེར།

ན། ཉེས་པར་སྤྱོད་པ་སྤྱོད་རྣམས་ལ། །ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། གང་དག་ལུས་དང་ངག་དང་ཡིད་ཀྱིས་ཉེས་པར་སྤྱད་པ་སྤྱོད་པ་རྣམས་ལའོ། །འཕགས་པ་རྣམས་ཀྱིས་སྨད་ཅིང་དགོངས་པའི་སྤྱད་པ་ནི་[1]ཉེས་པར་སྤྱད་པ་སྟེ། དེ་ཡང་མི་དགེ་བ་བཅུའི་ལུས་ཀྱི་ལས་སྔར་ཇི་སྐད་བཤད་པ་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ།།

དེ་ལ་རེ་ཞིག་དམྱལ་བ་ཡང་སོས་ན་ནི་སེམས་ཅན་རྣམས་ཕན་ཚུན་འདུས་ནས་ལས་ལས་བྱུང་བའི་མཚོན་ཆ་སྣ་ཚོགས་ཀྱིས་ཡན་ལག་དང་ཉིང་ལག་དག་ཀུན་དུ་རྡུང་བར་བྱེད། ཀུན་དུ་གཅོད་པར་བྱེད་ཅིང་དེར་དྲན་པ་བརླག་ནས་ས་ལ་རབ་ཏུ་འགྱེལ་ལོ། །དེའི་རྗེས་ལ་ནམ་མཁའ་ལས་[2]ཁྱེད་རྣམས་ཡང་སོས་པར་གྱུར་ཅིག་ཅེས་བྱ་བའི་སྒྲ་གྲགས་པར་འགྱུར་ཏེ། དམྱལ་བ་དེ་ནི་ཡང་སོས་ཞེས་བྱ་བའོ།།

ཐིག་ནག་ན་ནི་སེམས་ཅན་རྣམས་དེ་ན་ཡོད་པའི་སྐྱེས་བུ་གནོད་པ་བྱེད་པ་རྣམས་ཀྱིས་[3]རི་དབྱིབས་སྣ་ཚོགས་པ་དག་གི་གསེབ་ཏུ་བཙུག་ནས་ཐིག་ནག་པོ་དག་[4]བྲངས་ཏེ། ཤིང་བཞིན་དུ་ཧྲོ་བར་བྱེད་གཤེག་པར་བྱེད་པས་དམྱལ་བ་དེ་ནི་ཐིག་ནག་ཅེས་བྱའོ།།

བསྡུས་གཞོམ་ནི་སེམས་ཅན་རྣམས་གཅིག་ཏུ་བསྡུས་པར་གྱུར་པ་དང་། དེ་ན་ཡོད་པའི་སྐྱེས་བུ་གནོད་པ་བྱེད་པ་རྣམས་ཀྱིས་[5]རི་དབྱིབས་སྣ་ཚོགས་པ་དག་གི་གསེབ་ཏུ་འཇུད་ཅིང་། རི་དེ་དང་དེ་དག་གིས་འཚིར་[6]བར་བྱེད་དེ། ད་ལྟར་བཙིར་བ་རྣམས་ཀྱི་ཁྲག་ཆུ་ཀླུང་

---

[1] དེ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] ནས་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] དག་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] བཙིར་ པེ།

བཞིན་དུ་འབབ་པར་འགྱུར་རོ། །དེ་བཞིན་དུ་ལྕགས་ཀྱི་འཚེར་[1]སྦྱིད་ཆེན་པོར་བཙུག་ནས་འཚེར་བར་བྱེད་ཅིང་སྟེང་ནས་རྡོ་ཆེན་པོ་འབབ་པས་དེ་དག་ལྕགས་ཀྱི་ས་གཞི་ལ་ཀུན་དུ་གདུང་བར་བྱེད་ཀུན་དུ་གཏུབ་པར་བྱེད། ཀུན་དུ་འཛོམས་པར་བྱེད་པས། དམྱལ་བ་དེ་ནི་བསྡུས་གཞོམ་ཞེས་བྱའོ།།

ངུ་འབོད་ན་ནི་སེམས་ཅན་གནས་ཚོལ་བ་རྣམས་ལྕགས་ཀྱི་ཁང་པར་འཇུག་པར་བྱེད་དོ། །དེར་ཞུགས་པ་རྣམས་ལ་མེ་འབྱུང་བར་འགྱུར་ཏེ། དེ་ན་དེ་རྣམས་ལ་མེ་འབྱུང་ཞིང་མེ་ལྕེ་གཅིག་ཏུ་འགྱུར་བ་འབར་བས་ཉམ་ཐག་པའི་ང་རོས་འོ་དོད་འབོད་པས་ན་དམྱལ་བ་དེ་ནི་ངུ་འབོད་ཅེས་བྱའོ།།

ངུ་འབོད་ཆེན་པོ་ན་ནི་ཁྱད་པར་འདི་ཡོད་དེ། དེ་ན་སེམས་ཅན་གནས་ཚོལ་བ་རྣམས་ཁང་སྒོམ་[2]དུ་འཇུག་གོ །དེས་ན་དམྱལ་བ་ངུ་འབོད་ཆེན་པོ་ཞེས་བྱའོ།།

ཚ་བ་ན་ནི་སེམས་ཅན་རྣམས་དེ་ན་ཡོད་པའི་སྐྱེས་བུ་གནོད་པ་བྱེད་པ་རྣམས་ཀྱིས། སླར་རབ་ཏུ་འབར་བའི་ནང་དུ་བཙུག་ནས་སྲེག་པར་བྱེད་དོ། །ཡང་དེ་རྣམས་མདུང་འབར་བས་མེས་[3]འབིགས་པར་བྱེད་དེ། དེ་རྒྱབ་རོལ་ནས་ཕུག་པས་གླད་པར་ཐལ་འབྱིན་ཅིང་དེ་རྣམས་ཀྱི་སྤུའི་བུ་ག་ཐམས་ཅད་དང་སྒོ་ཐམས་ཅད་ནས་ཀྱང་མེ་འབྱུང་ངོ་། །ཡང་དེ་རྣམས་ས་གཞི་ཀུན་དུ་འབར་བ་ལ་གན་རྒྱལ་དུ་བསྐྱལ་ནས་ལྕགས་ཀྱི་ཐོ་བ་ཀུན་དུ་འབར་བ་དག་གིས་རྡུང་བར་བྱེད་དེ། དེ་ན་དམྱལ་བ་དེ་ཚ་བ་ཞེས་བྱའོ།།

---

[1] བཙོར་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] སྦྲོམ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] མས་ པེ། གསེར།

རབ་ཏུ་ཚ་བ་ན་ནི་ཁྱད་པར་འདི་ཡོད་དེ་མདུང་རྩེ་གསུམ་པས་རྐུབ་རོལ་ནས་བཏབ་པས་དེའི་རྩེ་མོ་གཉིས་ནི་ཐལ་གོང་གཉིས་སུ་ཐལ་འབྱིན་ལ། གཅིག་ནི་སྤྱད་པར་ཐལ་འབྱིན་ཏོ། །ཡང་ལྕགས་ཀྱི་ལེབ་མ་ཀུན་ཏུ་འབར་བས་ལུས་ཐམས་ཅད་ནས་འབྲི་བར་བྱེད་དོ། །ཡང་ལྕགས་ཟངས་ཀུན་དུ་འབར་བ་ཚ་སྒྭོའི་[1]ཆུ་བསྐོལ་བའི་ནང་དུ་ཁས་བུབ་ཏུ་འཛུད་པར་བྱེད་[2]ཅིང་དེ་རྣམས་དེ་ན་སྟེང་དང་འོག་དང་ཐད་ཀར་འགྲོ་བ་ན་པགས་པ་དང་ཤ་དང་ཁྲག་དག་བསྐོལ་ནས་རུས་པའི་ཀེང་རུས་ཙམ་ལུས་སོ། །ཕྱིར་བྱུང་ན་ནི་པགས་པ་དང་ཤ་དང་ཁྲག་དག་སླར་སྐྱེ་བར་འགྱུར་ཏེ། དེས་ན་དམྱལ་བ་དེ་རབ་ཏུ་ཚ་བ་ཞེས་བྱའོ།།

མནར་མེད་པ་ནི་[3]ཕྱོགས་བཞི་དང་སྟ་འོག་ཐམས་ཅད་ནས་མེ་འབར་བར་འཁྲིགས་པར་འདུག་སྟེ། དེར་སེམས་ཅན་རྣམས་ཀྱི་པགས་པ་དང་། ཤ་དང་། རྒྱུས་པ་དང་། རུས་པ་ནས་རྐང་གི་བར་ལ་ཞེན་ནས་ལུས་ལ་མར་མེའི་སྡོང་པོ་ལ་ཞེན་པ་བཞིན་ཁྱད་པར་གནས་སོ།། དེ་ན་ཉམ་ཐག་པའི་ང་རོ་གྲག་པ་མ་གཏོགས་པ་འདི་དག་ནི་སེམས་ཅན་ནོ། །འདི་དག་ནི་མེའོ་ཞེས་བྱེ་བྲག་ཏུ་དབྱེ་བར་མི་ནུས་ཏེ་མེའི་ཕུང་པོ་ལྟ་བུར་སྣང་ངོ་། །སེམས་ཅན་རྣམས་ལ་མེ་དང་སྡུག་བསྔལ་གྱི་བར་མཚམས་མེད་པས་ན། དམྱལ་བ་དེ་ནི་[4]མཚམས་མེད་པ་ཞེས་བྱའོ།།

ད་ནི་ཅི་རིགས་པར་དམྱལ་བ་དེ་དག་ན་ཡོད་པའི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་ཁྱད་པར་སྟོན་པར་བྱེད་དོ[5]།།

---

[1] སྒྭོ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] པར་བྱེད་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[3] ན་ནི་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ནི་ པེ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] དེ། པེ། སྣ། གསེར།

དེ་ལ་ཁ་ཅིག་ཏིལ་བཞིན་འཚེར་ཞེས་བྱ་བ་ནི། དམྱལ་བ་བསྡུས་འཇོམས་ན་ལྕགས་ཀྱི་འཚེར་[1]སྲུད་འབར་བར་བཙུག་ནས། འཚེར་བར་བྱེད་པའོ། །**ཕྱེ་མ་ཞིབ་མོ་བཞིན་དུ་ཕྱེ་མར་རློག** །ཅེས་བྱ་བ་ནི་[2]དམྱལ་བ་དེ་ཉིད་ན། དམྱལ་བའི་སྲུང་མ་ཡ་སོས་མ་མཆུ་མནན་པ་དག་ཆེ་ཐང་དུ་འབར་བས་ལྕགས་ཀྱི་མཆིག་འབར་བ་དག་གི་སྟེང་དུ། མཆི་གུ་དེ་ཁོ་ན་དང་འདྲ་བས་ཕྱེ་མར་རློག་པར་བྱེད་པའོ། །**སོག་ལེས་འདྲ་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་དམྱལ་བ་ཐིག་ནག་ན། གཤིན་རྗེའི་མི་ཅི་ལ་མ་རག་པར་ཆས་པ། ཐྲད་ཐྲོད་ལྟར་འདུག་པ་དག་གིས་ཤིང་མཁན་གྱི་ཤིང་ཐོན་པ་ལ་བྱ་བ་བཞིན་དུ་སོག་ལས་རབ་ཏུ་འབར་བས་སོ་རད་རོང་དུ་འདུག་པ་དང་། སྣ་རེ་མེ་འབར་བ་རྣམས་ཀྱིས་གཤག་པར་བྱེད་པ་ཡིན་ནོ།།

དེ་བཞིན་གཞན་དག་ཁྲི་ཆུ་བཞུས་པ་ཡི་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ནི་ཆུ་བོ་རབ་མེད་ཀྱི་འགྲམ་ན། སྐམ་པ་འབར་བས་ཁའི་བུ་ག་བྱེ་[3]བར་ཁྲི་ཆུ་མི་དྲག་པོའི་རེག་པས་སྲ་བ་ལས་ཐལ་ཏེ་ནལ་ནལ་པོ་ཉིད་གྱུར་པ་འབར་བས་ལྡུད་པར་བྱེད་པ་ཡིན་ནོ། །**ཁ་ཅིག་ལྕགས་ཀྱི་གསལ་ཤིང་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ནི་དམྱལ་བ་ཚ་བ་ན་དམྱལ་བ་པ་ལྕགས་ཀྱི་གསལ་ཤིང་འབར་བ་ཚེར་མ་ཅན་ལ་རྒྱུད་པར་བྱེད་པ་ཡིན་ནོ།།

ཁ་ཅིག་ལྕགས་ཀྱི་མཆེ་བ་ལྡན་པའི་ཁྱི། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ནི་ལོ་མ་རལ་གྲི་ལྟ་བུའི་ཚལ་ན། ཁྱི་སྲེ་བོ་ལྕགས་ཀྱི་མཆེ་བ་ཅན་གདུམ་པོ་ངན་པ་[4]སྐད་པོ་ཆེར་ཟུག་པ་དག་གིས་དབད་ཅིང་ལག་པ་གནམ་ཏུ་བསྒྲེངས་ནས། འོ་དོད་འབོད་པར་བྱེད་པ་ཡིན་ནོ། །**དབང་མེད་**

---

[1] བཙོར་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] དེ་ནི་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཕྱེ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] གདུམ་པོ་ནང་ན་ པེ། སྣ། གསེར།

གཞན་དག་ལྷུགས་མཆུ་རྟེན་པོ་དང་། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགསཔ་ནི་དབང་མེད་པ་གཞན་དག་ལྷུགས་ཀྱི་ཤལ་མ་རིའི་ནགས་ཚལ་ན་འཁྱོག་པར་བྱེད་པ་ཡིན་ནོ། །གང་དག་གིས་ཤེ་ན། ལྷུགས་མཆུ་རྟེན་པོ་དང་། སེན་མོ་མི་བཟད་ལྡན་པའི་ཁྭ་[1]རྣམས་ཀྱིས་ཏེ། ཁྭ་[2]གང་དག་ལ་ལྷུགས་ཀྱི་མཆུ་རྟེན་པོ་དང་སེན་མོ་མི་བཟད་པ་ཡོད་པ་དེ་དག་ལ་དེ་སྐད་ཅེས་བྱའོ། །

ཁ་ཅིག་སྲིན་བུ་སྦྲུར་བ་སྣ་ཚོགས་དང་། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ནི་སྲིན་བུ་དང་སྦྲུར་པ་དག་སྟེ། སྲིན་བུ་ནི་ལུས་ལས་བྱུང་བ་རྣམས་སོ། །སྦྲུར་བ་ནི་ཕྱི་རོལ་ནས་བྱུངབ་རྣམས་སོ།། སྣ་ཚོགས་པ་ནི་ཁ་དོག་དང་དབྱིབས་དང་རིགས་ཐ་དད་པས་སོ། །དེ་བཞིན་དུ། **ཤ་སྦྲང་སྦྲང་མ་ནག་པོ་ཁྲི་ཕྲག་དག** །སྣ་ཚོགས་པ་ཞེས་བྱ་བར་སྦྱར་བ་སྟེ། ཤ་སྦྲང་དང་སྦྲང་མ་ནག་པོ་དག་ཅེས་བྱ་བར་ཚིག་བསྡུའོ། །སྦྲང་མ་ནག་པོ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་སྦྲང་མ་ལྡིང་[3]ནག་ཅེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །ཁྲི་ཕྲག་ཅེས་སྨོས་པ་ནི་མང་པོ་ཉིད་དུ་མཚོན་པ་ཡིན་ནོ། །རེག་ན་མི་བཟོད་ཅེས་པ་ནི་གང་དག་གི་རེག་པ་མི་བཟད་པ་དེ་དག་གིས་[4]རེག་ན་མི་བཟོད་པའོ། །གང་དག་གིས་ཚ་སྦྲོལ་[5]ཆེར་འཕྲིན་པ། དེ་དག་ལ་དེ་སྐད་ཅེས་བྱ་བ་སྟེ། དེ་ལ་སྔ་མས་ནི་ཚོར་བ་མི་བཟད་པའི་རྒྱུ་ཉིད་བཤད་དོ། །གཉིས་པས་ནི་ཚ་སྦྲོལ་[6]ཆེ་བའི་རྒྱུ་ཉིད་བཤད་དོ། །འཁྲི་ཤོག་ཅེས་བྱ་བ་ནི་

---

[1] ཁྲ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] ཁྲ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཀླིང་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཉི་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] སྦྲལ་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] སྦྲལ་ པེ། སྣ། གསེར།

ཚོར་བ་མི་བཟད་པས་ཉེན་པས་ལུས་མི་བརྟན་པ་ཡིན་ཏེ། སྡུག་བསྔལ་འདི་ཡང་ལྷག་མ་[1]དག་ན་ཡོད་པར་རིག་པར་བྱའོ།།

ཁ་ཅིག་མདག་མེ་འབར་བའི་ཚོགས་སུ་ནི། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ནི་དམྱལ་བའི་སྐྱུང་མ་ལྷུགས་ཀྱི་འདན་ཀར་འབར་བ་ལ་ཀོ་མཚུགས་བཅས་ཤིང་། ཅི་ལ་མ་རག་པར་ཆས་པ་དག་གིས་དམྱལ་བ་རྣམས་ལྷུགས་ཀྱི་མདག་མ་མེ་འབར་བ་[2]ལྟ་བུར་འབར་བའི་ཚོགས་སུ་སྲེག་པར་བྱེད་པ་ཡིན་ཏེ། ལུས་ཚོར་བ་བཟོད་ཐག་མེད་[3]པས་ཉེན་པ་དེ་དག་ནི་ཁའི་བུ་ག་བགྲད་པ་ཙམ་ལས་གཞིས་བརྟག་གོ །སྡུག་བསྔལ་འདི་ཡང་དམྱལ་བ་ཚ་བ་ན་ཡོད་པར་རིག་པར་བྱའོ།། **ཁ་ཅིག་ལྷུགས་ལས་བྱུས་པའི་ཟངས་ཆེན་དུ།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ནི་ཡང་ཁ་ཅིག་ནི་དམྱལ་བར་རབ་ཏུ་ཚ་བ་ན་ལྷུགས་ལས་བྱུས་པའི་ཟངས་པོ་ཆེ་མེ་འབར་བ་འཁྲིགས་པར་འདུག་པ་ཚ་སྒོའི་[4]ཆུ་བསྐོལ་པས་བཀང་བའི་ནང་དུ་འབྲས་ཀྱི་ཚུང་པེང་བཞིན་དུ་འཚེད་པར་བྱེད་པ་ཡིན་ནོ།།

སྡིག་ཅན་དབུགས་འབྱུང་འགགས་པ་ཙམ་ཞིག་ནི། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་དམྱལ་བའི་སྡུག་བསྔལ་མི་བཟད་པ་ཉིད་སྟོན་ཏེ་སྡིག་ཅན་ནི་སྡིག་པ་དང་ལྡན་པའོ། །དབུགས་འབྱུང་[5]བ་འགགས་པ་ཙམ་གྱི་དུས་ནི། དབུགས་འབྱུང་[6]བ་འགགས་པ་ཙམ་གྱི་དུས་དེ་དེ་ཙམ་

---

[1] པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] འབར་བའི་ཚོགས་སུ་སྲེག་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] མེད་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[4] སྒོ་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] ཕྱུང་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] ཕྱུང་ པེ། སྣ། གསེར།

ཞིག་གིས་བར་དུ་ཆོད་པ་བཞིན་དུ་གང་གི་ཕྱིར་སྡིག་ཅན་དག་[1]དམྱལ་བ་རྣམས་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ་གཞལ་དུ་མེད་པ་དེ་ལྟ་བུ་ཐོས་ནས། འཇིགས་པར་མི་འགྱུར་བ་དེའི་ཕྱིར་རྡོ་རྗེའི་རང་བཞིན་ཡིན་ཏེ། ད་ཅང་འཇིགས་མི་ཤེས་ཆེས་[2]སོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །རྡོ་རྗེའི་རང་བཞིན་ནོ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་འཇིགས་མི་ཤེས་པ་ཉིད་དུ་སྟོན་པར་བྱེད་ཡིན་ཏེ། སྡིག་པ་ཅན་རྣམས་ཀྱི་[3]དམྱལ་བའི་སྡུག་བསྔལ་ཤི་མ་ཐག་ཏུ་འབྱུང་སྟེ། དེ་ལྟར་གཏིང་ལ་ཐུག་གི་སྡུག་བསྔལ་ཆེན་པོ་ཐོས་ནས་འཇིགས་པར་མི་བྱེད་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་དེ་དག་གི་རྡོ་རྗེའི་རང་བཞིན་ཡིན་ནོ།།

དམྱལ་བ་ཁྲིས་པ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་དེ་ཉིད་དྲན་པར་བྱེད་དེ་ཙིག་པ་ལ་སོགས་པ་ལ་[4]ཁྲིས་པ་མཐོང་བ་རྣམས་ཀྱང་འཇིགས་པ་སྐྱེ་བར་འགྱུར་ན་ཞེས་ཐམས་ཅད་ལ་སྦྱར་རོ།། ཐོས་པ་[5]ནི་གཞན་དག་གིས་བཤད་པའོ། །དྲན་པ་ནི་སྔོན་ཉམས་སུ་མྱོང་བའོ། །བཀླགས་པ་ནི་གཞུང་གི་ངོ་བོར་སྦྱོར་བའོ། །གཟུགས་སུ་བགྱིས་པས་ནི་འདྲིམ་པ་ལ་[6]གཟུགས་སུ་བྱས་པ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །དམྱལ་བ་དེ་ལྟ་བུ་དག་ཀྱང་།

འཇིགས་པ་སྐྱེ་བར་འགྱུར་ན་མི་བཟད་པའི།།
རྣམ་སྨིན་ཉམས་སུ་མྱོང་རྣམས་སྨོས་ཅི་འཚལ།།

---

[1] སྡིག་ཅན་ནི་ པེ། གསེར།

[2] ཞེས་ པེ། སྣར། གསེར།

[3] ཀྱང་ པེ།

[4] ལ་ པེ། སྣར། གསེར་ཁྲིས་སུ་མེད།

[5] པས་ པེ། སྣར། གསེར།

[6] པ་ལ་ པེ། སྣར། གསེར་ཁྲིས་སུ་མེད།

དེ་དག་ནི་རྣམ་པར་སྨིན་པ་མི་བཟད་པ་ཡང་ཡིན་ལ། ཉམས་སུ་མྱོང་བ་ཡང་ཡིན་པས། མི་བཟད་པའི་རྣམ་སྨིན་ཉམས་སུ་མྱོང་བ་[1]རྣམས་ཏེ། དེའི་གནས་སྐབས་ན་དམྱལ་བ་རྣམས་འཇིགས་པ་ཤིན་ཏུ་ཡང་བསྐྱེད་དོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །

བདེ་བ་ཀུན་གྱི་ནང་ན་སྲིད་ཟད་པའི། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་དམྱལ་བ་ན་ཡང་ཐམས་ཅད་[2]སྡུག་བསྔལ་མཚུངས་པ་མ་ཡིན་གྱི་འོན་ཀྱང་ལ་ལར་ཁྱད་པར་ཡོད་དོ་ཞེས་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །དེ་ལ་སྲིད་པ་ཟད་པའི་བདེ་བ་ནི་རྣམ་པར་གྲོལ་བའི་བདེ་བ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱ་སྟེ། དེ་བཞིན་དུ་འཇིག་རྟེན་ན་སྡུག་བསྔལ་གང་དག་ཇི་སྙེད་ཡོད་པ་དེ་དག་གི་ནང་ན་དམྱལ་བ་མནར་མེད་པའི་སྡུག་བསྔལ་མི་བཟད་པ་ཡིན་ནོ། །

འདི་ན་ཉིན་གཅིག་ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་མིའི་སྡུག་བསྔལ་བས་དམྱལ་བའི་སྡུག་བསྔལ་གྱིས་[3]ཁྱད་ཞུགས་པར་སྟོན་པར་བྱེད་དེ[4]། མདུང་ཐུང་སུམ་བརྒྱས་ནི་མ་ཐོག་ཐག་ཏུ་བཏབ་པའི་མིའི་སྡུག་བསྔལ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་མིའི་འཇིག་རྟེན་ན་ཤིན་ཏུ་སྡུག་བསྔལ་བ་ཡིན་ནོ། །སྡུག་བསྔལ་དེ་འདྲ་བ་དེ་ཡང་དམྱལ་བའི་སྡུག་བསྔལ་ཆུང་ངུ་དང་ཡང་མཉམ་པར་མི་འགྱུར་ཏེ། དམྱལ་བའི་སྡུག་བསྔལ་ཆུང་ངུ་ཡང་སྡུག་བསྔལ་དེ་བས་ཁྱད་ཞུགས་སོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །

དེ་ལྟར་དམྱལ་བའི་སྡུག་བསྔལ་མི་བཟད་པ་ཉིད་དུ་བཤད་ནས་ལས་ཟད་པ་ཁོ་ནས་དེ་[5]ཟད་པར་འགྱུར་གྱི་གཞན་དུ་ནི་མ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར། དེ་ལྟར་སྡུག་བསྔལ་ཤིན་ཏུ

---

[1] བ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] ཅད་དུ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] གྱིས་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[4] དེ། པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[5] དེ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

མི་བཟད་པ། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། འདི་སྐད་དུ་ལས་དེ་[1]ནི་སྡུག་བསྔལ་དྲག་པོའི་ཚོར་བ་འདི་ལྷ་བུས་ཀྱང་འཆི་བར་མི་འགྱུར་བ་གང་ཡིན་པ་དེ་ལྷ་བུའི་སྟོབས་དང་ལྡན་[2]པ་ཡིན་[3]ཞེས་བཤད་པར་འགྱུར་རོ།།

མི་དགེའི་འབྲས་འདི་རྣམས་ཀྱི་ས་བོན་ནི། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་དམྱལ་བའི་སྡུག་བསྔལ་ལས་[4]བཟློག་པའི་ཕྱིར་རྒྱལ་པོ་ལ་འདོམས་པར་བྱེད་དོ། །མི་དགེའི་འབྲས་[5]འདི་རྣམས་ཀྱི་[6]ཞེས་བྱ་བ་ནི་དམྱལ་བ་རྣམས་སེམས་ཅན་ཐམས་ཅད་ཀྱི་ལས་ཀྱི་དབང་གིས་འབྱུང་བའི་ཕྱིར་རོ། །ས་བོན་ནི་རྒྱུའོ། །ལུས་དང་ངག་དང་ཡིད་ཀྱི་ཉེས་པར་སྤྱོད་པ་ནི་སྔར་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །ཁྱོད་ཀྱིས་ཅི་ནས་ཀྱང་ས་བོན་དེ་རྡུལ་ཙམ་ཡང་མེད་པ་དེ་ལྟར་འབད་པར་གྱིས་ཤིག་ཅེས་བྱ་བ་ནི་འདི་ལ་གདམས་པ་ཡིན་ནོ།།

དུད་འགྲོའི་སྐྱེ་གནས་སུ་གཏོགས་པའི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་དབང་དུ་བྱས་ནས། **དུད་འགྲོའི་སྐྱེ་གནས་ནའང་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། དེ་ལ་དུད་འགྲོའི་སྐྱེ་གནས་སུ་གཏོགས་པའི་སྡུག་བསྔལ་ནི་སྤྱི་དང་ཁྱད་པར་དུ་བསྟན་པར་རིག་པར་བྱའོ། །ཕྱིར་བསྟན་པའི་དབང་དུ་བྱས་ནས། **བསད་པ་དང་།** **བཅིང་དང་བརྡེག་སོགས་སྡུག་བསྔལ་སྣ་ཚོགས་པ།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །དེ་ལ་བསད་པ་ནི་གསོད་པའོ། །འཆིང་བ་ནི་ཐག་པ་ལ་སོགས་པས་

---

[1] དེ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[2] མི་ལྡན་ གསེར།

[3] ཡིན་ནོ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ལ་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] མི་དགེ་བའི་འབྲས་བུ་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] ཀྱིས་ པེ། སྣ། གསེར།

སོ།། བརྡེག་པ་ནི་ལྕུགས་ལ་སོགས་པས་སོ། །སོགས་[1]ཞེས་བྱ་བའི་སྒྲས་ནི་བཀོལ་བ་དང་། སྣ་དབུག་པ་ལ་སོགས་པ་[2]བསྡུས་ཏེ། འདི་ནི་རེ་ཞིག་དུད་འགྲོའི་སྐྱེ་གནས་སུ་གཏོགས་པ་རྣམས་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ་མི་དང་མི་མ་ཡིན་པས་བྱས་པའི་བང་དུ་བྱས་ནས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ། །རང་གི་རིགས་ཀྱིས་[3]བྱས་པའི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་དབང་དུ་བྱས་ནས།

ཞི་འགྱུར་དགེ་བ་སྤངས་པ་རྣམས་ལ་ནི།།
གཅིག་ལ་གཅིག་ཟ་ཤིན་ཏུ་མི་བཟད་པ།།

ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །ཞི་འགྱུར་དགེ་བ་སྤངས་པ་རྣམས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ངེས་པར་འབྱེད་པའི་ཆ་དང་མཐུན་པའི་དགེ་བ་སྤངས་པ་རྣམས་ལ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་སྟེ། མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ཐོབ་པར་བྱེད་པའི་དགེ་བ་ནི་ཞི་བར་འགྱུར་བའི་དགེ་བ་ཡིན་པས་སོ། །འདིར་སྤངས་པ་ཉིད་ཀྱིས་ནི་སྣོད་མ་ཡིན་པ་ཉིད་དུ་བཤད་དོ། །གཅིག་ལ་གཅིག་ཟ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཕན་ཚུན་ཟ་བ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །འདིར་ཡང་ཞི་བར་འགྱུར་བའི་དགེ་བ་སྤངས་པ་ཉིད་ཀྱིས་ནི་ཤིན་ཏུ་བླུན་པ་ཉིད་དུ་བཤད་དོ། །དེ་ལྟ་བུ་རྣམས་ཕན་ཚུན་ཟ་བ་ནི་ཤིན་ཏུ་མི་བཟད་པ་ཡིན་ཏེ། འགྱོད་པ་མེད་པ་ཉིད་ཀྱིས་རྣམ་པར་སྨིན་པ་གཅིག་ཏུ་སྡུག་བསྔལ་བའི་ཕྱིར་རོ།།

ཁྱད་པར་གྱི་དབང་དུ་བྱས་ནས། ཁ་ཅིག་མུ་ཏིག་བལ་དང་རུས་པ་དང་། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ཁ་ཅིག་ནི་མུ་ཏིག་གི་ཕྱིར་འཆི་བར་འགྱུར་རོ། །ཁ་ཅིག་ནི་བལ་གྱི་ཕྱིར་རོ། །ཁ་ཅིག་ནི་རུས་པའི་ཕྱིར་ཏེ། དཔེར་ན་གླང་པོ་ཆེ་ལྟ་བུའོ། །ཁ་ཅིག་ནི་ཤའི་ཕྱིར་ཏེ་རི་དགས་ལ་སོགས་པའོ། །ཁ་ཅིག་ནི་པགས་པའི་ཕྱིར་ཏེ་གཟིག་ལ་སོགས་པའོ། །དབང་མེད་

---

[1] སོགས་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] པས་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

གཞན་དག་ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ལ་འདིར་བཏབ་སྟེ་ཞེས་བྱ་བའི་སྦྲ་ཉི་རེ་རེ་དང་སྦྱར་རོ། །དེ་ལ་རྡོག་པས་བཏབ་སྟེ་བཀོལ་བ་ནི་རྟ་ལ་སོགས་པའོ། །ལག་པས་བཏབ་སྟེ་བཀོལ་བ་ནི་མ་ཧེ་ལ་སོགས་པའོ། །ལྕག་གིས་བཏབ་སྟེ་བཀོལ་བ་ནི་བོང་བུ་ལ་སོགས་པའོ། །ལྕགས་ཀྱུས་བཏབ་སྟེ་བཀོལ་བ་ནི་གླང་པོ་ཆེ་རྣམས་སོ། །གདབ་པས་བཏབ་སྟེ་བཀོལ་བ་ནི་གླང་ལ་སོགས་པའོ།།

ཡི་དགས་ཀྱི་འགྲོ་བའི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་དབང་དུ་བྱས་ནས། **ཡི་དགས་ན་ཡང་འདོད་པས་ཡོངས་པ་ཡིས།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །འདིར་ཡང་སྤྱི་དང་ཁྱད་པར་དུ་བསྟན་པར་རིག་པར་བྱ་སྟེ། རེ་ཞིག་སྤྱིར་བསྟན་པ་ནི་འདོད་པས་ཡོངས་པ་བཀྲེས་པ་ལ་སོགས་པ་བྱུང་བའི་སྡུག་བསྔལ་ཡིན་ནོ། །ནམ་ཡང་འདོད་པས་ཡོངས་སུ་ཇོགས་པ་མེད་པའི་ཕྱིར་རྒྱུན་ཆགས་པའོ། །མི་འཚོས་པ་ཞེས་སྨོས་པ་ནི། སྡུག་བསྔལ་མི་བཟད་པ་ཉིད་དུ་སྟོན་ཏེ། བཀྲེས་སྐོམ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་བཀྲེས་པ་དང་སྐོམ་པ་དང་གྲང་བ་དང་དྲོ་བ་དང་། ངལ་བ་དང་འཇིགས་པ་ཞེས་བྱ་བར་ཚིག་བསྡུས་ཏེ། འདི་རྣམས་ཀྱིས་བསྐྱེད་པའི་སྡུག་བསྔལ་ཤིན་ཏུ་མི་བཟད་པ། ཐིག་གི་[1]དྲག་པོ་བསྟན་འཚལ་ལོ་ཞེས་བྱ་བར་སྦྱར་རོ། །དེ་ལ་ངལ་བ་ནི་ཟས་ཀྱི་ཕྱིར་ཡོངས་སུ་རྒྱུག་པ་རྣམས་ལ་འབྱུང་ངོ་། །འདི་དག་གི་འཇིགས་པ་ནི་སྐྱེས་བུ་རལ་གྲི་དང་གཏུན་ཤིང་དང་ཞགས་པ་ཐོགས་པ་རྣམས་མཐོང་ན་སྐྱེའོ།།

སྡུག་བསྔལ་ཁྱད་པར་དུ་བསྟན་པའི་དབང་དུ་བྱས་ནས། **ཁ་ཅིག་ཁ་ནི་ཁབ་ཀྱི་མིག་ཙམ་ལ།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། གང་དག་གི་ཁ་ཁབ་ཀྱི་མིག་ཙམ་དུ་ཆུང་བ་དེ་དག་ལ་དེ་སྐད་ཅེས་བྱ་སྟེ། **ལྟོ་བ་རི་ཡི་གཏོས་ཙམ**་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ལྟོ་བ་རིའི་གཏོས་ཀྱི་ཚད་ཙམ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །མི་གཙང་གྱི་ན་བོར་བ་ཙུང་ཟད་ཀྱང་། །ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཁའི་བུ་ག་

---

[1] མི་ཟད་པ་སྟེ། པེ། སྣ། གསེར།

ཕྲ་[1]བའི་ཕྱིར་མི་གཙང་བ་ཅི་བདེར་བོར་བ་ཙུང་ཟད་ཙམ་ཡང་བཟའ་བར་མི་ནུས་སོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ།།

ཁ་ཅིག་པགས་རུས་ལུས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཤ་མེད་པའོ། །གཅེར་བུ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་སྲིན་མོའོ།། ཏ་ལའི་ཡང་ཏོག་བསྐམས་པ་ལྟ་བུ་ལགས། །ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཤིང་ཏ་ལ་མགོ་བསྐམས་པ་དང་འདྲ་བ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་སྟེ། ཡི་དགས་དེ་དག་ནི་ལྷ་མ་ཡིན་ཞེས་བྱའོ། །ཡི་དགས་ཁ་ཅིག་ནི་ཁ་ནས་འབར་བ་སྟེ། ཁ་གདངས་ན་མེ་འབར་བ་ལྟ་བུ་འབྱུང་བ་ཡིན་ནོ། །ཅི་ཉིན་པར་རམ་ཞེ་ན། མ་ཡིན་ཏེ་མཚན་ཞིང་[2]ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ་ནུབ་མོ་ཞིང་ངོ་། །ཡང་དེ་དག་ཟས་སུ་ཅི་ཞིག་ཟ་ཞེ་ན། **ཟས་སུ་འབར་བའི་ཁར་བབས་བྱེ་མ་འཚལ།** །ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། ཁ་འབར་བར་བྱེད་པའི་བྱེ་མ་[3]བབས་པ་ནི། འབར་བའི་ཁར་བབས་བྱེ་མའོ[4]། །གང་དག་ལ་ཟས་སུ་དེ་དག་བདོག་པ་དེ་དག་ལ་དེ་སྐད་ཅེས་བྱའོ།།

ཡི་དགས་ཁ་ཅིག་གིས་ནི་ཕྱིས་དང་རྣག་ལ་སོགས་པའི་མི་གཙང་བ་ཡང་མི་རྙེད་དོ། །དེ་ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། **སྐད་རིགས**་ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ་བསོད་ནམས་མ་བྱས་པའི་ཕྱིར་རོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཚིག་གོ །འོ་ན་དེ་དག་ཅི་ཞིག་ཟ་ཞེ་ན། **ཕན་ཚུན་གནོད་དུ་འཚོག་ཅིང་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། དེ་དག་གི་ཕན་ཚུན་མཐོང་ནས་ཁྲོས་པའི་དབང་གིས་གནོད་དུ་འཚོག་པར་བྱེད་དོ། །ཁ་ཅིག་ནི་ལག་པ་ནས་[5]ཐྲོ་བ་དག་ཕྱུང་སྟེ། གཅིག་ལ་གཅིག་སྣུན་པར་བྱེད་དོ། །

---

[1] ཕྲུས་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] མ་ཡིན་ནོ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] མ་ པེ། གསེར་བྲིས་པར་མར་མེད།

[4] བྱེ་བའོ། པེ། གསེར།

[5] ནས་ནི་ པེ། སྣ། གསེར།

དེས་ན་དེ་དག་གིས་མགྲིན་པར་ལྦ་བ་འབྱུང་སྟེ། དེ་ཡོངས་སུ་སྨིན་པའི་དབང་གིས་ཁོང་དུ་འཛག་པ་ལ་ཟས་ཀྱི་བྱ་བ་སྒྲུབ་བོ།།

ཡི་དགས་འདི་དག་ཁ་ཅིག་ལ་སོས་ཀའི་དུས་སུ་ནི་ཟླ་བ་ཡང་ཚ་བར་འགྱུར་ལ། དགུན་གྱི་དུས་ལ་བབ་ན་ནི་ཉི་མ་ཡང་གྲང་མོར་འགྱུར་རོ། །ལྗོན་ཤིང་འབྲས་བུ་མེད་འགྱུར་ཞེས་བྱ་བ་ནི་བསོད་ནམས་དང་མི་ལྡན་པ་དེ་རྣམས་ལ་ནི་ཤིང་ལྗོན་པ་འབྲས་བུ་སྨིན་ཞིང་ཞིམ་པ། ཡལ་ག་དུད་པ་དག་ཀྱང་མེས་བསྲེགས་པ་བཞིན་དུ་འབྲས་བུ་དང་ལོ་མ་དག་ཀྱང་མེད་པར་འགྱུར་རོ། །དེ་དག་གིས་བལྟས་པ་ཙམ་[1]ཁོ་ནས་ཆུ་ཞིམ་པོ་བསིལ་བ་འབབ་པའི་ཀླུང་ཡང་མིག་གདུག་པའི་དུག་གིས་བསྲེགས་པ་བཞིན་དུ་སྐམ་པར་འགྱུར་རོ། །ཁ་ཅིག་ལ་ནི་མེ་འབར་བ་འཁྲིགས་པའི་མདག་མེས་གང་བར་འགྱུར་རོ། །ཁ་ཅིག་ལ་ནི་རྣག་གི་ཀླུང་སྲིན་བུ་སྣ་ཚོགས་ཀྱིས་གང་བ་འབབ་པར་འགྱུར་རོ།།

ཁ་ཅིག་ལ་ནི་ཕྱེ་ས་དང་གཅིན་གྱིས་གང་བར་འགྱུར་རོ། །དེ་ལྟ་བུ་དེ་དག་དུས་ཇི་སྲིད་ཅིག་ཏུ་འཚོ་ཞེ་ན། ལོ་ལྔ་སྟོང་དག་དང་ཁྲིར་ཡང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། ཁ་ཅིག་ལོ་ནི་ལྔ་སྟོང་། ཁ་ཅིག་ནི་ལོ་ཁྲིར་ཡང་མི་འཆིའོ། །ཁྱད་པར་ཅི་ལྟ་བུ་ཅན་དག་ཡིན་ཞེ་[2]ན། **བར་ཆད་མེད་པར་སྡུག་བསྔལ་རྟེན་གྱུར་པ།** །ཞེས་བྱ་སྨོས་ཏེ། བར་ཆད་མེད་པར་སྡུག་བསྔལ་གྱི་ཚོར་[3]བས་ཉེན་པ་དག་ཅེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །ཡང་ཇི་ལྟར་དེ་དག་གི་ལུས་[4]སྡུག་བསྔལ་བ་དེ་ལྟ་བུས་ཀྱང་འཇིག་པར་མི་འགྱུར་ཏེ[5]། ཉེས་པར་སྤྱད་པའི་ལས་ཀྱི་ཞགས་པ་[6]ནི།།

---

[1] ཙམ་ པེ། གསེར་ཕྲིས་པར་མར་མེད།

[2] དག་ཅིག་ཅེ་ པེ། གསེར།

[3] ཚོར་བ་སྐྱོང་ པེ། གསེར།

[4] ནི་ པེ། སྣར། གསེར།

[5] མི་འགྱུར་ཞེ་ན། པེ། སྣར། གསེར།

སྒྲ་བས་བཅིངས་པའི་ལུས་ཅན་ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། གང་དག་གིས་ཉེས་པར་སྤྱད་པའི་ལས་ཀྱི་ཞགས་པ་སྒྲ་བས་བཅིངས་པ་ཞེས་བྱ་བར་ཚིག་སྦྱར་སྟེ། དེའི་ཕྱིར་མི་འཇིག་གོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །

སྡུག་བསྔལ་དེ་འདྲ་བའི་རྒྱུ་གང་ཡིན་ཞེ་ན། **དེ་ལྟར་ཡི་དགས་རྣམས་ཀྱིས་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །དེ་ལ་དེ་ལྟར་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཇི་སྐད་བཤད་པ་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །སྣ་ཚོགས་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་བཀྲེས་པ་དང་སྐོམ་པ་ལ་སོགས་པར་རིག་པར་བྱའོ། །རོ་གཅིག་ཅེས་བྱ་བ་ནི་སྡུག་བསྔལ་བར་ཆད་མེད་པ་ཉིད་དུ་སྟོན་པར་བྱེད་དོ[1]། །སྐྱེ་བོ་འཇུངས་དགའ་བ། ཞེས་བྱ་བ་ལ། སྐྱེ་བོ་འཇུངས་པ་ནི་སྐྱེ་བོ་སེར་སྣ་ཅན་ཏེ། དེ་དག་ལ་[2]དགའ་བའོ། །དེ་[3]ཡང་གང་ཡིན་ཞེ་ན། **སེར་སྣ་འཕགས་མིན་**ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། འཕགས་པ་མ་ཡིན་པ་ཉིད་ནི་ཉོན་མོངས་པ་ཅན་ཉིད་ལ་རིག་པར་བྱའོ། །སེར་སྣ་དེ་ནི་ཡི་དགས་ཀྱི་འཇིག་རྟེན་དུ་སྐྱེ་བའི་རྒྱུ་ཡིན་པར་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་གསུངས་ཏེ།

བདག་ཅག་སེར་སྣ་ཅན་རྣམས་ནི།།
མིག་རྩུགས་སེ་དག་ལྟ་ལྟ་ནས།།
སྦྱིན་པ་ཙུང་ཟད་མ་སྩལ་དེས།།
བདག་ཅག་ཡི་དགས་འཇིག་རྟེན་ལྷགས།།

ཞེས་འབྱུང་བའི་ཕྱིར་རོ།།

---

[6] པས་ པེ། སྣ། གསེར།
[1] བྱེད་པའོ། པེ། གསེར།
[2] ལ་ པེ། གསེར་ཁྲིས་པར་མར་མེད།
[3] དེ་ པེ། གསེར་ཁྲིས་པར་མར་མེད།

ལྷའི་འགྲོ་བའི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་དབང་དུ་བྱས་ནས། **མཐོ་རིས་ན་ཡང་བདེ་ཆེན་ཞེས་བྱ་**བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། མཐོ་རིས་དག་ན་ལྷའི་བུ་མོ་སྙིག་མ་དང་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་ཡུལ་ལྔ་ཚོགས་པའི་ཡིད་དུ་འོང་བ་དག་གིས་བདེ་བ་ཆེན་པོ་ཉམས་སུ་མྱོང་ངོ་། །དེ་ན་བདེ་བ་དེ་འདྲ་བ་ཡོད་མོད་ཀྱི། དེ་དག་གི་འཆི་འཕོའི་སྡུག་བསྔལ་ཉིད་འཆི་བའི་དུས་ནི་[1]ཡིད་ཤིན་ཏུ་མི་བདེ་བ་འབྱུང་བ་ནི་བདེ་བ་དེ་བས་ཀྱང་ཆེའོ། །

དེ་ལྟར་བསམས་ནས་ཡ་རབས་རྣམས་ཀྱིས་ནི། །
ཟད་འགྱུར་མཐོ་རིས་སླད་དུ་སྲིད་མི་བགྱི། །

ཡ་རབས་ཡིན་ཡང་ཟད་པར་འགྱུར་བའི་ངང་ཚུལ་ཅན་གྱི་མཐོ་རིས་ལ་དགའ་བར་མི་བྱའོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །

ལྷ་རྣམས་ལ་གནོད་འཆད་པའི་ཚོར་བ་མེད་པའི་ཕྱིར་ཅིའི་ཕྱིར་འཆི་འཕོ་བའི་སྡུག་བསྔལ་འབྱུང་ཞེ་ན། **ལུས་ཀྱི་ཁ་དོག་མི་སྡུག་འགྱུར་བ་དང་།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །འདི་སྐད་དུ་བཤད་པ་ཡིན་ཏེ། དེ་དག་ལ་གནོད་འཆད་པའི་ཚོར་བ་མེད་པས་ལུས་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ་མེད་མོད་ཀྱི། འཆི་འཕོ་བའི་སྔ་ལྟས་རྣམས་མཐོང་ནས་སེམས་ཤིན་ཏུ་སྡུག་བསྔལ་བ་[2]ནི་འབྱུང་སྟེ། ཇི་སྐད་དུ། དེ་ནས་ལྷའི་བུ་ཞིག་སྙིང་རྗེ་རྗེ་སྐད་དུ་ངུ་ཞིང་། **ཀྱི་ཧུད་དཔལ་གྱིས་འབབ།** ཀྱི་ཧུད་རྫིང་བུ་ཞེས་སྐྲེ་སྔགས་འདོན་ཏོ་ཞེས་རྒྱས་པར་འབྱུང་བ་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ།[3] །ལྷ་རྣམས་ཀྱི་འཆི་འཕོ་བའི་སྔ་ལྟས་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ་དེ་དག་ཀྱང་ལྔ་ཡིན་ཏེ། འདི་ལྟ་སྟེ་སྔོན་གྱི་ཁ་དོག་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་མེད་པས་ལུས་ཀྱི་མདོག་མི་སྡུག་པ་དང་། རང་གི་སྟན་ལ་

---

[1] ན་ པེ། གསེར།

[2] བ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[3] ཆོས་མངོན་པའི་མཛོད་ཀྱི་འགྲེལ་བཤད། སྡེ་བསྟན། ཀུ། ༨་༢

མི་དགའ་བ་དང་། མེ་ཏོག་གི་ཕྲེང་བ་རྙིངས་པ་དང་། གོས་ལ་དྲི་མ་ཆགས་པ་དང་ལུས་ལས་རྡུལ་འབྱུང་བའོ།།

དེ་ལྟར་ན་གང་དག་མཐོང་ནས་ལྷ་རྣམས་ཡིད་མི་བདེ་བ་སྐྱེ་བར་འགྱུར་བས[1]། **མཐོ་རིས་འཆི་འཕོ་སྔོན་བྱེད་སྔ་ལྟས་ལྔ།** །ལྷ་ཡུལ་ལྷའི་འཇིག་རྟེན་ན་གནས་པའི་ལྷ་རྣམས་ལ་འབྱུང་སྟེ། མི་རྣམས་ཀྱི་འཆི་བར་འགྱུར་བ་སྔོན་པའི་སྔ་[2]ལྟས་བཞིན་ནོ། །དཔེར་ན་ཁྲུས་བྱས་ཤིང་བྱུག་པས་བསྒྲུབས་པ་གང་ཡིན་པ་[3]ཞིག་གི་སྙིང་དང་པོར་ཚ་བ་དང་། རྣ་བ་མ་བཀག་པར་སྒྲ་མི་ཐོས་པ་དེ་ནི་རིང་པོར་[4]མི་ཐོགས་པར་འཆི་བར་འགྱུར་རོ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ། །ལྷ་ཡི་འཇིག་རྟེན་དག་ནས་འཕོས་པ་ལ། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་ལྷ་རྣམས་ལ་སྡུག་བསྔལ་དེ་ཙམ་པ་[5]འབའ་ཞིག་ཏུ་མ་ཟད་ཀྱི[6]། དེ་ནས་ཤི་འཕོས་པ་རྣམས་ལ་ཡང་འབྱུང་བ་ཕོ་ནའོ་ཞེས་བྱ་བ་[7]སྟོན་ཏེ། བསྡུས་པའི་དོན་ནི་ལྷའི་འཇིག་རྟེན་ནས་ཤི་འཕོས་པ་ལ་གལ་ཏེ་ལྷ་དང་མིར་སྐྱེ་བར་འགྱུར་བའི་དགེ་བ་ཅུང་ཟད་ཀྱང་མེད་ན་སླར་ངན་སོང་གསུམ་དུ་སྡུག་བསྔལ་ཉམས་སུ་མྱོང་བར་འགྱུར་བ་ཕོ་ནའོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ།།

ལྷ་མ་ཡིན་གྱི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་དབང་དུ་བྱས་ནས། **ལྷ་མིན་དག་ནའང་རང་བཞིན་གྱིས།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །ལྷ་མ་ཡིན་རྣམས་ལ་ནི་རང་བཞིན་གྱིས་སྙེམས་

---

[1] བ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] འཆི་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཡིན་པ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[4] པོ་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] པ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[6] མི་ཟད་ཀྱིས། པེ། སྣ། གསེར།

[7] བདེ་ པེ། སྣ། གསེར།

པའི་ང་རྒྱལ་ལས་སྐྱེས་པའི་ང་རྒྱལ་ཡོད[1]། དེ་དག་ཀྱང་[2]ང་རྒྱལ་ཆེ་བའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་འདིས་ནི་དེ་དག་གི་ཉོན་མོངས་པའི་ཀུན་ནས་ཉོན་མོངས་པའི་[3]སྡུག་བསྔལ་བཤད་དོ། །**རང་བཞིན་གྱིས**་ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་པས་ནི་གཡུལ་འགྱེད་པའི་ཚེ་ལུས་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ་ཡང་འབྱུང་ངོ་ཞེས་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །ལྷའི་དཔལ་ལ་སྡང་ཕྱིར་ཞེས་བྱ་བ་འདིས་ནི་སྐྱེམས་པའི་ང་རྒྱལ་ལས་སྐྱེས་པའི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་རྒྱུ་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །སྐྱེ་བའི་ཀུན་ནས་ཉོན་མོངས་པའི་སྡུག་བསྔལ་ཡང་བསྟན་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་དག་བློ་དང་ལྡན་ཡང་། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། གལ་ཏེ་འདི་དག་ལ་དགེ་བ་དང་མི་དགེ་བ་རྣམ་པར་དཔྱོད་པར་ནུས་པའི་བློ་ཡོད་དུ་ཟིན་ཀྱང་འོན་ཀྱང་འགྲོ་བའི་སྒྲིབ་པས་བདེན་པ་མཐོང་བ་[4]ནི་མེད་དོ། །འགྲོ་བ་དེ་ཉིད་གང་བདེན་པ་མཐོང་བའི་རྟེན་གྱི་ངོ་བོར་མི་འགྱུར་བ་དེ་ལྷ་བུར་མི་དགེ་བའི་ལས་ཀྱིས་འཕངས་པ་ཡིན་ཏེ[5]། དེ་བས་ན་སྒྲིབ་པ་ཞེས་བྱའོ། །ལྷ་མ་ཡིན་གྱི་[6]འགྲོ་བའི་འཕེན་པར་བྱེད་པ་ནི་མི་དགེ་བའི་ལས་ཡིན་ལ་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པར་བྱེད་པ་ནི་དགེ་བ་ཁོ་ན་ཡིན་པར་འདོད་དོ། །ལྷའི་འགྲོ་བ་[7]ནི་འཕེན་པར་བྱེད་པ་དང་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པར་བྱེད་པ་ཡང་དགེ་བ་ཡིན་པས། ལྷའི་འགྲོ་བ་ལས་

---

[1] ཡོད་དེ། པེ། སྣ། གསེར།

[2] ཀྱང་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[3] པའི་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[4] མཐོང་བའི་ཐབ་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] ཡིན་ནོ། པེ། སྣ། གསེར།

[6] གྱིས་ པེ།

[7] བ་ཡིས་ པེ། སྣ། གསེར།

ལྷ་མ་ཡིན་གྱི་འགྲོ་བ་འགྲོ་བ་གཞན་ཉིད་དུ་རྣམ་པར་གཞག་གོ །མིའི་འགྲོ་བའི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་ཁྱད་པར་ནི་ཡོགས་ཤིག་ཏུ་བཤད་[1]དེ། སྤྱིར།

དེས་པ་འདོད་པས་ཡོངས་དང་འཆི་བ་དང་།།
ན་དང་རྒས་སོགས་སྡུག་བསྔལ་དུ་མ་ཡི།།
འབྱུང་གནས་ || ༧༥ ||

ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ཁོ་ནས་བསྟན་ཟིན་པའི་ཕྱིར་དང་། སྔར་ཡང་མི་རྣམ་པ་དུ་མས་སྨད་པའི་ཕྱིར་རོ།།

ད་ནི་དེ་ལྟར་འཁོར་བའི་ཉེས་པ་བཤད་ནས་དེ་ལ་མངོན་པར་མི་དགའ་བའི་འདུ་ཤེས་ཉེ་བར་བསྒྲུབ་པར། འཁོར་བ་དེ་འདྲ་ལགས་པས་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། གང་གི་ཕྱིར་དེ་ལྟར་འཁོར་བ་ཉེས་པ་དང་ལྡན་པ་དེའི་ཕྱིར་ལྷ་ལ་སོགས་པར་སྐྱེ་བ་ནི་བཟང་པོ་མ་ཡིན་ནོ།། དེ་ལྟར་ཁྱད་པར་དུ་སྐྱེ་བའི་ཉེས་པ་བཤད་ནས། མེར་[2]སྐྱེ་བ་ནི་གནོད་པ་དུ་མའི་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། སྐྱེ་བ་ནི་ཉེ་དུའི་[3]གནོད་པ་ལ་སོགས་པ་གནོད་པ་དུ་མའི་སྣོད་དུ་གྱུར་ཅིང་རྟེན་དུ་གྱུར་པ་ཡིན་པར་ཤེས་པར་གྱིས་ཤིག་ཅེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ།།

དེ་ལྟར་འཇིག་རྟེན་ཐམས་ཅད་ལ་མངོན་པར་མི་[4]དགའ་བ་བསྐྱེད་ནས། མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ལ་གཞུག་པའི་ཕྱིར། མགོ་འམ་གོས་ལ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། མགོ་ལ་མེ་ཤོར་རམ་གོས་ལ་མེ་ཤོར་ན་ཞེས་བྱ་བར་སྦྱར་རོ། །དེ་དག་ཕྱིར་[5]བཟློག་བགྱི་བ་བཏང་ནས་

---

[1] མ་བཤད་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] སྤྱིར་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] དུ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] མི་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[5] སྤར་ པེ། སྣ། གསེར།

ཀྱང་། །ཞེས་བྱ་བ་ནི་དེ་དག་གསད་པ་ཡང་བཏང་ནས་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ **།ཡང་སྲིད་མེད་པར་བགྱི་སླད་འབད་འཚལ་ཏེ།** །ཞེས་བྱ་བ་ནི་ལུས་དང་སྲོག་ལ་མི་ལྟ་བའི་བརྩོན་འགྲུས་ཆེན་པོ་དེ་ལྟ་བུ[1]ཡང་སྲིད[2]མེད་པར་བྱ་བའི་ཕྱིར་འབད་པར་བྱ་དགོས་སོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ།། ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། **འདི་བས་ཆེས་མཆོག་དགོས་པ་གཞན་མ་མཆིས།** །ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། འདི་བས་ཁྱད་པར་དུ་འཕགས་པའི་དགོས་པ་གཞན་ནི་མེད་ཀྱི། འདི་ལྟར་སྐྱེས་བུའི་དོན་གྱི་དམ་པ་ནི་འདི་ཁོ་ནར་ཟད་དོ་སྙམ་དུ་དགོངས་པ་ཡིན་ནོ།།

ཡང་སྲིད་པ་མེད་པ་ཡང་ཇི་ལྟར་འཐོབ་ཅེ་ན། **ཚུལ་ཁྲིམས་དག་དང་བསམ་གཏན་ཤེས་རབ[3]ཀྱིས།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། བསླབ་པ་གསུམ་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པར་བྱས་ནས་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ཐོབ་པར་གྱིས་ཤིག་ཅེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་དེ་ལ[4]ཡང་རྣམ་པ་གཉིས་ཏེ་ཕུང་པོའི་ལྷག་མ་མེད་པ་དང་། ཕུང་པོའི་ལྷག་མ་དང་བཅས་པའོ། །དེ་ལ་ཕུང་པོའི་ལྷག་མ་མེད་པ་ནི་སྡུག་བསྔལ་ཉེ་བར་ཞི་བས་རབ་ཏུ་ཕྱེ་བའི་ཕྱིར་ཞི་བ[5]ཞེས་བྱ་བའི་སྒྲས་སྟོན་ཏོ། །ཕུང་པོའི་ལྷག་མ་དང་བཅས་པ་ནི་དབང་པོ་དུལ་བས་རབ་ཏུ་ཕྱེ་བའི་ཕྱིར། དུལ་བ་ཞེས་བྱ་བའི་སྒྲས་སྟོན་ཏོ། །གཉི་ག་ཡང་འདོད་ཆགས་ལ་སོགས་པའི་དྲི་མ་ཉེ་བར་ཞི་བས། དྲི་མ་མེད་པ་སྟེ། མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ཞེས་བྱ་བའི་གོ་འཕང་གནས་དེ་ལྟ་བུ་ཐོབ་ཅིང་རབ་ཏུ་ཐོབ་པར་གྱིས་ཤིག་ཅེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ **།མི་ཏྲ་མི་འཆི་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་དེ་ཉིད་ཀྱི་ཁྱད་པར་གྱི་སྒོ་ནས་བསྟགས་པ་བཤད་པ་ཡིན་

---

[1] བུས་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] སྲིད་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཡེ་ཤེས་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ལ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] ཞི་བའི་ པེ། སྣ། གསེར།

ཏེ། དེ་ལ་དེངས་པ་མེད་པས་ན་མི་རྒས་པའོ[1]། །འཆི་བར་མི་འགྱུར་བས་ན་མི་འཆི་བའོ། །ཟད་པ་མེད་པས་ན་མི་ཟད་པའོ། །ལྷག་མས་[2]ནི་ཕྱི་རོལ་པའི་སྨྲ་ངན་ལས་འདས་པ་[3]ལས་ཁྱད་པར་དུ་བྱ་བའི་ཕྱིར་ཏེ་[4]ཆེན་པོ་བཞི་དང་ཉི་མ་དང་ཟླ་བ་དག་མེད་པར་བཤད་དོ།།

ད་[5]ནི་ཆོས་གང་དག་མངོན་[6]དུ་གྱུར་པས་སྨྲ་ངན་ལས་འདས་པ་ཐོབ་པར་འགྱུར་བའི་ཆོས་དེ་དག་བསྟན་པའི་ཕྱིར། དྲན་དང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། དེ་ལ་དྲན་པ་ནི་དམིགས་པ་མ་བརྗེད་པའོ། །ཆོས་རབ་ཏུ་འབྱེད་པ་ནི་དེ་ལ་ཤེས་རབ་གང་ཡིན་པའོ། །བརྩོན་འགྲུས་ནི་མངོན་པར་སྤྲོ་བ་གང་ཡིན་པའོ། །དགའ་བ་ནི་དམིགས་པ་དེ་ཉིད་ལ་ཡིད་བདེ་བ་གང་ཡིན་པའོ། །ཤིན་ཏུ་སྦྱངས་པ་ནི་ལུས་དང་སེམས་ལས་སུ་རུང་བ་གང་ཡིན་པའོ། །ཏིང་ངེ་འཛིན་ནི་སེམས་རྩེ་གཅིག་པ་ཉིད་དོ། །བཏང་སྙོམས་ནི་སེམས་དང་སེམས་ལས་བྱུང་བ་རྣམས་རྣལ་དུ་འདུག་པ་དང་ལྷུན་གྱིས་གྲུབ་པར་འཇུག་པ་གང་ཡིན་པའོ། །ཆོས་བདུན་པོ་དེ་དག་ནི་བྱང་ཆུབ་ཟག་པ་མེད་པའི་ཡེ་ཤེས་ཀྱི་ཡན་ལག་ཏུ་གྱུར་པའི་ཕྱིར། བྱང་ཆུབ་ཀྱི་ཡན་ལག་ཅེས་བྱ་སྟེ་འཁོར་དུ་གྱུར་པའི་ཕྱིར་རོ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །དགེ་ཚོགས་[7]ལགས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་དགེ་བའི་རྒྱུ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །ཤེས་རབ་མེད་ལ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་ཆོས་གཞན་གཉིས་པོ་འདི་ལྟ་སྟེ། བསམ་གཏན་དང་ཤེས་རབ་དག་མངོན་དུ་གྱུར་པས། སྐྱ

---

[1] མི་རྒ་བའོ། ཅོ། སྣ། གསེར།

[2] མ་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[3] པའི་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[4] ཕྱིར་མེད་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[5] དེ་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[6] མངོན་སུམ་ ཅོ། སྣ། གསེར།

[7] སོགས་ ཅོ། སྣ། གསེར།

ངན་ལས་འདས་པ་འཐོབ་པར་སྟོན་ཏེ། དེ་གཉིས་ཟུང་དུ་འབྲེལ་པས་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ཐོབ་པར་འགྱུར་ལ། དེ་གཉིས་ནི་ཕན་ཚུན་གྱི་སྟོབས་ཀྱིས་འགྲུབ་པར་སྟོན་ཏོ།།

ཤེས་རབ་མེད་ལ་བསམ་གཏན་ཡོད་མིན་ཏེ། །ཞེས་བྱ་བ་ནི་གང་ཞིག་བསམ་གཏན་ལེགས་པར་བསྐྱེད་[1]མི་ཤེས་པ་དེ་ནི་འདིར་ཤེས་རབ་མེད་པ་ཡིན་པར་དགོངས་པ་ཡིན་ཏེ[2]། དེ་ལ་ནི་བསམ་གཏན་མི་འགྲུབ་བོ། །**བསམ་གཏན་མེད་པར་ཡང་ནི་ཤེས་རབ་མེད།** །ཞེས་བྱ་བ་ནི་བསམ་གཏན་མེད་པར་ཡང་གང་གི་[3]ཆོས་རྣམས་ཇི་ལྟ་བ་བཞིན་ཤེས་པར་འགྱུར་བའི་ཤེས་རབ་མེད་དེ། སེམས་མཉམ་པར་གཞག་པས་ཡང་དག་པ་ཇི་ལྟ་བ་བཞིན་དུ་[4]ཤེས་སོ་ཞེས་འབྱུང་བའི་ཕྱིར་རོ། །གང་ལ་དེ་གཉིས་ཀ་ཡོད་པ་དེ་འཁོར་བ་གནག་རྗེས་ལྟ་བུར་རིག་པར་བྱའོ། །རྣམ་པ་གཅིག་ཏུ་ན་གང་ལ་སྐྱེས་ནས་ཐོབ་པའི་[5]ཤེས་རབ་མེད་པ་དེ་ལ་བསམ་གཏན་མི་འགྲུབ་ལ། བསམ་གཏན་མེད་པར་ཡང་བསྒོམས་པ་ལས་བྱུང་བའི་ཤེས་རབ་མི་འགྲུབ་ཀྱི་གང་ལ་ཤེས་རབ་དང་བསམ་གཏན་དེ་གཉི་ག་ཡོད་ལ་དེའི་འཁོར་བ་གནག་རྗེས་ལྟ་བུར་རིག་པར་སྟེ། སྨུར་བ་ཁོ་ནར་བཅལ་བར་ནུས་པའི་ཕྱིར་རོ།།

ད་ནི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་འཐོབ་པར་བྱེད་པའི་ཆོས་འདི་རྣམས་ཀྱི་བར་ཆད་དུ་གྱུར་པ་བསམ་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་[6]པའི་གནས་ལ་སེམས་པ། དེ་ལས་བཟློག་པའི་ཕྱིར་**ལུང་མ་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ།** །དེ་བཞིན་གཤེགས་པས་ལུང་དུ་མ་བསྟན་པའི་དངོས་པོ་

---

[1] སྐྱེ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] པ་ཡིན། པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[3] གིས་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] དུ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] པར་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] བསམ་པར་མི་བྱེད་ པེ། སྣ། གསེར།

བཅུ་བཞི་གསུངས་པ་བཅུ་བཞི་གང་ཞེ་ན། འདི་ལྟ་སྟེ། འཇིག་རྟེན་རྟག་པ་དང་། འཇིག་རྟེན་མི་རྟག་པ་དང་། རྟག་པ་ཡང་ཡིན་མི་རྟག་པ་ཡང་ཡིན་པ་དང་། རྟག་པ་ཡང་མ་ཡིན་མི་རྟག་པ་མ་ཡིན་པ་དང་། འཇིག་རྟེན་མཐའ་དང་ལྡན་པ་དང་། འཇིག་རྟེན་མཐའ་དང་མི་ལྡན་པ་དང་། མཐའ་དང་ལྡན་པ་ཡང་ཡིན་མཐའ་དང་མི་ལྡན་པ་ཡང་ཡིན་པ་དང་། མཐའ་དང་ལྡན་པ་ཡང་མ་ཡིན་མཐའ་དང་མི་ལྡན་པ་ཡང་མ་ཡིན་པ་དང་། དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཤི་ཕན་ཚད་ཡོད་པ་དང་། དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཤི་[1]ཕན་ཚད་མེད་[2]པ་དང་། དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཤི་ཕན་ཚད་ཡོད་ཀྱང་ཡོད་ལ་མེད་ཀྱང་མེད་པ་[3]དང་། དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཤི་ཕན་ཚད་ཡོད་པ་ཡང་མ་ཡིན་མེད་པ་ཡང་མ་ཡིན་པ་དང་། སྲོག་གང་ཡིན་པ་དེ་ལུས་ཡིན་པ་དང་། སྲོག་ཀྱང་གཞན་ལ་ལུས་ཀྱང་གཞན་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ། །དངོས་པོ་བཅུ་བཞི་པོ་འདི་དག་ནི་དྲིས་ན་ལུང་མི་བསྟན་པར་བྱ་བ་ཡིན་པའི་ཕྱིར་ལུང་དུ་མ་བསྟན་པ་ཞེས་བཤད་དེ། འདི་[4]ཉིད་གཞག་པར་བྱ་བའི་དྲི་བ་ཡིན་པར་བསྟན་ཏོ། །གནས་འདི་དག་ནི་[5]བསམ་པར་བྱ་བ་ཡང་མ་ཡིན་ནོ། །དེ་[6]ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། དེ་[7]ཡིས་བློ་ནི་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །འདི་སྐད་དུ་གང་ཞིག

---

[1] མ་ཤི་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] ཡོད་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཤི་ཕན་ཚད་ཡོད་ཡང་ཡིན་མེད་པ་ཡང་ཡིན་པ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་དཔར་མ་རྣམས་སུ་འདི་ལྟར་གསལ།

[4] དེ་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] ནི་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[6] དེ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[7] འདི་ པེ། སྣ། གསེར།

བསམས་ན་ཕན་པ་ཐོབ་པའམ། བདེ་བ་ཐོབ་པར་འགྱུར་བ་དེ་[1]བསམ་པར་བྱ་བ་ཡིན་ན་གནས་འདི་དག་ནི་[2]བསམས་པས་ནི་སེམས་ཞི་བར་སྐྱེད་པར་མི་འགྱུར་བས་བསམ་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བཤད་པ་ཡིན་ནོ།།

དེ་ལྟར་བསམ་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་པའི་གནས་ཡོངས་སུ་སྤང་བར་བཤད་ནས་གང་ཞིག་བསམས་ན་བྱང་ཆུབ་ཀྱི་ཕྱོགས་དང་མཐུན་པ་འདི་རྣམས་སྐྱེ་བར་འགྱུར་བ་དེ་ལ་སེམས་ཉེ་བར་གཏད་པར། **མ་རིག་[3]པ་ལས་ལས་ཏེ་**ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་[4]རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བའི་ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་སྟོན་ཏེ། འདི་དག་གི་དོན་ནི་མདོའི་རྗེས་སུ་འབྲངས་ནས་ཁོང་དུ་ཆུད་པར་བྱའོ། །དེ་ལ་མདོ་ནི་འདི་ཡིན་ཏེ། མ་རིག་པའི་རྐྱེན་གྱིས་འདུ་བྱེད། འདུ་བྱེད་ཀྱི་རྐྱེན་གྱིས་རྣམ་པར་ཤེས་པ། རྣམ་པར་ཤེས་པའི་རྐྱེན་གྱིས་མིང་དང་གཟུགས། མིང་དང་གཟུགས་ཀྱི་རྐྱེན་གྱིས་སྐྱེ་མཆེད་དྲུག སྐྱེ་མཆེད་དྲུག་གི་རྐྱེན་གྱིས་རེག་པ། རེག་པའི་རྐྱེན་གྱིས་ཚོར་བ། ཚོར་བའི་རྐྱེན་གྱིས་སྲེད་པ། སྲེད་པའི་རྐྱེན་གྱིས་ལེན་པ། ལེན་པའི་རྐྱེན་གྱིས་སྲིད་པ། སྲིད་པའི་རྐྱེན་གྱིས་སྐྱེ་བ། སྐྱེ་བའི་རྐྱེན་གྱིས་རྒ་བ་དང་འཆི་བ་དང་མྱ་ངན་དང་སྨྲེ་སྔགས་འདོན་པ་དང་སྡུག་བསྔལ་བ་དང་[5]ཡིད་མི་བདེ་བ་དང་། འཁྲུག་པ་རྣམས་འབྱུང་སྟེ། དེ་ལྟར་ན་སྡུག་བསྔལ་གྱི་ཕུང་པོ་ཆེན་པོ་འབའ་ཞིག་པོ་འདི་འབྱུང་བར་འགྱུར་རོ།།

དེ་ལྟར་ལུགས་དང་མཐུན་པའི་དབང་དུ་བྱས་ཏེ་བཤད་ནས་ལུགས་ལས་བཟློག་པའི་དབང་དུ་བྱས་ནས། **སྐྱེ་བ་འགགས་པས་འདི་ཀུན་འགག་པར་འགྱུར།** །ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ།

---

[1] དེ་བས་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] ནི་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[3] མི་ཤེས པེ། སྣ། གསེར།

[4] ནི་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] སྡུག་བསྔལ་བ་དང་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

སྐྱེ་བ་འགགས་པས་ན་བ་དང་འཆི་བ་དང་མྱ་ངན་དང་སྨྲེ་སྔགས་འདོན་པ་ལ་སོགས་པའི་ཆོས་རྣམས་འགག་པར་འགྱུར་ཏེ། དེ་ལྟར་ན་སྡུག་བསྔལ་གྱི་ཕུང་པོ་ཆེན་པོ་འབའ་ཞིག་པོ་[1]འདི་འགག་པར་འགྱུར་ཏེ[2]། སྐྱེ་བ་འགགས་པས་[3]ནི་སྲིད་པ་འགག་པར་[4]འགྱུར་ལ། མ་རིག་པ་འགགས་པས་[5]འདུ་བྱེད་འགག་པའི་བར་དུ་འགྱུར་རོ།།

མ་རིག་པ་གང་ཞེ་ན། མདོ་ཉིད་ལས་གང་**སྔོན་གྱི་མཐའ་མི་ཤེས་པ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་**སོགས་པ་བསྟན་ཏོ། །འདིར་མདོར་བསྡུ་བ་ནི་འདི་ཡིན་ཏེ། བདེན་པ་རྣམས་མི་ཤེས་པ་ནི་དོན་དམ་པར་མ་རིག་པ་ཡིན་ནོ། །མི་ཤེས་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཤེས་པའི་མི་མཐུན་པའི་ཕྱོགས་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ། །ཕྱིས་པ་མ་རིག་པ་དེ་དང་ལྡན་པའི་ལས་དགེ་བ་དང་མི་དགེ་བ་དང་མི་གཡོ་བ་ནི་མ་རིག་པའི་རྐྱེན་གྱིས་འདུ་བྱེད་རྣམས་ཡིན་ནོ། **།མདོ་ལས་ནི་ལུས་ཀྱི་འདུ་བྱེད་དང་། ངག་གི་འདུ་བྱེད་དང་། ཡིད་ཀྱི་འདུ་བྱེད་རྣམས་ཞེས་གསུངས་སོ།**[6] །དེ་སྐད་དུ་གསུངས་མོད་ཀྱི། དོན་ཀྱང་འདིར་ནི་ལུས་དང་ངག་དང་ཡིད་ཀྱི་ལས་སྨོས་པ་ཁོ་ནར་རིག་པར་བྱའོ། །ལས་དེའི་ས་བོན་གང་ཡིན་པ་དེས་བསྒོས་པའི་སེམས་ནི་འདུ་བྱེད་ཀྱི་རྐྱེན་གྱིས་རྣམ་པར་ཤེས་པ་ཡིན་ནོ། །མདོ་ལས་ནི་འབྲས་བུ་རྒྱས་བསྟན་པའི་དབང་དུ་མཛད་ནས། **རྣམ་**

---

[1] པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] འགྱུར་རོ། པེ། སྣ། གསེར།

[3] པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] པ་ལས་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] པ་ལས་ པེ། སྣ། གསེར།

[6] རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བ་དང་པོ་དང་རྣམ་པར་དབྱེ་བ་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་མདོ། toh: 211
མདོ་སྡེ། ཚ། ཤོག ༡༢༣

པར་ཤེས་པའི་ཚོགས་དྲུག་གོ་ཞེས་གསུངས་ཏེ།[1] དཔེར་ན་ཆེ་དང་ལྡན་པ་ཁྱོད་ཀྱི་དབང་པོ་རྣམས་ནི་རབ་ཏུ་དངས་ཞེས་བྱ་བ་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ། །དེ་བཞིན་དུ་རྣམ་པར་སྨིན་པའི་རྣམ་པར་ཤེས་པ་ནི་ཕྲ་བ་ཉིད་ཀྱིས་རང་གི་ངོ་བོ་བསྟན་པར་བྱ་བ[2]མ་ཡིན་ཏེ། འབྲས་བུ་བསྟན་པར་མཛད་དོ། །རྣམ་པར་ཤེས་པ་དེ་ཡང་འདུ་བྱེད་རྣམས་ཀྱིས་རིམ་པ་གང་གིས་མིང་དང་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་མངོན་པར་འགྲུབ་པར་བྱེད་པ་འཕངས་པའི་རིམ་པ་དེ་ཕོ་ནས་རྒྱུན་དུ་གྱུར་པའི་ཕྱིར། རྣམ་པར་ཤེས་པའི་རྒྱུན་གྱིས་མིང་དང་གཟུགས་ཞེས་བྱ་བ་ནས་རིག་པའི་རྒྱུན་གྱིས་ཚོར་བ་ཞེས་བྱ་བའི་བར་གྱིས[3]བཤད་དོ།།

མིང་དང་གཟུགས་གང་ཞེ་ན། མའི་མངལ་དུ་ཉིང་མཚམས་སྦྱོར་བའི་གནས་སྐབས་ནས་ཚོར་བ་ལ་སོགས་པ་གཟུགས་ཅན་ཡང[4]མ་ཡིན་པའི་ཕུང་པོ་བཞི་དང་། འབྱུང་བ་དང་རྒྱུར་བྱས་པའི་གཟུགས་ཏེ་ཅི་རིགས་པར་སྦྱར་རོ། །དེ་ཉིད་ནུར་ནུར་པོ་ཞེས་བྱ་སྟེ། རིམ་གྱིས་ནི་མེར་མེར་པོ་ལ་སོགས་པའི་ཐ་སྙད་ཀྱང་འཐོབ་བོ། །དེ་ལ་ཕུང་པོ་བཞི་ནི་ཡང་སྲིད་པར་འཕྲིད་པའི་ཕྱིར་དང་ཡུལ་ལ་འགྲོ་བའི་ཕྱིར་དང་མིང་ཉིད་ཡིན་ནོ། །འབྱུང་བ་དང་རྒྱུར་བྱས་པ་ནི་གྲང་བ་ལ་སོགས་པས་འགྱུར་བ་སྐྱེད་པའི་ཕྱིར་གཟུགས་ཉིད་ཡིན་ནོ། །མིང་དང་གཟུགས་དེ་ཉིད་རྣམ་པར་འཕེལ་བའི་རིམ་གྱིས་མིག་ལ་སོགས་པ་སྐྱེ་བའི་གནས་སྐབས་ནི་སྐྱེ་

---

[1] རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བ་དང་པོ་དང་རྣམ་པར་དབྱེ་བ་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་མདོ། toh: 211 མདོ་སྡེ། ཚ། ཤོག ༡༢༣

[2] པར་བྱ་བ་ ཐེ། སྣར། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[3] གྱིས་ ཐེ། སྣར། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[4] ཡང་ ཐེ། སྣར། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

མཆེད་དྲུག་གི་རྐྱེན་དུ་འགྱུར་ཏེ། གནས་སྐབས་དེ་ནི་[1]སྐྱེ་མཆེད་དྲུག་རྫོགས་པར་འགྱུར་བས་སོ། །སྐྱེ་མཆེད་དྲུག་ཉིད་ནི་སེམས་དང་སེམས་ལས་བྱུང་བ་རྣམས་སྐྱེ་བའི་སྒོའི་དོན་གྱིས་སོ།། སྐྱེ་མཆེད་དྲུག་པོ་དེ་དག་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པ་དང་། ཡུལ་ཡང་མངོན་དུ་གྱུར་པ་ལས་རེག་པ་སྐྱེ་སྟེ། རྟེན་གྱི་བྱེ་བྲག་གིས་རྣམ་པ་དྲུག་ཕོ་ནའོ། །བདེ་བ་སྐྱོང་བར་འགྱུར་བ་ལ་སོགས་པའི་རེག་པ་ཙི་འདྲ་བ་དེ་དང་འདྲ་བར་བདེ་བ་དང་སྡུག་བསྔལ་བ་[2]དང་། བདེ་བ་ཡང་མ་ཡིན་སྡུག་བསྔལ་བ་[3]ཡང་མ་ཡིན་པའི་ཚོར་བ་སྐྱེའོ། །དེ་ལྟར་ན་འདུ་བྱེད་རྣམས་ཀྱིས་འཕངས་པའི་ཡན་ལག་སྲིད་པ་དང་ལེན་པས་མངོན་པར་བསྒྲན་པ་ནི་འཆི་བའི་དུས་ནི་[4]སྲིད་པར་འགྱུར་རོ།།

དེ་ནས་ཅི་ལྟར་འཕངས་པའི་རིམ་གྱིས་སྐྱེ་བར་ཡང་འགྱུར། རྒ་བར་ཡང་འགྱུར་རོ།། འཆི་བར་ཡང་འགྱུར་རོ། །དེ་ལ་སྲིད་པ་གང་ཞེ་ན། ཚོར་བ་བདེ་བ་ལ་ནི་མི་འབྲལ་བར་འདོད། སྡུག་བསྔལ་ནི་འབྲལ་བར་འདོད། བདེ་བ་ཡང་མ་ཡིན་སྡུག་བསྔལ་ཡང་མ་ཡིན་པ་ལ་དེ་[5]གཉི་གར་མི་འདོད་པ་གང་ཡིན་པ་སྟེ། དེ་ཡང་མདོ་ལས་འདོད་པ་དང་གཟུགས་དང་གཟུགས་མེད་པ་ན་སྤྱོད་པའི་བྱེ་བྲག་གིས་རྣམ་པ་གསུམ་དུ་བསྟན་ཏོ།[6] །ལེན་པ་གང་ཞེ་ན། འདོད་པ་ལ་སོགས་པ་ལ་འདུན་པའི་འདོད་ཆགས་གང་ཡིན་པའོ། །མདོ་ལས་ནི་དམིགས་པའི་

---

[1] ན་ པེ། སྣ། གསེར།
[2] བ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།
[3] བ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།
[4] ན་ པེ། སྣ། གསེར།
[5] དེ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[6] རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བ་དང་པོ་དང་རྣམ་པར་དབྱེ་བ་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་མདོ། toh: 211 མདོ་སྡེ། ཚ། ཤོག ༡༢༣

བྱེ་བྲག་གིས་འདོད་པ་ཉེ་བར་ལེན་པ་དང་། ལྟ་བ་ཉེ་བར་ལེན་པ་དང་། ཚུལ་ཁྲིམས་དང་བརྟུལ་ཞུགས་ཉེ་བར་ལེན་པ་དང་། བདག་ཏུ་ལྟ་བ་ཉེ་བར་ལེན་པ་ཞེས་བྱ་བ་རྣམ་པ་བཞིར་བསྟན་ཏེ།[1] འདུན་པའི་འདོད་ཆགས་དེས་འདོད་པ་ལ་སོགས་པ་ཉེ་བར་བླངས་པར་འགྱུར་བས་སོ། །སྲིད་པ་དང་ལེན་པ་དག་ལ་ཁྱད་པར་ཅི་ཡོད་ཅེ་ན། ཁྱད་པར་མེད་པར་ཡང་སྲིད་པ་མངོན་པར་འདོད་པ་ནི་སྲིད་པའོ། །ཁྱད་པར་དུ་མངོན་པར་འདོད་པ་ལ་ནི་ལེན་པའོ།།

ཡང་ན་རིང་བའི་རྒྱུ་ནི་སྲིད་པ་ཡིན་ལ། ཉེ་བར་རྒྱུ་ནི་ལེན་པ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ། །འདུ་བྱེད་ཀྱི་ས་བོན་སྲིད་པ་དང་ལེན་པས་མངོན་པར་བཀྲན་པ་དེ་ཉིད་འབྲས་བུ་སྐྱེད་པར་མངོན་དུ་ཕྱོགས་པ་ནི་སྲིད་པ་ཞེས་བྱའོ། །མདོ་ལས་ནི་འདོད་པའི་སྲིད་པ་དང་། གཟུགས་ཀྱི་སྲིད་པ་དང་། གཟུགས་མེད་པའི་སྲིད་པ་ཞེས་གསུངས་སོ།[2] །དེ་སྐད་གསུངས་མོད་ཀྱི། འོན་ཀྱང་འདིར་ནི་འདས་པའི་སྲིད་པ་ཁོ་ན་ཡིན་པར་བཤད[3]དོ། །སྲིད་པའི་མཇུག་ཐོགས་སུ་སྐྱེ་བ་ཡིན་ཏེ། མིང་དང་གཟུགས་ཀྱི[4]རིམ་གྱིས་ཚོར་བའི་བར་ཡིན་ནོ། །སྐྱེས་ནས་ནི་ཀ་བ་དང་། འཆི་བ་ལ་སོགས་པར་འགྱུར་རོ། །དེ་ལྟར་ན་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ནི་ཇི་སྐད་བཤད་པའི་རིམ་གྱིས་སྡུག་བསྔལ་གྱི་ཚོགས་བདག་མེད་པ་འདི་འབྱུང་བར་འགྱུར་བ་ཡིན་ཏེ། མདོ་ལས་ནི་སྐྱེ་བ་ལ་སོགས་པ་རྣམ་གྲངས་ཙམ་ཁོ་ནས་བསྟན་པར་མཛད་དོ།།

---

[1] རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བ་དང་པོ་དང་རྣམ་པར་དབྱེ་བ་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་མདོ། toh: 211
མདོ་སྡེ། ཚ། ཤོག ༡༢༣

[2] རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བ་དང་པོ་དང་རྣམ་པར་དབྱེ་བ་བསྟན་པ་ཞེས་བྱ་བའི་མདོ། toh: 211
མདོ་སྡེ། ཚ། ཤོག ༡༢༣

[3] བཞེད་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཀྱིས་ པེ། སྣ། གསེར།

དེ་ལྟར་ན་འདིར་རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་པར་འབྱུང་བའི་ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་མདོར་བསྡུས་ནས་ཡན་ལག་བཞིར་རྣམ་པར་གཞག་པ་མཛད་པར་རིག་པར་བྱ་སྟེ། འདི་ལྟ་སྟེ། དཔེར་ན། འཕེན་པར་བྱེད་པའི་ཡན་ལག་དང་། འཕངས་པའི་ཡན་ལག་དང་། མངོན་པར་འགྲུབ་པར་བྱེད་པའི་ཡན་ལག་དང་། མངོན་པར་འགྲུབ་པར་བྱེད་པའི་ཡན་ལག་གོ །

ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་མདོར་བསྡུས་ནས།།
ཡན་ལག་བཞིར་ནི་བགྲངས་[1]པ་སྟེ།།
གསུམ་དང་བཞི་དང་གསུམ་དང་ནི།།
གཉིས་པོ་དག་སྟེ་གོ་རིམས་བཞིན།། [2]

དེ་ལྟར་ན་རེ་ཞིག་སྐྱེ་བ་གཉིས[3]རྣམ་པར་གཞག་པའི་དབང་དུ་མཛད་ནས་བཤད་པ་ཡིན་ན། མདོ་ལས་ནི་མ་རིག་པ་དང་། འདུ་བྱེད་འདི་ནི་སྔོན་གྱི་མཐའ་པའི་འཕེན་པར་བྱེད་པ་ཡིན་ནོ་ཞེས་འབྱུང་བའི་ཕྱིར། ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་སྐྱེ་བ་གསུམ་དུ་རྣམ་པར་འཇོག་པར་མཛད་དེ། དེ་ལ་མ་རིག་པ་དང་འདུ་བྱེད་ནི་འདས་པའི་སྐྱེ་བའོ། །རྣམ་པར་ཤེས་པ་ནས་སྲིད་པའི་བར་དུ་[4]ནི་ད་ལྟར་བྱུང་བའི་སྐྱེ་བའོ། །སྐྱེ་བ་དང་ཀ་ཤི་ནི་མ་འོངས་པའི་སྐྱེ་བའོ། །དེ་ལ་འདས་པའི་སྐྱེ་བ་ནི་མ་རིག་པའི་རྐྱེན་གྱིས་[5]འདུ་བྱེད་བྱས་པ་རྣམས་ཀྱིས་སྐྱེ་བ་འདི་ལ་ཉིང་མཚམས་སྦྱོར་བའི་རྣམ་པར་ཤེས་པ་ནས་གཟུང་སྟེ། ཚོར་བའི་བར་གྱི་རྣམ་པར་སྨིན་པ་འགྲུབ་

---

[1] བསྒྲགས་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] མངོན་པ་ཀུན་ལས་བཏུས་པ། toh: 4049 སྡེ་བསྟན། སེམས་ཙམ། རི། སོག་

[3] ཉིད་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] དུ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] གྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

ལ། ད་ལྟར་བྱུང་བའི་སྲིད་པ་དང་། ལེན་པ་དང་། སྲིད་པ་རྣམས་ཀྱིས་མ་འོངས་པའི་སྐྱེ་བ་ལ་སོགས་བསྐྱེད་དོ་ཞེས་བྱ་བར་རིག་པར་བྱའོ།།

སྐྱེ་བ་གསུམ་དུ་རྣམ་པར་གཞག་པ་འདིའི་དགོས་པ་ནི་སྔོན་དང་ཕྱི་མའི་མཐའ་དང་བར་དག་ལ་ཀུན་དུ་རྨོངས་པ་རྣམ་པར་བཟློག་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་སྐད་དུ་གསུངས་མོད་ཀྱི། འོན་ཀྱང་མ་རིག་པའི་རྐྱེན་གྱིས་འདུ་བྱེད་རྣམས་ཀྱིས་སྐྱེ་བ་སྐྱེད་པའི་དུས་ན་སྲིད་པ་དང་ལེན་པ་དང་སྲིད་པ་དག་ཀྱང་ཡོད་པ་ཁོ་ན་ཡིན་ལ། སྲིད་པ་དང་ལེན་པ་དང་སྲིད་པ་དག་གིས་མ་འོངས་པའི་སྐྱེ་བ་སྐྱེད་པར་བྱེད་པ་དེ་ཡང་མ་རིག་པའི་རྐྱེན་གྱིས་འདུ་བྱེད་དོ། །མིང་དང་གཟུགས་ལ་སོགས་པ་ལས་གཞན་པའི་སྐྱེ་བ་ལ་སོགས་པ་ཡང་ཡོད་པ་མ་ཡིན་པས་དེ་དག་ཉིད་རྣམ་པ་གཞན་གྱིས་བཤད་པ་ཡིན་ཏེ། དེ་ལྟ་བས་ན་སྐྱེ་བ་གཉིས་སུ་རྣམ་པར་གཞག་པ་ཡང་མི་འགལ་བ་ཁོ་ན་ཡིན་ནོ། །རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བ་དེ་ནི་ལམ་གསུམ་དུ་རིག་པར་བྱ་སྟེ། འདི་ལྟ་སྟེ་མ་རིག་པ་དང་སྲིད་པ་དང་ལེན་པ་རྣམས་ནི་ཉོན་མོངས་པའི་ལམ་ཡིན་ནོ། །འདུ་བྱེད་དང་སྲིད་པ་ནི་ལས་ཀྱི་ལམ་ཡིན་ནོ[1]། །ཡན་ལག་ལྷག་མ་རྣམས་ནི་རྣམ་པར་སྨིན་པའི་ལམ་སྟེ་སྤྲོས་པས་ཆོག་གོ[2] །

དཀྲུས་མ་བརྗོད་པར་བྱ་སྟེ། རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་འདི་རྒྱལ་བ་ཡི[3]། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར[4]འབྱུང་བའི་བསྡུགས་པ་ཡིན་ནོ། །རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བ་འདི་ནི་དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་གསུང་གི་གཙེས་པར་གྱུར་པ་ཡིན་ཏེ། འདི་ལྟར་

---

[1] ལམ་མོ། པེ། སྣ། གསེར།

[2] གོ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[3] ཡིས། པེ། སྣ། གསེར།

[4] འབྲེལ་བར་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

གང་གིས་འདི་ལེགས་པར་ཤེས་པ་དེས་དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་བསྟན་པ་ཡང་དག་པར་རྟོགས་པ་ཡིན་ནོ། །ཟབ་མོ་སྟེ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཟབ་མོ་ཉིད་ཁོ་ན་སྟོན་པར་བྱེད་པ་ཡིན་ནོ། །གང་གིས་**འདི་ནི་ཡང་དག་མཐོང་།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་ཟག་པ་མེད་པའི་ཡེ་ཤེས་བླ་ན་མེད་པས་ཐུགས་སུ་ཆུད་པར་བྱ་བ་ཉིད་ཀྱིས་[1]ཟབ་པ་ཉིད་དུ་སྟོན་པར་[2]ཡིན་ནོ། །རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་པར་འབྱུང་བ་ཤེས་པས་དེ་ཤེས་ན། རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་པར་འབྱུང་བ་ཟབ་མོ་ཉིད་དུ་བཤད་པ་ཡིན་ཏེ། ཇི་སྐད་དུ་དགེ་སློང་དག་གང་གིས་སཱ་ལུའི་ལྗང་པ་འདི་ཤེས་པ་དེས་རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་པར་འབྱུང་བ་ཤེས་སོ། །གང་གིས་རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་པར་འབྱུང་བ་ཤེས་པ་དེས་ཆོས་ཤེས་སོ། །གང་གིས་ཆོས་ཤེས་པ་དེས་སངས་རྒྱས་ཤེས་སོ་ཞེས་གསུངས་པ་ལྟ་བུ་ཡིན་ནོ། །ཡང་ན་གང་གིས་འདི་ནི་ཡང་དག་མཐོང་། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་རྒྱལ་བའི་གསུང་གི་མཛོད་ཀྱི་གཅེས་པ་ཉིད་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །ཟབ་པ་ཉིད་ནི་རང་གིས་མ་བྱས་པ་དང་། གཞན་གྱིས་མ་བྱས་པ་དང་། གཉི་གས་མ་བྱས་[3]པ་དང་། རྒྱུ་མེད་པ་ལས་བྱུང་བ་མ་ཡིན་པ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར་རིག་པར་བྱའོ། །འདི་ལྟར་རང་ལས་ཀྱང་མི་སྐྱེ། གཞན་ལས་ཀྱང་མ་ཡིན། གཉི་ག་ལས་ཀྱང་མ་ཡིན། རྒྱུ་མེད་པ་ལས་ཀྱང་མི་སྐྱེའོ།[4] །འོན་ཀྱང་མ་

---

[1] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཡིན་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] བདག་ལས་མ་ཡིན་གཞན་ལས་མིན།།
གཉིས་ལས་མ་ཡིན་རྒྱུ་མེད་མིན།།
དངོས་པོ་གང་དག་གང་ན་ཡང་།།
སྐྱེ་བ་ནམ་ཡང་ཡོད་མ་ཡིན།།

—བུ་མ་རྩ་བའི་འགྲེལ་པ་ཚིག་གསལ་ཞེས་བྱ་བ། toh: 3860 དབུ་མ། འ། ཤོག ༥

རིག་པའི་རྐྱེན་གྱིས་འདུ་བྱེད་རྣམས་ཏེ། ལྷག་མ་རྣམས་ཀྱང་དེ་དང་འདྲའོ། །རྣམ་པ་གཅིག་ཏུ་ན་མ་རིག་པ་ཡང་འདི་སྙམ་དུ་བདག་གིས་འདུ་བྱེད་རྣམས་བསྐྱེད་པར་བྱའོ་སྙམ་དུ་མི་སེམས། འདུ་བྱེད་རྣམས་ཀྱང་འདི་སྙམ་དུ་བདག་ཅག་ནི་མ་རིག་པས་བསྐྱེད་དོ་[1]སྙམ་དུ་མི་སེམས་ལ། མ་རིག་པ་མེད་པར་[2]ཡང་འདུ་ཤེས་[3]རྣམས་འབྱུང་བར་མི་འགྱུར་ཞེས་[4]བྱ་བ་ཡང་སྟོན་ལ་བྱེད་པ་པོ་ནི་མི་དམིགས་ཏེ། དེ་ལྟར་ན་རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་པར་འབྱུང་བ་ཟབ་པ་ཉིད་དུ་རིག་པར་བྱའོ།།

དེ་ལྟར་རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་པར་འབྱུང་བ་ལ་མཁས་པས་འཕགས་པའི་བདེན་པ་བཞི་ལ་དམིགས་པའི་ལམ་བསྒོམ་པར་ནུས་སོ་ཞེས་བསྟན་པའི་ཕྱིར། ཡང་དག་ལྟ་དང་འཚོ་དང་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །དེ་ལ་ཡང་དག་པའི་ལྟ་བ་ནི་ཟག་པ་མེད་པའི་ཤེས་རབ་བོ། །ཡང་དག་པའི་འཚོ་བ་ནི་ཁ་གསག་དང་ལོག་པའི་འཚོ་བ་སྤང་བའོ། །ཡང་དག་པའི་རྩོལ་བ་ནི་བརྩོན་འགྲུས་ཏེ། དེ་ཡང་དག་པར་སྤང་བ་བཞིའོ། །ཡང་དག་པའི་དྲན་པ་ནི། དམིགས་པ་མ་[5]བརྗེད་པའོ། །དེ་ཡང་དྲན་པ་ཉེ་བར་གཞག་པ་བཞི་པོ་ལུས་དང་། ཚོར་དང་སེམས་དང་ཆོས་ལ་དམིགས་པ་རྣམས་ཡིན་ཏེ། དྲན་པ་ཉིད་[6]དྲན་པ་ཉེ་བར་འཇོག་པ་ནི་དྲན་པ་ཉེ་བར་གཞག་པ་ཉིད་ཡིན་པས་སོ། །གང་དག་འདིས་དྲན་པ་ཉེ་བར་འཇོག་པས་ཞེས་འཆད་པ་དེ་དག་

---

[1] བསྐྱེད་པའོ་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] འདུ་བྱེད་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཞེས་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] མ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[6] དྲན་པ་ཉིད་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

གི་གཞུང་ལུགས་ཀྱིས་ནི་དྲན་པ་ཉེ་བར་གཞག་པ་ཤེས་རབ་ཡིན་ནོ། །ཡང་དག་པའི་[1]ཏིང་ངེ་འཛིན་ནི་[2]བསམ་གཏན་བཞི་པའོ[3]། །ཡང་དག་པའི་ངག་ནི་ངག་གི་དགེ་བའི་ལས་ཀྱི་ལམ་བཞིའོ། །ཡང་དག་པའི་ལས་ཀྱི་མཐའ་ནི་ལུས་ཀྱི་མི་[4]དགེ་བའི་ལས་ཀྱི་ལམ་སྤོང་པའི་རང་བཞིན་གསུམ་མོ། །ཡང་དག་པའི་རྟོག་པ་ནི་གནོད་སེམས་མེད་པའི་རྟོག་པ་དང་། ངེས་པར་འབྱུང་བའི་རྟོག་པ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྟེ། དགེ་བའི་རྟོག་པ་རྣམ་པ་དུ་མ་ནི་ཡང་དག་པའི་རྟོག་པའོ། །འཕགས་པའི་ལམ་གྱི་ཡན་ལག་བརྒྱད་པོ་འདི་ནི་ཞི་བར་བགྲོ་བའི་སླད་དུ་སྟེ། མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ཐོབ་[5]པར་བྱ་བའི་ཕྱིར་བསྒོམ་པར་བགྱིའོ།།

འདི་ནི་འཕགས་པའི་ལམ་འདིའི་དམིགས་པར་གྱུར་[6]། འཕགས་པའི་བདེན་པ་བཞི་བསྟན་པའི་ཕྱིར། སྐྱེ་འདི་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་[7]སོ། །བཞི་གང་ཞེ་ན་འདི་ལྟ་སྟེ། སྡུག་བསྔལ་གྱི་བདེན་པ་དང་། ཀུན་འབྱུང་གི་བདེན་པ་དང་། འགོག་པའི་བདེན་པ་དང་། ལམ་གྱི་བདེན་པའོ། །སྡུག་བསྔལ་གྱི་བདེན་པ་གང་ཞེ་ན། སྐྱེ་བའི་སྡུག་བསྔལ་ཞེས་བྱ་བ་[8] སྨོས་ཏེ། མདོར་ན་ཉེ་བར་ལེན་པའི་ཕུང་པོ་ལྔ་སྡུག་བསྔལ་བའོ་[9]ཞེས་འབྱུང་བའི་ཕྱིར་ཉེ་བར་

---

[1] པར་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] ནི་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[3] ཞིའོ། པེ། སྣ། གསེར།

[4] མི་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] པ་ཐོབ་ པེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[6] གྱུར་པ། པེ། སྣ། གསེར།

[7] གསུངས་ པེ། སྣ། གསེར།

[8] ཞེས་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[9] ཆོས་མངོན་པ་ཀུན་བཏུས། toh: 4049 སྡེ་བསྟན། སེམས་ཙམ། རི། ཤོག་ ༧༤-༧༥

ལེན་པའི་ཕུང་པོ་ལྔའི་མཚན་ཉིད་ཀྱི་སྐྱེ་བ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་སྡུག་བསྔལ་གྱི་བདེན་པ་ཡིན་ནོ། །སྐྱེ་བ་དེ་ཡང་འདུ་བྱེད་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ་ཉིད་ཀྱིས་སྡུག་བསྔལ་བ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱ་སྟེ། དེ་ཉིད་ལ་[1]དགོངས་ནས་ཉེ་བར་ལེན་པའི་ཕུང་པོ་ལྔ་སྡུག་བསྔལ་བའོ་ཞེས་བཤད་དོ། །མདོ་ལས་ནི། སྐྱེ་བ་སྡུག་བསྔལ་བའོ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་བསྟན་པར་[2]མཛད་དོ། །ཀུན་འབྱུང་བའི་བདེན་པ་གང་ཞེ་ན།

སྲིད་པ་ཞེས་བགྱི་བ།།
དེ་ནི་དེ་ཡི་ཀུན་འབྱུང་རྒྱ་ཆེན་ཏེ།།

ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །ཡང་འབྱུང་བའི་[3]སྲིད་པ། དགའ་བའི་འདོད་ཆགས་དང་ལྷན་ཅིག་པ། དེ་དང་དེར་མངོན་པར་དགའ་བ་གང་ཡིན་པ་འདི་ལྟ་སྟེ། འདོད་པའི་སྲིད་པ་དང་། འབྱུང་བའི་སྲིད་པ་དང་། འཇིགས་པའི་སྲིད་པ་[4]ཞེས་འབྱུང་བའི་ཕྱིར་རོ།[5] །དེ་ཡི་ཞེས་བྱ་བ་ནི་སྡུག་བསྔལ་གྱིའོ། །འདི་ལས་སྡུག་བསྔལ་ཀུན་འབྱུང་བས་ན་ཀུན་འབྱུང་སྟེ་རྒྱུ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །རྒྱ་ཆེན་ཏེ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་སྲིད་པའི་དམིགས་པ་མང་བ་ཉིད་དུ་སྟོན་ཏོ། །དེ་ལྟ་མ་ཡིན་ན་ནི་འདི་རྒྱ་ཆེན་པོ་ཉིད་དུ་རུང་བ་མ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལ་ཡང་འབྱུང་བ་ཞེས་བྱ་བ་

---

[1] ལས་ པེ། སྣ། གསེར།

[2] པ་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] བ་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] པ་དང་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] སྤྱོད་འཇུག་དཀའ་འགྲེལ། toh: 3872 སྡེ་བསྟན། དབུ་མ། ༨་༩༦ དང་། དོན་རྣམ་པར་ངེས་པ་ཞེས་བྱ་བའི་ཆོས་ཀྱི་རྣམ་གྲངས། toh: 317 མདོ་སྡེ། ས། ཤོག ༡༢༠

ནི། ཡང་སྲིད་པ་ལ་ཞེས་དགོངས་པའོ། །དགའ་བའི་འདོད་ཆགས་དང་ལྡན་ཅིག་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཡིད་བདེ་བ་དང་ལྡན་ཅིག་པའི་འདོད་ཆགས་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །

དེ་དང་དེར་མངོན་པར་དགའ་བ་ཞེས་བྱ་བ་ནི། ཡང་སྲིད་པ་ལ་དམིགས་པ་ཉིད་དུ་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །འདོད་པའི་སྲིད་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་འདོད་པའི་ཁམས་ལ་དམིགས་པའོ། ། འབྱུང་བའི་སྲིད་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་གཟུགས་དང་གཟུགས་མེད་པའི་ཁམས་ལ་དམིགས་པའོ། ། འཇིག་པའི་སྲིད་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་བདག་ཉིད་མེད་པར་དམིགས་པའོ། །འགོག་པའི་བདེན་པ་གང་ཞེ་ན། **འདི་འགོག་པ་ནི་ཐར་པ་ལགས**་ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། ཀུན་འབྱུང་བ་འདི་འགོག་པ་གང་ཡིན་པ་དེ་ནི་ཐར་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་ནི་འགོག་པའི་བདེན་པ་ཡིན་པར་རིག་པར་བྱའོ་ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་སྟེ། སྲིད་པ་དེ་[1]ཉིད་གཏན་འགོག་པ་དང་། རྣམ་པར་ཞི་བ་གང་ཡིན་པ་ཞེས་འབྱུང་བའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་འདིར་སྲིད་པ་ཟད་པ་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བསྟན་པས་ནི་ཕུང་པོའི་ལྷག་མ་དང་བཅས་པའི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་སྟོན་ཏོ། །ལམ་གྱི་བདེན་པ་གང་ཞེ་ན། **འཐོབ་བགྱིད་འཕགས་ལམ་ཡན་ལག་དེ་བརྒྱད་ལགས།** །ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་འཐོབ་པར་བྱེད་པའི་ལམ་གྱི་བདེན་པ་ནི་གང་འཕགས་པའི་ལམ་ཡན་ལག་བརྒྱད་པོ་བཤད་མ་ཐག་པ་དེ་ཡིན་ནོ་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ།།

དེ་ལྟར་འཕགས་པའི་བདེན་པ་བཞི་པོ་དག །ཅེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ནི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ཐོབ་པར་བྱ་བ་ལ་སྦྱོར་བར་བྱེད་དོ། །དེ་ལྟར་ཞེས་བྱ་བ་ནི་དེ་ལྟར་ལམ་བསྒོམ་པ་ཇི་སྐད་བཤད་པའི་རྣམ་པས་རྟག་ཏུ་དུས་ཐམས་ཅད་དུ་བརྩོན་པར་བྱ་བ་ཡིན་ནོ། །དེ་[2]ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། འཕགས་པའི་བདེན་པ་བཞི་པོ་དག །མཐོང་བར་བགྱི་སླད་དེ། འཕགས་པའི་

---

[1] དེ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] དེ་ པེ། སྣར་ཐང་པར་མར་མེད།

བདེན་པ་བཞི་མཐོང་བར་བྱ་བའི་དོན་དུའོ། །འཕགས་པ་རྣམས་ཀྱི་བདེན་པ་གང་དག་ཡིན་པས་ན། འཕགས་པའི་བདེན་པ་སྟེ། འདི་དག་ནི་འཕགས་པ་རྒྱུན་དུ་ཞུགས་པ་ལ་སོགས་པས་བདེན་པ་ཉིད་དུ་གཟིགས་པའི་ཕྱིར་རོ། །བདག་ཅག་ཁྱིམ་པ་རྒྱལ་སྲིད་ལ་གནས་པ་རྣམས་ཀྱིས་ཇི་ལྟར་འཕགས་པའི་བདེན་པ་བཞི་མཐོང་བར་ནུས་ཤེ་ན། ཡང་ན་དཔལ་གནས་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་ཏེ། འདི་སྐད་དུ་བཤད་པ་ཡིན་ཏེ། ཁྱིམ་པ་རྒྱལ་སྲིད་ལ་གནས་པ་གཟུར་ཅན་སྙིང་པོ་ལ་སོགས་པས་ཀྱང་འཕགས་པའི་བདེན་པ་བཞི་ཤེས་པས་ཉོན་མོངས་པའི་ཆུ་བོ་ལས་བརྒལ་བར་བྱས་པས། དེ་བས་ན་ཁྱོད་ཀྱང་འབད་པར་བྱོས་ཤིག་ཅེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ།།

གང་དག་ཆོས་མངོན་བགྱིས་པ་དེ་དག་ཀྱང་། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་འཕགས་པའི་ལམ་སྐྱེས་བུའི་[1]རྩལ་གྱིས་[2]བསྒྲུབ་པར་བྱ་བ་ཉིད་དུ་སྟོན་པར་བྱེད་དོ། །དེ་དག་ཀྱང་། །**གནམ་ལས་བབས་པ་མ་ལགས**་ཞེས་བྱ་བ་ནི་དེ་དག་དང་པོ་ཉིད་ནས་ཤེས་པ་ཡོངས་སུ་གྲུབ་ཟིན་པ་ཅིག་ལས་འདིར་ལྷགས་པ་མ་ཡིན་པའོ། །ཡོ་ཏོག་བཞིན། །**ས་རུམ་ལས་འཐོན་མ་ལགས**་ཞེས་བྱ་བ་ནི་སྐྱེས་བུའི་རྩལ་མེད་པར་ཀྱི་ན་ཡོ་ཏོག་བཞིན་ཐོན་པ་མ་ཡིན་པའོ། །འོ་ན་ཅི་ལྟ་ཞེ་ན། སོ་སོའི་སྐྱེ་བོ་ཡིན་པ་ལས་འབད་དེ། དགེ་བའི་བཤེས་གཉེན་ལ་བརྟེན་ནས་ཉོན་མོངས་པའི་ཆུ་བོ་ལས་བརྒལ་བར་ཟད་དེ། དེ་ལྟ་བས་ན་སྒྲག་པར་མ་བྱེད་ཅིག་སྙམ་དུ་དགོངས་པ་ཡིན་ནོ།།

ད་ནི། **བསྐྱེངས་དང་བྲལ་བར་མང་དུ་གསོལ་ཅི་འཚལ།** །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་མདོར་བསྡུས་ནས་འདོམས་པར་བྱེད་དེ། བསྐྱེངས་དང་བྲལ་བ་ཞེས་བྱ་བ་ནི་བོད་པའོ། །**ཕན་པའི་གདམས་ངག་དོན་པོ་འདི་ལགས་སོ།** །ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཕན་པའི་གདམས་ངག་གཅེས་པ་འདི་

---

[1] ལམ་སྐྱེས་བུའི་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] གྱིས་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

ཉིད་དོ་[1]ཞེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །དེ་ཡང་གང་ཞེ་ན། **ཁྱོད་ཀྱི་ཐུགས་དུལ་མཛོད་ཅིག་ཅེས་བྱ་**བ་སྨོས་ཏེ། ཁྱོད་ཀྱིས་སེམས་མི་དགེ་བའི་གནས་ནས་བསླངས་ཏེ་དགེ་བ་ལ་ཞོག་ཤིག་ཅེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །ཅིའི་ཕྱིར་ཞེ་ན། བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས། **སེམས་ནི་ཆོས་ཀྱི་རྩ་བ་ལགས་པར་གསུངས།**[2] །ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་སོ། །ནི་ཞེས་བྱ་བ་ནི་གང་གི་ཕྱིར་ཞེས་བྱ་བའི་དོན་ཏོ། །གང་གི་ཕྱིར་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱིས་དགེ་བའི་ཆོས་དེ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་རྩ་བ་སེམས་ཡིན་པར་བསྟན་པ་དེའི་ཕྱིར་ཁྱོད་ཀྱིས་སེམས་དུལ་བར་བྱ་སྟེ། ཡིད་ནི་ཆོས་རྣམས་ཀྱི་སྔོན་དུ་འགྲོ་བའོ་ཞེས་འབྱུང་བའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་བསྡུས་པའི་དོན་ནི་ཡིད་རབ་ཏུ་དང་བས་ནི་བདེ་བ་ཐམས་ཅད་ཐོབ་པར་འགྱུར་ལ། ཡིད་རབ་ཏུ་འཁྲུགསཔས་ནི་སྡུག་བསྔལ་ཐམས་ཅད་ཐོབ་པར་འགྱུར་རོ་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ། །

ཁྱོད་ལ་དེ་སྐད་གདམས་པ་གང་ལགས་དེ། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ནི་འདི་སྐད་དུ་སྟོན་ཏོ[3]། །བདག་གིས་ཆོས་ཇི་སྙེད་བསྟན་པ་ཐམས་ཅད་བསྒྲུབས་པས་ཀྱང་དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་བསྟན་པ་ལ་གནས་པར་འགྱུར་བ་ནི་མ་ཡིན་ནོ། །འོན་ཀྱང་ཕྱོགས་གཅིག་བསྒྲུབས་པས་ཀྱང་གནས་པ་ཡིན་ཏེ། འདི་ལྟར་དེ་ཐམས་ཅད་ནི་དགེ་སློང་ཁྱིམ་ན་གནས་པ་

---

[1] འདི་ཉིད་དོ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] འཇིག་རྟེན་སེམས་ཀྱིས་ཁྲིད་པ་སྟེ།།
སེམས་ཀྱིས་ཡོངས་སུ་དྲངས་པ་ཡི།།
སེམས་ཀྱི་ཆོས་ནི་གཅིག་པུ་ཡི།།
དབང་གི་རྗེས་སུ་ཆོས་ཀུན་འགྲོ།

-toh: 106 སྡེ་བཀའ། མདོ་སྡེ། ཅ། 1/2/7 ;ཆོས་མངོན་པ་མཛོད་ཀྱི་འགྲེལ་པ་དོན་གསལ་ལས་ཀྱང་ལུང་དེ་དྲངས་ཡོད།

[3] སྟོན་ཏེ། པེ། སྣ། གསེར།

ཡོངས་སུ་བོར་བ་རྣམས་ཀྱིས་ཀྱང་[1]བསླབ་པར་དཀའ་ན་ཁྱིམ་པ་རྣམས་ཀྱིས་ལྟ་སྨོས་ཀྱང་ཅི་དགོས། དེ་ལྟ་བས་ན་དེའི་ནང་ནས། གང་ཞིག་ནུས་པའི་ངོ་བོ་དེའི་ཡོན་ཏན་བསྟན་ཅིང་[2]བསླབ་པས་སྐྱུ་[3]ཚེ་དོན་ཡོད་པར་གྱིས་ཤིག་དང་། དེ་ཉིད་ཆོས་ཐམས་ཅད་འཐོབ་པའི་རྒྱུར་འགྱུར་རོ་སྙམ་དུ་དགོངས་པ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལྟར་ཆོས་བསྟན་པས་སེམས་མགུ་བར་བྱས་ནས། ཐེག་པ་ཆེན་པོ་ལ་གཞུག་པར་བཞེད་དེ།

ཀུན་གྱི་དགེ་བ་ཀུན་ལ་ཡི་རང་ཞིང་། །ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་སྨོས་སོ། །འཇིག་རྟེན་ན་དགེ་བ་གང་ཅུང་ཟད་ཟག་པ་དང་བཅས་པ་དང་། ཟག་པ་མེད་པ་དང་། འཇིག་རྟེན་པ་དང་། འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་པ་གང་[4]ཇི་སྙེད་ཅིག་[5]ཡོད་པ་དེ་དག་ཐམས་ཅད་ལ་རྫོགས་པའི་སངས་རྒྱས་རྣམས་ཀྱིས་ཇི་ལྟར་ཐུགས་སུ་ཆུད་པ། དེ་བཞིན་དུ་བདག་གིས་ཀྱང་རྗེས་སུ་ཡི་རང་བ་བླ་ན་མེད་པས་རྗེས་སུ་ཡི་རང་ངོ་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པས་ཚིག་ཏུ་སྨོན་པས་རྗེས་སུ་ཡི་རང་བར་བྱ་ཞིང་དགེ་བའི་རྩ་བ་འདིས་བདག་མགོན་མེད་པ་རྣམས་ཀྱི་མགོན། སྐྱབས་མེད་པ་རྣམས་ཀྱི་སྐྱབས། དཔུང་གཉེན་མེད་པ་རྣམས་ཀྱི་དཔུང་གཉེན། གནས་མེད་པ་རྣམས་ཀྱི་གནས། སངས་རྒྱས་སུ་གྱུར་ཅིག་ཅེས།

ཉིད་ཀྱིས་ལེགས་པར་སྤྱད་པ་རྣམ་གསུམ་ཡང་།།
སངས་རྒྱས་ཉིད་ཐོབ་བགྱི་སླད་ཡོངས་བསྔོས་ནས།།

---

[1] རྣམས་ཀྱི་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[2] བསྟན་པའི་ ཡེ། སྣ། གསེར།

[3] སྐྱུ་ ཡེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[4] གང་ ཡེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

[5] ཅིག་ ཡེ། སྣ། གསེར་ཕྲིས་སུ་མེད།

དེ་ནས་རྗེས་སུ་ཡི་རང་བ་དང་། ཡོངས་སུ་བསྔོས་པ་ལས་བྱུང་བའི་དགེ་བའི་ཕུང་པོ་འདི་ཡིས་ཁྱོད། །སྐུ་ཚེ་དཔག་ཏུ་མེད་པ་མཛོད་ཅེས་བྱ་བ་འཆད་པར་འགྱུར་བ་དང་སྦྱར་རོ།།

རིམ་པ་གང་གིས་ཤེ་ན་སྐྱེ་བ་དཔག་ཏུ་མེད་པར་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པར་སྨོས་ཏེ། སྐྱེ་བ་ཚད་མེད་པ་དག་ཏུ་མཛད་ནས་སོ[1]། །ཅི་ཞིག་མཛད་ཅེ་ན།

ལྷ་དང་མིའི།།

འཇིག་རྟེན་ཀུན་གྱི་རྣལ་འབྱོར་དབང་མཛད་ནས།།

ཞེས་བྱ་བ་སྨོས་ཏེ། ལྷའི་འཇིག་རྟེན་དང་མིའི་འཇིག་རྟེན་ཐམས་ཅད་དུ་རྣལ་འབྱོར་གྱི་དབང་ཕྱུག་མཛད་ཅིང་བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་ཏིང་ངེ་འཛིན་གྱི་ཆེ་བའི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་ཁམས་གསུམ་གྱི་དབང་པོ་བརྙེས་ནས་སོ། །གཞན་ཡང་།

འཕགས་པ་སྤྱན་རས་གཟིགས་དབང་སྤྱོད་པ་ཡིས།།
སྐྱེ་བོ་ཉམ་ཐག་མང་པོ་རྗེས་བཟུང་སྟེ།།

ཇི་ལྟར་བཅོམ་ལྡན་འདས་འཕགས་པ་སྤྱན་རས་གཟིགས་དབང་ཕྱུག་གིས་ཐུགས་རྗེས་བརྟན་པའི་ཐུགས་[2]ཀྱིས[3]སེམས་ཅན་རྣམ་པ་དུ་མ་སེང་གེ་དང་། གླང་པོ་ཆེ་དང་། སྦྲུལ་དང་། མེ་དང་། ཆོམ་རྐུན་དང་། བཅིངས་པ་དང་། ཆུ་དང་། རྒྱལ་པོ་དག་ལས་བསྐྱབས་པ་དེ་བཞིན་དུ་ཁྱོད་ཀྱིས་ཀྱང་དེ་ཁོ་ནའི་ཚུལ་དུ་སེམས་ཅན་ཉམ་ཐག་པ་རྣམས་རྗེས་སུ་བཟུང་ནས་སོ། །དེ་ལྟ་བས་ན་འདིར་སྔ་མས་ནི་སངས་རྒྱས་ཀྱི[4]ཆོས་ཡོངས་སུ་སྨིན་པར[5]བཤད་ལ། ཕྱི་མས་ནི་

---

[1] སོ། པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[2] ཐུགས་རྗེས་ གསེར།

[3] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཀྱིས་ པེ། སྣ། གསེར།

[5] སྨིན་པ་ པེ། སྣ། གསེར།

སེམས་ཅན་ཡོངས་སུ་སྨིན་པར་[1]བཤད་དོ། །དེ་ལྟར་ཚོགས་ཡོངས་སུ་རྫོགས་པ་སྲིད་པ་ཐ་མར་འཁྲུངས་ནས། ནད་ལ་སོགས་པའི་ཆོས་རྣམས་ཡོངས་སུ་[2]སྤངས་ཏེ། འཇིག་རྟེན་རྣམས་ཀྱི་མགོན་པོ་མཛོད་ཅིག །གང་དུ་ཞེ་ན། སངས་རྒྱས་ཀྱི་ཞིང་ཇི་ལྟར་ཡོངས་སུ་སྦྱངས་པར་འགྱུར་རོ། །ཁྱད་པར་ཇི་ལྟ་བུ་ཅན་ཞིག་ཅེ་ན། སྐུ་ཚེ་དཔག་ཏུ་མེད་པ་སྟེ། བདེ་བ་ཅན་ན་བཅོམ་ལྡན་འདས་སྣང་བ་མཐའ་ཡས་ཇི་འདྲ་བ་དེ་འདྲ་བར་སངས་རྒྱས་པར་གྱིས་ཤིག་ཅེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །ཡང་ན་ནད་ལ་སོགས་པ་བསལ་ཏེ། **སངས་རྒྱས་ཀྱི་ཞིང་**ཞེས་བྱ་བ་སངས་རྒྱས་ཀྱི་ཞིང་ཡོངས་སུ་སྦྱངས་ནས་ཞེས་བྱ་བ་ཡིན་ཏེ། དེ་ལྟར་ཡོངས་སུ་སྦྱངས་ནས་སངས་རྒྱས་ཀྱི་ཞིང་དེར་འཁྲུངས་པ་དང་སྲིད་པ་ཐ་མ་ལ་མགོན་པོ་མཛོད་ཅིག་ཅེས་བྱ་བ་ཡིན་ནོ།།

ཤེས་རབ་ཚུལ་ཁྲིམས་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ནི། འདི་སྐད་དུ། དེ་ལྟར་སངས་རྒྱས་ཉིད་ཐོབ་ནས། དུས་ཅི་རན་ཅིག་གིས་[3]སེམས་ཅན་གྱི་དོན་མཐའ་ཡས་པ་མཛད་དེ། སངས་རྒྱས་ཀྱི་ཡོངས་སུ་[4]མྱ་ངན་ལས་འདས་པས་ཡོངས་སུ་མྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ཐོབ་པར་གྱིས་ཤིག་ཅེས་སྨོན་པར་བྱེད་དོ། །དེ་ལ་**ཤེས་རབ་ཚུལ་ཁྲིམས་གཏོང་འབྱུང་གྲགས་ཆེན་**ཞེས་བྱ་བར་སྦྱར་ཏེ། འདི་ལྟར་བཅོམ་ལྡན་འདས་དེ་ནི་ཤེས་རབ་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་སྟེ། ངེས་པར་འབྱེད་པའི་ཤེས་རབ་དང་ལྡན་པའོ། །འདི་ལྟར་དེ་ནི་ཚུལ་ཁྲིམས་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་སྟེ། མ་ཉམས་པ་ལ་སོགས་པའི་ཡོན་ཏན་དང་ལྡན་པའི་ཚུལ་ཁྲིམས་ཀྱི་ཕུང་པོ་བླ་ན་མེད་པ་དང་ལྡན་པའོ། །འདི་ལྟར་བཅོམ་ལྡན་འདས་དེ་ནི་གཏོང་བ་ཕུན་སུམ་ཚོགས་པ་སྟེ་[5]ཐམས་ཅད་གཏོང་

---

[1] སྨིན་པ་ པེ། སྣ།

[2] ཡོངས་སུ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[3] ཅི་དྲན་ཞིག་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] ཡོངས་སུ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

[5] སྟེ་ པེ། སྣ། གསེར་བྲིས་སུ་མེད།

བའོ་ཞེས་དེ་ལྟར་ཡོན་ཏན་ལ་དགའ་བའི་སྐྱེ་བོས་དགའ་བའི་ཡིད་ཀྱིས་[1]མངོན་པར་དགའ་བར་བྱ་བའི་གྲགས་པ་ཆེན་པོ་རྒྱས་པར་མཛད་ཅིང་[2]ཐྲིལ་ནས་སོ། **།དྲི་མ་མེད་**ཅེས་སྨོས་པས་ནི་ཡོན་ཏན་རྣམས་དཔེ་ཟླ་མེད་པ་ཉིད་དུ་སྟོན་ཏོ། །ཡང་གང་དུ་རྒྱ་བསྐྱེད་ཅེ་ན་སྨྲས་པ། ལྷ་ཡུལ་མཐོ་རིས་དང་། ནམ་མཁའ་བར་སྣང་དང་། ས་སྟེང་མིའི་འཇིག་རྟེན་དུའོ། །གཞན་ཡང་མིའི་འཇིག་རྟེན་གྱི་ས་ལ་མི་དང་མཐོ་རིས་ནི་ལྷ་རྣམས་ངེས་པར་རབ་ཏུ་ཞི་བར་མཛད་དེ་ཞེས་བྱ་བར་སྦྱར་རོ། །ཁྱད་པར་ཇི་ལྟ་བུ་དག་ཅིག་ཅེ་ན། **ན་ཆུང་མཆོག** །བདེ་དགས་དགའ་བ་དག་སྟེ། ན་ཆུང་མཆོག་རྣམས་ཀྱིས་[3]བདེ་བའི་དགའ་བ་ནི་ན་ཆུང་མཆོག་བདེ་བའི་དགའ་བས་[4]དགའ་བའོ། །དེས་དགའ་བ་དག་སྟེ། དེ་ལྟར་རབ་ཏུ་སྨྲོས་པའི་མི་དང་ལྷ་རྣམས་ཀྱང་[5]རབ་ཏུ་ཞི་བར་མཛད་ནས་ཞེས་བྱ་བ་སྟེ་ཚུལ་ཁྲིམས་ལ་སོགས་པ་ལ་བཀོད་ནས་སོ། །ངེས་པར་ཞེས་སྨོས་པས་ནི་འཕགས་པའི་ཆོས་ལ་དགོད་པར་སྟོན་ཏོ། །དེ་ཉིད་ཀྱི་ཕྱིར་ལྷ་དང་མི་རྣམས་སྨོས་ཏེ། དེ་དག་ཁོ་ན་འཕགས་པའི་ཆོས་ཀྱི་སྣོད་ཡིན་པའི་ཕྱིར་རོ། །དེ་ལྟ་མ་ཡིན་ན་ལྟ་མ་ཡིན་རྣམས་ཀྱང་ན་ཆུང་མཆོག་གི་བདེ་བའི་དགའ་བས་དགའ་བ་ཡིན་ནོ། །དེ་ལྟར་འཇིག་རྟེན་དུ་གྲགས་པ་ཆེན་པོ་ཡང་རྒྱས་པར་མཛད། ལྷ་དང་མི་རྣམས་ཀྱི་དོན་ཡང་མཛད་ནས་སོ།།

ཉོན་མོངས་ཉམ་ཐག་སེམས་ཅན་ཚོགས་ཀྱི་འཇིགས་སྐྱེ་དང་།།
འཆི་བ་ཞི་མཛད་རྒྱལ་བའི་དབང་པོ་ཉིད་བརྙེས་ནས།།

---

[1] ཀྱི་ པེ། སྣར་པར་མར་དང་། དགའ་བར་བྱ་བའི་ཡིད་ཀྱི་ གསེར་ཁྲིས་པར་མར་ འདི་ལྟར་གསལ།

[2] མཛོད་ཅིག་ པེ། སྣ། གསེར།

[3] ཀྱི་ པེ། སྣ། གསེར།

[4] བའི་དགའ་བས་ པེ། སྣ། གསེར་ཁྲིས་སུ་མེད།

[5] ཀྱང་ པེ། སྣ། གསེར་ཁྲིས་སུ་མེད།

ཞེས་བྱ་བ་འདིས་ནི་དང་པོ་ཁོ་ནར་རིག་པར་བྱ་སྟེ། འདིར་ཚིག་གི་གོ་རིམས་སྦྱར་བ་ནི་རྒྱལ་བའི་དབང་པོ་དེ་ལྷ་བུ་བརྟེན་ནས་གྲགས་པ་ཆེན་པོ་ཡང་རྒྱས་པར་མཛད། ལྷ་དང་མི་རྣམས་ཀྱང་རབ་ཏུ་ཞི་བར་མཛད་དེ། སྐྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ཐོབ་པར་མཛོད་ཅིག་ཅེས་བྱ་བ་འདི་ཡིན་ནོ། །དེ་ལ་**ཉོན་མོངས་ཉམ་ཐག**་ཅེས་བྱ་བ་ནི་སེམས་ཅན་ཉོན་མོངས་པས་གཟིར་བ་མང་པོའོ[1]། །འཇིག་པ་དང་སྐྱེ་བ་དང་འཆི་བ་ནི། །འཇིག་སྐྱེ་དང་འཆི་བ་སྟེ། གང་ལ་དེ་དག་ཞི་བར་བྱེད་པའི་ངང་ཚུལ་ཡོད་པ་དེ་ལ་དེ་སྐད་ཅེས་བྱའོ། །འདིར་ཡང་འཇིག་པ་ནི་འཇིག་ཚོགས་ལ་ལྟ་བས་བྱས་པ་ཡིན་ནོ། །སྐྱེ་བ་ནི་མི་ཤེས་པ་དང་། ལས་དང་། སྲིད་པ་ལས་རབ་ཏུ་སྐྱེ་བ་ཡིན་ནོ། །འཆི་བ་ནི་ཁ་ཅིག་ནི་ལས་ཟད་པ་ལས་སོ། །ལ་ལ་ནི་ཚེ་ཟད་པ་ལས་སོ། །ལ་ལ་ནི་ཡང་བ་མ་སྤངས་པ་ལས་ཏེ་རྣམ་པ་གསུམ་དུ་རིག་པར་བྱའོ། །སངས་རྒྱས་ཉིད་ཀྱིས་ནི་སེམས་ཅན་རྣམས་ཀྱི་དེ་དག་ཐམས་ཅད་སེལ་ཏོ། །**འཇིག་རྟེན་ལས་འདས**་ཞེས་བྱ་བ་ལ་སོགས་པ་ཐམས་ཅད་ནི་སྐྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་ཁྱད་པར་ཡིན་ནོ། །དེ་ལ་འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་ཞེས་བྱ་བ་ནི་ཕུང་པོ་ལྷག་མ་མེད་པའི་སྐྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་དབྱིངས་སུ་འཇིག་རྟེན་ཟད་པས་རབ་ཏུ་ཕྱེ་བའི་ཕྱིར་རོ། །ཕུང་པོའི་ལྷག་མ་དང་བཅས་པ་ཡང་འཇིག་རྟེན་པའི་སེམས་ཀྱིས་རིག་པར་བྱ་བ་མ་ཡིན་པ་ཉིད་ཀྱིས་འཇིག་རྟེན་ལས་འདས་པ་ནི་ཡིན་ན་དེ་ནི་འདིར་མི་གཟུང་སྟེ། སངས་རྒྱས་ཉིད་ཀྱིས་བསྡུས་པའི་ཕྱིར་རོ། །**མིང་ཙམ**་ཞེས་བྱ་བ་ནི་དངོས་པོ་ཉིད་ལས་སེལ་བ་ཡིན་ཏེ། **མདོ་ལས་ཐུ་བོ་འདི་དག་ནི་མིང་ཙམ་སྟེ་འདས་པ་དང་མ་འོངས་པ་དང་སྐྱ་ངན་ལས་འདས་པ་དང་སོ་སོར་མ་བརྟགས་པར་འགོག་པ་དང་གང་ཟག་གོ་ཞེས་འབྱུང་བའི་ཕྱིར་རོ།** །ཞི་བ་ནི་འཁོར་བའི་གནོད་པ་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །**མི་བསྐྱེངས་པ**་ནི་དེ་ལ་འཇིགས་པར་བྱ་བ་དང་། འཇིགས་པ་དག་མེད་པའི་ཕྱིར་རོ། །**མི་བགྲེས་པ**་ནི་ཟད་མི་

---

[1] མང་པོའི་འོ། པེ། སྣ། གསེར།

ཤེས་པའི་ཕྱིར་རོ། །ཉོངས་པ་མི་མངའ་བ་ནི་རྟག་པའི་ཕྱིར་ཏེ། ཕུང་པོའི་ལྷག་མ་མེད་པའི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་དབྱིངས་ཀྱི་གོ་འཕང་དེ་ལྟ་བུ་བརྙེས་པར་མཛོད་ཅིག་ཅེས་བྱ་བའི་ཐ་ཚིག་གོ །

བཤེས་པའི་ཕྲིན་ཡིག་གི་རྒྱ་ཆེར་བཤད་པའི་ཚིག་གསལ་བ་ཞེས་བྱ་བ། སློབ་དཔོན་བློ་གྲོས་ཆེན་པོས་མཛད་པ་རྫོགས་སོ།། །།

རྒྱ་གར་གྱི་མཁན་པོ་སརྦཛྙདེབ་དང་། ཞུ་ཆེན་གྱི་ལོ་ཙྪ་བ་བན་དེ་དཔལ་བརྩེགས་ཀྱིས་བསྒྱུར་ཅིང་ཞུས་ཏེ་གཏན་ལ་ཕབ།། །།

སརྦམངྒལམ྄

ཁ་སྐོང་ལྷན་ཐབས།

परिशिष्टानि

अनेन मम पुण्येन सर्वसत्त्वा अशेषतः ।
विरम्य सर्वपापेभ्यः कुर्वन्तु कुशलं सदा ।।

--बोधिचर्यावतार, १०/१३

सहायकग्रन्थानां सूची

अ.क. = नामसंगीति अमृत कनिका एवं उद्योतसहित, तिब्बती संस्थान, १९९४ ।

अ.वि.सू. = अर्थविनिश्चयसूत्रम्, के.पी.जायसवाल शोध संस्थान, १९७१ ।

अ.वि.सू.नि. = अर्थविनिश्चयसूत्रनिबन्धनम्, के.पी.जायसवाल शोध संस्थान, १९७१ ।

आलोक = अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितालोक-टीका, बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि, मिथिला प्रकाशन, १९६० ।

अ.प्र.सू. = अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र, बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि, मि० सं०, १९६०।

अ.श. = अवदानशतकम्, बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि, मिथिला संस्करण,

अट्ठ. = अट्ठशालिनीकथा, भण्डारकर ओरियन्टल सिरीज, पूना, १९४२ ।

अ.अ.स्फु. = अभिसमयालंकारस्फुटार्था, तिब्बती संस्थान संस्करण, १९७७ ।

अभि.को. = अभिधर्मकोश, बौद्धभारती प्रकाशन, १९८७ ।

अभि.को.स्फु. = अभधर्मकोशस्फुटार्था, बौद्धभारती प्रकाशन, १९८७ ।

अभि.दी. = अभिधर्मदीप, के.पी.जायसवाल शोध संस्थान, पटना, १९५९ ।

अभि.समु. = अभिधर्मसमुच्चय, विश्वभारती प्रकाशन, शान्तिनिकेतन, १९५० ।

अक्षय.सू. = अक्षयमतिसूत्रम्, दे.क. 'म' पुट् भोट संस्करण ।

अभि.संग. = अभिधम्मत्थ संगहो, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय संस्करण, १९९१ ।

आर्य कु.सं.सू. = आर्यकुसुमसञ्चय नाम महायानसूत्रम्, दे.क. २२६ 'ह' भोट संस्करण ।

आर्य नि.भ.वै.सू. = आर्यनिष्ठागतभगवज्ज्ञान-वैपुल्यसूत्ररत्नानन्त नाम महायानसूत्रम्, 'ग' भोट संस्करण ।

आर्य बो.स.पि.सू. = आर्यबोधसत्त्वपिटक नाम महायानसूत्रम्, दे.क. ५६ 'ग' भोट संस्करण।

ग.व्यू.सू. = गण्डव्यूहसूत्रम्, बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि, मिथिला संस्करण ।

चतु.श. = चतुःशतकम्, आलोक प्रकाशन, नागपुर, १९७१ ।

चतु.श.वृ. = चतुःशतकवृत्तिः, आलोक प्रकाशन, नागपुर, १९७१ ।

जा.मा. = जातकमाला, नालन्दा संस्करण

त.सं.पं. = तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, बौद्धभारती प्रकाशन, १९८१ ।

त्रिं.वि.मा.सि. = त्रिंशिकाविज्ञप्तिमात्रतासिद्धि(विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि), सम्पूर्णानन्द संस्कृत
विश्वविद्यालय संस्करण, १९७२ ।

द.भू.सू. = दशभूमिसूत्रम्, मिथिला संस्करण, १९६७ ।

ध.धा.द.गी. = धर्मधातुदर्शगीति(पुनरुद्धार), तिब्बती संस्थान संस्करण, १९९९ ।

ध.प. = धर्मपर्याय, भोट संस्करण ।

ध.सं. = (महायानसूत्रसंग्रह, भाग-१), बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि, मि० सं०, दरभंगा।

धम्म. = धम्मपद, तिब्बती संस्थान संस्करण, १९८२ ।

धम्म.सं. = धम्मसंगिणी, नालन्दा संस्करण

न.प्र.सू. = नन्दप्रव्रजितसूत्रम्, दे.क. ३२८ 'स' पुट् भोट संस्करण ।

नैरा.परि.महा.सू. = नैरात्म्यपरिपृच्छा नाम महायानसूत्रम्, बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि,
मिथिला संस्करण, १९६१ ।

पाति. = पातिमोक्ख- सम्पा. डा. भागचन्द्रजैन, आलोक प्रकाशन, नागपुर, १९७२ ।

प्र.पि. = प्रज्ञापारमितापिण्डार्थ (अ.प्र.), बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि,
मिथिला संस्करण, १९६०।

प्र.वा. = प्रमाणवार्तिकम्, बौद्धभारती प्रकाशन, १९९४ ।

प्र.वा.वृ. = प्रमाणवार्तिकवृत्तिः, बौद्धभारती प्रकाशन, १९९४ ।

प्रती.समु.वि.नि.सू. = प्रतीत्यसमुत्पादविभङ्गंनिर्देशसूत्रम्(म.सू.सं.),
मिथिला संस्करण १९६१ ।

प्र.समु.सू. = प्रतीत्यसमुत्पादो नाम महायानसूत्रम्, (म.सू.सं. भाग-१), बौद्धसंस्कृत
ग्रन्थावलि, मिथिला संस्करण, १९६१ ।

प्र.समु.हृ. = प्रतीत्यसमुत्पादहृदयकारिका,

प्र.मो.सू. = प्रतिमोक्षसूत्रम्, गंगानाथ झा शोध संस्थान, इलाहाबाद, १९५६ ।

बु.अव.सू. = बुद्धावतंसक नाम महायानसूत्रम्, दे.क. 'क' पुट् भोट संस्करण ।

बु.स्तो.पं. = बुद्धस्तोत्रपञ्चशत्कः, लद्दाखरत्नश्रीदीपिका प्रकाशन, १९९८ ।

बो.च. = बोधिचर्यावतार, बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि, मिथिला संस्करण, १९६० ।

बो.स.म. = बोधिसत्त्वमण्यावलि(पुनरुद्धार), तिब्बती संस्थान संस्करण, १९९९ ।

बौ.द.मी. = बौद्ध दर्शन मीमांसा, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन, १९७८ ।

बौ.सि.सा.= बौद्धसिद्धान्तसार(हिन्दी), तिब्बती संस्थान संस्करण, १९९७ ।

म.अ. = मध्यमकावतार,

म.उ.तं. = महायानोत्तरतन्त्र, मिथिला संस्करण,

महा.क.वि.सू. = महाकर्मविभङ्गसूत्रम्(म.सू.सं. भाग-१), बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि, मिथिला संस्करण, १९६१ ।

म.वि.भा. = मध्यान्तविभङ्गभाष्यम्, सम्पादित, पटना, १९९४ ।

महा.व्यु. = महाव्युत्पत्ति, दे.तन. 'चो' पुट्, भोट संस्करण ।

म.शा. = मध्यमकशास्त्रकारिका, बौद्धभारती प्रकाशन, १९८३ ।

म.शा.वृ. = मध्यमकशास्त्रवृत्तिः, बौद्धभारतीप्रकाशन, १९८३ ।

म.सू. = महायानसूत्रालंकार, बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि, मिथिला संस्करण,

महा.परि.सू. = महापरित्राणसूत्रं, नागपुर संस्करण, १९८७ ।

मा.भा.भू.इति. = माध्यमिक भारतभूमि का इतिहास,

मञ्जु.मू.तं. = महायानसूत्रसंग्रह, भाग-२, बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि, मि० सं०, १९६४ ।

महा.वग्ग. = महावग्ग, (पालि), नालन्दा संस्करण ।

महा.व्यु. = महाव्युत्पत्ति, चो पुट् भोट संस्करण।

म.सू.सं. = महायानसूत्रसंग्रह, भाग-१, मि० सं०, दरभंगा।

मु.पं.हे.तं.टी. = मुक्तावलि पञ्जिका, हेवज्रतन्त्रटीका, तिब्बती संस्थान संस्करण, २००० ।

मु.ल.अ. = मुक्तालतावदानम्, तिब्बती संस्थान संस्करण, १९८९ ।

यु.ष. = युक्तिषष्ठिका, नागार्जुनियाना, कोपेनहेगेन, १९३२।

यो.भू. = योगाचारभूमि, कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९५७ ।

ल.वि. = ललितविस्तर, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९८४ ।

लं.अ.सू. = लंकावतारसूत्र, मिथिला संस्करण, दरभंगा ।

रत्ना. = रत्नावलि (पुनरुद्धार), तिब्बती संस्थान (अप्रकाशित) संस्करण ।

रा.परि.सू. = राष्ट्रपालपरिपृच्छा नाम महायानसूत्रम्(म.सू.सं. भाग-१),
मिथिला संस्करण, १९६१ ।

वज्र.टी. = वज्रच्छेदिकाया विस्तृता टीका (पुनरुद्धार), तिब्बती संस्थान, १९९४ ।

वज्र.सू. = वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमितासूत्र, तिब्बती संस्थान संस्करण, १९७८ ।

व.बु.स्तो. = वर्णनार्हवर्णे बुद्धस्य स्तोत्रः, (धीः २५ अंकः), १९९८ ।

वि.मग्ग. = विसुद्धिमग्ग, भाग-१, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९६९ ।

वि.मा.सि. = विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, प्रथम सं०, १९७२।

श.प्र.सू. = शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्रम्, दे.क. ११, 'ग' पुट् भोट संस्करण ।

शालि.सू. = शालिस्तम्बसूत्रम्, (म.सू.सं.) मिथिला संस्करण, १९६१ ।

शि.समु. = शिक्षासमुच्चय, बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि, मिथिला संस्करण, १९६० ।

समाधि.सू. = समाधिराजसूत्रम्, बौद्धसंस्कृत ग्रन्थावलि, मिथिला संस्करण, १९६१ ।

सु.ले.टी. = सुहृल्लेखटीका(हिन्दी), तिब्बती संस्थान संस्करण, १९९६ ।

सु.ले. = सुहृल्लेख(हिन्दी), नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, विहार, १९५७ ।

सौ.न. = सौन्दरनन्द, महाकाव्य ।

*****

ग्रन्थागतश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणी

श्लोकः	श्लोकसंख्या
अक्रोशीदवधीन्मामजैषीन्	16
अधिशीलचित्तप्रज्ञास्तिस्रोऽपि	53
अनात्माऽशुचिर्दुःखी	48
अनिष्टफलबीजानि तु	88
अनुकृत्यार्हच्छीलं ...	11
अप्रमादोऽमृतपदं प्रमादो	13
अष्टसु लोकधर्मेषु	29
आत्मनश्चास्थिपुञ्जं	68
आत्मनि मिथ्यादृष्टिः	51
आत्मापेक्षो मोक्षः परस्मान्न	52
आस्येऽन्येषां तद्वत् पात्यते	79
इत्थं सर्वमनित्यं	58
इष्टविघातव्याधिमृत्यु	65
इहैकस्मिंश्च दिवसे	86
उक्तं रूपं नात्मा रूपवांश्च	49
उत्तमाः पञ्चधर्माः	45
एवं प्रोक्तं मुनिनाऽविद्यया	109
एवं मृत्युं ज्ञात्वा	76
औद्धत्यं कौकृत्यं व्यापादः	44

कल्याणमित्रसेवा 62
क्लेशोपहतसत्त्वस्य 123
कामस्त्वनर्थजनकः प्रोक्तः ..,... 23
कामान् प्रीतिविचारौ 41
कुशलाकुशलं च कर्म 42
कृमिपीडितो हि कुष्ठी 26
केचित् कृमिसंस्पर्शाद् 81
केचित् प्रेता नग्नाः 93
केचिद् रत्नालङ्कृतकनकपात्रं 60
केचिद् वै हन्यते मुक्तोर्णं 90
कोटिवर्षपर्यन्तं दारुणाति 87
क्षान्तिसमं नैव तपः 15
गम्भीरोऽनर्घकोशः प्रियः 112
चतुर्विधा वै पुरुषाः 19
चतुःसमुद्रजलादपि 67
चन्द्रो ग्रीष्मे तप्तः शैत्ये शीतो 95
चरमं भवं गृहीत्वा 121
चलाध्रुवाणि षडक्षाणि 24
चित्तं हि धर्ममूलं भगवतो 117
जनानां त्वाम्रफलमिव 20
जन्मस्वप्रमेयेषु देवनरलोक 120
जलेऽवनौ पाषाणे चित्रमिव 17

जातिरियं दुःखमेव तृष्णा 114
जिनैर्बुद्धधर्मसंघ 4
ज्वलिते शिरसि च वसने 104
ज्ञात्वा चलामसारां सम्पत्तिं 6
तत उत्पन्ना वित्तिर्वेदनाश्रयेण 110
तिर्यग्योनिषु नाना दुःखानि 89
दशकुशलाः कर्मपथाः 5
दह्यन्तेऽग्निकुण्डेषु 82
दारुमयी ह्यपि प्रतिमा 2
दिनमखिलं शुभकार्ये 39
दीर्घायुषि देवकुले 64
दुःखं स्यान्मानसिकं 102
दुष्टाचरणे लग्नाः सत्त्वाः 77
देवाङ्गना सेविते नन्दने 72
देवेभ्यश्च्युतस्य यदि 101
देवेषु कामसुखं च 74
द्यूतक्रीडा कौतुकदर्शनालस्य 33
न च कृन्तति पापकर्म 31
निम्नकोटिकैः कैश्चित् 94
निष्पीड्यन्ते तिलवत् केचनान्ये 78
पत्नी त्याज्या त्रिविधा प्रकृत्या 36
पदमवाप्य सूर्येन्द्वोः 75

परदारान्न तु पश्येद् 21
परमार्थं प्रतिवेत्तुं 27
पूर्वप्रमत्तः कोऽपि 14
पृथ्वीमेरुसमुद्राः 57
प्रकृतिसुकृतार्हगुणाढ्य 1
प्रतिरूपदेशवासः सत्पुरुष समाश्रयः 61
प्रस्रब्धिंवीर्यप्रीतिधर्मविचय 106
प्रज्ञाभावे ध्यानं ध्यानाभावेऽपि 107
प्रज्ञाशीलत्यागोद्भूतविमलख्यातिं 122
प्रेतयोनौ न क्षयं यातीष्टालाभ 91
बहुवाधं तु जीवनं 55
भगिनीसमानुकूला 37
भवद्भिर्ब्राह्मणभिक्षु 30
महामुनेरतिमधुरं मन्ये 3
महार्णवयुगच्छिद्रे हि 59
मात्सर्यशाठ्यमायाभिमान 12
मिथ्यादृक् प्रत्यन्ते 63
मित्रत्वेन च शत्रुः पुत्रत्वेन 66
मैत्री करुणोपेक्षामुदिताश्च 40
यच्च लभन्ते प्रेता 97
यत्र पूजा पितृणां कुलं 9
यत्नः सदा विधेयः 115

यथाल्पक्षारनीरं परिवर्तयत्यल्प 43
यथा समस्तसुखानां तृष्णाक्षय 85
यथा समृद्धाः पुरुषा दुःखिनो 35
यन्मयोपदिष्टं तत्सप्रयासैरपि 118
युवतिशरीरं हि पूति 25
ये दृष्टार्यसत्याश्च नाविर्भवन्ति 116
येऽव्याकृतधर्माश्चादित्यबन्धुना 108
रक्षेच्चञ्चलचित्तं श्रुति 22
राजन्, बुद्धेनोक्तः कायगता 54
लक्षणानि हि पञ्चैव 100
लोकपूज्योऽपि शक्रः 69
वाचस्त्रिधा जनेभ्यः प्रोक्ता 18
विहायरागद्वेषौ 38
विशरणगलनः पूतिः 56
वैवर्ण्यं देहस्य स्वासने न 99
व्याधिजरामरणप्रियवियोगवञ्च 46
शमाय भाव्याः सम्यग्दृष्टि 113
शीलसमाधिज्ञानैर्भूजलतेजो 105
शीलं सेव्यममिश्रं 7
श्वभिः केचन क्रूरैर्लौहदन्तैः 80
श्वासावरोधसमये पापः 83
श्रुत्वा दृष्ट्वा स्मृत्वा 84

षडिमां दानं शीलं 8
संसारेऽस्मिन्नेवं देवनरक 103
सततं दुःखभाजस्ते 96
सत्यां जातौ दुःखव्याधिजरेष्ट 111
सनरामरशासकेन सन्तोषः 34
सप्तधनान्युक्तानि 32
सर्वेषां कुशलानि तु 119
सुकुलीनोऽपि न पूज्यो 28
सुखदे सुमेरुशिखरे चिरम् 71
सुवदनदेवसुताभिः 73
सूचीछिद्रवदास्यं केषाञ्चिद् 92
स्कन्धा न हि जायन्ते 50
स्वर्गे चातिसुखं यत् 98
स्वर्गं मोक्षं चेच्छेत् 47
स्वर्गेऽप्सरसां सौख्यं 70
हिंसाचौर्ये मदिरा 10

*****

ग्रन्थागतभोटश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणी

श्लोकः	**श्लोकसंख्या**
ཀ།	
ཀུན་གྱི་དགེ་བ་ཀུན་ལ་ཡི་རང་ཞིང་།	119
ཀྲང་པའི་རིག་པས་ཉམས་པར་བདེ་བཟོད་པ།	71
སྐྱེ་འདི་སྡུག་བསྔལ་སྲིད་པ་ཞེས་བགྱི་བ།	114
སྐྱེ་བ་དཔག་ཏུ་མེད་པར་ལྷ་མི་ཡི།	120
སྐྱེ་བ་ཡོད་ན་སྒྱུ་ངན་ན་ཀ་དང་།	111
སྐྱེས་བུ་རིགས་གཟུགས་ཐོས་དང་ལྡན་རྣམས་ཀྱང་།	28
ཁ	
ཁ་ཅིག་ཁ་ནི་ཁབ་ཀྱི་མིག་ཙམ་ལ།	92
ཁ་ཅིག་ལྕགས་ཀྱི་མཆེ་བ་ལྡན་པའི་ཁྲི།	80
ཁ་ཅིག་ཏྲིལ་བཞིན་འཚོར་ཏྲེ་དེ་ལས་གཞན།	78
ཁ་ཅིག་མདག་མེ་འབར་བའི་ཚོགས་སུ་ནི།	82
ཁ་ཅིག་པགས་རུས་ལུས་ཤིང་གཅེར་བུ་སྟེ།	93
ཁ་ཅིག་སྨུ་ཏྲིག་བལ་དང་རུས་པ་དང་།	90
ཁ་ཅིག་སྲིན་བུ་སྦྲུར་བ་སྣ་ཚོགས་དང་།	81

ཁ་ཟས་སྨན་དང་འདྲ་བར་རིག་པ་ཡི། 38
ཁྱོད་ཀྱིས་བྲམ་ཟེ་དགེ་སློང་ལྷ་དང་ནི། 30
ཁྱོད་ཀྱིས་ཚུལ་ཁྲིམས་མ་ཉམས་མོད་མི་དམའ། 7
ཁྱོད་ལ་དེ་སྐད་གདམས་པ་གང་ལགས་དེ། 118
འཁོར་བ་དེ་འདྲ་ལགས་པས་ལྷ་མི་དང་། 103
འབྱུངས་ནས་ན་ཆ་འདོད་ཆགས་ཞེ་སྡང་རྣམས། 121

ག

གང་དག་ཆོས་སྟོན་བགྱིས་པ་དེ་དག་ཀྱང་། 116
གང་དག་དབང་པོ་དྲུག་ཡུལ་རྣམས་ལ་ནི། 24
གང་ཞིག་སྟོན་ཆད་བག་མེད་གྱུར་པ་ལས། 14
གང་ཞིག་གསེརསྟོད་རིན་ཆེན་སྤྲས་པ་ཡིས། 60
གང་ལ་ཕ་དང་མ་དག་མཆོད་པ་ཡི། 9
གལ་ཏེ་མཐོ་རིས་ཐར་པ་མངོན་བཞེད་ན། 47
དགེ་བའི་ལས་ལམ་བཅུ་པོ་ལུས་དང་ནི། 5
དགེ་བའི་བཤེས་གཉེན་བརྟེན་པ་ཚངས་པར་སྤྱོད། 62
དགྲ་བཅོམ་ཚུལ་ཁྲིམས་རྗེས་སུ་བྱེད་པ་ཡི། 11
མགོའམ་གོས་ལ་གློ་བུར་མེ་ཞོར་ན། 104
རྒོད་དང་འགྱོད་དང་གནོད་སེམས་རྨུགས་པ་དང་། 44

རྒྱ་མཚོ་གཅིག་གནས་གཉའ་ཤིང་བུ་ག་དང་། 59
རྒྱན་པོ་འཕྲེད་དང་འདུས་ལ་ལྟ་བ་དང་། 33
རྒྱལ་བས་སྙིང་ལ་འབབ་དང་བདེན་པ་དང་། 18
རྒྱལ་བས་སངས་རྒྱས་ཆོས་དང་དགེ་འདུན་དང་། 4
བརྒྱ་བྱིན་འཇིག་རྟེན་མཆོད་འོས་གྱུར་ནས་ནི། 69

ཇ

ཇི་ལྟར་བདེ་གཤེགས་སྐུ་གཟུགས་ཤིང་ལས་ཀྱང་། 2
ཇི་ལྟར་མཛེ་ཅན་སྲིན་བུས་ཉེན་པ་ནི། 26
འཇིག་རྟེན་མཁྱེན་པ་རྙེད་དང་མ་རྙེད་དང་། 29

ཉ

ཉི་མ་ཟླ་བ་ཉིད་ཐོབ་རང་ལུས་ཀྱིས། 75
ཉོན་མོངས་ཉམ་ཐག་སེམས་ཅན་ཚོགས་ཀྱི་འཇིགས་སྐྱེ་དང་། 123
བརྙེངས་དང་བྲལ་ལ་མང་དུ་གསོལ་ཅི་འཚལ། 117

ཏ

རྟག་དང་མངོན་པར་ཞེན་དང་གཉེན་པོ་མེད། 42
རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་འདི་རྒྱལ་བ་ཡི། 112

ཐ

ཐར་པ་བདག་ལ་རག་ལས་འདི་ལ་ནི། 52

ཐུབ་པ་ཆེན་པོའི་བཀའ་ནི་སྨན་དགུ་ཞིག 3

མཐུན་པར་གྱུར་པའི་ཡུལ་ན་གནས་པ་དང་། 61

མཐོ་རིས་འཆི་འཕོ་སྒྲོན་བགྱིད་སྡེ་ལྷས་ལྡེ་། 100

མཐོ་རིས་ན་ཡང་བདེ་ཆེན་དེ་དག་གིས། 98

མཐོ་རིས་བུ་མོའི་ནུ་མ་རྐེད་པ་ལ། 70

མཐོ་རིས་བུ་མོས་འཁྲིངས་ཤིང་དགའ་བ་དང་། 72

ད

དད་དང་བརྩོན་འགྲུས་དག་དང་དྲན་པ་དང་། 45

དད་དང་ཚུལ་ཁྲིམས་གཏོང་དང་ཐོས་པ་དང་། 32

དལ་གྱིས་འབབ་པ་ལྷ་ཡི་བུ་མོ་ནི། 73

དུད་འགྲོའི་སྐྱེ་གནས་ན་ཡང་གསོད་པ་དང་། 89

དེ་ལྟར་འདི་ཀུན་མི་རྟག་བདག་མེད་དེ། 58

དེ་ལྟར་སྡུག་བསྔལ་ཤིན་ཏུ་མི་བཟད་ལོ། 87

དེ་ལྟར་ཉོངས་པར་འགྱུར་འཚལ་བསོད་ནམས་ནི། 76

དེ་ལྟར་ཡི་དྭགས་རྣམས་ཀྱིས་སྣ་ཚོགས་པའི། 97

དེ་ལྟར་ལགས་པས་འཕགས་པའི་བདེན་པ་བཞི། 115

དེ་བཞིན་གཞན་དག་ཁྲོ་ཆུ་བཞུས་པ་ཡི། 79
དེས་པ་བདོག་མང་ཇི་ལྟར་སྡུག་བསྔལ་བ། 35
དེས་པ་འདོད་པས་ཕོངས་དང་འཆི་བ་དང་། 65
དོན་དམ་གཟིགས་པར་བགྱི་སླད་དངོས་རྣམས་ལ། 27
དྲན་དང་ཆོས་རབ་འབྱེད་དང་བརྩོན་འགྲུས་དང་། 106
བདག་ནི་འདིས་སྦྱོར་འདིས་བཏགས་ཕམ་པར་བྱས། 16
བདེ་བ་ཀུན་གྱི་ནང་ན་སྲིད་ཟད་པའི། 85
འདི་ལྟར་བཟོད་མཚུངས་དཀའ་ཐུབ་མ་མཆིས་པ། 15
འདི་དག་རྣམས་ལ་སོ་གའི་དུས་སུ་ནི། 95
འདི་ན་ཉིན་གཅིག་མདུང་ཐུང་སུམ་བརྒྱ་ཡིས། 86
འདོད་པ་རྣམས་ནི་ཕུང་པ་བསྐྱེད་པ་སྟེ། 23
འདོད་སྤྱོད་དགའ་དང་བདེ་དང་སྡུག་བསྔལ་དག 41
སྡིག་ཅན་དབུགས་འབྱུང་འགག་པ་ཙམ་ཞིག་གི 83
སྡིག་པའི་ལས་རྣམས་སྤྱད་པ་འགའ་ཡང་ནི། 31

ན

ན་ཀ་འཆི་སྡུག་བྲལ་དང་དེ་བཞིན་དུ། 46
ནོར་རྣམས་ཀུན་གྱི་ནང་ན་ཆོག་ཤེས་པ། 34
སྣང་ནས་སྣང་བའི་མཐར་ཐུག་མུན་པ་ནས། 19

པ

པང་ན་དཔལ་གནས་ཁྱིམ་པ་རྣམས་ཀྱིས་ཀྱང་། 115

ཕ

ཕ་ནི་བུ་ཉིད་མ་ནི་ཆུང་མ་ཉིད། 66
ཕུང་པོ་འདོད་རྒྱལ་ལས་མིན་དུས་ལས་མིན། 50

བ

བག་ཡོད་བདུད་རྩིའི་གནས་ཏེ་བག་མེད་པ། 13
བར་ཆད་མེད་པར་སྡུག་བསྔལ་བརྟེན་གྱུར་པ། 96
བུད་མེད་གཞོན་ནུའི་ལུས་ནི་ཡོགས་ཤིག་ཏུ། 25
བྱམས་དང་སྙིང་རྗེ་དག་དང་དགའ་བ་དང་། 40
དབང་ཕྱུག་ལུས་གཏོགས་དྲན་པ་བདེ་གཤེགས་ཀྱིས། 54
སྦྱིན་དང་ཚུལ་ཁྲིམས་བཟོད་བརྩོན་བསམ་གཏན་དང་། 8

མ

མ་རིག་པ་ལས་ལས་ཏེ་དེ་ལས་ནི། 109
མི་དགེའི་འབྲས་འདི་རྣམས་ཀྱི་ས་བོན་ནི། 88
མི་ནི་ཡང་དག་ཉིད་དུ་མི་བདེ་ཞིང་། 48
མི་ནི་ཨ་མྲའི་འབྲས་བཞིན་མ་སྨིན་ལ། 20

དམྱལ་བ་བྲིས་པ་མཐོང་དང་ཐོས་པ་དང་། 84

སྨད་རིགས་འགས་ནི་སྣག་དང་ཕྱི་ས་དང་། 94

ཚ

ཚུལ་ཁྲིམས་བརྟུལ་ཞུགས་མཆོག་འཛིན་རང་ལུས་ལ། 51

ཚུལ་ཁྲིམས་དག་དང་ཤེས་རབ་བསམ་གཏན་གྱིས། 105

ཚེ་ནི་གནོད་མང་རླུང་གིས་བཏབ་པ་ཡི། 55

ཚེ་རིང་ལྷ་དང་གང་ཡང་རུང་བ་ནི། 64

འཚེ་དང་ཚོམ་རྐུན་འཁྲིག་པ་བརྫུན་དང་ནི། 10

ཞ

གཞན་གྱི་ཚུང་མ་མི་བལྟ་མཐོང་ན་ཡང་། 21

ཟ

གཟུགས་ནི་བདག་མ་ཡིན་ཞེས་གསུངས་ཏེ་བདག 49

ཡ

ཡང་དག་ལྟ་དང་འཚོ་དང་རྩོལ་བ་དང་། 113

ཡི་དྭགས་ན་ཡང་འདོད་པས་འཕོངས་པ་ཡིས། 91

ཡོན་ཏན་རང་བཞིན་དགེ་འོས་བདག་གིས་ནི། 1

གཡོ་བའི་སེམས་ནི་ཐོས་མཚུངས་བུ་ལྟ་བུར། 22

ར

རང་བཞིན་དགྲར་འབྲེལ་གཤེད་མ་ལྷ་བུ་དང་།	36
རིག་པའི་བདག་ཉིད་ཉིན་པར་མཐའ་དག་དང་།	39
རེ་རེའི་བདག་ཉིད་རུས་པའི་ཕུང་པོ་ནི།	68
རེ་རེས་རྒྱ་མཚོ་བཞི་ལས་ལྷག་པ་ཡིས།	67
རིག་པ་ལས་ནི་ཚོར་བ་ཀུན་འབྱུང་སྟེ།	110

ལ

ལན་ཚྭ་སྲང་འགས་ཆུ་ནི་ཉུང་ངུ་ཞིག	43
ལུང་མ་བསྟན་པ་བཅུ་བཞི་འཇིག་རྟེན་ན།	108
ལུས་ཀྱི་ཁ་དོག་མི་སྡུག་གྱུར་པ་དང་།	99
ལུས་མཐའ་ཐལ་བ་མཐར་སྐམ་མཐར་འབྲུལ་ཞིང་།	56
ལོག་པར་ལྟ་བ་འཛིན་དང་དུད་འགྲོ་དང་།	63
ལོངས་སྤྱོད་གཡོ་བ་སྙིང་པོ་མེད་མཁྱེན་ནས།	6

ཤ

ཤེས་རབ་མེད་པར་བསམ་གཏན་ཡོད་མིན་ཏེ།	107
ཤེས་རབ་ཚུལ་ཁྲིམས་གཏོང་འབྱུང་གྲགས་ཆེན་དྲི་མ་མེད།	122

ས

ས་དང་ལྷུན་པོ་རྒྱ་མཚོ་ཉི་མ་བདུན། 57
སེམས་ཅན་ཆུ་དང་ས་དང་རྡོ་བ་ལ། 77
སེམས་ཅན་ཉེས་པར་སྤྱད་པ་སྤྱོད་རྣམས་ལ། 17
སེར་སྣ་གཡོ་སྒྱུ་ཆགས་དང་སློམས་ལས་དང་། 12
སྲིང་མོ་ལྷ་བུར་རྗེས་མཐུན་གང་ཡིན་དང་། 37

ཧ

ལྷ་མིན་དག་ནའང་རང་བཞིན་གྱིས་ལྷ་ཡི། 102
ལྷ་ཡི་འཇིག་རྟེན་དག་ནས་འཕོས་པ་ལ། 101
ལྷ་ཡུལ་འདོད་བདེ་ཤིན་ཏུ་ཆེན་པོ་དང་། 74
ལྷག་པའི་ཚུལ་ཁྲིམས་ལྷག་པའི་ཤེས་རབ་དང་། 53

*****

ग्रन्थागतपारिभाषिकशब्दसंग्रहः

षडनुस्मृतयः -

बुद्धानुस्मृतिः धर्मानुस्मृतिः संघानुस्मृतिः त्यागानुस्मृतिः, शीलानुस्मृतिः देवतानुस्मृतिश्च।

बुद्धगुणाः - इत्यपि स भगवांस्तथागतोऽर्हन् सम्यक्संबुद्धो विद्याचरणसम्पन्नः सुगतो लोकविदनुत्तरः पुरुषदम्यसारथिः शास्ता देवानां च मनुष्याणां च बुद्धो भगवानिति।

धर्मगुणाः - स्वख्यातादयः, तद्यथा- स्वाख्यातो भगवतो धर्मः सान्दृष्टिको निर्ज्वर आकालिक औपनयिक ऐहिपश्यिकः प्रत्यात्मवेद्यो विज्ञैरिति।

संघगुणाः - सुप्रतिपन्नादयः, तद्यथा- सुप्रतिपन्नो भगवतः श्रावकसंघः, न्यायप्रतिपन्नः ऋजुप्रतिपन्नः सामीचीप्रतिपन्नः, यदुत चत्वारि पुरुषयुगानि अष्टौ पुरुषपुद्गलाः, एष भगवतः श्रावकसंघः आहवनीयः प्राहवनीयः अञ्जलिकरणीयः दक्षिणीयः अनुत्तरं पुण्यक्षेत्रं लोकस्येति।

त्यागगुणाः - अत्र तावत् स्वसन्तानान्तर्गतो दानगुणः, मात्सर्यमलप्रहाणं, दानशीलता, वीर्यारब्धकायता, वस्तुपरित्यागः त्यागाभिरतिश्चेति (गुणाः) सन्दर्शिताः।

शीलगुणाः - शीलं अखण्डम् अपरामृष्टम् अशबलम् अकल्मषं भुजिष्यं विज्ञप्रशस्तं समाधिप्रतिपन्नं चेति।

देवगुणाः - चातुर्महाराजिक-त्रायस्त्रिंशदेवेभ्य आरभ्य परनिर्मितवशवर्तिदेवपर्यन्ताः। तेषां देवानां तदीयानां गुणानां च

यदनुस्मरणं (सा देवानुस्मृतिः) तत् क्रियते। तत्रोपपन्नानां देवानां उत्पाद-सन्तत्यादयः, तेषां शील-समाधि-प्रज्ञादयश्च गुणा देवगुणा इत्युच्यन्ते।

दशकुशलाः कर्मपथा -

प्राणातिपातविरतिः अदत्तादानविरतिः काममिथ्याचारविरतिः मृषावादविरतिः पैशुन्यात् प्रतिविरतिः, पारुष्यवादात् प्रतिविरतिः सम्भिन्नप्रलापविरतिः, अभिध्यातः प्रतिविरतिः, व्यापादात् प्रतिविरतिः मिथ्यादृष्टेः प्रतिविरतिः इत्येते दश कुशलकर्मपथा।

षड्पारमिता -

दानपारमिता, शीलपारमिता, क्षान्तिपारमिता, वीर्यपारमिता, ध्यानपारमिता, प्रज्ञापारमिता।

अष्टाङ्गशीलम् --

प्राणातिपातविरतिः, अदत्तादानविरतिः, काममिथ्याचारविरतिः, मृषावादविरतिः, मद्यपानविरतिः, विकालभोजनविरतिः, उच्चाशयनविरतिः, नृत्यगीत-मालागन्धादिविशेषविरतिः।

अष्टलौकिकधर्माः -

हानि-लाभः, यशः-अयशः, अनुशंसा-निन्दा, सुख-दुःखम्।

सप्तार्यधनानि -

श्रद्धा, शीलम्, त्यागः, श्रुतम्, ह्रीः, अपत्राप्यम्, प्रज्ञा।

चत्वाराः ब्रह्मविहाराः -

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा।

चत्वारि ध्यानानि --

१. इह भिक्षवो भिक्षुः विविक्तं कामैः विविक्तं पापकैरकुशलैर्धर्मैः सवितर्क

सविचारं विवेकजं प्रीतिसुखं प्रथमं ध्यानमुपसंपद्य विहरति।

२. सवितर्कविचाराणां व्युपशमादध्यात्मसंप्रसादाच्चेतस एकोतीभावादवितर्कविचारं समाधिजं प्रीतिसुखं द्वितीयं ध्यानमुपसंपद्य विहरति।

३. स प्रीतिर्विरागादुपेक्षको विहरति, स्मृतः संप्रजानन् सुखं च कायेन प्रतिसंवेदयति, यत्तदार्या आचक्षते "उपेक्षकः स्मृतिमान् सुखविहारी" ति तृतीयं ध्यानमुपसंपद्य विहरति।

४. स सुखस्य च प्रहाणात् दुःखस्य च प्रहाणात् पूर्वमेव च सौमनस्यदौर्मनस्ययोरस्तङ्गमाद-दुःखासुखमुपेक्षास्मृतिपरिशुद्धं चतुर्थं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। इमानि भिक्षवश्चत्वारि ध्यानानि।

पञ्चनीवरणानि -

औद्धत्य-कौकृत्यम्, व्यापादः, स्त्यानमिद्धः, कामाध्यवसानम्, विचिकित्सा ।

चत्वारि स्मृत्युपस्थानानि -

कायस्मृत्युपस्थानम्, वेदनास्मृत्युपस्थानम्, चित्तस्मृत्युपस्थानम्, धर्मस्मृत्युपस्थानम्।

चत्वारो विपर्यासः -

दुःखे-सुखम्, अनित्ये-नित्यम्, अनात्मनि-आत्मा, अशुचौ-शुचिः।

त्रीणि संयोजनानि -

मिथ्यादृष्टिः, शीलव्रपरामर्शः, विचिकित्सा।

चत्वार्यार्यसत्यानि -

दुःखसत्यम्, समुदयसत्यम्, निरोधसत्यम्, मार्गसत्यम्।

त्रीणिशिक्षापदानि -

अधिशीलम्, अधिचित्तम्, अधिप्रज्ञा।

चत्वारि महाचक्राणि -

प्रतिरूपदेशवासः, सत्पुरुषसमाश्रयः, सत्प्रणिधानम्, स्वकीयपूर्वकुशलम्।

षडगतयः - नरकः, प्रेतः, तिर्यग्, मनुष्यः, देवः, असुरः।

अष्टावक्षणाः -

तत्र मिथ्यादृष्टिस्तावन्नास्ति परलोक इत्याकारो ग्राहः, तिर्यग्यौनावुत्पन्नस्तिर्यक्, प्रेतयोनावुत्पन्नः प्रेतः, नरकेषु चोत्पन्न नारकः, बुद्धोत्पादविकलत्वाज्जिनोपदेशाभावः, प्रत्यन्तजनपदेषु म्लेच्छरूपोपपत्तिः, सत्यपि बुद्धोत्पादे जडो मूकस्तु हस्तसंचालनेन संकेतयति।

अष्टनरकानि --

संजीवः, कालसूत्रः, संघातः, रौरवः, महारौरवः, तापनः, प्रतापनः, अवीचिः।

अष्टशीतनरकानि - अर्वुदः, निरर्वुदः, अठठः, हहवः, हुहुवः, उत्पलः, पद्मः, महापद्मः।

सप्तबोध्यङ्गानि -

स्मृतिः, धर्मप्रविचयः, वीर्यम्, प्रीतिः, प्रस्रब्धिः, समाधिः, उपेक्षा।

चतुर्दश अव्याकृतवस्तूनि --

शाश्वतो लोकः, अशाश्वतो लोकः, शाश्वतश्चाशाश्वतश्च, नैव शाश्वतो नाशाश्वतश्च, अन्तवांल्लोकः, अनन्तवांल्लोकः, अन्तवांश्चानन्तवांल्लोकश्च, नैवान्तवान्नानन्तवांश्च, भवति तथागतः परं मरणात्, न भवति तथागतः परं मरणात्, भवति न च भवति च तथागतः परं

मरणात्, नैव भवति न न भवति तथागतः परं मरणात्, स जीवस्तच्छरीरम्, अन्यो जीवोऽन्यच्छरीरं चेति।

द्वादशप्रतीत्यसमुत्पादाङ्गानि --

अविद्या, संस्कारः, विज्ञानम्, नामरूपम्, षडायतनम्, स्पर्शः, वेदना, तृष्णा, उपादानम्, भवः, जातिः, जरामरणम्।

आष्टाङ्गिकमार्गाः -

सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्संकल्पः, सम्यग्वाग्, सम्यक्कर्मान्तः, सम्यगाजीवः, सम्यग्व्यायामः, सम्यक्स्मृतिः, सम्यक्समाधिः।

पञ्चस्कन्धाः -

रूपस्कन्धः, वेदनास्कन्धः, संस्कारस्कन्धः, संज्ञास्कन्ध;, विज्ञानस्कन्धः।

*****

विशिष्टसंस्कृत-भोटशब्दानुक्रमणी

अकल्मषं	མ་གོས་པ་
अकल्याणमित्रसंसर्गेण	མི་དགེ་བའི་གྲོགས་པོ་དང་ཕྲད་པ་དང་
अकालभक्तम्	དུས་མིན་ཟས་
अकाले अस्थाने अदेशे अगमनीयावयवे वा	དུས་མ་ཡིན་དང་གནས་མ་ཡིན་པ་དང་ ཡུལ་མ་ཡིན་པ་དང་ཡན་ལག་ མ་ཡིན་པ་དང་
अक्षणाः	མི་ཁོམ་པ་
अखण्डम्	མ་ཉམས་པ་
अङ्गप्रत्यङ्गविकासः	ཡན་ལག་དང་ཉིང་ལག་རྒྱས་པ་
अजातशत्रुः	མ་སྐྱེས་དགྲ་
अञ्जलिकरणीयः	ཐལ་མོ་སྦྱར་བའི་འོས་སུ་གྱུར་པ་
अतृप्तिः	ངོམས་མི་ཤེས་པ་
अदत्तादानविरतिः	མ་བྱིན་པར་ལེན་པ་སྤོང་བ་
अधिचित्तम्	ལྷག་པའི་་སེམས་
अधिप्रज्ञा	ལྷག་པའི་ཤེས་རབ་
अधिशीलम्	ལྷག་པའི་ཚུལ་ཁྲིམས་
अनात्मन्यात्मा	བདག་མེད་པ་ལ་བདག་གོ་
अनास्रवसुखम्	ཟག་པ་མེད་པའི་བདེ་བ་
अनित्यदुःखशून्यानात्मस्वभावः	མི་རྟག་པ་དང་སྡུག་བསྔལ་བ་དང་བདག་ མེད་པའི་རྣམ་པ་ཅན་

अनुत्तरपुण्यक्षेत्रं लोकस्य	འཇིག་རྟེན་བསོད་ནམས་ཀྱི་ཞིང་བླ་ན་མེད་པ་
अनुत्तरसास्रवज्ञानाधिगमेन	ཟག་པ་མེད་པའི་ཡེ་ཤེས་བླ་ན་མེད་པས་
अनित्ये नित्यम्	མི་རྟག་པ་ལ་རྟག་པ་
अपत्राप्यम्	ཁྲེལ་ཡོད་པ་
अपरामृष्टम्	སྐྱོན་མེད་པ་
अपुनरावृत्त्या	ཕྱིར་མི་ལྡོག་པར་
अप्रमादोऽमृतपदम्	བག་ཡོད་བདུད་རྩིའི་གནས་
अप्संवर्तन्यां वायुसंवर्तन्याम्	ཆུས་འཇིག་པའི་དབང་གིས་དང་རླུང་གིས་འཇིག་པའི་དབང་གིས
अप्रतिसंख्यानिरोधः	སོ་སོ་མ་བརྟག་པར་འགོག་པ་
अप्रियकायवर्णः	ལུས་ཀྱི་མདོག་མི་སྡུག་པ་
अभिध्यातः प्रतिविरतिः	བརྣབ་སེམས་མེད་པ་
अभिनिर्वर्तकाङ्गम्	མངོན་པར་འགྲུབ་པར་བྱེད་པའི་ཡན་ལག་
अभिनिर्वृत्त्यङ्गम्	མངོན་པར་འགྲུབ་པར་བྱེད་པའི་ཡན་ལག་
अयोनिसोमनस्कारवशतया	ཚུལ་བཞིན་མ་ཡིན་པ་ཡིད་ལ་བྱེད་པའི་དབང་གིས་
अर्हन्	དགྲ་བཅོམ་པ་
अविद्या	མ་རིག་པ་
अविद्या प्रत्ययाः संस्काराः	མ་རིག་པའི་རྐྱེན་གྱིས་འདུ་བྱེད་
अवीचिः	མནར་མེད་

अशबलम्	མ་འདྲེས་པ་
अशुचौ शुचिः	མི་གཙང་བ་ལ་གཙང་བ་
अष्टलोकधर्मेषु	འཇིག་རྟེན་ཆོས་བརྒྱད་
अष्टविधसंवरः	སྡོམ་པ་རྣམ་པ་བརྒྱད་
अष्टाङ्गपोषधम्	གསོ་སྦྱོང་ཡན་ལག་བརྒྱད་པ་
अष्टौ पुरुषपुद्गलाः	སྐྱེས་བུ་གང་ཟག་ཡ་བརྒྱད་
अष्टौ महानरकाः	དམྱལ་བ་ཆེན་པོ་བརྒྱད་
असिपत्रवने	འདབ་མ་རལ་གྲི་ལྟ་བུའི་ཚལ་
आकालिकः	དུས་ཆད་པ་མེད་པ་
आक्षिप्ताङ्गम्	འཕངས་པའི་ཡན་ལག་
आक्षेपकाङ्गम्	འཕེན་པར་བྱེད་པའི་ཡན་ལག་
आत्मवादोपादानम्	བདག་ཏུ་ལྟ་བ་ཉེ་བར་ལེན་པ་
आवरणधर्मेभ्यश्चित्तस्य शोधनम्	སྒྲིབ་པར་འགྱུར་བའི་ཆོས་རྣམས་ལས་ སེམས་ཡོངས་སུ་སྦྱོང་བ་
आर्यावलोकितेश्वरः	འཕགས་པ་སྤྱན་རས་གཟིགས་
आर्यागीतयः	འཕགས་པའི་དབྱངས་འདི་དག་
आसक्तिः	ཆགས་པ་
आहवनीयः	ཀུན་ཏུ་སྦྱིན་པའི་འོས་སུ་གྱུར་པ་
उपकारिक्षेत्रं मित्राणि	ཕན་འདོགས་པའི་ཞིང་ནི་བཤེས་པ་
उदयनस्तावत् कुलपुत्रः	རིགས་ཀྱི་བུ་བདེ་བྱེད་
उपवसथसंवरः	བསྙེན་གནས་ཀྱི་སྡོམ་པ་
उपादानप्रत्ययो भवः	ལེན་པའི་རྐྱེན་གྱི་སྲིད་པ་

उपासकसंवरः उपासिकासंवरः	དགེ་བསྙེན་གྱི་སྡོམ་པ་ཧང་དགེ་བསྙེན་མའི་སྡོམ་པ་
ऋजुप्रतिपन्नः	དྲང་པོར་ཞུགས་པ་
एकायनो मार्गः	བགྲོད་པ་གཅིག་པའི་ལམ་
ऐहिपश्यिकः	འདི་མཐོང་བ་ལ་དོན་ཡོད་པ་
औद्धत्य-कौकृत्ये	རྒོད་དང་འགྱོད་
औपनायिकः	ཉེ་བར་གཏོད་པ་
कन्दुकोत्पलवनम्	པོ་ཡོང་བཏབས་པ་
करुणाक्षेत्रं दीनाः	སྙིང་རྗེ་ཞིང་ནི་བཀྲེན་པ་རྣམས་
कर्मस्वकता	ལས་བདག་གིར་བྱ་བ་ཉིད་
कललम्	ནུར་ནུར་པོ་
क्लेशारीणाम्	ཉོན་མོངས་པའི་དགྲ་
कामतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा	འདོད་པའི་སྲེད་པ་དང་འབྱུང་བའི་སྲེད་པ་དང་འཇིག་པའིསྲེད་པ་
कामाध्यवसानम्	འདོད་པ་ལ་འདུན་པ་
कामपरिवर्जनम्	འདོད་པ་རྣམ་པར་སྤངས་པ་
कामभवः रूपभवः अरूप्यभवश्च	འདོད་པའི་སྲིད་པ་དང་གཟུགས་ཀྱི་སྲིད་པ་དང་གཟུགས་མེད་པའི་སྲིད་པ་
काममिथ्याचारविरतिः	འདོད་པས་ལོག་པར་གཡེམ་པ་སྤོང་བ་
कामास्तावदनर्थोत्पादकाः	འདོད་པ་རྣམས་ནི་ཕུང་བསྐྱེད་པར་བྱེད་
कामरूपारूपेषु चर्याविशेषेण	འདོད་པ་ཧང་གཟུགས་དང་གཟུགས་མེད་ན་སྤྱོད་པའི་བྱེ་བྲག་གིས་
कामोपादानम्	བདོད་པ་ཉེ་བར་ལེན་པ་

कायवाक्चित्तैः	ལུས་དང་ཉི་ངག་དང་ཡིད་ལྷར་རྟག་ཏུ་
कायचित्तयोरकर्मण्यता	ལུས་དང་སེམས་ལས་སུ་མི་རུང་བ་
कायगताः स्मृतिः	ལུས་སུ་རྟོག་པའི་དྲན་པ་
कायात् स्वेदनिर्गमः	ལུས་ལས་རྡུལ་འབྱུང་བ་
कायसंस्कारा वाक्संस्कारा मनःसंस्काराः	ལུས་ཀྱི་འདུ་བྱེད་དང་ངག་གི་འདུ་བྱེད་ དང་ཡིད་ཀྱི་དུ་བྱེད་རྣམས་
कालसूत्रः	ཐིག་ནག་
काव्यम्	སྙན་ངག་
किम्पाकफलसमः	ཀིམྤཱཀའི་འབྲས་འདྲར་
कुक्कूल-कुणप-क्षुरधाराचित्तस्य महापथस्य	མེ་མ་མུར་དང་རོ་མྱགས་དང་སྤུ་གྲིའི་ སོ་གཏམས་པའི་ལམ་པོ་ཆེ་
कुशलसम्भारः	དགེ་ཚོགས་
कुशलधमहारकाणि	དགེ་བའི་ནོར་འཕྲོག་པར་བྱེད་པས་
कुशलाकुशलकर्माणि	དགེ་བ་དང་མི་དགེ་བའི་ལས་
कृमिपीडितो हि कुष्ठी	མཛེ་ཅན་སྲིན་བུས་ཉེན་པ་
कौसीद्यम्	སྙོམ་ལས་
क्षान्तिसमं नैव तपः	བཟོད་མཚུངས་དཀའ་ཐུབ་མ་མཆིས་
गुणगणान्वितोऽयं लेखः	སྤྲིང་ཡིག་ཡོན་ཏན་ཅན་
गुणसम्भारैः	ཡོན་ཏན་ཚོགས་རྣམས་ཀྱིས་
गृहस्थाः	ཁྱིམ་པ་རྣམས་
चतस्रो महानद्योऽनवतप्तः	ཆུ་བོ་ཆེན་པོ་བཞི་དང་མ་དྲོས་པ་
चतुरार्यसत्यालम्बकं मार्गम्	འཕགས་པའི་བདེན་བཞི་ལ་ དམིགས་པའི་ལམ་

चतुर्दश अव्याकृतवस्तूनि	ལུང་མ་བསྟན་པའི་དངོས་པོ་བཅུ་བཞི་
चत्वारि पुरुषयुगानि	སྐྱེས་བུ་ཟུང་བཞི་
चत्वारो विपर्यासः	ཕྱིན་ཅི་ལོག་བཞི་
चत्वार्यार्यसत्यानि	འཕགས་པའི་བདེན་པ་བཞི་
चातुर्महाराजिक त्रायस्त्रिंशदेवेभ्यः	རྒྱལ་ཆེན་རིས་བཞི་པའི་ལྷ་དག་དང་སུམ་ཅུ་རྩ་གསུམ་པནས་
चित्त-चैतसिकसूहः	སེམས་དང་སེམས་ལས་བྱུང་བའི་ཚོགས་
चित्तं दान्तं सुखावहम्	སེམས་དུལ་བ་ཉི་བདེ་བ་འཐོབ་
चित्तविपर्यासः	སེམས་ཕྱིན་ཅི་ལོག་པ་
जातिप्रत्ययाः जरामरणशोकपरिदेव दुःखदौर्मनस्योपायासाः	སྐྱེ་བའི་རྐྱེན་གྱིས་ཀ་བ་དང་འཆི་བ་དང་མྱ་ངན་ང་སྨྲེ་སྔགས་འདོན་པ་དང་སྡུག་བསྔལ་བ་དང་ཡིད་མི་བདེ་བ་དང་འཁྲུག་པ་རྣམས་འབྱུང་
जिनेन्द्रः	རྒྱལ་བའི་དབང་པོ་
जिनैर्बुद्धधर्मः	རྒྱལ་བའི་སངས་རྒྱས་ཆོས་
जिनोपदेशाभावः	རྒྱལ་བའི་དཀའ་མེད་པ་
तथागतः	དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་
तापनः	ཚ་བ་
तिसृषु दुर्गतिषु	ངན་སོང་གསུམ་
तिसृषु शिक्षासु	བསླབ་པ་གསུམ་ལ་
त्यागानुस्मृतिः	གཏོང་བ་རྗེས་སུ་དྲན་པ་

त्रिसाहस्रमहासाहस्रो लोकधातुः	སྟོང་གསུམ་གྱི་སྟོང་ཆེན་པོ་འཇིག་རྟེན་གྱི་ཁམས་
त्रीणि दानक्षेत्राणि	སྦྱིན་པའི་ཞིང་རྣམ་པ་གསུམ་
त्रीणि रत्नानि	དཀོན་མཆོག་གསུམ་
तृष्णाप्रत्ययमुपादानम्	སྲེད་པའི་རྐྱེན་གྱི་ལེན་པ་
त्रैधातुकतृष्णया	ཁམས་གསུམ་པའི་སྲེད་པས་བཟླན་པ་
दक्षणीयः	བསྐོར་བར་བྱ་བའི་འོས་སུ་གྱུར་པ་
दशकुशलाः कर्मपथाः	དགེ་བའི་ལས་ལམ་བཅུ་པོ་
दानपारमिता	སྦྱིན་པའི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་
दानशीलरता	སྦྱིན་པའི་ངང་ཚུལ་ཅན་
दानसंविभागरतः	སྦྱིན་པ་ལ་འགེད་པར་དགའ་བ་
द्वादशप्रतीत्यसमुत्पादव्यवस्थायाः	རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བའི་ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་རྣམ་པར་གཞག་པ་
दुःखाधिवासनक्षान्तिः	སྡུག་བསྔལ་དང་དུ་ལེན་པའི་བཟོད་པ་
दुर्गन्धशरीरा नवाशुचिद्वाराः	དྲི་ང་བ་དང་སྒོ་དགུ་རྡོད་པ་
द्यूतक्रीडा	རྒྱན་པོ་འགྱེད་པ་
दृष्टधर्मानुशंसामपरजन्मानुशंसां च	མཐོང་བའི་ཆོས་དང་ཚེ་ཕྱི་མའི་ཕན་ཡོན་
देवपुत्रः मण्डूकः	ལྷའི་བུ་སྦལ་བ་
देवतानुस्मृतिः	ལྷ་རྗེས་སུ་དྲན་པ་
देशनाधर्मः अधिगमधर्मश्च	བསྟན་པའི་ཆོས་དང་རྟོགས་པའི་ཆོས་
दुःखे सुखमिति	སྡུག་བསྔལ་ལ་བདེ་བའོ་
दृष्टिविपर्यासः	ལྟ་བ་ཕྱིན་ཅི་ལོག་པ་

दुःसंगतिः	གྲོགས་མེད་པ་
द्वादशप्रतीत्यसमुत्पादाङ्गानि	རྟེན་ཅིང་འབྲེལ་བར་འབྱུང་བའི་ཡན་ལག་བཅུ་གཉིས་
दुःखसत्यम् समुदयसत्यम् निरोधसत्यम् मार्गसत्यम् च	སྡུག་བསྔལ་གྱི་བདེན་པ་དང་ ཀུན་འབྱུང་གི་བདེན་པ་དང་འགོག་པའི་བདེན་པ་དང་ལམ་གྱི་བདེན་པའོ་
दृष्ट्युपादानम्	ལྟ་བ་ཉེ་བར་ལེན་པ་
धर्मानुस्मृतिः	ཆོས་རྗེས་སུ་དྲན་པ་
ध्यानयोगः	བསམ་གཏན་གྱི་སྦྱོར་བ་
ध्यानविमोक्षविरुद्धा धर्माः	བསམ་གཏན་དང་རྣམ་པར་ཐར་པ་དང་འགལ་བའི་ཆོས་
नन्दाङ्गुलिमालः	དགའ་པོ་སོར་ཕྲེང་
नरकानलेन्धनीभावात्	དམྱལ་བའི་མེའི་བུད་ཤིང་ལས
नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्	མིང་གཟུགས་ཀྱི་རྐྱེན་གྱིས་སྐྱེ་མཆེད་དྲུག་
निरुपधिसेषनिर्वाणधातौ	ཕུང་པོ་ལྷག་མ་མེད་པའི་མྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་དབྱིངས་སུ་
निर्ज्वरः	ནད་མེད་པ་
निर्वाणसुखम्	མྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་བདེ་བ་
निर्वेधभागीयः	ངེས་པར་འབྱུང་བའི་ཆ་དང་མཐུན་པ་
नृत्यगीतानि	གླུ་དག་དང་གར་
न्यायप्रतिपन्नः	རིགས་པར་ཞུགས་པ་

पञ्चनीवरणानि	སྒྲིབ་པ་ལྔ་
पञ्चोपादानस्कन्धाः	ཉེ་བར་ལེན་པའི་ཕུང་པོ་ལྔ་
पदमवैवर्तिकम्	ཕྱིར་མི་ལྡོག་པ་ཉིད་
परनिर्मितवशवर्ति	གཞན་འཕྲུལ་དབང་བྱེད་
परमार्थज्ञानम्	དོན་དམ་པའི་ཡེ་ཤེས་
परापकारमर्षणक्षान्तिः	གཞན་གྱིས་གནོད་པ་བྱས་པ་ལ་མི་ མཇེད་པའི་བཟོད་པ་
परिशुद्धे बुद्धक्षेत्रे	སངས་རྒྱས་ཀྱི་ཞིང་ཡོངས་སུ་ སྦྱངས་ནས་
पापधर्मः	སྡིག་པའི་ཆོས་
पारुष्यवादात् प्रतिविरतिः	ཚིག་རྩུབ་མོ་སྤོང་བ་
पुण्यमयैश्चाजीवैः	དགེ་བའི་འཚོ་བ་ལ་ཡང་
पुनः पुनः देहपरित्यागः	ལུས་ཡང་ནས་ཡང་དུ་འདོར་བ་
पुनः पुनरुन्नतावनतभावः	ཡང་དང་ཡང་དུ་མཐོ་དམན་གྱི་ ངོ་བོར་འགྱུར་བ་
पुनः पुनः प्रतिसन्धिः	ཡང་དང་ཡང་དུ་ཉིང་མཚམས་སྦྱོར་བ་
पुरुषदम्यसारथिः	སྐྱེས་བུ་འདུལ་བའི་ཁ་ལོ་བསྒྱུར་བ་
पुष्पमालाया म्लानता	མེ་ཏོག་གི་ཕྲེང་བ་རྙིང་བ་
पूतिः	དྲི་ང་བ་
पृथ्वीमेरुसमुद्राः	ས་དང་ལྷུན་པོ་རྒྱ་མཚོ་
पैशुन्यात् प्रतिविरतिः	ཕྲ་མ་སྤོང་བ་
पौनर्भविकी नन्दीरागसहगता	ཡང་འབྱུང་བའི་སྲིད་པ་དགའ་བའི་ འདོད་ཆགས་དང་ལྷན་ཅིག་པ་

प्रतिसन्धिचित्तम्	མཚམས་སྦྱོར་བའི་སེམས་
प्रकाशात्प्रकाशे	སྣང་ནས་སྣང་བའི་མཐར་ཐུག་
प्रतापनः	རབ་ཏུ་ཚ་བ་
प्रत्यन्तजनपदेषु म्लेच्छरुपोपपत्तिः	མཐའ་འཁོབ་ཏུ་ཀླ་ཀློར་སྐྱེ་བ་
प्रत्यात्मवेद्यो विज्ञैः	མཁས་པ་རྣམས་ཀྱིས་སོ་སོར་རང་གིས་ རིག་པར་བྱ་བ་
प्रज्ञाभावे ध्यानम्	ཤེས་རབ་མེད་ལ་བསམ་གཏན་
प्राणातिपातविरतिः	སྲོག་གཅོད་པ་སྤོང་བ་
प्रातिमोक्षसूत्रम्	སོ་སོ་ཐར་པའི་མདོ་
प्राहवनीयः	རབ་ཏུ་སྦྱིན་པའི་འོས་སུ་གྱུར་པ་
प्रीतिपरिवर्जनम्	དགའ་བ་རྣམ་པར་སྤངས་པ་
ब्रह्मकायिकदेवानां सभागतायाम्	ཚངས་རིས་ཀྱི་ལྷ་རྣམས་དང་སྐལ་བ་ མཉམ་པར་
ब्रह्मचर्याचरणस्यातिदुष्करत्वात्	ཚངས་པར་སྤྱོད་པ་དཀའ་བའི་ཕྱིར་
ब्रह्मलोकसुखम्	ཚངས་པའི་འཇིག་རྟེན་བདེ་བ་
ब्रह्मभास्वरः	ཚངས་པ་དང་འོད་གསལ་
बुद्धानुस्मृतिः	སངས་རྒྱས་རྗེས་སུ་དྲན་པ་
बृहत्फलदेवानाम्	འབྲས་བུ་ཆེ་བའི་ལྷ་རྣམས་
बोधिमण्डप्रस्थानम्	བྱང་ཆུབ་ཀྱི་སྙིང་པོ་ལ་བཞུགས་པ་
बोधिसत्त्वसमाधि माहात्म्येन	བྱང་ཆུབ་སེམས་དཔའི་ཏིང་ངེ་འཛིན་གྱི་ ཆེ་བའི་བདག་ཉིད་ཀྱིས་
बोध्यङ्गानि	བྱང་ཆུབ་ཀྱི་ཡན་ལག་
भवप्रत्यया जातिः	སྲིད་པའི་རྐྱེན་གྱིས་སྐྱེ་བ་

भवसागरपारगः	སྲིད་པའི་རྒྱ་མཚོའི་ཕ་རོལ་ཕྱིན་པ་
भावानामविपरीतहेतुः	དངོས་པོ་རྣམས་ཀྱི་རྒྱུ་ཕྱིན་ཅི་མ་ལོག་པ་
भिक्षुसंवरः भिक्षुणीसंवरः	དགེ་སློང་གི་སྡོམ་པ་དང་དགེ་སློང་མའི་སྡོམ་པ་
भुषिज्यम्	རང་དབང་ཡོད་པ་
भूमिपर्वतादिमहाभूतादीनाम्	ས་དང་རི་ལ་སོགས་པ་འབྱུང་བ་
मधु-पुष्पाशुचितुल्याः	སྦྲང་རྩི་མེ་ཏོག་མི་གཙང་ལྟ་བུ་
मनः पूर्वङ्गमा धर्माः	ཡིད་མི་ཆེས་རྣམས་ཀྱི་སྔོན་དུ་འགྲོ་བའོ་
महामुनिः	ཐུབ་པ་ཆེན་པོ་
महामुनेर्भगवतो बुद्धस्य	ཐུབ་པ་ཆེན་པོ་སངས་རྒྱས་བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་
महायाने	ཐེག་པ་ཆེན་པོ་ལ་
महारौरवः	ངུ་འབོད་ཆེན་པོ་
मात्सर्यमलप्रहाणम्	ལེར་སྣའི་དྲི་མ་སྤངས་པ་
मालागन्धादिविशेषः	སྤོས་དང་ཕྲེང་བ་སྤྱོད་པ་
मिथ्यादृष्टेः प्रतिविरतिः	ཡང་དག་པའི་ལྟ་བ་
मुदिता	དགའ་བ་
मृषावादविरतिः	བརྫུན་དུ་སྨྲ་བ་སྤོང་བ་
मैत्री	བྱམས་པ་
मैथुनतृष्णा	འཁྲིག་པ་ལ་སྲེད་པ་
मैरेयम्	སྦྱར་བའི་ཆང་
मोक्षाधिगमहेतुः	ཐར་པ་ཐོབ་པའི་རྒྱུ་
मोक्षानुकूलधर्मश्रवणम्	ཐར་པ་དང་མཐུན་པའི་ཆོས་མཉན་པ་

यायजूकः	མཆོད་སྦྱིན་ཁོར་མོར་བྱེད་པ་
यथा भावानां स्थितिः	དངོས་པོ་ཇི་ལྟ་བ་གནས་པ་
रूपं नैव आत्मा	གཟུགས་ནི་བདག་མ་ཡིན་
रौरवः	ངུ་འབོད་
लयनपर्येषणाय शरणगवेषणाय	གནས་ཚོལ་བ་སྐྱབས་ཚོལ་བ་
लाभसत्कारादिभिः	རྙེད་པ་དང་བཀུར་སྟིས་
लोकनाथः	འཇིག་རྟེན་གྱི་མགོན་པོ་
लोकविदनुत्तरः	འཇིག་རྟེན་མཁྱེན་པ་བླ་ན་མེད་པ་
लौकिकधर्माः	འཇིག་རྟེན་གྱི་ཆོས་རྣམས་
लौकिकानि लोकोत्तराणि	འཇིག་རྟེན་དང་འཇིག་རྟེན་ལས་ འདས་པ་
वंशानुपच्छेदहेतुः	རིགས་མི་ཉམས་པའི་རྒྱུ་
विचिकित्सा	ཐེ་ཚོམ་
विज्ञप्रशस्तम्	མཁས་པས་བསྔགས་པ་
विद्याचरणसम्पन्नः	རིག་པ་དང་ཞབས་སུ་ལྡན་པ་
विपाकफलम्	རྣམ་པར་སྨིན་པའི་འབྲས་བུ་
विसंवादाशयः	བསླུ་བའི་བསམ་པ་
विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्	རྣམ་པར་ཤེས་པའི་རྐྱེན་གྱིས་མིང་ དང་གཟུགས་
विज्ञानकायाः	རྣམ་པར་ཤེས་པའི་ཚོགས་དྲུག་
विपाकविज्ञानस्य	རྣམ་པར་སྨིན་པའི་རྣམ་པར་ཤེས་པ་
वेदनाप्रत्यया तृष्णा	ཚོར་བའི་རྐྱེན་གྱིས་སྲེད་པ་
व्याधिजरामरणम्	ན་བ་དང་རྒ་བ་དང་འཆི་བ་

व्यापादात् प्रतिविरतिः	གནོད་སེམས་མེད་པ་
व्यवसर्गरतः	རྣམ་པར་གཏོང་བ་ལ་དགའ་བ་
शाठ्यम्	གཡོ་
शास्ता देवानां च मनुष्याणाम्	ལྷ་དང་མི་རྣམས་ཀྱི་སྟོན་པ་
शीतनरकाः	གྲང་བའི་དམྱལ་བ་
शीलपारमिता	ཚུལ་ཁྲིམས་ཀྱི་ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་
शीलव्रतोपादानम्	ཚུལ་ཁྲིམས་དང་བརྟུལ་ཞུགས་ཉེ་བར་ལེན་པ་
शील-समाधि-प्रज्ञादयश्च देवगुणाः	ཚུལ་ཁྲིམས་དང་ཏིང་ངེ་འཛིན་དང་ཤེས་རབ་ཀྱི་ཡོན་ཏན་ནི་ལྷའི་ཡོན་ཏན་
शीलानुस्मृतिः	ཚུལ་ཁྲིམས་རྗེས་སུ་དྲན་པ་
शुभकृत्स्नानाम्	དགེ་རྒྱས་
श्रमणब्राह्मणाः	དགེ་སྦྱོང་དང་བྲམ་ཟེ་རྣམས་
श्रामणेरसंवरः श्रामणेरीसंवरः	དགེ་སྦྱོང་གི་སྡོམ་པ་དང་དགེ་སྦྱོང་མའི་སྡོམ་པ་
श्रावकप्रत्येकबुद्धेभ्यो विशिष्टत्वात्	ཉན་ཐོས་དང་རང་སངས་རྒྱས་དག་ལས་ཁྱད་པར་དུ་འཕགས་པའི་ཕྱིར་
षट्सु कामावचरदेवेषु	འདོད་པ་ན་སྤྱོད་པའི་ལྷ་དྲུག་
षडगतिका नियतदुःखानुभूतिः	འགྲོ་བ་དྲུག་གི་ངེས་པའི་སྡུག་བསྔལ་ཉམས་སུ་མྱོང་བ་
षडनुस्मृतयः	རྗེས་དྲན་དྲུག་
षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः	སྐྱེ་མཆེད་དྲུག་གི་རྐྱེན་གྱིས་རེག་པ་
संसारचक्रस्य अराणाम्	འཁོར་བའི་འཁོར་ལོའི་རྩིབས་

संसारदोषान्	འཁོར་བའི་ཉེས་པ་
संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्	འདུ་བྱེད་ཀྱི་རྐྱེན་གྱིས་རྣམ་པར་ཤེས་པ་
संघातः	བསྡུས་འཛོམས་
संघानुस्मृतिः	དགེ་འདུན་རྗེས་སུ་དྲན་པ་
संजीवः	ཡང་སོས་
संज्ञा विपर्यासः	འདུ་ཤེས་ཕྱིན་ཅི་ལོག་པ་
सत्करणीयं गुरुस्थानीयम्	བཀུར་སྟི་བྱ་བར་འོས་པ་ བླ་མ་ལྟ་བུའི་གནས་
सत्कायदृष्टिः	འཇིག་ཚོགས་ལ་ལྟ་བ་
सत्त्वरजस्तमः स्वभावाः	སྙིང་སྟོབས་དང་རྡུལ་དང་མུན་པའི་ངོ་བོ་
सत्त्वलोको भाजनलोकश्च	སེམས་ཅན་གྱི་འཇིག་རྟེན་དང་སྣོད་ཀྱི་ འཇིག་རྟེན་
सद्धर्मश्रवणयोग्यः	དམ་པའི་ཆོས་མཉན་པའི་འོས་
सन्तोषधनम्	ཆོག་ཤེས་པའི་ནོར་
सप्तार्कज्वालैर्नाविशिष्यन्ते	ཉི་མ་བདུན་འབར་བས་བསྲེག་པའི་ལུས་ པར་མི་འགྱུར་
समाधिप्रतिपन्नम्	ཏིང་ངེ་འཛིན་བསྒྲུབ་པ་
सम्भिन्नप्रलापविरतिः	ཚིག་ཀྱལ་བ་སྤོང་བ་
सम्यक्कर्मान्तः	ཡང་དག་པའི་ལས་ཀྱི་མཐའ་
सम्यक्संकल्पः	ཡང་དག་པའི་རྟོག་པ་
सम्यक्समाधिः	ཡང་དག་པའི་ཏིང་ངེ་འཛིན་
सम्यक्सम्बुद्धः	ཡང་དག་པར་རྫོགས་པའི་སངས་རྒྱས་
सम्यगाजीवः	ཡང་དག་པའི་འཚོ་བ་

सम्यग्दृष्टिः	ཡང་དག་པའི་ལྟ་བ་
सम्यग्वाग्	ཡང་དག་པའི་ངག་
सम्यग्व्यायामः	ཡང་དག་པའི་རྩོལ་བ་
सम्यक्स्मृतिः	ཡང་དག་པའི་དྲན་པ་
सर्वकुशलमूलोत्पादहेतुः	དགེ་བའི་རྩ་བ་ཐམས་ཅད་སྐྱེད་པའི་རྒྱུ་
सर्वधर्मप्रध्वंसः	ཆོས་ཀུན་འཇིགས་པར་བགྱུར་
सर्वसत्त्वेष्वाघातचित्तता	སེམས་ཅན་རྣམས་ལ་ཀུན་ནས་ མནར་སེམས་པ་
सवासनक्लेशोत्पादः	ཉོན་མོངས་དང་སྐྱེ་བ་བག་ཆགས་ དང་བཅས་པ་
सान्दृष्टिकः	ཡང་དག་པར་མཐོང་བ་
सामीचीप्रतिपन्नः	མཐུན་པར་ཞུགས་པ་
सारहीनाः	སྙིང་པོ་མེད་པ་
सुकृतदुष्कृतानां कर्मणाम्	ལེགས་པར་སྤྱད་པ་དང་ཉེས་པར་སྤྱད་ པའི་ལས་རྣམས་
सुखदुःखपरिवर्जनम्	བདེ་བ་དང་སྡུག་བསྔལ་བ་རྣམ་པར་ སྤངས་པ་
सुगतवचः	དེ་བཞིན་གཤེགས་པའི་གསུང་
सुगतीनां मार्गत्वात्	བདེ་འགྲོའི་ལམ་ཡིན་པས་
सुनष्टज्वरवदिति	རིམ་ནད་ལེགས་པར་བྱང་བ་བཞིན་
सुप्रतिपन्नो भगवतः श्रावकसंघः	ཉན་ཐོས་ཀྱི་དགེ་འདུན་ནི་ལེགས་པར་ ཞུགས་པ་
सुभगेषु मनुष्येषु देवेषु	ལྷ་དང་མི་དབང་ཐང་ཆེན་པོ་རྣམས་

	གྱི་ནང་དུ་
सुरम्यकामावचरादिदेवकायम्	འདོད་སྤྱོད་ལྷ་ལུས་ཡིད་འོང་བ་
सोपधिशेषं निरुपधिशेषं च	ཕུང་པོའི་ལྷག་མ་མེད་པ་དང་།
	ཕུང་པོའི་ལྷག་མ་དང་བཅས་པ
स्रोत-आपत्तिफलम्	རྒྱུན་དུ་ཞུགས་པའི་འབྲས་བུ་
सौमन्य-दौर्मनस्यादयः	ཡིད་བདེ་བ་དང་ཡིད་མི་བདེ་བ་སོགས་
स्त्यानमिद्धम्	རྨུགས་པ་དང་གཉིད་
स्पर्शप्रत्यया वेदना	རེག་པའི་རྐྱེན་གྱིས་ཚོར་བ་
स्मृतिमभिमुखीं कृत्वा	དྲན་པ་དང་ལྡན་ཞིང་
स्वकीय आसने नाभिरतिः	རང་གི་སྟན་ལ་མི་དགའ་བ་དང་
स्वसन्तानान्तर्गतः	རང་གི་རྒྱུན་དུ་གཏོགས་པའི་
स्वाख्यातो भगवतो धर्मः	བཅོམ་ལྡན་འདས་ཀྱི་ཆོས་ནི་
	ལེགས་པར་གསུངས་པ་
ह्रीः	ངོ་ཚ་ཤེས་པ་

*****

उद्धृतग्रन्थानुक्रमणिका

अट्ठशालिनीकथा :

१. "तत्थ पाणस्स अतिपातो पाणातिपातो नामः, पाणवधो, पाणघातो ति वुत्तं होति। पाणो ति चेत्थ वोहारतो सत्तो, परमत्तो जीवितिन्द्रियं, तस्मिं पन पाणे पाणसञ्चिनो जीवितिन्द्रियुपच्छेदक-उपक्कमसमुट्ठापिका कायवचीद्वारानं अञ्ञतरद्वारप्पवत्ता वधकचेतना पाणातिपातो।" -पृ. 19

२. "अदिन्नस्स आदानं 'अदिन्नादानं' ; परस्सहरणं थेय्यं, चोरितं ति वुत्तं होति। .... तस्मिं पन परपरिग्गहितसञ्ञिनो तदादायक-उपक्कमसमुट्ठापिका थेय्यचेतना अदिन्नादानं।" -पृ. 20

३. "कामेसुमिच्छाचारो ति एत्थ पन 'कामेसू' ति मेथुनसमाचारेसु। 'मिच्छाचारो' एकन्तनिन्दितो लामकाचारो। लक्खणतो पन असद्धम्माधिप्पायेन कायद्वारप्पवत्ता अगमनीयट्ठान-वीतिक्कमचेतना 'कामेसुमिच्छाचारो'।" -पृ. 20

४. " 'मुसा' ति विसंवादनपुरेक्खारस्स ....। विसंवादनाधिप्पायेन परस्स .... मुसावादो। अपरो नयो- 'मुसा' ति अभूतं अतच्छं वत्थु। 'वादो' ति तस्स .... तथाविञ्ञत्तिसमुट्ठापिका चेतना मुसावादो ति।" -पृ. 21

५. "तत्थ सङ्किट्ठचित्तस्स परेसं वा भेदाय .... कायवचीपयोगसमुट्ठापिका पिसुणा वाचा नाम।" -पृ. 21

६. "याय पन अत्तानं पि परं पि फरुसं करोति, या वाचा सयं पि फरुसा नेव कण्णसुखा, न हदयङ्गमा, अयं 'फरुसा वाचा' नाम। .....परस्स मम्मच्छेदककायवचीपयोगसमुट्ठापिका एकन्तफरुसचेतना 'फरुसावाचा'। -पृ. 22

७. "येन सम्फं पलपति निरत्थकं सो 'सम्फप्पलापो'। ......अनत्थविञ्ञापिका कायवचीपयोगसमुट्ठापिका अकुसलचेतना 'सम्फप्पलापो'।" -पृ. 22

८. "अभिज्झायतीति अभिज्झा। परभण्डाभिमुखी हुत्वा तन्निन्नताय पवत्ततीति अत्थो। सा 'अहो तव इदं ममस्सा' ति एवं परभण्डाभिज्झायनलक्खणा।" --पृ. 23

९. "हितसुखं व्यापादयतीति 'व्यापादो'। सो परविनासाय मनोपदोसलक्खणो।" -पृ. 23

१०. "यथाभुच्चगहणाभावेन मिच्छा पस्सतीति 'मिच्छादिट्ठि'। सा 'नत्थि दिन्नं' ति आदिना नयेन विपरीतदस्सन- लक्खणा।" -पृ. 23

अभिधर्मकोशभाष्य एवं स्फुटार्था :

१. ग्रन्थज्ञो देवानां प्रियो न त्वर्थज्ञः। अर्थश्च प्रतिसरणमुक्तं भगवता। ....
अर्थश्च प्रतिसरणनुक्तं भगवतेति। "चत्वारीमानि भिक्षवः प्रतिसरणानि।
कतमानि चत्वारि? धर्मः प्रतिसरणं न पुद्गलः, अर्थः प्रतिसरणं न व्यञ्जनम्,
नीतार्थसूत्रं प्रतिसरणं न नेयार्थम्, ज्ञानं प्रतिसरणं न विज्ञानम्।" इति। -पृ. 5

२. नरकप्रेततिर्यञ्चो मनुष्याः षट् दिवौकसः।
कामधातुः ....।।
तत्र भाजनलोकस्य सन्निवेशमुशन्त्यधः।
लक्षषोडशकोद्वेधमसंख्यं वायुमण्डलम्।। -पृ. 10

३. सद्धर्मो द्विविधः शास्तुरागमाधिगमात्मकः।
धातारस्तस्य वक्तारः प्रतिपत्तार एव च ।।
....
.... आगमस्य तु भूयांसं कालमित्यपरे। -पृ. 13

४. दशकर्मपथा उक्ता यथायोगं शुभाशुभाः। -पृ. 17
५. प्राणातिपातः सञ्चिन्त्य परस्याभ्रान्तिमारणम्। -पृ. 19
६. अदत्तादानमन्यस्वस्वीक्रिया बलचौर्यतः। -पृ. 19
७. अगम्यगमनं काममित्याचारश्चतुर्विधः। -पृ. 20
८. अन्यसंज्ञोदितं वाक्यमर्थाभिज्ञे मृषावचः। -पृ. 20
९. पैशुन्यं क्लिष्टचित्तस्य वचनं परभेदने। -पृ. 21
१०. पारुष्यमप्रियम् ....। -पृ. 22
११. .... सर्वं क्लिष्टं भिन्नप्रलापिता।।
अतोऽन्यत् क्लिष्टमित्यन्ये, लपनागीतनाट्यवत्।
कुशास्त्रवच्च, ... ।। -पृ. 22
१२. अभिध्या तु परस्वविषमस्पृहा।। -पृ. 23
व्यापादः सत्त्वविद्वेषः, ...। -पृ. 23
१३. .... नास्तिदृष्टिः शुभाशुभे।
मिथ्यादृष्टिः, ... ।। -पृ. 23
१४. आत्मदृष्टिरात्मीयदृष्टिर्वा सत्कायदृष्टिः। .... इत्येतास्ताः पञ्च दृष्टयो वेदितव्याः। -पृ. 24
१५. प्रतिक्षेपणसावद्यान्मद्यादेव, ...
किं कारणं मद्यादेव, नान्यस्मात्?
......अन्यगुप्तये।।
मद्यं पिबतोऽन्यान्यप्यङ्गान्यगुप्तानि स्युः।
कथं पुनर्मद्यपानं प्रतिक्षेपणसावद्यं गम्यते? प्रकृतिसावद्यलक्षणाभावात्। ....
मदयन्तीति सुरामैरेयग्रहणम्। ...... सर्वप्रमादास्पदत्वादिति। -पृ. 25
१६. दीयते येन तद्दानम्, ...। .... परेषां पूजानुग्रहकामताभ्यां .... स्याद्येन दीयते?
कायवाक्कर्म सोत्थानम्, ...
शुभेन मनसा द्रव्यं स्वं ददाति यदा पुमान्।
तत् क्षणं कुशलाः स्कन्धाः दानमित्यभिधीयते।।
तच्चैतद् दानमयं पुण्यक्रियावस्तु महाभोग्यफलम्।......... तत् खल्वेतद् दानम्--

स्वपरार्थोभयार्थाय नोभयार्थाय दीयते।
तद्विशेषः पुनर्दातृवस्तुक्षेत्रविशेषतः ।।
दाता विशिष्टः श्रद्धाद्यैः, सत्कृत्यादि ददाति अतः।
सत्कारोदाररुचिता कालानाच्छेद्यलाभिता।।
वर्णादिसम्पदा वस्तु सुरूपत्वं यशस्वि वा।
प्रियता सुकुमारर्तुसुखस्पर्शाङ्गता ततः।। -पृ. 26

१७. गतिदुःखोपकारित्वगुणैः क्षेत्रं विशिष्यते। ..... तथा ह्युक्तं भगवता-- "तिर्यग्योनिगताय दानं दत्त्वा शतगुणो विपाकः प्रतिकाङ्क्षितव्यः। .... मातापित्रोरन्येषां चोपकारिणाम् ; ऋक्षमृगजातकाद्युदाहरणात्।
मातृपितृग्लानधार्मकथिकेभ्योऽन्त्यजन्मने।
बोधिसत्त्वाय चामेया अनार्येभ्योऽपि दक्षिणा।। -पृ. 26

१८. दौःशील्यतद्धेत्वहतं तद्विपक्षसमाश्रितम्।
दौःशील्येन तावदनुपहतं .... चतुर्विधं शीलमित्यपरे। १. भयशीलम्-- .... पाल्यते। २. आशास्तिशीलम्-- यद्भवभोगसत्कारतृष्णाकृतम्। ३. बोध्यङ्गानुलोमं शीलम्-- ..... सम्यग्दृष्टिकानाम्। ४. परिशुद्धं शीलम्-- .... निर्मलत्वादिति। -पृ. 28

१९. विषकर्मणां विरतिसमादानाच्छीलम्, ...। "सुखशीलसमादानं कायो न परिदह्यते।" -पृ. 28

२०. सर्वत्र सर्वं ददतः कारुण्याद् दानपूरणम्।
यदा सर्वस्मै सर्वं ददाति .... तिष्यं तथागतरत्नगुहायां तेजोधातुसमापन्नदृष्ट्या भगवान् बोधिसत्त्वभूत ..... सप्त दिवसान् स्तुतवानेकगाथया---
"न दिवि भुवि वा नास्मिन् लोके न वैश्रवणालये।
न मरुभवने दिव्यस्थाने न दिक्षु विदिक्षु च।।
चरतु वसुधां स्फीतां कृत्स्नां सपर्वतकाननाम्।
पुरुषवृषभस्त्वत्तुल्योऽन्यो महाश्रमणः कुतः ।।" इति।
तदा किल वीर्यपारमिता परिपूर्णा, नव च कल्पाः प्रत्युदावर्तिताः।
.... धीसमाध्योरनन्तरम्।
बोधेः पूर्वसमनन्तरं .... परिपूरिः। वज्रोपमसमाधौ स्वस्याः सम्पदः पारगमनात् पारमिताः। -पृ. 30

२१. पञ्चाष्टदशसर्वेभ्यो वर्ज्येभ्यो विरतिग्रहात्।
उपासकोपवासस्थश्रमणोद्देशभिक्षुता ।।
यथासंख्यमनुदेशो वेदितव्यः। .... प्राणातिपाताद्, अदत्तादानात्, कामिमिथ्याचारात्, ...। -पृ. 33
अष्टाभ्यो विरतिसमादानादुपवासस्थः .... भिक्षुरित्युच्यते।

२२. शीलाङ्गान्यप्रमादाङ्गं व्रताङ्गानि यथाक्रमम्।
चत्वार्येकं तथा त्रीणि स्मृतिनाशो मदश्च तैः ।। -पृ. 33
चत्वारि तावच्छीलाङ्गानि .... तदभावादुभयं न स्यादिति।

२३. अर्हतां समीपे वसन्त्यनेनेति उपवासः, ...। यावज्जीविकसंवरसमीपे वसन्त्यनेनेत्यपरे। .... पोषध इति वा। "पोषं दधाति मनसः .... भगवता किल पोषधोऽयम्।" इति। -पृ. 34

२४. यथा मञ्चस्थेषु पुरुषेषु क्रोशत्सु मञ्चाः क्रोशन्तीत्युपचारः तद्वत्। -पृ. 34

२५. "इहायुष्मन्तो भिक्षुः शीलसम्पन्नश्च ... समाधिसम्पन्नश्च प्रज्ञासम्पन्नश्च। .... यथाभूतं प्रजानाति। ..... दिव्ये मनोमये काय उपपद्यते। स तत्रोपपन्नोऽभीक्ष्णं .... यथाभूतं प्रजानाति" इति। -पृ. 34

२६. सूत्रोक्तम्-- ते भवन्ति रूपिणो मनोमयाः सर्वाङ्गप्रत्यङ्गोपेता अविकला अहीनेन्द्रियाः शुभा वर्णस्थायिनः स्वयम्प्रभा विहायसङ्गमाः प्रीतिभक्षाः प्रीत्याहारा दीर्घायुषो दीर्घमध्वानं तिष्ठन्ति।
-पृ. 34

२७. यावज्जीवं समादानमहोरात्रं च संवृत्तेः। सप्तवैकायिकस्य प्रतिमोक्षसंवरस्य यावज्जीवं समादानम्, उपवाससंवरस्य अहोरात्रमित्येष नियमः । - पृ. 35

२८. धर्मामिषकौशलप्रदानविरोधी चित्ताग्रहो मात्सर्यम्। -पृ. 35

२९. धर्मस्यामिषस्य च प्रदाने विरोधी चित्तस्याग्रहो मात्सर्यम्। मा मत्तः सरतु इत्याकारो मत्सपरः। मत्सर एव मात्सर्यम्। मत्सरिणो वा भावो मात्सर्यम्। -पृ. 35

३०. कौसीद्यं चेतसो नाभ्युत्साहो वीर्यविपक्षः। -पृ. 36

३१. .... मान उन्नतिः ।
येन केनचित् परतो विशेषपरिकल्पेन चेतस उन्नतिः मानः। -पृ. 37

३२. मदः स्वधर्मे रक्तस्य पर्यादानं तु चेतसः।।
मदस्तु स्वधर्मेष्वेव रक्तस्य यच्चेतसः पर्यादानम्। ..... सम्प्रहर्षणविशेषो मद इत्यपरे।
-पृ. 37-38

३३. व्यापादविहिंसावर्जितः सत्त्वासत्त्वयोराघातः क्रोधः। -पृ. 42

३४. यदि पापकर्मणो विपाकफलमनिष्टमेव तर्हि कथं तेषां विपाकोऽनन्तरमेव ... त्रिविधं कर्म वेदितव्यम्। तद्यथा--

.... नियतं त्रिविधं पुनः।
दृष्टधर्मादिवेद्यत्वात् ....।।

दृष्टधर्मवेदनीयम्, उपपद्यवेदनीयम्, अपरपर्यायवेदनीयं च इत्येतत् त्रिविधं कर्म नियतमिति। ..... अपरपर्यायवेदनीयम्-- तस्मात् परेण। -पृ. 54

३५. श्रद्धा चेतसः प्रसादः। सत्यरत्नकर्मफलाभिसम्प्रत्यय इत्यपरे। --पृ. 56

३६. गुरुत्व ह्रीः ...।
गौरवं हि नाम सप्रतीशता। तत्पूर्विका च लज्जा ह्रीः। अतो न गौरवमेव ह्रीरित्यपरे। --पृ. 56

३७. अवद्येष्वभयदर्शिता अपत्राप्यम्। --पृ. 57

३८. अप्रमाणानि चत्वारि, व्यापादादिविपक्षतः ।
मैत्र्यद्वेषोऽपि करुणा मुदिता सुमनस्कता ।।
उपेक्षाऽलोभः आकारः सुखिता दुःखिता वत।
मोदन्तामिति सत्त्वाश्च, ... ।।

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा च; अप्रमाणसत्त्वालम्बनत्वात्। किमर्थं चत्वार्येव? व्यापादविहिंसाऽरतिकामरागव्यापादबहुलानां ....इति मुदिताम्, 'सत्त्वाः' इत्येव मनसि कुर्वन्नुपेक्षां समापद्यते, माध्यस्थ्यात्। -पृ. 63-64

३९. विचारप्रीतिसुखवत्, ...
विचारप्रीतिसुखसंयुक्तं कुशलमैकाग्र्यं तत् प्रथमं ध्यानम्। विचारवचनाद् वितर्कोऽप्युक्तो भवति, साहचर्याद् धूमाग्निवत्। न हि विचारो विना वितर्केणास्ति। शेषं पुनर्ध्यानत्रयम्।
.... पूर्वपूर्वाङ्गवर्जितम्।
'शुभैकाग्र्यम्' वर्तते। विचारविवर्जितं प्रीतिसुखवत् द्वितीयम्, विचारप्रीतिवर्जितं तृतीयम्, विचारप्रीतिःसुखवर्जितं चतुर्थमिति। --पृ. 65-66

४०. पञ्चाद्ये तर्कचारौ च प्रीतिसौख्यसमाधयः ।
प्रीत्यादयः प्रसादश्च द्वितीयेऽङ्गचतुष्टयम्।।
तृतीये पञ्च तूपेक्षा स्मृतिः प्रज्ञा सुखं स्थितिः।
चत्वार्यन्तेऽसुखादुःखोपेक्षास्मृतिसमाधयः ।।
प्रथमे भागे पञ्चाङ्गानि। वितर्कः, विचारः, प्रीतिः, सुखम्, चित्तैकाग्रता च -- .. चतुर्थध्यानमन्त्यम्। .... अदुःखासुखा वेदना, उपेक्षापरिशुद्धिः, स्मृतिपरिशुद्धिः, समाधिश्च। -पृ. 66

४१. .... महाब्रह्मफलं च तत्।
तां हि ध्यानान्तरिकां भावयित्वा महाब्रह्मा भवति। .... २. अवितर्को विचारमात्रः, ३. अवितर्कोऽविचार इति। --पृ. 66

४२. यानि सूत्रे पञ्च निवरणानि उक्तानि-- कामच्छन्दः, व्यापादः, स्त्यानमिद्धम्, औद्धत्यकौकृत्यम्, विचिकित्सा च। .... पञ्च निवरणानि'' इत्येकान्ताः, कुशलत्ववचनात् सूत्रे। --पृ. 69

४३. कामे निवरणानि एक विपक्षाहारकृत्यतः।
द्व्येकता .... ।।
द्वयोरेकता द्व्येकता। विपक्षः प्रतिपक्षोऽनाहार इत्येकोऽर्थः। ...... शमथ इति। कृत्यमप्यनयोरेकम्। उभे अपि ह्येते चित्तमव्युपशान्तं वर्तयतः। अत एकविपक्षाहारकृत्यत्वात् द्वयोरप्येकत्वमुक्तम्। --पृ. 69

४४. सधर्मस्मृत्युपस्थाने समस्तालम्बने स्थितः।
अनित्यदुःखतः शून्यानात्मतस्तान् विपश्यति।।
सम्भिन्नालम्बने धर्मस्मृत्युपस्थाने स्थितस्तान् कायादीन् सर्वानभिसमस्य चतुर्भिराकारैः पश्यति-- अनित्यतः, दुःखतः, शून्यतः, अनात्मतश्च। --पृ. 72

४५. चत्वारो विपर्यासाः -- अनित्ये नित्यमिति, दुःखे सुखमिति, अशुचौ शुचीति, ... विपर्यासचतुष्कं किंस्वभावम्?
दृष्टित्रयाद् विपर्यासचतुष्कम् ....।
अन्तग्राहदृष्टेः शाश्वतदृष्टिर्नित्यविपर्यासः। ..... सत्कायदृष्टेरात्मविपर्यासः। --पृ. 72

४६. त्रयमेवाह-- सत्कायदृष्टिं शीलव्रतपरामर्शं विचिकित्सां च। ......अपरे पुनराहुः --
अगन्तुकामता मार्गविभ्रमो मार्गसंशयः।
इत्यन्तराया मोक्षस्य गमनेऽतस्त्रिदेशना।।
त्रयोऽन्तराया देशान्तरगमने भवन्ति-- .... विचिकित्सया मार्गसंशयः। एषां मोक्षगमनान्तरायाणां प्रहाणं द्योतयन् भगवान् क्लेशत्रयस्यैव प्रहाणं देशितवान्। --पृ. 77-78

४७. त्रयमेवाहेति। सत्कायदृष्टि-शीलव्रतपरामर्श-विचिकित्सात्रयमेवाह। ....तद्यथा-- सत्कायदृष्टिः, शीलव्रतपरामर्शः, विचिकित्सा च। ....प्रहाणात् स्रोतोपन्नो भवति............दुःखस्यान्तं करिष्यति'' इति। - पृ. 78

४८. वृत्तस्थः श्रुतचिन्तावान् भावनायां प्रयुज्यते।
सत्यानि हि द्रष्टुकाम आदित एव शीलं पालयति। ततः सत्यदर्शनस्यानुलोमं श्रुतमुद्गृह्णाति, अर्थं वा शृणोति। श्रुत्वा चिन्तयति। अविपरीतं चिन्तयित्वा भावनायां प्रयुज्यते। समाधौ तस्य श्रुतमयीं प्रज्ञां निश्रित्य चिन्तामयी जायते। चिन्तामयीं निश्रित्य भावनामयी जायते। - पृ. 79-80

४९. का पुनरनुपश्यना? प्रज्ञा। तया हि तद्वाननुपश्यः क्रियते। यतश्चोक्तम् 'अध्यात्मं काये कायानुपश्यी विहरति' इति। अनुपश्यमस्यास्ति दर्शनमित्यनुपश्यी, कायेऽनुपश्यी। ...(अभि.को.भा., पृ. ९०४) तया हि प्रज्ञया तद्वान् प्रज्ञावान्। अनुपश्यः क्रियत इति। .... ततः सप्तमीतत्पुरुषः -- कायेऽनुपश्यी कायानुपश्यीति। कायमनुपश्यितुं शीलमस्येति कायानुपश्यीति णिनिरपि (पा.सू.३.२.७८) यदि विधीयेत, तथाप्येतद्रूपं सिद्ध्यतीति पश्यामः। .... शुचिविपर्यासस्य प्रतिपक्षेण कायस्मृत्युपस्थानम्। .... चित्तस्य लघुपरिवर्तित्वात्। आत्मविपर्यासस्य प्रतिपक्षेण धर्मस्मृत्युपस्थानम्। --पृ. 82

५०. संवर्तन्यः पुनस्तिस्रो भवन्त्यग्न्यम्बुवायुभिः।
एकत्र ध्याने सत्त्वाः समं संवर्तन्ते एतस्यामिति संवर्तनी। १. सप्तभिः सूर्यैस्तेजःसंवर्तनी भवति ...... ताभिश्च भाजनानां सूक्ष्मोऽप्यवयवो नावशिष्यते। --पृ. 85

५१. केन पुनः क्रमेणैताः संवर्तन्यो भवन्ति? **सप्ताग्निना**, ...पश्चादेका वायुसंवर्तनी भवति। .... षट्पञ्चाशत् तेजःसंवर्तन्यः, सप्त अप्संवर्त्तन्यः, एकावायुसंवर्तनी। --पृ. 85

५२. चक्रवर्तिसमुत्पत्तिर्नाधोऽशीतिसहस्रकात्।
सुवर्णरूप्यताम्रायश्चक्रिणः तेऽधरक्रमात् ।।
एक-द्वि-त्रि-चतुर्द्वीपाः, न च सह द्वौ बुद्धवत्।
प्रत्युद्यानस्वयंयानकलहास्त्रजितोऽवधाः ।। --पृ. 95

५३. यस्य राज्ञः क्षत्रियस्य मूर्धाभिषिक्तस्य तदैव पोषधे पञ्चदश्यां शिरःस्नातस्योपोषधोपोषितस्योपरिप्रासादतलगतस्यामात्यगण-परिवृतस्य पूर्वस्यां दिशि चक्ररत्नं प्रादुर्भवति .... सूत्र उक्तम्- राज्ञश्चक्रवर्तिनो लोके प्रादुर्भावात् सप्तानां रत्नानां लोके प्रादुर्भावो भवति। तद्यथा- चक्ररत्नस्य, हस्तिरत्नस्य, अश्वरत्नस्य, मणिरत्नस्य .... तद्यथा-- द्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणान्येषां भवन्ति, तद्यथा बुद्धानाम्। ---पृ. 96

५४. पूर्णा अष्टाङ्गोपेतस्य पानीयस्य। तद्धि पानीयं शीतलं च स्वादु च लघु च मृदु चाच्छं च निष्प्रतिकं च, पिबतश्च कण्ठं न क्षिणोति, पीतं च कुक्षिं न व्याबाधते। --पृ. 98

५५. अष्टाङ्गोपेतस्येति।

शीतलाच्छलघुस्वादुमृदुनिःपूतिगन्धकम् ।
पीतं न बाधते कुक्षिं न कण्ठं क्षिणोति तज्जलम्।। --पृ. 98

५६. ....सर्वेऽष्टौ षोडशोत्सदाः ।। ५८।।

उक्तं हि भगवता--

इत्येते नरका अष्टावाख्याता दुरतिक्रमाः।

रौद्रकर्मभिराकीर्णाः प्रत्येकं षोडशोत्सदाः।।
चतुस्कन्धाश्चतुर्द्वारा विभक्ता भागशोऽसिताः।
अयःप्राकारपर्यन्ता अयसा प्रतिकुब्जिताः ।।
तप्ता चैवायसी भूमिर्ज्वलिता तेजसा युता।
अनेकयोजनशता स्फुटा तिष्ठति अर्चिषा ।।

षोडशोत्सदाः कतमे?
कुकूलं कुणपं चाथ क्षुरमार्गादिकं नदी।
तेषां चतुर्दिशम्, ... ।।५९।।

१. कुकूलं जानुमात्रम्। यत्र तेषां सत्त्वानां निक्षिप्ते संशीर्यते त्वङ्मांसशोणितम्, उत्क्षिप्ते पादे पुनरपि सञ्जायते त्वङ्मांसशोणितम्। ....४. चतुर्थ उत्सदो नदी वैतरणी पूर्णा। यस्यां ते सत्त्वा असिशक्तिप्रासहस्तैः पुरुषैरुभाभ्यां तीराभ्यां प्रतिवार्यमाणा ऊर्ध्वमपि गच्छन्तः स्विद्यन्ते पच्यन्ते, अधस्तिर्यगपि गच्छन्तः स्विद्यन्ते पच्यन्ते .... त एते चत्वार उत्सदा दिग्भेदेन षोडशोच्यन्ते।
--पृ. 98-99

५७. अष्टौ महानरकाः - सञ्जीवः, कालसूत्रः, संघातः, रौरवः, महारौरवः, तापनः, प्रतापनः, अवीचिश्चेति।
--पृ. 102

५८. संजीवः, यत्र सत्त्वान् म्रियमाणान् वायवो जीवयन्ति।........ अवीचिः, यत्रातिमात्राग्निज्वालालिङ्गितानां सत्त्वानां सुखवीचिरन्तरं नास्ति। --पृ. 102

५९. दुःखनिरन्तरत्वादवीचिः। .... तद्यथा-- सञ्जीवे च्छिन्नावभिन्नसम्पिष्टशरीराणां शीतला वायवो वान्ति, पुनरपि तान् सत्त्वान् सञ्जीवयन्ति। अत एव सञ्जीवः। ...तस्मादवीचेरूर्ध्वं सप्त नरकाः उपर्युपरि सन्निविष्टाः --प्रतापनः, तापनः, महारौरवः, रौरवः, सङ्घातः, कालसूत्रः, सञ्जीवश्च। --पृ. 102

६०. .... शीता अन्येऽष्टावर्बुदादयः।।
अन्ये शीतनरका अष्टौ। तद्यथा-- अर्बुदः, निरर्बुदः, अठठः, हहवः, हुहुवः, उत्पलः, पद्मः, महापद्मश्च। तेषां सत्त्वानां तीव्रशीताभिहितानां कायशब्दविकारानुरूपाण्येतानि नामानि। --पृ. 103

६१. क्रोधनाः क्रूरकर्माणः पापाभिरुचयश्च ये।
दुखितेषु च नन्दति जायन्ते यमराक्षसाः ।। --पृ. 105

६२. ....यमराक्षसा इति। पापकर्माणः सत्त्वा नरकपाला जायन्त इत्यर्थः। --पृ. 105

६३. कामदेवायुषा तुल्या अहोरात्रा यथाक्रमम्।
सञ्जीवादिषु षट्सु आयुस्तैस्तेषां कामदेववत्।।
अर्धं प्रतापने अवीचावन्तःकल्पम् ... । -पृ. 111

६४. ....परं पुनः।
कल्पं तिरश्चाम्, ...।। --पृ. 112

६५. कामदेवायुषा तुल्या अहोरात्रा यथाक्रमम्।
सञ्जीवादिषु षट्सु, ...
यावत् षण्णां कामावचराणां देवनिकायानामाथुरुक्तम्, ... सञ्जीवे, कालसूत्रे, सङ्घाते, रौरवे, महारौरवे, तापने च।

.... आयुस्तैस्तेषां कामदेववत्।।८२।।

तैरिदानीं स्वैरहोरात्रैस्तेषां यथा षण्णां कामावचराणां देवानामायुः, तथैव यथाक्रमं वेदितव्यम्। .... यो मनुष्याणां मासः, स प्रेतानामहोरात्रः। तेनाहोरात्रेण पञ्चवर्षशतान्यायुः। शीतनरकेष्वायुषः किं प्रमाणम्?

वाहाद् वर्षशतेनैकतिलोद्धारक्षयायुषः।
अर्वुदाद् विंशतिगुणप्रतिवृद्ध्यायुषः परे।। -पृ. 115-116

६६. हा चैत्ररथ हा वापि हा मन्दाकिनि हा प्रिये।
इत्यार्त्ता विलपन्तोऽपि गां पतन्ति दिवौकसः।। --पृ. 117

६७. देवेषु नास्ति मर्मच्छेदः। किं तु च्यवनधर्मणो देवपुत्रस्य पञ्चोपनिमित्तानि प्रादुर्भवन्ति-- .... पञ्च पुनर्निमित्तानि मरणं नातिवर्त्तन्ते-- वासांसि क्लिश्यन्ति, माला म्लायन्ति, कक्षाभ्यां स्वेदो मुच्यते, दौर्गन्ध्यं कायेऽवक्रामति, स्वे चासने देवपुत्रो नाभिरमते। --पृ. 118

६८. अथ म्रियमाणस्य कस्मिन् शरीरप्रदेशे विज्ञानं निरुध्यते? .... यदि तु क्रमेण च्यवते, ततः --

क्रमच्युतौ पादनाभिहृदयेषु मनश्च्युतिः।। ४३।।

अधोनृसुरगाजानां, ...। अधो गच्छन्तीत्यधोगाः, अपायगामिनः। ..... सुरान् गच्छतीति सुरगाः, देवगामिनः। .... कायेन्द्रियं हि म्रियमाणस्य तप्त इवोपले जलं निष्ठ्यूतं सङ्कोचमापद्यमानं पादादिष्वन्तर्धीयत इति। -पृ. 118-119

६९. निर्वाणं हि सर्वदुःखव्युपशमः। --पृ. 121

७०. एकांशतो व्याकरणं विभज्य परिपृच्छ्य च।
स्थाप्यं च मरणोत्पत्तिविशिष्टात्माऽन्यतादिवत्।।

भदन्तमहासाङ्घिका सूत्रं पठन्ति-- "चत्वारीमानि भिक्षवः प्रश्नव्याकरणानीति। .... तद्यथा- शाश्वतो लोकोऽशाश्वतः, शाश्वतश्चाशाश्वतश्च, ... भवति तथागतः परं मरणान्न भवति तथागतः परं मरणात्, यावदन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमित्ययं भिक्षवः स्थापनीयः प्रश्नः" इति। --पृ. 127-128

७१. यः प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गः ....।

तत्र द्वादशाङ्गानि-- अविद्या, संस्काराः, विज्ञानम्, नामरूपम्, षडायतनम्, स्पर्शः, वेदना, तृष्णा, उपादानम्, भवः, जातिः, जरामरणं च। --पृ. 129

७२. वालो हि प्रतीत्यसमुत्पन्नं संस्कारमात्रमिदमिति अप्रजानन् आत्मदृष्ट्यस्मिमानाभिनिविष्ट आत्मनः ...... आयतिसुखार्थं पुण्यम्, सुखादुःखासुखार्थमानिञ्ज्यम्, ऐहिकसुखार्थमपुण्यम्। --पृ. 132

७३. कललं प्रथमं भवति कललाज्ञायतेऽर्बुदः।
अर्बुदाज्ञायते पेशी पेशीतो जायते घनः ।।
घनात् प्रशाखा जायन्ते केशरोमनखादयः*
इन्द्रियाणि च रूपीणि व्यञ्जनान्यनुपूर्वशः।। --पृ. 132

७४. स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशाङ्गस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरिणः ।।२०।।

त्रीणि काण्डानि पूर्वापरान्तमध्यान्यतीतानागतप्रत्युपन्नानि जन्मानि। .... जातेः परेण यावद्वेदनावस्था जरामरणम्। यान्येवेह चत्वार्यङ्गानि-- नामरूपषडायतनस्पर्शवेदनाः, तान्येवान्यत्र जरामरणमित्येतानि द्वादशाङ्गानि।। --पृ. 135

७५. द्रष्टव्यम्-- स पुनरेष द्वादशाङ्गः प्रतीत्यसमुत्पादस्त्रिस्वभावो वेदितव्यः क्लेशकर्मवस्तूनि। ..... **फलं तथा**। सप्तैवाङ्गानि फलभूतानि। शेषाणि पञ्च हेतुभूतानि; कर्मक्लेशस्वभावत्वात्। --पृ. 136

७६. सूत्रेऽप्येष सत्यानां दृष्ठान्त इति। व्याध्यादिसूत्रे। ...... अयं दुःखसमुदयः, अयं दुःखनिरोधः, इयं दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदार्यसत्यमिति यथाभूतं प्रजानाति'' इति। --पृ. 141

७७. द्रष्टव्यम्-- आर्यसत्यानीति सूत्र उच्यन्ते। ..... अत आर्याणामेतानि सत्यान्युच्यन्ते न त्वनार्याणाम्; विपरीतदर्शनात्।

> ''यदार्याः सुखतः प्राहुस्तत् परे दुखतो विदुः।
> यत् परे सुखतः प्राहुस्तदार्या दुःखतो विदुः ।। --पृ. 144

७८. चित्तेन नीयते लोकः, चित्तेन परिकृष्यते।
एकधर्मस्य चित्तस्य सर्वधर्मा वशानुगाः।। --पृ. 147

अभिधर्मदीप :

१. आत्मात्मीयध्रुवोच्छेदनास्तिहीनाग्रदृष्टयः।
अहेत्वमार्गे तद्दृष्टिरेतास्ता पञ्च दृष्टयः ।।
ईश्वरादिषु नित्यात्मविपर्यासात् प्रवर्तते।
कारणाभिनिवेशोऽतो दुःखदृग्घेय एव सा।। -पृ. 24

अभिधर्मसमुच्चयः :

१. सत्कायदृष्टिः कतमा।...... पञ्चोपादानस्कन्धान् शाश्वततो वा उच्छेदतो वा समनुपश्यतः या क्षान्ती रुचिर्मतिः प्रेक्षा दृष्टिः। .... मिथ्यादृष्टिः कतमा .....अकुशले प्रवृत्तिकर्मिका कुशले चाप्रवृत्तिकर्मिका वा। -पृ. 24-25

२. मात्सर्यं कतमत्? साभसत्काराध्यवसितस्य ... रागांशिश्चेतस ... असंलेखसन्निश्रयदानकर्मकम्। -पृ. 35

३. शाठ्यं कतमत्? लाभसत्काराध्यवसितस्य ..... सम्यगववादलाभपरिपन्थकरम्। -पृ. 35

४. माया कतमा? लाभसत्काराध्यवसितस्य ..... मिथ्याजीवसन्निश्रयदानकर्मिका। -पृ. 36

६. कौसीद्यं कतमत्? निद्रापार्श्वशयनसुखमल्लिकामागम्य मोहांशिकश्चेतसोऽनभ्युत्साहः। कुशलपक्षप्रयोगपरिपन्थकर्मकम्। -पृ. 36

७. मानः कतमः? सत्कायदृष्टिसन्निश्रयेण चित्तस्योन्नतिः। अगौरवदुःखोत्पत्तिसन्निश्रयदानकर्मकः। -पृ. 36

८. रागः कतमः? त्रैधातुकोऽनुनयः। दुःखसंजननकर्मकः। -पृ. 37

९. मदः कतमः? आरोग्यं वा आगम्य यौवनं वा दीर्घायुष्कलक्षणं वोपलभ्यान्तमान्यतमां वा सास्रवां संपत्तिं रागांशिकन्नन्दीसौमनस्यम्। सर्वक्लेशोपक्लेशसन्निश्रयदानकर्मकः। -पृ. 37

१०. कर्मप्रभेदःपुनस्त्रिविधः। दृष्टधर्मवेदनीयं कर्म उपपद्यवेदनीयं कर्म अपरपर्यायवेदनीयं कर्म च। .... अपरपर्यायवेदनीयं कर्म कतमत्। तत्कर्म .... तदुच्यतेऽपरपर्यायवेदनीयं कर्म।।--पृ. 54-55

११. श्रद्धा कतमा। अस्तित्वगुणवत्त्वशक्तत्वेष्वभिसंप्रत्ययः प्रसादोऽभिलाषः। च्छन्दसन्निश्रयदानकर्मिका। -पृ. 56

१२. ह्रीः कतमा। स्वयमवद्येन लज्जना। दुश्चरितसंयमसन्निश्रयदानकर्मिका। --पृ. 57

१३. अपत्राप्यं कतमत्। परतोऽवद्येन लज्जना। तत्कर्मकमेव। --पृ. 57

१४. प्रज्ञा कतमा। उपपरीक्ष्य एव वस्तुनि धर्माणां प्रविचयः। संशयव्यावर्त्तनकर्मिका। --पृ. 57

१५. अप्रमाणानि कतमानि। चत्वारि अप्रमाणानि। मैत्री कतमा। .... उपेक्षा कतमा। ध्यानं निश्रित्य सत्त्वा हितं लभेरन्निति विहारसमृद्धौ समाधिः प्रज्ञा शेषं पूर्ववत्। -पृ. 63

१६. प्रथमं ध्यानं पञ्चाङ्गम्। पञ्चाङ्गानि वितर्को विचारः प्रीतिः सुखं चित्तैकाग्रता च। .... चतुर्थं ध्यानं चतुरङ्गम्। चत्वार्यङ्गानि उपेक्षापरिशुद्धिः स्मृतिपरिशुद्धिः अदुःखासुखा वेदना चित्तैकाग्रता च। -पृ. 66

१७. औद्धत्यं कतमत्। शुभनिमित्तमनुसरतो रागांशिकश्चेतसोऽव्युपशमः। ..... कौकृत्यं कतमत् .... कुशलमकुशलमव्याकृतं काले अकाले युक्तमयुक्तञ्च। चित्तस्थितिपरिपन्थकर्मकः। - पृ. 68

१८. विचिकित्सा कतमा। सत्येषु विमतिः। कुशलपक्षाप्रवृत्तिसन्निश्रयदानकर्मिका। --पृ. 68

१९. निवरणानि पञ्च। कामच्छन्दनिवरणम् व्यापादनिवरणम् स्त्यानमिद्धनिवरणम् औद्धत्यकौकृत्यनिवरणम् विचिकित्सानिवरणं च। ...... शमथे प्रग्रहे उपेक्षायां च। --पृ. 69

२०. श्रद्धा कतमा। अस्तित्वगुणवत्त्वशक्तत्वेष्वभिसंप्रत्ययः .... कुशलपक्षपरिपूरणपरिनिष्पादनकर्मकम्। स्मृतिः ..... प्रज्ञा कतमा। उपपरीक्ष्य एव वस्तुनि धर्माणां प्रविचयः। .... सत्याभिसमयसमुत्थानतः ऊष्मगतमूर्धपरिकर्मतश्च क्षान्तिलौकिकाग्रधर्मनिर्हारः। यथा पञ्चेन्द्रियाणि तथा पञ्च बलानि। एषां विशेषः तैः विपक्षान्तरायनिर्ल्लेखोऽनवमृद्यतेति बलानीत्युच्यन्ते। --पृ. 70

२१. यदुक्तं सूत्रे-- त्रिविधं कर्म पुण्यकर्म अपुण्यकर्म आनिंज्यकर्म च। .... फलविपाकसंमूढस्यापुण्याः संस्काराः। तत्त्वार्थसंमूढस्य पुण्यानिंज्याः संस्काराः। --पृ. 77

२२. संयोजनानि कति कथं संयोजनं कुत्र संयोजनम्। संयोजनानि नव। अनुनयसंयोजनम् प्रतिघसंयोजनम् मानसंयोजनम् अविद्यासंयोजनम् दृष्टिसंयोजनम् परामर्शसंयोजनम् विचिकित्सासंयोजनम् ईर्ष्यासंयोजनम् मात्सर्यसंयोजनं च।

अनुनयसंयोजनं कतमत्। .... ईर्ष्यासंयोजनेन संप्रयुक्तो लाभसत्कारान् अनुनयति धर्मं न गुरूकरोति। लाभसत्कारगुरुकारेणाकुशलसमुदाचारः कुशलासमुदाचारश्च। .... मात्सर्यसंयोजनेन संप्रयुक्त उपचयमनुनयति तद्वर्जनतां च न सत्करोति। उपचयानुनयेनाकुशलसमुदाचारः कुशलासमुदाचारश्च। तेन आयत्यां लौकिकदुःखाभिनिवृत्तौ दुःखेन संयुज्यते। --पृ. 78-79

२३. सप्त बोध्यङ्गानामालम्बनं कतमत्। चतुर्णामार्यसत्यानां यथाभूतता। ..... पदैर्यथाक्रमं चतुःसत्यालम्बना बोध्यङ्गभावना परिदीपिता। भावनाफलं कतमत्। दर्शनहेयानां क्लेशानां प्रहाणम्। --पृ. 123

२४. शमथः कतमः। अध्यात्मं चित्तस्य उपनिबन्धः स्थापना संस्थापना अवस्थापना उपस्थापना दमनं शमनं व्युपशमनम् एकोतीकरणं समाधानं च। विपश्यना कतमा। .... एकत्यः न शमथस्य लाभी नापि विपश्यनायाः। ..... तस्य शमथविपश्यनोभयमार्गयुक्तस्य समं युगपत् प्रवृत्तिः। --पृ. 124-125

२५. द्रष्टव्यम्-- कथमङ्गसमासतोऽपि। आक्षेपाङ्गमाक्षिप्ताङ्गमभिनिर्वर्त्तकाङ्गमभिनिर्वृत्त्यङ्गं च। .... नामरूपषडायतनस्पर्शवेदनानुपूर्व्या च सत्त्वानभिनिर्वर्त्तयति प्रत्ययश्च भवति जरामरणस्य। जरामरणं किंकर्मकम्। पुनः पुनर्वयःपरिणामेन जीवितपरिणामेन च सत्त्वान्योजयति। --पृ. 134

२६. कथमङ्गसंक्लेशसंग्रहतः। या चाविद्या या च तृष्णा यच्चोपादानमित्ययं संक्लेशसंग्रहः। ये च संस्कारा यच्च विज्ञानं यश्च भव इत्ययं कर्मक्लेशसंग्रहः। शेषाणि जन्मसंक्लेशसंग्रहः।। --पृ. 136

२७. अष्टानामार्यमार्गाङ्गानामालम्बनं कतमत्। ..... भावनाफलं कतमत्। परिच्छेदः परसंप्रापणं परसंप्रत्ययः क्लेशावरणविशोधनमुपक्लेशावरणविशोधनं वैशेषिकगुणावरणविशोधनं च। --पृ. 140

२८. द्रष्टव्यम्-- चत्वार्यार्यसत्यानि दुःखं समुदयो निरोधो मार्गश्च। --पृ. 141

२९. कस्मात् स्कन्धा उपादानमित्युच्यन्ते। उपादानेन सहितत्वात् स्कन्धा उपादनमित्युच्यन्ते। ..... कस्माद् धातव आयतनानि च सोपादानधर्मा इत्युच्यन्ते। तत्र स्कन्धवन्निर्देशः। --पृ. 142

३०. द्रष्टव्यम्-- दुःखसत्यं कतमत्। तत्सत्त्वजन्मतो जन्माधिष्ठानतश्च वेदितव्यम्। .... बृहत्फलेष्वसंज्ञिसत्त्वेष्वबृहेष्वतपेषु सुदृशेषु सुदर्शनेष्वकनिष्ठेष्वाकाशानन्त्यायतनेषु विज्ञानानन्त्यायतनेष्वाकिञ्चन्यायतनेषु नैवसंज्ञानासंज्ञायतनेषु।। --पृ. 142

३१. द्रष्टव्यम्-- जातिर्दुःखं जरा दुःखं व्याधिर्दुःखं मरणं दुःखम् अप्रियसंप्रयोगो दुःखं प्रियविप्रयोगो दुःखं यदपीच्छन्न लभते तदपि दुःखं संक्षिप्तेन पञ्चोपादानस्कन्धा दुःखम्। ...... संक्षिप्तेन पञ्चोपादानस्कन्धाः किमुपादाय दुःखम्। दौष्ठुल्यदुःखतामुपादाय। --पृ. 142

३२. समुदयसत्यं कतमत्। क्लेशःक्लेशाधिपतेयश्च कर्म। प्राधान्यनिर्देशस्तु भगवता तृष्णा पौनर्भविकी नन्दीरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी समुदयसत्यनिर्देशेन निर्दिष्टा। --पृ. 143

३३. निरोधसत्यं कतमत्। लक्षणतः गाम्भीर्यतः संवृतितः परमार्थतः अपरिपूरितः परिपूरितः निरलंकारतः सालंकारतः शेषतः अशेषतः अग्रतः पर्यायतश्च निरोधसत्यं वेदितव्यम्। --पृ. 143

३४. द्रष्टव्यम्-- मार्गसत्यं कतमत्। येन दुःखं परिजानीते समुदयं प्रजहाति निरोधं साक्षात्करोति मार्गं भावयति। एतत् संक्षेपेण मार्गसत्यलक्षणमित्युच्यते। पुनः मार्गः पञ्चविधः। संभारमार्गः प्रयोगमार्गः दर्शनमार्गः भावनामार्गः निष्ठामार्गश्च। --पृ. 143

अभिधम्मत्थसंगहो :

१. तत्थ अकुसलं कायकम्मं वचीकम्मं मनोकम्मञ्चेति कम्मद्वारवसेन तिविधं होति। कथं? पाणातिपातो ..... कायकम्मं नाम। मुसावादो .... वचीद्वारे बाहुल्लवुत्तितो वचीकम्मं नाम। अभिज्झा .... मनस्मिं येव बाहुल्लवुत्तितो मनोकम्मं नाम। -पृ. 18

अमृतकणिका नामसंगीति-टीका :

१. सम्यक् समाधिवशात् सकलविकल्पक्लेशानरीन् हतवान् (इत्यर्हन्)। -पृ. 8

अभिसमयालंकारस्फुटार्था :

बुद्धाद्यालम्बना श्रद्धा वीर्यं दानादिगोचरम्।
स्मृतिराशयसम्पत्तिः समाधिरविकल्पना।।
धर्मेषु सर्वैराकारैर्ज्ञानं प्रज्ञेति पञ्चधा।
तीक्ष्णैः सुबोधा सम्बोधिर्दुर्बोधा मृदुभिर्मता।।

इति। अनिन्द्रियस्वभावाः श्रद्धावीर्यस्मृतिसमादिविशिष्टप्रज्ञाः .... मध्यैः प्रत्येकबुद्धबोधिर्मृदुभिः श्रावकबोधिश्चाधिगम्यत इति। -पृ. 70

अर्थविनिश्चयसूत्र एवं निबन्धनम् :

१. इह भिक्षव आर्यश्रावको .... पुरुषदम्यसारथिः शास्ता देवानां च मनुष्याणां च बुद्धो भगवानिति। -पृ. 6

२. इत्यपि स भगवानित्यादि विस्तरः। एभिश्च ..... तत्र भगवानित्यनेन विबन्धभङ्गं दर्शयति, ... शास्तृत्वसम्पदो लाभात्। -पृ. 7

३. तथागतोऽर्हन् सम्यक्सम्बुद्ध...... प्रहाणसम्पदा भगवानर्हन्नित्युच्यते, अरीन् हतवानिति .... सम्यक्सम्बुद्ध इत्युच्यते, सम्यगविपरीतं समन्ताद् धर्मान्...... भगवत्येवोपलभ्यते। अतो .... प्राप्त इति निर्दिश्यते। -पृ. 8-9

४. विद्याचरणसम्पन्न इत्यनेन .... तिस्रो वा शिक्षा विद्याचरणम्। अधिप्रज्ञशिक्षा विद्या..... विद्यायास्तु पूर्वग्रहणं .. तथा हि प्रज्ञया चक्षुषेव ... विद्याचरणशब्देन तिस्रः शिक्षा निर्दिश्यन्ते। -पृ. 9

५. सुगत इत्यनेन.... सुष्ठु गतः सुगतोऽपुनरावृत्त्यर्थेन, ... निःशेषं वा गतः सुगतः ... एतच्चार्थद्वयं ... बाह्या हि न ... श्रावकादयो यद्यपि ... निःशेषं गताः, सर्वज्ञेयेषु ज्ञानविबन्धत्वात्। -पृ. 9-10

६. लोकविदित्यनेन .. लोकं वेत्तीति लोकवित्। भव्याभव्यलोकपरिज्ञानादसौ ... तथा हि भगवांस्त्रि... को हीयते, को वर्धते, ... कस्यानवरोपितानि कुशलमूलान्यवरोपयेयम्, ... परिपक्वानि परिमोचयेयमिति। -पृ. 11

७. अनुत्तरः पुरुषदम्यसारथिरित्यनेन............. व्यावर्त्य प्रणीते प्रतिष्ठापयति। -पृ. 11

८. शास्ता देवानां च मनुष्याणां.... यद्यपि भगवान् विशेषेण .... यथार्थानुशासनमत्र शास्तृकर्माभिप्रेतम्। तस्य च देवमनुष्या भाजनम्। अतो देवमनुष्याणामित्युच्यते। -पृ. 12

९. बुद्धो भगवानिति पुनरेतत्पदद्वयं किमर्थम्? .... पदानां पुनः पिण्डार्थः ---
भङ्क्त्वा विबन्धं शास्तृत्वसम्पदं यो हि येन सः।
तथागतः शास्तृकर्म यच्च यैश्च परिग्रहः।। -पृ. 12

१०. धर्मेऽवेत्य प्रसादेन ... स्वाख्यातो भगवता धर्मः सांदृष्टिको निर्ज्वर .... पिपासाप्रतिविनयः, आलयसमुद्घातः, धर्मोपच्छेदः, शून्यतोपलम्भः, तृष्णाक्षयः, विरागः, निरोधः, निर्वाणम्। -पृ. 13

११. स्वाख्यातो भगवता... यथासूत्रं स्वाख्यात इत्युद्देशः.......... सांदृष्टिक इत्येवमन्यत्रापि योज्यम्। -पृ. 13

१२. सङ्घेऽवेत्यप्रसादेन .... चत्वारि पुरुषयुगानि, अष्टौ पुरुषपुद्गला... श्रद्धासम्पन्नः, श्रुतसम्पन्नः, ... आहवनीयः, प्राहवनीयः, अञ्जलिकरणीयः, सामीचीकरणीयः, अनुत्तरं पुण्यक्षेत्रं दक्षिणीयो लोकस्य। -पृ. 14

१३. आर्यकान्तैः शीलैः .... अखण्डानि, अच्छिद्राणि, अशबलानि, ... सुमाप्तानि, सुसमारब्धानि, विज्ञप्रशस्तानि, अगर्हितानि च विज्ञैरिति। -पृ. 15

१४. कायवाङ्मनसां दशकुशलेषु कर्मपथेषु .... प्राणातिपातादत्तादानकाममिथ्याचारादविरतिः ... अनृतपैशुन्यपारुष्यसम्भिन्नप्रलापाद् विरतिः .... अभिध्याव्यापादमिथ्यादृष्टिभ्यो विरतिः। -पृ. 17

१५. तत्र प्राणातिपातः कतमः? प्राणी च भवति प्राणिसंज्ञा च भवति, बधकचित्तं चोत्पादयति। उपक्रमं च करोति। जीविताद् व्यपरोपयति। अयमुच्यते भिक्षवः प्राणातिपातः। अन्यत्र प्रमादाददृष्टाद्वा अप्राणिवधः। -पृ. 19

१६. तत्रादत्तादानं कतमत्? स्तेयचित्तस्य परद्रव्यस्वीकरणमदत्तादानम्। अन्यत्र मातृपितृभ्रातृस्वजनमित्रद्रव्यस्य स्वल्पस्यानुपरोधिनो ग्रहणं नादत्तादानम्। -पृ. 19

१७. तत्र काममिथ्याचारः कतमः? परस्त्रीणामुपभोगः भर्तृराजमातृपितृरक्षितानामथवा अस्थानगम्यादेशकालेषु विप्रतिपत्तिः। अयमुच्यते काममिथ्याचारः। कायिकमेतत् त्रिविधम्। -पृ. 20

१८. अनृतं कतमत्? साक्षिप्रश्ने यथाभूताद् वितथवचनमनृतम्। ..... इदमुच्यते अनृतम्। -पृ. 20

१९. पैशुन्यं कतमत्? अभूतेन सत्येन वा भेदकरं वचनं पैशुन्यं तत्। इदमुच्यते पैशुन्यम्। -पृ. 21

२०. तत्र पारुष्यं कतमत्? परदुःखचिकीर्षोरनिष्टवचनश्रावणं पारुष्यम्। दुःखमस्य भवत्वित्यनया बुद्ध्या यदनिष्टवचनश्रावणं क्रियते तत्पारुष्यम्। इमदुच्यते पारुष्यम्। -पृ. 21

२१. सम्भिन्नप्रलापः कतमः? तद्यथा-- राजकथा, चोरकथा, युद्धकथा, मद्यकथा, द्यूतकथा, स्त्रीकथा, आख्यायिककथा कथनं वा। अयमुच्यते सम्भिन्नप्रलापः। वाचिकमेतच्चतुर्विधम्। -पृ. 22

२२. तत्राभिध्या कतमा? परद्रव्यस्वीकरणेच्छा अभिध्या। .... इदमुच्यतेऽभिध्या। -पृ. 22

२३. तत्र व्यापादः कतमः? परजीवितव्यपरोपणावच्छेदनपीडादिचिन्तनम्। अयमुच्यते व्यापादः। -पृ. 23

२४. तत्र मिथ्यादृष्टिः कतमा? नास्त्ययं लोकः, नास्ति परलोक इति पूर्ववत्। एतन्मानसं त्रिविधम्। -पृ. 23

२५. तत्र व्यापादबहुलानां तत्प्रहाणाय मैत्री प्रतिपक्षः। .... 'मोदन्तां वत सत्त्वाः' इति मनसिकुर्वन् मुदिताम्। 'सत्त्वाः' इत्येव तु मनसिकुर्वन्नुपेक्षां सम्पद्यते। -पृ. 63

२६. तत्र भिक्षवः कतमानि चत्वारि ध्यानानि? १. इह भिक्षवो भिक्षुः विविक्तं कामैः विविक्तं पापकैरकुशलैर्धर्मैः सवितर्कं सविचारं विवेकजं प्रीतिसुखं प्रथमं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। .... ४. स सुखस्य च प्रहाणात् दुःखस्य च प्रहाणात् पूर्वमेव च सौमनस्यदौर्मनस्ययोरस्तङ्गमाददुःखासुखमुपेक्षास्मृतिपरिशुद्धं चतुर्थं ध्यानमुपसंपद्य विहरति। इमानि भिक्षवश्चत्वारि ध्यानानि। -पृ. 65

२७. तत्र भिक्षवः कतमानि पञ्च बलानि? यदुत-- श्रद्धाबलम्, वीर्यबलम्, स्मृतिबलम्, समाधिबलम्, प्रज्ञाबलम्। .... तानि नावमृद्यन्ते, तस्माद् बलान्युच्यन्ते। -पृ. 70

२८. इह भिक्षवो भिक्षुरिति। इहेति कामधातौ। अध्यात्मकाये प्रत्यात्मकाये कायानुदर्शीति। ...... संप्रजानन्निति। प्रज्ञासमन्वित इत्यर्थः। विनीय लोकेऽभिध्यादौर्मनस्ये इति। अपनीयेत्यर्थः। -पृ. 82

२९. तक्ष भिक्षवः कतमानि सप्त बोध्यङ्गानि? तद्यथा-- स्मृतिसंवोध्यङ्गम्, धर्मप्रविचयसंबोध्यङ्गम्, वीर्यसंवोध्यङ्गम्, प्रीतिसंबोध्यङ्गम्, प्रश्रब्धिसंबोध्यङ्गम्, समाधिसंबोध्यङ्गम्, ... ७. उपेक्षासंबोध्यङ्गं भावयति विवेकनिश्रितं, विरागनिश्रितं, निरोधनिश्रितं, व्यवसर्गपरिणतम्। इमानि भिक्षवः सप्त बोध्यङ्गानि। -पृ. 122-123

३०. धर्मप्रविचयो बोधिर्बोध्यङ्गं च। शिष्टानि बोध्यङ्गान्येव। .... प्रीतिस्तु सौमनस्यस्वभावत्वात्। एकस्मिंश्चित्तचैत्तकलापे च वेदनाद्रव्यद्वयस्यासम्भवात्। तस्मात्संस्कारोपेक्षैवोपेक्षाङ्गमिति। बोध्यासन्नत्वाद् भावनामार्गे बोध्यङ्गानीष्यन्ते। -पृ. 123

३१. तत्र कतमा अविद्या? यदुत-- पूर्वान्तेऽज्ञानम्, ... षट्सु वा स्पर्शायतनेषु यथाभूतमज्ञानमदर्शनमनभिस(म)यस्तमः संमोहोऽविद्यान्धकारम्। इयमुच्यतेऽविद्येति। -पृ. 131

३२. अत्र च प्रतीत्यसमुत्पादे त्रीण्यङ्गानि क्लेशस्वभावानि-- अविद्यातृष्णोपादानानि ; अङ्गद्वयं कर्मस्वभावं-- संस्कारा भवश्च ; .. विज्ञाननामरूपषडयतनस्पर्शवेदनाजातिजरामराख्यानि, क्लेशकर्महेतुत्वात्। -पृ. 136

३३. द्रष्टव्यम्-- तत्र भिक्षवः कतम आर्याष्टाङ्गो मार्गः? तद्यथा-- सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्संकल्पः, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्तः, सम्यगाजीवः, सम्यग्व्यायामः, सम्यक्स्मृतिः सम्यक्समाधिश्च। .... सम्यक्समाधिः कतमः? चत्वारि ध्यानानि। .... इमानि खलु भिक्षवश्चत्वारि ध्यानानि। अयमुच्यते सम्यक्समाधिः। अयं भिक्षव आर्याष्टाङ्गो मार्गः। -पृ. 139-140

३४. द्रष्टव्यम्-- तत्र भिक्षवः कतमानि चत्वारि स्मृत्युपस्थानानि? १. इह भिक्षवो भिक्षुरध्यात्मं काये कायानुदर्शी विहरति............ ४. अध्यात्मधर्मेषु, बहिर्धाधर्मेषु, अध्यात्मबहिर्धाधर्मेषु धर्मानुदर्शी विहरति आतापी संप्रजानन् स्मृतिमान् विनीय लोके अभिध्यादौर्मनस्ये। इमानि भिक्षवश्चत्वारि स्मृत्युपस्थानानि। -पृ. 141

३५. तत्र भिक्षवः कतमानि चत्वार्यार्यसत्यानि? तद्यथा-- दुःखमार्यसत्यम्, दुःखसमुदय आर्यसत्यम्, दुःखनिरोध आर्यसत्यम्, दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपदार्यसत्यम्। -पृ. 141

३६. तद्यथा- जातिर्दुःखम्, जरादुःखम्, व्याधिर्दुःखम्, मरणं दुःखम्, प्रियवियोगो दुःखम्, अप्रियसंयोगो दुःखम्, यदपीच्छन् पर्येषमाणे न लभते तदपि दुःखम्, संक्षिप्तेन पञ्चोपादानस्कन्धा दुःखम्। -पृ. 142

३७. दुःखसमुदय आर्यसत्यं कतमत्? तद्यथा-- तृष्णा पौनर्भविकी, नन्दीरागसहगता, तत्रतत्राभिनन्दिनी। इदमुच्यते दुःखसमुदय आर्यसत्यम्। -पृ. 143

३८. द्रष्टव्यम्-- दुःखनिरोध आर्यसत्यं कतमत्? यदस्या एव तृष्णायाः पौनर्भविक्या नन्दीरागसहगतायास्तत्रतत्राभिनन्दिन्या अशेषतः प्रहाणं, ... विरागो, निरोधो, व्युपशमोऽस्तंगमः। इदमुच्यते दुःखनिरोध आर्यसत्यम्। -पृ. 143

३९. तत्र दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपदार्यसत्यं कतमत्? अयमेव सम्यग्दृष्ट्यादिरार्याष्टाङ्गो मार्गः। तद्यथा-- सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्संकल्पः, सम्यक्वाक्, सम्यक्कर्मान्तः, ...इदमुच्यते दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपदार्यसत्यम्। -पृ. 144

अवदानशतकम् :

१. ब्रह्मा हि मातापितरौ पूर्वाचार्यौ तथैव च।
आह्वनीयौ पुत्रस्य अग्निः स्याद् देवतानि च।।
तस्मादेतौ नमस्येत सत्कुर्याच्चैव पण्डितः।
उद्वर्तनेन स्नानेन पादानां धावनेन च।
अथ वा अन्नपानेन वस्त्रशय्यासनेन च।।
तया स परिचर्यया मातापितृषु पण्डितः।
इह चानिन्दितो भवति प्रेत्य स्वर्गे च मोदते।। -- पृ. 32
२. न प्रणश्यन्ति कर्माणि कल्पकोटिशतैरपि।
सामग्रीं प्राप्यकालं न फलन्ति खलु देहिनाम्।। -पृ. 54
३. वान्ताशा उज्झिताशाश्च खेटमूत्रोपजीविनः।
पूयशोणितविष्ठाशा घोराः प्रकृतिदुखिताः ।। -पृ. 113

अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र एवं आलोक-टीका :

१. क. प्रमृष्टपापधर्मतया मृष्टगात्रता, ख. विशुद्धचित्तत्वात् विशुद्धगात्रता, ग. सुविशुद्धधर्म- देशनात् विशुद्धनेत्रता, घ. व्यपगतकालधर्मविनयत्वेन व्यपगततिलकालकगात्रता। -पृ. 5

२. अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितायामुक्तम्- यदाहं देवपुत्रा ....दीपवत्यां .... तदाहं दीपंकरेण .... सम्यक्सम्बोधौ- 'भविष्यसि त्वं माणव, ... च मनुष्याणां च बुद्धो भगवानिति'। -पृ. 6

३. क्लेशकर्म तथा जन्म क्लेशज्ञेयावृती तथा।
येन वैपक्षिका भग्नास्तेनेह भगवान् स्मृतः।।
इत्यार्षोक्त्या नैरुक्तविधानेन क्लेशादिकं भग्नवानिति भगवान्। - पृ. 7

४. प्रज्ञापारमिता ज्ञानमद्वयं सा तथागतः। -पृ. 7

५. अचलिता हि तथता। .... या च तथता, स तथागतः, ...या च भूतकोटिः स तथागतः, ...या चा शून्यता, स तथागतः। ....यश्च आकाशधातुः, स तथागतः। -पृ. 7

६. पूजादक्षिणागुणप्रकर्षाद्यर्हतया अर्हन्तः ; ... हतारित्वात् अर्हन्तः। -पृ. 8

७. सर्वाकाराविपरीतधर्मदैशिकत्वेन परार्थसंपदा तथागताः। सवासनक्लेशज्ञेयावरणप्रहाणयोगात् स्वार्थसंपदा अर्हन्तः। सम्यक्संपद्वयावाहकमार्गाधिगमात् सम्यक्संबुद्धाः। -पृ. 8

८. तथागतोऽर्हन् सम्यक्संबुद्धः .... ज्ञानप्रहाणसंपद्भेदेन द्विविधा। तत्र अरीन् ...... परिपूर्णा च भगवतः कथिता। तथा हि- .... सर्वाकारशास्ता चेति प्रतिपादितम्। -पृ. 8

९. अनेन शास्तृत्वसंपदः प्राप्तिहेतुं .... विद्याचरणशब्देन तिस्रः शिक्षा निर्दिश्यन्ते। -पृ. 9

१०. तथा हि-- लोकत्तरेण मार्गेण शोभनं .... सुपरिपूर्णघटवत्। .... ज्ञानविबन्धात्र निःशेषं गताः। -पृ. 10

११. अस्याश्च शास्तृत्वसंपदो द्विविधं ... दर्शयति-- लोकविद् इति। भव्याभव्यलोकपरिज्ञानादसौ लोकविदुच्यते। तथा हि-- भगवान् त्रिःकृत्वो रात्रेस्त्रिःकृत्वो ... लोकं व्यवलोकयति। -पृ. 11

१२. भव्याभव्यांल्लोकान् व्यवलोक्य भगवान् ...... पुरुषदम्यानां तीव्ररागद्वेषमोहमानानामार्यसुन्दरानन्दाङ्गुलीमालोरुविल्वकाश्यपमहाराजकप्फिणप्रभृतीनां विनायक इति प्रदर्शनार्थम्। -पृ 11

१३. यद्यपि भगवान् न विशेषेण ...... तस्य च देवमनुष्या... मनुष्याणां चेत्युच्यते। -पृ. 12

१४. तत्र सकलपदार्थावबोधेन प्रकृष्टा .... अक्षयतासम्पत्त्या, अतुलतासम्पत्त्या .... भगवान्। -पृ. 12

१५. तत्र प्राणातिपातः परेषां जीवितक्षयः। .... अनङ्गादौ स्त्र्याद्यभिगमनं काममिथ्याचारः।
वल्कलैः सगुडैः काचित्क्रियते मधुनापरा।
पिष्टकिण्वजलैरन्या सुरा ज्ञेया त्रिधा बुधैः।।
मैरेयं गुडधात्र्यम्बुधातकीसंस्कृतं विदुः।
मदयेदशितं पीतं यत्तन्मद्यमिति स्मृतम्।।
तदेतत् त्रिविधं सर्वं शुक्लधर्मविपक्षतः।
प्रमादस्थानमित्याह प्रसङ्गादागतं पुनः।।
अभूताभिधानमनृतवचनम्। .... व्यापादः ..... नास्तीति दृष्टिर्मिथ्यादर्शनम्। -पृ. 17

१७. "षट्पारमितापूर्णाधिवचनमेतत् यदुत प्रज्ञापारमिता" .... ध्यानपारमिता। तस्यैव दानं ददतो मायाबुद्धिप्रत्युपस्थानेन कस्यचिदुपकारापकारादर्शनात् प्रज्ञापारमिता" इति। -पृ. 29

१८. तेषां तथा सुचिरं महानिरयान्महानिरयं संक्रामतां तेजःसंवर्तनी प्रादुर्भविष्यति। .... ते पुनरेव तानि महानिरयेषु महान्ति महानिरयदुःखानि प्रत्यनुभविष्यन्ति। तावत्प्रत्यनुभविष्यन्ति, यावत्पुनरेव तेजःसंवर्तनी प्रादुर्भविष्यति। एवं ते बहुदुःखवेदनीयं कर्म प्रत्यनुभविष्यन्ति। -पृ. 85

१९. तेजःसंवर्तनी इति नरकगतिमुपादाय यावद्ब्रह्मलोके कश्चित् सत्त्वो नावशिष्टो भवति, तदा शून्यभाजने सप्तसूर्याः प्रादुर्भूय ..... प्रथमं ध्यानं दहन्ति। अन्येषु लोकधातुषु इति त्रिसाहस्रमहासाहस्रेषु। -पृ. 85

२०. चित्तानवलीनत्वानुत्रासादिना उपाकौशल्येन यथाशयं "क्षितीशेष्टराज्ञीमरणनिवेदनन्यायेन" मात्सर्यादिधर्मवियुक्तः समस्तवस्तुनैरात्म्यादिदेशकः सुगतिफलादिप्रापकत्वेन कल्याणमित्रम्। --पृ. 91

२१. न विद्यन्ते उपधयः स्कन्धाः सर्वरागादिप्रहाणावशेषीभूतत्वेन शेषा यस्मिन्निर्वाणे तत्तथोक्तम्। निर्वान्त्यस्मिन् सर्वे विकल्पाः इति निर्वाणं तथता। --पृ. 121

२२. तत्र पूर्वजन्मनि क्लेशावस्था इह अविद्या, ... इत्याद्यन्तयोर्द्वे द्वे मध्यस्थौ इति त्रिकाण्डो द्वादशाङ्गः प्रतीत्यसमुत्पादोऽस्य क्षयाभावादक्षयत्वेनेति पूर्ववत्। --पृ. 135-136

चतुःशतक एवं वृत्तिः :

१. शीलादपि वरं भ्रंशो न तु दृष्टेः कदाचन।
शीलेन गम्यते स्वर्गो दृष्ट्या याति परं पदम्।। --पृ. 15

२. तुलनीयम्-- साम्प्रतं संसारदोषोपलम्भसंदर्शनेन तत्रोत्पाद्योद्वेगार्थं कर्मप्रहाणोपायकथनकाम आह-
अस्य दुःखसमुद्रस्य सर्वशान्तो न विद्यते।
निमग्नस्येह बालस्य भीतास्ते किं न विद्यते।। --पृ. 93

३. तत्रैव तज्यते कश्चित् कश्चित्तत्रैव दुष्यति।

कश्चिन्मुह्यति तत्रैव तस्मात् कामो निरर्थकः।।
रञ्जनीयवस्त्वायत्तोदयो हि रागः। ...... तस्माद् विषयकामः स्वरूपासिद्धत्वाच्छून्यः। न चैवं रञ्जनीयवस्तुशून्यताभावनातत्परस्य योगिनो रागप्रहाणं न सम्भाव्यत् इति। -पृ. 48

जातकमाला :

१. दानं नाम महानिधानमनुगं चौराद्यसाधारणं
दानं मत्सरलोभदोषरजसः प्रक्षालनं चेतसः।
संसाराध्वपरिश्रमापनयनं दानं सुखं वाहनं
दानं नैकसुखोपधानसुमुखं सन्मित्रमात्यन्तिकम्।। --पृ. 26

२. न सज्जनाद् दूरचरः क्वचिद् भवेद् भजेत साधून् विनयक्रमानुगः।
स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपगं विसर्पिणस्तद्गुणपुष्परेणवः।। --पृ. 90

तत्त्वसंग्रहः :

चित्तमेव संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं निर्वाणमिति कथ्यते।। --पृ. 151

दशभूमिसूत्रम् :

१. इमे खलु पुनर्दशाकुशलाः कर्मपथा ..... प्राणातिपातो निरयमुपनयति, तिर्यग्योनिमुपनयति, यमलोकमुपनयति ... .व्यापादो .... मिथ्यादृष्टिः ...... कुदृष्टिपतितश्च भवति शठश्च संवर्तते। -पृ. 18

२. प्राणातिपातात्प्रतिविरतो ..... कः पुनर्वादः परसत्त्वेषु सत्त्वसंज्ञिनः संचिन्त्यौदारिककायविहेठनया। -पृ. 19

३. अदत्तादानात्प्रतिविरतः खलु पुनर्भवति ...... कः पुनर्वादोऽन्येभ्यो जीवितोपकरणेभ्यः। -पृ. 18

४. काममिथ्याचारात्प्रतिविरतः खलु पुनर्भवति .... कः पुनर्वादो द्वीन्द्रियसमापत्या वा अनङ्गविज्ञप्त्या वा। -पृ. 20

५. अनृतवचनात्प्रतिविरतः खलु पुनर्भवति सत्यवादी भूतवादी कालवादी, यथावादी तथावादी। .... क्षान्तिं रुचिं मतिं प्रेक्षां विसंवादनाभिप्रायो नानृतां वाचं निश्चारयति, कः पुनर्वादः समन्वाहृत्य। -पृ. 20

६. पिशुनवचनात्प्रतिविरतः .... स नेतः श्रुत्वा अमुत्राख्याता भवत्यमीषां भेदाय .... न भिन्नानामनुप्रदानं करोति। न व्यग्रारामो भवति न व्यग्ररतो न व्यग्रकरणीं वाचं भाषते सद्भूतामसद्भूतां वा। -पृ. 21

७. परुषवचनात्प्रतिविरतः .....। ....बहुजनेष्टा बहुजनकान्ता बहुजनप्रिया .... मनउत्प्लावनकरी मनःप्रह्लादनकरी स्वसंतानपरसंतानप्रसादनकरी ततारूपां वाचं निश्चारयति। -पृ. 21-22

८. संभिन्नप्रलापात्प्रतिविरतः खलु पुनर्भवति सुपरिहार्यवचनः कालवादी भूतवादी ......। स निदानवर्ती वाचं भाषते कालेन सावदानाम्। ...... परिहार्यं परिहरति, कः पुनर्वादो वाग्विक्षेपेण। -पृ. 22

९. अनभिध्यालुः खलु पुनर्भवति......। परपरिगृहीतेषु स्पृहामपि नोत्पादयति, किमिति यत्परेषां तन्नाम स्यादिति नाभिध्यामुत्पादयति, न प्रार्थयते न प्रणिदधाति, न लोभचित्तमुत्पादयति। -पृ. 23

१०. अव्यापन्नचित्तः खलुः पुनर्भवति। .... स यानीमानि क्रोधोपनाहखिलमलव्यापाद ..... सर्वसत्त्वहितसुखाय वितर्कितविचारितानि, तान्यनुवितर्कयिता भवति। -पृ. 23

११. सम्यग्दृष्टिः खलुः पुनर्भवति सम्यक्पथगतः कौतुकमङ्गलनानाप्रकारकुशीलदृष्टिविगतऋजुदृष्टिरशठोऽमायावी बुद्धधर्मसंघनियताशयः। --पृ. 23

धम्मपद :

१. सब्बदानं धम्मदानं जिनाति, सब्बरसं धम्मरसो जिनाति।
सब्बरतिं धम्मरति जिनाति, तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति।। --पृ. 26

२. अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मियन्ते, ये पमत्ता यथा मता।। --पृ. 39

३. यो च पुब्बे पमज्जित्वा, पच्छा सो नप्पमज्जति।
सो इमं लोकं पभासेति, अब्भा मुत्तो व चन्दिमा।। --पृ. 39

४. मा पमादमनुयुञ्जेथ मा कामरतिसन्थवं।
अप्पमत्तो हि झायन्तो पप्पोति विपुलं सुखं।। --पृ. 39

५. खन्ती परमं तपो तितिक्खा, निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा।
न हि पब्बजितो परूपघाती, समणो होति परं विहेठयन्तो।। --पृ. 41

६. न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो।। --पृ. 42

७. अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति, वेरं तेसं न सम्मति ।। -पृ. 43

८. अक्कोच्छि मं अवधि मं, अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं नूपनय्हन्ति, वेरं तेसूपसम्मति ।। --पृ. 43

९. फन्दनं चपलं चित्तं, दुरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी, उसुकारो व तेजनं।। --पृ. 43

१०. चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो, आपज्जति परदारसेवी।
अपुञ्ञलाभं न निकामसेय्यं, निन्दं ततीयं निरयं चतुत्थं।। -पृ. 46

११. चित्तस्स दमनं साधु चित्तं दन्तं सुखावहं। --पृ. 47

१२. पापो पि पस्सति भद्रं याव पापं न पच्चति।

यदा च पच्चति पापं अथ पापो पापानि पस्सति।। --पृ. 55
१३. आरोग्य परमा लाभा सन्तुट्ठिपरमं धनं।
विस्सासपरमा ञाति निर्वाणं परमं सुखम्।। --पृ. 58
१४. सब्बसंयोजनं छेत्वा यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।। --पृ. 79
१५. अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं।।
अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।
तस्मा संयमयत्तानं अस्सं भद्दं व वाणिजो।।
तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता। --पृ. 79
१६. मित्ते भजस्सु कल्याणे सुद्धाजीवे अतन्दिते।। --पृ. 91
१७. साहु दस्सनमरियानं सन्निवासो सदा सुखो।
अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया।।
धीरं च पञ्ञं च बहुस्सुतं च, धोरय्हसीलं वतवन्तमारियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं, भजेथ नक्खत्तपथं व चान्दिमा।। --पृ. 91
१८. यो चेतं सहते जम्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं ।
सोका तम्हा पपतन्ति उदबिन्दु व पोक्खरा।। --पृ. 109
१९. जिघच्छा परमा रोगा, सङ्खारा परमा दुखा ।
एतं ञत्वा यथाभूतं निब्बानं परमं सुखं ।।
२०. आरोग्यपरमा लाभा, सन्तुट्ठिपरमं धनं ।
विस्सासपरमा ञाति निब्बानं परमं सुखं ।। --पृ. 121
२१. नत्थि झानं अपञ्ञस्स, पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानं च पञ्ञा च, स वे निब्बानसन्तिके ।। --पृ. 124
२२. सब्बपापस्स अकरणं कुलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं ।। --पृ. 146
२३. फन्दनं चपलं चित्तं दूरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी, उसुकारो व तेजनं।।
दुन्निग्गहस्स लहुनो, यत्थकामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो, साधु चित्तं दन्तं सुखावहं।। --पृ. 147

धम्मसंगिणी :

अनत्थं मे अचरीति आघातो जायति, अनत्थं ....अत्थं चरिस्सतीति आघातो जायति, अट्ठाने पन आघातो जायति। --पृ. 43

धर्मदर्शनधातुगीतिः :

१. सूक्ष्मोऽचिन्त्यतनूकरश्च निखिलज्ञाता च सर्वङ्करः
योगाभ्यासलभः सुधीश्च विषयो ध्यानस्य च ध्यायिनाम्।
चन्द्रार्कावनिवारिवह्निपवनाकाशकायस्तथा
शान्त्यानन्दसुखेप्सुभिस्तु सततं सम्भावितव्यो हरः।। --पृ. 76
२. आक्षेपकं तथाऽऽक्षिप्तम् अभिनिर्वृतनिर्वृती।
आदीनवः क्रमादङ्गम् त्रिचतुस्त्र्यैकमेककम्।। ८१।। --पृ. 134
३. दुःखं स्कन्धा उपादत्ताः कर्मक्लेशौ समुद्भवः।
द्वौ निरोधौ च निर्वाणं पक्ष्योऽध्वा सप्तत्रिंशकः।। --पृ. 146

पातिमोक्खसुत्त :

तुलनीयम्-- तत्रिमे चत्तारो पाराजिका धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति- मैथुनपरिसेवने, अदिन्नादाने, जीविता वोरोपने, उत्तरिमनुस्सधम्मालापने ; इमे को पनायस्मन्तो तेरस सङ्घादिसेस धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति .... इमे खो पनास्मन्ते सत्त अधिकरणसमथा धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति- उप्पन्नुपपन्नानं अधिकरणानं समथाय वूपसमाय सम्मुखाविनयो दातब्बो, ... येभुय्यसिका, तस्सपापियसिका, तिणवत्थारको । --पृ. 80-81

प्रतिमोक्षसूत्रम् :

शीलेन युक्तो श्रमणो तिरेति, शीलेन युक्तो ब्राह्मणो तिरेति।
शीलेन युक्तो नरदेवपूज्यो शीलेन युक्तस्य हि प्रातिमोक्षम्। -पृ. 28

प्रतीत्यसमुत्पादहृदयकारिका :

त्रिभ्यो भवति द्वन्द्वं द्वन्द्वात्प्रभवन्ति सप्त सप्तभ्यः।
त्रय उद्भवन्ति भूयस्तदेव तु भ्रमति भवचक्रम्।। -पृ. 134

प्रमाणवार्तिकम् :

१. हेतोः प्रहाणं त्रिगुणं सुगतत्वमनिःश्रयात्।।
दुःखस्य शस्तं नैरात्म्यदृष्टेश्च युक्तितोऽपि वा।
पुनरावृत्तिरित्युक्तो जन्मदोषसमुद्भवौ ।।
सुगतत्वं व्याचिख्यासुराह- हेतोः समुदयस्य प्रहाणं निरोधः सुगतत्वम्......... अपुनरावृत्त्या गमनं सुगतत्वम् .... पुनरावर्तनात् पुनरावृत्तिरित्युक्तौ।। -पृ. 10

२. यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्राहमिति शाश्वतस्नेहः।
स्नेहात्सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते।।
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत्तावत्तु संसारः ।।
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ।। --पृ. 110

बुद्धस्तोत्रशतपञ्चशत्कः :

१. स्थायिनां त्वं परिक्षेप्ता विनियन्तापहरिणाम्।
समाधाता विजिह्मामानां प्रेरको मन्दगामिनाम्।। १०२।।
नियोक्ता धुरि दान्तानां खटुङ्कानामुपेक्षकः।
अतोऽसि नरदम्यानां सत्सारथिरनुत्तरः ।। १०३।। -पृ. 11

२. सोऽहं प्राप्य मनुष्यत्वं ससद्धर्ममहोत्सवम् ।
महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमम् ।। ५।।
अनित्यताव्यनुसृतां कर्मच्छिद्रससंशयाम् ।
आत्तसारां करिष्यामि कथं नेमां सरस्वतीम्।। ६।। --पृ. 88

बोधिचर्यावतार एवं पञ्जिका :

१. इयं कौशिक प्रज्ञापारमिता बोधिसत्त्वानां .... ध्यापारमितामभिभवति। .... प्रज्ञापारमितया अपरिणायकाः, ... पञ्च पारमिताः सचक्षुष्का भवन्ति। प्रज्ञापारमितापरिगृहीताश्चैताः .... लभन्ते। .... उक्तं च---
सर्वपारमिताभिस्त्वं निर्मलाभिरनिन्दिते।
चन्द्रलेखेव ताराभिरनुयातासि सर्वदा।। इति।। (प्रज्ञापारमितास्तवः, ८का.) -पृ. 30

२. ये बुद्धं शरणं यान्ति न ते गच्छन्ति दुर्गतिम्।
प्रहाय मानुष्यान् कायान् दिव्यान् कायांल्लभन्ति ते ।। -पृ. 34
मानेन दुर्गतिं नीता मानुष्येऽपि हतोत्सवाः।
परपिण्डाशिनो दासा मूर्खा दुर्दर्शना कृशाः ।।
सर्वतः परिभूताश्च मास्तब्धास्तपस्विनः ।
तेऽपि चेन्मानिनां मध्ये दीनास्तु वद कीदृशाः।।
सप्तविधमानेषु अन्यतमेन मानेन दुर्गतिं .... दीनाः कृपणाः कृपापात्रमित्यर्थः। -पृ. 36

३. न द्वेषसमं पापं न क्षान्तिसमं तपः।
तस्मात्क्षान्तिं प्रयत्नेन भावयेद्विविधैर्नयैः।।
न च द्वेषेण समं ..... तुल्यं तपः। .... विविधैर्नानाप्रकारैरुपायैर्वक्ष्यमाणैः। --पृ. 41

पुनश्च उक्तम्--

पुण्यविघ्नः कृतोऽनेनेत्यत्र कोपो न युज्यते।
क्षान्त्या समं तपो नास्ति नन्वेतत्तदुपस्थितम् ।। --पृ. 41

४. मनः शमं न गृह्णाति न प्रीतिसुखमश्नुते।
न निद्रां न धृतिं याति द्वेषशल्ये हृदि स्थिते।।
पूजयत्यर्थमानैर्यान् येऽपि चैनं समाश्रिताः।
तेऽप्येनं हन्तुमिच्छन्ति स्वामिनं द्वेषदुर्भगम्।।
सुहृदोऽप्युद्विजन्तेऽस्माद् ददाति न च सेव्यते।
संक्षेपान्नास्ति तत्किंचित् क्रोधनो येन सुस्थितः।।
शमं प्रशमं न गृह्णाति नाश्रयते। .... तत्परित्यागाय यत्नवता भवितव्यमित्याह--
एवमादीनि दुःखानि करोतीत्यरिसंज्ञया ।
यः क्रोधं हन्ति निर्बन्धात् स सुखीह परत्र च।। -पृ. 42
नैकयान्यस्त्रिया कुर्याद्यानं शयनमासनम्।
एकया अद्वितीयया अन्यस्त्रिया।...... न कुर्याद्यानादि। --पृ. 46

५. व्याघ्राः सिंहा गजा ऋक्षाः सर्पाः सर्वे च शत्रवः।
सर्वे नरकपालाश्च डाकिन्यो राक्षसास्तथा।।
सर्वे बद्धा भवन्त्येते चित्तस्यैकस्य बन्धनात्।
चित्तस्यैकस्य दमनात् सर्वे दान्ता भवन्ति च।।
सुबोधम्। कुतः पुनरेवमित्याह--
यस्माद् भयानि सर्वाणि दुःखान्यप्रमितानि च।
चित्तादेव भवन्तीति कथितं तत्त्ववादिना।।
सर्वे ह्येते कर्माक्षेपवशादनिष्टदायका भवन्ति। .... चित्तान्नान्यत्। तदाह--
कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना तत्कृतं च तत्।
चेतना मानसं कर्म तज्जे वाक्कायकर्मणी ।। इति।। (अभि.को., ४/१)
न च अनपकारचित्तस्य केचिदपकारिणो नाम। यस्मात्--
निवृत्तपापचित्तस्य नास्ति लोके भयं द्विषः।
सुखहानिर्न तस्यास्ति यस्य चित्तं वशे स्थितम्।। -पृ. 46-47

६. न शस्त्रं न विषं नाग्निर्न प्रपातो न वैरिणः।
कामानामुपमां यान्ति नरकादिव्यथास्मृतेः ।।
अमी शस्त्रादयो दुःखजनकत्वेन .... भजन्ते प्रति कामानाम् .... शस्त्रादयो हि नियतकालं मरणमात्रदुःखदायकाः, कामास्तु दीर्घकालिकतीव्रनरकादिदुःहेतव इति कीदृशी तैरुपमा भवेत्? --पृ. 47

७. कामा ह्यनर्थजनका इह लोके परत्र च।
इह वन्धबधच्छेदैर्नरकादौ परत्र च।। -पृ. 48

८. न स्वीकरोषि हे मूढ काष्ठपुत्तलकं शुचिम्।

अमेध्यघटितं यन्त्रं कस्माद्ररक्षसि पूतिकम्।।
हे मूढ, मोहविजृम्भितमेतद् भवतः।....... किमन्यस्मिन्नसन्नपि दोष उच्यते इत्यत्राह--
इमं चर्मपुटं तावत्स्वबुद्ध्यैव पृथक्कुरु।
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय।।
अस्थीन्यपि पृथक्कृत्वा पश्य मज्जानमन्ततः।
किमत्रसारमस्तीति स्वयमेव विचारय ।।

चर्ममयं पुटम्। .... कायः चतुर्महाभूतिकः मातापित्रशुचिकललसंभूतः दुःखमयः कृतघ्नश्चेति विस्तरेण प्रतिपादयिष्यतीति किमत्र सारमस्ति विज्ञप्रशस्तं न्याय्यं वा, इत्यात्मनैव विचारय। --पृ. 50

९. तूलगर्भैर्मृदुस्पर्शै रमन्ते नोपधानकै :।
दुर्गन्धं न स्रवन्तीति कामिनोऽमेध्यमोहिताः।।
यत्र च्छन्नेऽप्ययं रागस्तदच्छन्नं किमप्रियम्।
न चेत्प्रियोजनं तेन कस्माच्छन्नं विमृद्यते।।
यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिङ्गसेऽपरम्।
मांसकर्दमसंलिप्तं स्नायुबद्धास्थिपञ्जरम्।।

मांसमेव कर्दम इव लेपनसाधर्म्यात्, ... यदि तेन हेतुना चर्मादिना पिहितत्वादिति कृत्वा अशुचौ रागो भवति भवतः, तदा कस्मादालिङ्गसे परमन्यदीयं पञ्जरम्। -पृ. 50-51

१०. अनेनैवं कृतं कर्म, कोऽन्यः प्रत्यनुभविष्यति? न हि भिक्षवः कृतोपचितानि कर्माणि पृथिवीधातौ विपच्यन्ते नाब्धातौ न तेजोधातौ न वायुधातौ। उपात्तेष्वेव स्कन्धधात्वायतनेषु इति विस्तरः। --पृ. 54

११ अर्जनरक्षणनाशविषादैरर्थमनर्थमनन्तमवेहि।
व्यग्रतया धनसक्तमतीनां नावसरो भवदुःखविमुक्तेः।।

अर्जनमनुत्पन्नस्योत्पादनं दुःखम्। .... संसाराश्रितजात्यादिदुःखनिर्मोक्षाय सदा तद्गतमनसिकारैरेव आयुःराणां क्षपणात्। --पृ. 59

१२. विनिपातगतानाथव्रतस्थान् संविभज्य च।
भुञ्जीत मध्यमां मात्रां त्रिचीवरबहिस्त्यजेत्।।

भैषज्यवसनादिभिरात्मभावो हि परिपालनीयः परार्थोपयोगित्वात्। .... तेन तं पिण्डपातं परिभुज्य कुशलपक्षाभिमुखेन भवितव्यम्। इति आर्यरत्नमेघेऽभिहितम्। --पृ. 61

१३. नाथनिर्वाणशय्यावच्छयीतेप्सितया दिशा।
संप्रजानंल्लघूत्थानः प्रागवश्यं नियोगतः ।।

भगवतो महानिर्वाणशय्यामिव शय्यां परिकल्पयेत्। .... लघूत्थानः शीघ्रमेवोत्तिष्ठेत्। न तु जृम्भिकां गात्रमोटनं कुर्वन्नालस्योपहितश्चिरेण। --पृ. 62

१४. इदं न प्राप्तमारब्धमिदमर्द्धकृतं स्थितम्।
अकस्मान्मृत्युरायातो हा हतोऽस्मीति चिन्तयन्।।
शोकवेगसमुच्छूनसाश्रुरक्तेक्षणाननान्।
बन्धून्निराशान् संपश्यन् यमदूतमुखानि च।।

स्वपापस्मृतिसंतप्तः श्रृण्वन्नादांश्च नारकान्।
त्रासोच्चारविलिप्ताङ्गो विह्वलः किं करिष्यसि।।
इदं यदनागते कर्तव्यतया मनसिकृतं तत्र प्राप्तम्। .... स्वयंकृतपापकर्मस्मरणेन मरणसमये किमित्येवं मया कृतमिति पश्चात्तापेन तापितः। .... विह्वलः अनायत्तकायवाक्चित्तप्रचारः। किं करिष्यसि सर्वक्रियासु निवृत्तव्यापारः। -- पृ. 55

१५. एतदेव समासेन संप्रजन्यस्य लक्षणम्।
यत्कायचित्तावस्थायाः प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः।। --पृ. 82

१६. यथोक्तम्-- तत्र अल्पदुःखाभ्यासपूर्वकं कष्टकष्टतराभ्यासः सिध्यति। ...... एवं निष्पन्दफलं च सर्वधर्मसुखाक्रान्तं नाम समाधिं प्रतिलभते। --पृ. 83

१७. बद्धश्चेच्चित्तमातङ्गः स्मृतिरज्वा समन्ततः।
भयमस्तंगतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम्।।
यदि बद्धः कथंचिद् भवेद्। स्मृतिर्वक्ष्यमाणलक्षणा। ..... सर्वं कल्याणमभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणम्। आगतं संप्राप्तम्। देवश्चेद् वृष्टो निष्पन्नाः शालय इति यथा। --पृ. 83

१८. न खादितव्यमशुचि त्वया पेयं न शोणितम्।
नान्त्राणि चूषितव्यानि किं कायेन करिष्यसि।। -पृ. 84

१९. अत एवाह भगवान् मानुष्यमतिदुर्लभम्।
महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपमम् ।। --पृ. 88

२०. अद्य मे सफलं जन्म सुलब्धो मानुषो भवः।
अद्य बुद्धकुले जातो बुद्धपुत्रोऽस्मि सांप्रतम्।।
तथाधुना मया कार्यं स्वकुलोचितकारिणाम्।
निर्मलस्य कुलस्यास्य कलङ्को न भवेद्यथा।। --पृ. 89

२१. नातःपरा वञ्चनास्ति न च मोहोऽस्त्यतः परः।
यदीदृशं क्षणं प्राप्य नाभ्यस्तं कुशलं मया।। --पृ. 89

२२. सदा कल्याणमित्रं च जीवितार्थेऽपि न त्यजेत्।
बोधिसत्त्वव्रतधरं महायानार्थकोविदम्।। --पृ. 90

२३. नरकप्रेततिर्यञ्चो म्लेच्छा दीर्घायुषोऽमराः ।
मिथ्यादृग्बुद्धकान्तारो मूकताष्टाविहाक्षणाः ।। --पृ. 92

२४. पुनश्च-- अक्षणावस्थायां धर्मप्रविचयस्य ...... यथोक्तमार्यगण्डव्यूहसूत्रे आर्यजयोष्मायतनविमोक्षे-- दुर्लभा अष्टाक्षणविनिवृत्तिः। .... दुर्लभं सम्यग्जीवितं मनुष्यलोके इति। इदमेवाभिसंधायोक्तम्--
मानुष्यं दुर्लभं लोके बुद्धोत्पादोऽतिदुर्लभः ।
ततोऽपि श्रद्धाप्रव्रज्याप्रतिपत्तिः सुदुर्लभा ।।
बोधौ चित्तं दृढं सर्वसत्त्वानामनुकम्पया ।
सर्वदुःखप्रशान्त्यर्थं दुर्लभानां परम्परा ।। --पृ. 92-93

२५. पिता चेन्न विना पुत्रात्कुतः पुत्रस्य संभवः।
पुत्राभावे पिता नास्ति तथासत्त्वं तयोर्द्वयोः।। --पृ. 94

२६. ननु च सत्यदर्शनादविद्यादि प्रहीयते, तत्प्रहाणात् .... सद्भावेऽपि न किंचिद्विहन्यते इति। तदुक्तम्--

मिथ्याज्ञानतद्भूततर्षसंचेतनावशात्।
हीनस्थानगतिर्जन्म त्यक्त्वा चैतन्न जायते।।

अथवा। तृष्णैव केवला पुनर्भवकारणम्, समुदयाकारत्वात्। .... इति पराभिप्रायमुत्थापयन्नाह--

तृष्णा तावदुपादानं नास्ति चेत्संप्रधार्यते।

अविद्याप्रहाणात् तृष्णा पुनर्भवोपादानं .... तद्भावात् तृष्णाप्रहाणस्याप्यभावात्। ---पृ. 110

२७. शमथेन विपश्यनासुयुक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्येवत्य।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या।।

शमथः चित्तेकाग्रतालक्षणः समाधिः। .... युगनद्धवाहिमार्गयोगेन कुरुते क्लेशानां विनाशं प्रहाणमित्येवमवेत्य ज्ञात्वा क्लेशविमुमुक्षुणा शमथः प्रथमादौ गवेषणीयः। --पृ. 125

२८. तत्र कतमत् समुदयार्यसत्यम्? येयं तृष्णा पौनर्भविकी नन्दीरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी, यदुत कामतृष्णा भवतृष्णा विभवतृष्णाश्चेति। --पृ. 143

२९. नैवावसादः कर्त्तव्यः कुतो मे बोधिरित्यतः।

कुतो मे बोधिरिति, कथमहं वराकः ..... यथोक्तम्-- अवसादोऽप्यनर्थ इति (शि.समु. ३४)। कस्मात्?

यस्मात्तथागतः सत्यं सत्यवादीदमुक्तवान्।।

यस्मात् तथागतः इदं वक्ष्यमाणं सत्यमवितथमुक्तवान् .... अतः सत्याभिधानहेतुपदमेतत्। किं तत्सत्यमुक्तवान्--

तेऽप्यासन् दंशमशका मक्षिकाः कृमयस्तथा।
यैरुत्साहवशात् प्राप्ता दुरापा बोधिरुत्तमा ।।

इत्याह। तेऽपि बुद्धा भगवन्तः पूर्वं शाक्यमुनिरत्नशिखिदीपंकरप्रभृतय .... भावः। इदं तत् सत्यम्।

किमुताहं नरो जात्या शक्तो ज्ञातुं हिताहितम्।
सर्वज्ञनीत्यनुत्सर्गाद्बोधिं किं नाप्नुयामहम् ।।

किं पुनरहं मनुष्यभूतो जन्मना। .... काक्का पठनाद् आप्नुयामेवेति। एतद्भगवता रत्नमेघे दर्शितम्-- इह बोधिसत्त्वो नैवं चित्तमुत्पादयति- .... अहमपि तथा तथा घटिष्ये, तथा तथा व्यायंस्ये सर्वसत्त्वसाधारणेन वीर्येण सर्वसत्त्वारम्बणेन वीर्येण यथाहमप्यनुत्तरां सम्यक्संबोधिमभिसंभोत्स्ये इति। --पृ. 145-146

३०. यदुक्तमार्यरत्नमेघे-- चित्तपूर्वंगमाः सर्वधर्माः। चित्ते परिज्ञाते सर्वधर्माः परिज्ञाता भवन्ति। अपि च--

चित्तेन नीयते लोकश्चित्तं चित्तं न पश्यति।
चित्तेन चीयते कर्म शुभं वा यदि वाशुभम्।।

चित्तं भ्रमते अलातवत्।...... चित्तेनास्य वशीभूतेन सर्वे धर्मा वशीभवन्तीति। --पृ. 146-147

३१. तस्मात्स्वधिष्ठितं चित्तं मया कार्यं सुरक्षितम्।
चित्तरक्षाव्रतं मुक्त्वा बहुभिः किं मम व्रतैः ।। १८।।

एवमुत्पादितबोधिचित्तेन शिक्षारक्षणे यत्नवता मनसिकर्तव्यम्-- स्वधिष्ठितं स्मृत्या सुरक्षितं संप्रजन्येन वक्ष्यमाणरीत्या मया स्वचित्तं कर्तव्यं तदेकाग्रमानसेन। .... तदुच्यते-- चित्ताधीनो धर्मः, धर्माधीना बोधिरिति। एवं चित्तायत्ततां सर्वत्र निश्चित्य चित्तदृढतायामुदाहरणमाह--

यथा चपलमध्यस्थो रक्षति व्रणमादरात्।
एवं दुर्जनमध्यस्थो रक्षेच्चित्तव्रणं सदा ।। १९।। --पृ. 147

३२. पारंपर्येण साक्षाद्वा सत्त्वार्थं नान्यदाचरेत्।
सत्त्वानामेव चार्थाय सर्वं बोधाय नामयेत्।।

अन्ततः स्वयमाहारादिक्रियया परप्रेरणया अपरापरदूतप्रेरणया वा, साक्षात् ...... किंचित् सत्त्वानामेव संसारदुःखपतितानां ततो निःसरणाय सर्वं कुशलमूलमनुत्तरायां सम्यक्संबोधौ परिणामयेत्। --पृ. 148

३३. बोधिचर्यावतारं मे यद्विचिन्तयतः शुभम्।
तेन सर्वे जनाः सन्तु बोधचर्याविभूषणाः।। --पृ. 148

३४. दशदिग्व्योमपर्यन्तसर्वसत्त्वार्थसाधने।
यथा चरति मञ्जुश्रीः सैव चर्या भवेन्मम।। --पृ. 149

३५. पारंपर्येण साक्षाद्वा सत्त्वार्थ नान्यदाचरेत्।
सत्त्वानामेव चार्थाय सर्वं बोधाय नामयेत्।। --पृ. 149

३६. अनाथानामहं नाथः सार्थवाहश्च यायिनाम्।
पारेप्सूनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च।।
दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहम्।
दासार्थिनामहं दासो भवेयं सर्वदेहिनाम्।।
चिन्तामणिर्भद्रघटः सिद्धविद्या महौषधिः।
भवेयं कल्पवृक्षश्च कामधेनुश्च देहिनाम् ।। --पृ. 149

३७. सर्वासु दिक्षु यावन्तः कायचित्तव्यथातुराः।
ते प्राप्नुवन्तु मत्पुण्यैः सुखप्रामोद्यसागरान्।।
आकाशस्य स्थितिर्यावद्यावच्च जगतः स्थितिः।
तावन्मम स्थितिर्भूयाज्जगद्दुःखानि निघ्नतः ।। --पृ. 149

बोधिसत्त्वमण्यावलिः :

१. सर्वामिषं परित्यज्य आर्यवित्तेन भूषयेत्।
श्रद्धाशीलधनञ्चापि त्वत्रपाहीधनं तथा।।
श्रुतत्यागधनं चापि प्रज्ञा सप्तधनानि हि।
धनान्येवंविधानीति सप्ताक्षयनिधिरिरयम् ।। --पृ. 56

२. दशाशुभान् परित्यज्य श्रद्धां च दृढयेत् सदा।
अल्पैषी चाथ सन्तृप्तः कृतवेदी कृतेष च ।। --पृ. 58

मञ्जुश्रीमूलकल्पतन्त्रम् :

नागाह्वयो नाम सौ भिक्षुः शासनेऽस्मिं हिते रतः।

मुदितां भूमिलब्धस्तु जीवेद् वर्षशतानि षट्।।
मायूरी नामतो विद्या सिद्धा तस्य महात्मनः।
नानाशास्त्रार्थधात्वर्थनिःस्वभावार्थतत्त्ववित्।।
सुखावत्यां चोपपद्येत यदासौ त्यक्तकलेवरः।
सोऽनुपूर्वेण नियतं संप्रपत्स्यते ।। --पृ. 3

मध्यमकावतारः :

१. स्कन्धेष्वात्मा विद्यते नैव चामी सन्ति स्कन्धा आत्मनीतीह यस्मात्।
सत्यन्यत्वे स्यादियं कल्पना वै तच्चान्यत्वं नास्त्यतः कल्पनैषा ।।
इष्टो नात्मा रूपवान्नास्ति यस्मादात्मा वत्त्वार्थोपयोगो हि नातः।
भेदे गोमान् रूपवानप्यभेदे तत्त्वान्यत्वेऽरूपतो नात्मनः स्तः ।। --पृ. 73
२. स्कन्धा आत्मा चेदतस्तद्बहुत्वात् आत्मानः स्युस्तेऽपि भूयांस एव।
द्रव्यं चात्मा प्राप्नुयात् तादृशश्च द्रव्ये वृत्तौ वैपरीत्यं च न स्यात् ।।
आत्मोपच्छेदो निर्वृतौ स्यादवश्यं नाशोत्पादौ निर्वृतेः प्राक् क्षणेषु ।
कर्तुर्नाशात् तत्फलाभाव एव भुञ्जीतान्येनार्जितं कर्म चान्यः ।। --पृ. 73
३. सत्कायदृष्टिप्रभवानशेषान् क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन्।
आत्मानमस्या विषयं च ज्ञात्वा योगी करोत्यात्मनिषेधमेव।। --पृ. 77

मध्यमकशास्त्रकारिका एवं वृत्तिः :

१. संकल्पप्रभवो रागो द्वेषो मोहश्च कथ्यते।
शुभाशुभविपर्यासान् सम्भवति प्रतीत्य हि।।
कामं जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि ततो मे न भविष्यसि ।। --पृ. 48
२. अनित्ये नित्यमित्येवं यदि ग्राहो विपर्ययः।
नानित्यं विद्यते शून्ये कुतो ग्राहो विपर्ययः।।
इह चत्वारो विपर्यासा उच्यन्ते। ...... स विपर्यासः। तथा--
अनित्यस्य ध्रुवा पीडा पीडा यस्य न तत् सुखम्।
तस्मादनित्यं यत् सर्वं दुःखं तदिति जायते।।
इत्यमुना न्यायेन यदनित्यं तद् दुःखम्, ... यः सुखमिति विपरीतो ग्राहः सोऽपरो विपर्यासः। तथा--
शुक्रशोणितसम्पर्कबीजं विण्मूत्रवर्धितम्।
अमेध्यरूपमाजानन् रज्यसेऽत्र कयेच्छया।।
अमेध्यपुञ्जप्रच्छन्ने तत्क्लेदार्द्रेण चर्मणा ।
यः शयीत स नारीणां शयीत जघनादरे।। इत्यादि।

एवमिदं शरीरं .... इत्येते चत्वारो विपर्यासाः सम्मोहस्य हेतुभूताः। -पृ. 72-73

३. एवं तावत् स्कन्धा आत्मा न भवति। स्कन्धव्यतिरिक्तोऽपि न युज्यते। .... यश्चैवं भवति, सः अविद्यमानत्वादसंस्कृतत्वाद्वा खपुष्पवन्निर्वाणवद्वा नैव आत्मव्यपदेशं प्रतिलभते, नाप्यहंकारविषयत्वेन युज्यते, इति स्कन्धव्यतिरिक्तोऽप्यात्मा न युज्यते। --पृ. 74

४. रूपं नात्मा रूपवान्नापि चात्मा रूपे नात्मा नात्मनि रूपं ....। एवं यावत् विज्ञानं नात्मा, विज्ञानवान्नात्मा विज्ञाने नात्मा नात्मनि विज्ञानम् इति। तथा-- अनात्मानः सर्वधर्मा इति। --पृ. 75

५. तद्यथा-- संयोजनत्रयप्रहाणे सति षोडशे मार्गे अन्वयज्ञानक्षणे यत् क्लेशप्रहाणं तत् स्रोतआपत्तिफलम्। --पृ. 79

६. अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्।।

तत्र नास्मिन् परप्रत्ययोऽस्तीति अपरप्रत्ययम्। .... अत एव तत् प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्। प्रपञ्चो हि वाक्, प्रपञ्चयति अर्थानिति कृत्वा। प्रपञ्चैरप्रपञ्चितं वाग्भिरव्याहृतमित्यर्थः। --पृ. 51-52

७. संसारमूलान् संस्कारानविद्वान् संस्करोत्यतः।
अविद्वान् कारकस्तस्मान्न विद्वांस्तत्त्वदर्शनात् ।।

तत्र संसारस्य विज्ञानादिप्रवृत्तिलक्षणस्य मूलं प्रधानं कारणं संस्काराः। .... तत्त्वदर्शने हि सर्वपदार्थानामेवानुपलम्भात् नास्ति किञ्चिद् यदालम्ब्य कर्म कुर्यादिति। --पृ. 93

८. इह हि भगवता उषितब्रह्मचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्मानुधर्मप्रतिपत्तियुक्तानां पुद्गलानां द्विविधं निर्वाणमुपवर्णितम् सोपधिशेषं निरुपधिशेषं च। .... यत्र तु निर्वाणे स्कन्धपञ्चकमपि नास्ति, तन्निरुपधिशेषं निर्वाणम्। निर्गतः उपधिशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा। निहताशेषचौरगणस्य ग्राममात्रस्यापि विनाशसाधर्म्येण। .... तदेव च अधिकृत्य उच्यते--

अभेदि कायो निरोधि सञ्ञा वेदना पि ति दहंसु सब्बा।
वूपसमिंसु संखारा विञ्ञाणमत्थमगमा ।। (उदानम्- ८-९)
असंलीनेन कायेन वेदनामध्यवासयत्।
प्रद्योतस्येव निर्वाणं विमोक्षस्तस्य चेतसः।। (थेरगाथा-९०६) --पृ. 112

९. शाश्वताशाश्वताद्यत्र कुतः शान्ते चतुष्टयम्।
अन्तानन्तादि चाप्यत्र कुतः शान्ते चतुष्टयम्।।

इह चतुर्दश अव्याकृतवस्तूनि भगवता निर्दिष्टानि। तद्यथा- शाश्वतो लोकः, ... स जीवस्तच्छरीरम्, अन्यो जीवोऽन्यच्छरीरमिति। ...चतुर्दश वस्तूनि अव्याकृतत्वादव्याकृतवस्तूनि इत्युच्यन्ते। --पृ. 127

१०. तत्र अविद्या कतमा? .... पञ्चविज्ञानकायसंयुक्तमसातमनुभवनं दुःखम्। मनसा संयुक्तं मानसं दुःखं दौर्मनस्यम्। ये चाप्यन्ते एवमादाय उपक्लेशास्ते उपायासा इति। --पृ. 129

११. पुनर्भवाय संस्कारान् अविद्यानिवृतस्त्रिधा।
अभिसंस्कुरुते यांस्तैर्गतिं गच्छति कर्मभिः।।१
विज्ञानं सन्निविशते संस्कारप्रत्ययं गतौ ।
सन्निविष्टेऽथ विज्ञाने नामरूपं निषिच्यते ।।२
निषिक्ते नामरूपे तु षडायतनसम्भवः ।

षडायतनमागम्य संस्पर्शः सम्प्रवर्तते ।।३
चक्षुः प्रतीत्य रूपं च समन्वाहारमेव च ।
नामरूपं प्रतीत्यैवं विज्ञानं सम्प्रवर्तते ।।४
सन्निपातस्त्रयाणां यो रूपविज्ञानचक्षुषाम् ।
स्पर्शः सः तस्मात् स्पर्शाच्च वेदना सम्प्रवर्तते।।५
वेदनाप्रत्यया तृष्णा वेदनार्थं हि तृष्यते।
तृष्यमाण उपादनमुपादत्ते चतुर्विधम् ।।६
उपादाने सति भव उपादातुः प्रवर्तते ।
स्याद्धि यद्यनुपादानो मुच्येत न भवेद् भवः।।७
पञ्च स्कन्धाः स च भवः भवाज्जातिः प्रवर्तते।
जरामरणदुःखादि शोकाः सपरिवेदनाः ।।८
दौर्मनस्यमुपायासा जातेरेतत् प्रवर्तते ।
केवलस्यैवमेतस्य दुःखस्कन्धस्य सम्भवः।।९ --पृ. 130

१२. यतश्चैवमविद्यायामेव सत्यां संस्काराः प्रवर्तन्ते, असत्यां न प्रवर्तन्ते, अतः
अविद्यायां निरुद्धायां संस्काराणामसम्भवः।
हेतुवैयर्थ्यात्। तस्याः पुनरविद्यायाः कुतो निरोधः, इत्याह--
अविद्याया निरोधस्तु ज्ञानेनास्यैव भावनात्।। ११।।
अस्यैव प्रतीत्यसमुत्पादस्य यथावदविपरीतभावनातः अविद्या प्रहीयते। यो हि प्रतीत्यसमुत्पादं सम्यक् पश्यति, स सूक्ष्मस्यापि भावस्य न स्वरूपमुपलभते। .... तत्त्वदर्शिनो योगिनो नियतमेव अविद्या प्रहीयते। प्रहीणाविद्यस्य संस्कारा निरुध्यन्ते। यथा चैवमविद्यानिरोधात् संस्कारा निरुध्यन्ते, एवम्--
तस्य तस्य निरोधेन तत् तन्नाभिप्रवर्तते ।
दुःखस्कन्धः केवलोऽयमेव सम्यङ् निरुध्यते।। १२।।
पूर्वस्य पूर्वस्य अङ्गस्य निरोधेन उत्तरस्योत्तरस्य अङ्गस्य निरोधो भवतीति विज्ञेयम् ...... भावस्वभावशून्यं दुःखराशिं पुनरनुत्पत्त्या सम्यङ्निरोधयति। --पृ. 131

१३. अत्राह- यदि स्वतः परतः उभयतोऽहेतुतश्च नास्ति भावानामुत्पादः, ... इदंप्रत्ययतामात्राभ्युपगमे हि सति हेतुफलयोरन्योन्यापेक्षत्वान्नास्ति स्वाभाविकी सिद्धिरिति नास्ति सस्वभाववादः। अत एवोक्तम्--
"स्वयं कृतं परकृतं द्वाभ्यां कृतमहेतुकम् ।
तार्किकैरिष्यते दुःखं त्वया तूक्तं प्रतीत्यजम्।। (लोका. स्तवः ९का.), ...
प्रतीत्य कारकः कर्म तं प्रतीत्य च कारकम्।
कर्म प्रवर्तते नान्यत् पश्यामः सिद्धिकारणम् ।।(म.शा. ८.१२) --पृ. 137-138

१४. न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ।।
........स्वत उत्पादो न सम्भवति, सा--
तस्माद्धि तस्य भवने न गुणोऽस्ति कश्चिज्जातस्य जन्म पुनरेव च नैव युक्तम्। (म.अ. ६/८), इत्यादिना मध्यमकावतारादिद्वारेणावसेया। आचार्यबुद्धपालितस्त्वाह-- न स्वत उत्पद्यन्ते भावाः ....

एतच्च-- **न हि स्वभावो भावानां प्रत्ययादिषु विद्यते। (म.शा. १/५)**, ... ततश्च पराभावादेव नापि परत उत्पद्यन्ते। अपि च-- अन्यत् प्रतीत्य यदि नाम परोऽभविष्यज्जायेत तर्हि बहुलः शिखिनोऽन्धकारः। .... **गृह्यते नैव च जगद्यदि हेतुशून्यं स्याद्यद्वदेव गगनोत्पलवर्णगन्धौ।** (म.अ. ६/९९), इत्यादिदोषप्रसङ्गाच्च।। --पृ. 138

१५. अप्रहीणमसम्प्राप्तम् अनुच्छिन्नमशाश्वतम्।
अनिरुद्धमनुत्पन्नम् एतन्निर्वाणमुच्यते।।

यद्धि नैव प्रहीयते रागादिवत्, नापि प्राप्यते श्रामण्यफलवत्, ... तत्र येषां स्कन्धानां निरोधात् तद्भवेत्? यावद्धि एताः कल्पना प्रवर्तन्ते तावन्नास्ति निर्वाणाधिगमः, सर्वप्रपञ्चपरिक्षयादेव तदधिगमात्। .... यदा चैव बुद्धा भगवन्तः सर्वप्रपञ्चोपशान्तरूपे निर्वाणे शिवेऽस्थानयोगेन नभसीव हंसराजाः स्थिताः स्वपुण्यज्ञानसम्भारपक्षपातवाते वातगगने वा गगनस्याकिञ्चनत्वात्, ... 'अयं भगवानस्मभ्यमिमं धर्मं देशयति, वयं च तथागतस्य धर्मदेशनां श्रृणुमः'। तत्र तथागतो न कल्पयति न विकल्पयति। सर्वकल्पजालवासनाप्रपञ्चविगतो हि शान्तमते तथागतः'' इति विस्तरः। तथा--

अवाचऽनक्षराः सर्वशून्याः शान्तादिनिर्मलाः।
य एवं जानाति धर्मान् कुमारो बुद्ध सोच्यते।। ....
अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम्।
आकाशेन कृतो ग्रन्थिराकाशेनैव मोचितः ।। --पृ. 151-152

मध्यान्तविभङ्गभाष्यम् :

आश्रयाङ्गं स्वभावाङ्गं निर्याणाङ्गं तृतीयकम्।
चतुर्थमनुशंसाङ्गं निःक्लेशाङ्गं त्रिधा मतम् ।।

दर्शनमार्गे बोधावङ्गानि बोध्यङ्गानि। तत्र बोधेराश्रयाङ्गं स्मृतिः। स्वभावाङ्गं धर्मप्रविचयः। निर्याणाङ्गं वीर्यम्। अनुशंसाङ्गं प्रीतिः। असंक्लेशाङ्गं त्रिधा प्रस्रब्धिसमाध्युपेक्षाः। --पृ. 132-124

महापरित्राणसूत्र :

इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्दो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा' ति। --पृ. 7

महायानसूत्रालंकारः :

१. शिक्षात्रयमधिकृत्य च षट् पारमिता जिनैः समाख्याताः।
आद्या तिस्रो द्वेधा अन्त्यद्वयतस्तिसृष्वेका ।।

इति षष्ठः। तत्राद्या अधिशीलं .... सर्वासां वीर्यसहायत्वात्। लक्षणविभागे श्लोकाः षट्।

दानं विपक्षहीनं ज्ञानेन गतं च निर्विकल्पेन।
सर्वेच्छापरिपूरकमपि सत्त्वविपाचकं त्रेधा।।
बोधिसत्त्वानां दानं चतुर्विधलक्षणम्। .... चतुर्विधमेव शीलादीनां वोदितव्यम्। पुनश्चोक्तम्--
दानं निष्प्रतिकाङ्क्षस्य निःस्पृहस्य पुनर्भवे।
शीलं क्षान्तिश्च सर्वत्र वीर्यं सर्वशुभोदये।।
विनारूप्यं तथा ध्यानं प्रज्ञा चोपायसंहिता।
सम्यक्प्रयोगो धीराणां षट्सु पारमितासु हि।। -पृ. 28-29

२. सुलाभोऽथ स्वधिष्ठानः सुभूमिः सुसहायकः।
सुयोगो गुणवान् देशो यत्र धीमान् प्रपद्यते।।
चतुर्भिश्चक्रैरप्रमादक्रियां .... सुयोगो दिवाल्पाकीर्णाभिलापकत्वात् रात्रौ चाल्पशब्दादिकत्वात्।
बहुश्रुतो दृष्टसत्यो वाग्मी समनुकम्पकः।
अखिन्नो बोधिसत्त्वश्च ज्ञेयः सत्पुरुषो महान्।।
अनेन द्वितीयेन सत्पुरुषं दर्शयति। आगमाधिगमवाक्करणनिरामिषचित्ताकिलासित्वगुणयोगात्।
स्वालम्बना मुसंभारा(सुसंस्तब्धा) सुभावनैव(सुपायाचैव) देशिता।
सुनिर्याणप्रयोगा च आत्मसम्यक्प्रधानता ।।
अनेन तृतीयेन योनिशोमनस्कारसंगृहीतामात्मनः .... सातत्यसत्कृत्यप्रयोगतया च।
रतेः क्षणोपपत्तेश्च आरोग्यस्यापि कारणं।
समाधेर्विचयस्यापि पूर्वे हि कृतपुण्यता।।
अनेन चतुर्थेन पूर्वकृतपुण्यतां .... आत्मनः सम्यक्प्रणिधानं सम्पद्यते। --पृ. 90

३. मित्रं श्रयेद्दान्तशमोपशान्तं गुणाधिकं सोद्यममागमाढ्यं।
प्रबुद्धतत्त्वं वचसाभ्युपेतं कृपात्मकं खेदविवर्जतं च।। --पृ. 91

४. पुनश्च तुलनीयम्-- चक्रादिसप्तसाधर्म्यं बोध्यङ्गानां दर्शयति।

स्मृतिश्चरति सर्वत्र ज्ञेयाजितविनिर्जये। .... धर्मालोकविवृद्ध्या च प्रीत्या आपूर्यते ध्रुवम्।। आरब्धवीर्यस्य बोधिसत्त्वस्य धर्मालोका विवर्धन्ते। ...... यथा चक्रवर्तिनो गृहपतिरत्नात्।
उपेक्षया यथाकामं सर्वत्र विहरत्यसौ।
पृष्ठलब्धाविकल्पेन विकल्पेन सदोत्तमः।। ६१।।
उपेक्षोच्यते निर्विकल्पं ज्ञानं तया बोधिसत्त्वः सर्वत्र यथाकामं विरहति। .... यथा चक्रवर्तिनः परिणायकरत्नं चतुरङ्गबलकायमुपनेतव्यं चोपप्रणयति। .... चतुरङ्गो बलकायः परैति। --पृ. 96

५. निश्रयाङ्गं स्वभावाङ्गं निर्याणाङ्गं तृतीयकम्।
चतुर्थमनुशंसाङ्गमक्लेशाङ्गं त्रयात्मकम् ।। ६३।।
एतेन यद्बोध्यङ्गं यथाङ्गं तदभिद्योतितं। स्मृतिर्निश्रयाङ्गं सर्वेषां तन्निश्रयेण प्रवृत्तेः। ..... प्रीतिरनुशंसाङ्गं चित्तसुखत्वात्। .... येन यन्निश्रित्य योऽसंक्लेश इति त्रिविधमसंक्लेशाङ्गं वेदितव्यम्। --पृ. 123

६. चित्तस्य चित्ते स्थानाच्च धर्मप्रविचयादपि।
सम्यक्स्थितिमुपाश्रित्य शमथोऽथ विपश्यना।।

सम्यक्समाधिं निश्रित्य चित्ते चित्तस्यावस्थानात्। .... न तु विना सम्यक्समाधिनेत्येतच्छमथविपश्यनालक्षणम्।
सर्वत्रगा च सैकांशा नैकांशोपनिषन्मता।
सा च शमथविपश्यना सर्वत्रगा यं यं .... उपनिषत्संमता शमथविपश्यना बोधिसत्त्वानामधिमुक्तिचर्याभूमौ।
प्रतिवेधे च निर्याणे अनिमित्ते ह्यसंस्कृते।।
परिशुद्धौ विशुद्धौ च शमथोऽथ विपश्यना।
सर्वभूमिगता धीरे स योगः सर्वसाधकः।।
इत्युनिषन्मतेत्येवमादिना शमथविपश्यनायाः .... परिशुद्धिर्विशुद्धिश्च। --पृ. 125

महायानसूत्रसंग्रह :

१. क. मृष्टगात्रता, ख. विशुद्धगात्रता, ग. विशुद्धनेत्रता, घ. व्यपगततिलकगात्रता। --पृ. 5

२. प्राणातिपातस्याकुशलकर्मपथस्य .... तस्यैव कर्मणो विपाकेनानादेयवचना भवन्ति। अभिध्याया अकुशलस्य............ मिथ्यादृष्टेरकुशलस्य कर्मपथस्य विपाकेन नास्तिक्यवादी भवति, उच्छेददृष्टिः। -पृ. 17-18

३. श्रेष्ठा गतिर्भवति चापि महाशयानां देवेषु चैव मनुजेषु च मूर्ध्नप्राप्ताः।
संबोधिमार्ग सद सत्त्व समादयन्ति संयोजयन्ति कुशलेषु दशस्वथापि ।। -पृ. 18

४. रक्षन्ति शीलममलं मणिरत्नतुल्यं न च ते भोति अनुशील सुसंयतो वा।
तत्रैव शीलि सद सत्त्व नियोजयन्ति आकाङ्क्षमाणमिममनुत्तमबुद्धशीलम्।। --पृ. 28

५. जात्यन्धकोटिनियुतान्यविनायकानां मार्गे अकोविदु कुतो नगरप्रवेशे ।
विन प्रज्ञ पञ्च इमि पारमिता अचक्षुः अविनायका न प्रभवन्ति स्पृशेतु बोधिम्।। -- पृ. 30

६. दानेन प्रेतगति छिन्दति बोधिसत्त्वो दारिद्रकं च छिनती तथ सर्वक्लेशान्।
भोगांश्चनन्तविपुलां लभते चरन्तो दानेन सत्त्व परिपाचयि कृच्छ्रप्राप्तान् ।।
शीलेन तीर्यगति वर्जयि नेकरूपामष्टौ च अक्षण क्षणां लभते स नित्यम्।
क्षान्तीय रूप लभते परमं उदारं सुवर्णच्छवि प्रियु जगस्य उदीक्षणीयो ।।
वीर्येण शुक्लगुण हानि न अभ्युपैति ज्ञानं अनन्त लभते जिनकोशगञ्जम् ।
ध्यानेन कामगुण उत्सृजते जुगुप्स्यान् विद्या अभिज्ञ अभिनिर्हरते समादिम्।।
प्रज्ञाय धर्मप्रकृती परिजानयित्वा त्रैधातुकान्त समतिक्रमते अपायान् ।
वर्तित्व चक्ररतनं पुरुषर्षभाणां देसेति धर्म जगती दुखसंक्षयाये ।। --पृ. 30-31

७. मा कुमार भव सुप्रमत्तको मा प्रमादवशमभ्युपेष्यसे।
अप्रमाद सुगतेन वर्णितो निन्दिता हि सुगतैः प्रमत्तकाः।।
अप्रमत्त इह ये च सूरता दानसंयमरता अमत्सराः।
सर्वसत्त्वकृपमैत्रमानसा ते भवन्ति नचिरान्नरोत्तमाः।।
येऽप्रमेय सुगता अतीताः साम्प्रतं च हि येऽप्यनागताः।

सर्व एव कुशलैस्त उद्गता अप्रमादपथ एव सुस्थिताः।। --पृ. 38
८. बहुकल्पकोटीभि कदाचि बुद्धो उत्पद्यते लोकहितो महर्षिः।
लब्धोऽधुना स प्रवरः क्षणोऽद्य त्यज प्रमादं यदि मोक्षकामः।। --पृ. 38-39
९. यथा आर्यसुनन्दरनन्देन किल क्रकुच्छन्दे सम्यक्संबुद्धे भिक्षुसंघे जेन्ताकस्नानं कृतम् .... पश्चमभवे स एव व्याकरोति-

जेन्ताकस्य च स्नानेन हरितालस्य लेपनेन च।
एकच्छत्रप्रदानाञ्च प्राप्ता मे सुवर्णवर्णता।।

तथैवायं शोभितवान्। इदं कर्म प्रासादिकसंवर्तनीयम्। -- पृ. 40
१०. यथा राजा अजातशत्रुः। .... नरकेषूपपन्नमात्र एव च्यवति। -पृ. 40
११. एताः स्त्रियो हि छविमात्रकरूपरम्याः, स्नाय्वस्थियन्त्रमशुचीभि निरर्थकोऽहम्।
प्रस्राविणी रुधिरमूत्रशकृन्मलानां व्यक्तं श्मशानसदृशीषु कथं रमेयम् ।। -पृ. 61
१२. लाभ अथ अलाभे सौख्यदुःखे जिनस्य, अयशसि यश एवं निन्दशंसासु चैवम्।
जलरुहमिव तोयैः सर्वतो नोपलिप्तः एवमिह नृसिंहो नास्ति सत्त्वः समोऽस्य ।। --पृ. 53
१३. नेह मात्र न पिता न बान्धवा धारयन्ति यतमान दुर्गतिम्।
यत्कृतं हि मनुजैः शुभाशुभं तत्प्रयान्तमनुयाति पृष्ठतः ।। --पृ. 53
१४. यो आदिकर्म स्थितु भूमिय बोधसत्त्वो अध्याशयेन वर प्रस्थित बुद्धबोधिम्।
तेही सुशिष्यगुरुगौरवसंप्रयुक्तो कल्याणमित्र सद सेवितव्य विज्ञैः ।।
किं कारणं ततु गुणागमु पण्डितानां प्रज्ञाय पारमित ते अनुशासयन्ति ।
एवं जिनो भणति सर्वगुणाग्रधारी कल्याणमित्रमुपनिश्रित बुद्धधर्माः ।। -- पृ. 91
१५. भ्रमन्ति चक्रवन्मूढा लोकधर्मसमावृताः ।
परमार्थं न जानन्ति भवो यत्र निरुध्यते ।
वेष्टिता भवजालेन संसरन्ति पुनः पुनः ।। ५।।....
शक्रत्वं चक्रवर्तित्वं संप्राप्य चोत्तमं पदम्।
तिर्यग्योनौ पुनर्जन्म तत्सर्वं संवृतेः फलम् ।। १०।। -- पृ. 95
१६. चक्रवर्तिनां सप्तरत्नानि। तद्यथा- चक्ररत्नम्, अश्वरत्नम्, ... परिणायकरत्नं चेति। -- पृ. 95
१७. स्वर्गस्थाने तु ये देवा गन्धर्वाप्सरसादयः।
च्युतिरस्ति च सर्वेषां तत्सर्वं संवृतेः फलम्।। ८।।
सिद्धा विद्याधरा यक्षाः किन्नराश्च महोरगाः।
पुनस्ते नरकं यान्ति तत्सर्वं संवृतेः फलम्।। ९।। -पृ. 96-97
१८. यथा चन्द्रश्च सूर्यश्च प्रत्यागच्छति गच्छति।
भवं च्युतिं तथा लोके पुनरायान्ति यान्ति च।। --पृ. 101
१९. अहसंज्ञतस्तु ममता भवते च रागो, कुतु त्यागबुद्धि भविष्यति सा मुहानाम् ।
मात्सर्य प्रेत भवते उपपद्ययाती, अथवा मनुष्य तद भोति दरिद्ररूपो।। --पृ. 117
२०. मायोपमं जगदिदं भवता नटरङ्गस्वप्रसदृशं विदितम् ।
नात्मा न सत्त्व न च जीवगति धर्मा मरीचिदकचन्द्रसमाः।।

शून्याश्च शान्त अनुपादनय अविजानदेव जगदुद्भ्रमति।
तेषामुपायनययुक्तिशतैरवतारयस्यपि कृपालुतया।।
रागादिभिश्च बहुरोगशतैः सन्तापितं सततमीक्ष्य जगत्।
वैद्योत्तमो विचरसेऽप्रतिमः परिमोचय सुगत सत्त्वशतान्।।
रथचक्रवद् भ्रमति सर्वजगत् तिर्यक्षु प्रेतनिरये सुगतौ।
मूढा अदेशिक अनाथगताः तेषां प्रदर्शयसि मार्गवरम्।। --पृ. 120-121

२१. चतुर्दशाव्याकृवस्तूनि, तद्यथा- शाश्वतो लोकः, अशाश्वतो लोकः, शाश्वतश्चाशाश्वतश्च, ... भवति तथागतः परं मरणात्, न भवति तथागतः परं मरणात्, ... परं मरणात्, नैव भवति न न भवति तथागतः परं मरणात्, स जीवस्तच्छरीरम्, अन्यो जीवोऽन्यच्छरीरं चेति। --पृ. 127

२२. हे भिक्षवः ! यदुत अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते। यदुत अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, ... एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति। --पृ. 129-130

२३. तत्र अविद्यानिरोधात् संस्कारनिरोधः। संस्कारनिरोधाद्विज्ञाननिरोधः। .... जातिनिरोधाज्जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासा निरुध्यन्ते। एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवति। अयमुच्यते प्रतीत्यसमुत्पादो भगवता। --पृ. 130-131

२४. यो भिक्षवः ! प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यति, स धर्मं पश्यति। यो धर्मं पश्यति, स बुद्धं पश्यति ।
--पृ. 137

२५. मनःपूर्वंगमा धर्मा मनःश्रेष्ठा मनोजवाः।
मनसा चेत्प्रदुष्टेन भाषते वा करोति वा।
ततस्तं दुःखमन्वेति चक्रं वा वहतः पदम्।। १३।।
मनःपूर्वंगमा धर्मा मनःश्रेष्ठा मनोजवाः।
मनसा चेत्प्रसन्नेन भाषते वा करोति वा।
ततस्तं सुखमन्वेति छाया वा अनुयायिनी।। १४।। --पृ. 147-148

२६. इयं सानुत्तरा बोधिः सर्वबुद्धैः प्रकाशिता।
भावनां भावयित्वेह निर्वाणं लभते शिवम्।।
यावन्तः संवृतेर्दोषास्तावन्तो निर्वृतेर्गुणाः।
निर्वृतिः स्यादनुत्पत्तिः सर्वदोषैर्न लिप्यते ।। --पृ. 151

महायानोत्तरतन्त्रः :

१. यो नासन्न च सन्न चापि सदसन्नान्यः सतो नासतो-
ऽशक्यस्तर्कयितुं निरुक्त्यपगतः प्रत्यात्मवेद्यः शिवः।
तस्मै धर्मदिवाकराय विमलज्ञानावभासत्विषे
सर्वालम्बन-रागद्वेषतिमिर-व्याघातकर्त्रे नमः।। --पृ. 13

२. व्याधिर्ज्ञेयो व्याधिर्हेतुः प्रहेयः स्वास्थ्यं प्राप्यं भेषजं सेव्यमेवम्।
दुःखं हेतुस्तन्निरोधोऽथ मार्गो ज्ञेयं हेयः स्पर्शितव्यो निषेव्यः ।। --पृ. 144

३. देवेषु च्युतिदुःखमित्यवगमात् पर्येष्टिदुःखं नृपु प्राज्ञा नाभिलषन्ति देवमनुजेष्वैश्वर्यमप्युत्तमम्।

प्रज्ञायाश्च तथागतप्रवचनश्रद्धानुमान्यादिदं दुःखं हेतुरयं निरोध इति च ज्ञानेन संप्रेक्षणात् ।। --पृ. 145

महावग्ग :

इदं खो पन दुक्खसमुदयं अरियसच्चं -यायं तण्हा पोनोब्भविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी। --पृ. 143

माध्यमिक भारत भूमि का इतिहास :

१. अयं सातवाहनवंशस्य महत्त्वपूर्णः .... सातवाहनगौतमीपुत्रः (१०६-१३० ई.सन्) चतुर्विंशतिवर्षाणिपर्यन्तं सफलं शासनं कृत्वा पश्चात् १३०तमे ईसवीये वर्षे स्वदेहं तत्याज। --पृ. 3-4

मुक्तालतावदानम् :

जन्मभूमौ जनेनाप्तं यद्यत्कर्म शुभाशुभम्।
तस्य तस्य स तद्रूपं भुङ्क्ते परिणतं फलम्।। -- पृ. 54

योगाचारभूमि :

१. प्राणातिपातः कतमः। .... तत्रैव काममित्याचारप्रयोगः काममिथ्याचारनिष्ठायां च यत्कायकर्म। ..... प्रलपितुकामस्य क्लिष्टचेतसोऽबद्धप्रलापप्रयोगेऽबद्धप्रलापनिष्ठायां च यद्वाक्कर्म ......। --पृ. 16-17

२. सः पुनः संवर्तस्त्रिविधो वेदितव्यः। तेजःसंवर्तन्यवीचिमुपादाय यावद्ब्रह्मलोकात्संवर्तते। .... त्रीणि संवर्तनीशीर्षाणि। द्वितीयं ध्यानं तृतीयं ध्यानं चतुर्थं ध्यानम्। --पृ. 85-86

३. तुलनीयम्-- यदा च पञ्चगतिके लोकसन्निवेश एकोऽपि सत्त्वो न प्रज्ञायते तदोपकरणसम्भवोऽपि न प्रज्ञायते। .... प्रज्ञायते तदा वृष्टिरपि न प्रज्ञायते .... सुमेरुर्महापृथिवी च ययोः षष्ठेनैव सप्तमेन च सूर्यमण्डलेन सारतविग्रहतया दाहः। तत एव चार्चिर्वायुना प्रेरिता यावद् ब्रह्मलोकं दहन्ती परैति। --पृ. 86-87

४. अप्संवर्तनी कतमा। यतश्च सप्त तेजःसंवर्तन्यः समतिक्रान्ता भवन्ति ततो द्वितीये ध्याने सहजोऽब्धातुः सम्भवति यस्तं भाजनलोकं लवणमिवाब्धातुर्विलोपयति। .... एकत्यस्य वायुधातौ प्रकुपिते
--पृ. 87
यावदस्थ्यपि कार्श्यमापद्यते। संवृत्तश्च तथैव विंशतिमन्त्रकल्पांस्तिष्ठति।
तथा परिभोगजरादुःखं व्याधिदुःखं
५. तत्र मनुष्येषूपपन्नाः सत्त्वा एवंरूपं विघातदुःखं प्रत्यनुभवन्ति। .... तथा परिभोगजरादुःखं व्याधिदुःखं
मरणदुःखं। तथा हि नरकेषु मरणमेव सुखं मन्यते। अतस्तत्र तन् न दुःखं व्यवस्थाप्यते। --पृ. 94

६. तत्र मनुष्येषु चक्रवर्तिसुखमग्र्यं श्रेष्ठं प्रणीतम्। .... तद्यथा चक्ररत्नं हस्तिरत्नमश्वरत्नं मणिरत्नं स्त्रीरत्नं गृहपतिरत्नं परिणायकरत्नमेव सप्तमम्। --पृ. 95

७. सामन्तनरकेषु पुनरेवं कारणादुःखं सत्त्वाः प्रत्यनुभवन्ति। .... तत्र च कुणपे गूथमृत्तिके कीटाः प्राणिनो ये तेषां सत्त्वानां त्वचमपि च्छिद्रयन्ति मांसमपि स्नाय्वस्थ्यपि भिन्दन्ति ततोऽस्थिमज्जानमासाद्य विलिखन्ति। .... तस्य खल्वयःशाल्मलीवनस्य समनन्तरं सन्निहितमेव वैतरणी नदी पूर्णा क्वथितस्य क्षारोदकस्य यत्र ते सत्त्वा लयनगवेषिणः प्रपतन्ति। .... ततोनिदानं च पुनर्दीर्घकालं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति। यावत्तन्नरकवेदनीयं पापकमकुशलं कर्म सर्वेण सर्वं न परिक्षीणं भवति व्यन्तीकृतं। तत्र यश्च क्षुरधाराचितः पथो यश्चासिपत्रवनं यश्चायःशाल्मलीवनं या च वैतरणी नदी अयमेक उत्सद इति कृत्वा चत्वार उत्सदा भवन्ति ---पृ. 99-100

८. तत्र शीतनरकेषूपपन्नाः सत्त्वा एवंरूपं शीतदुःखं प्रत्यनुभवन्ति। .... तस्माच्च स नरकः पद्म इत्युच्यते। तत्र महापद्मोऽयं विशेषः। भृशतरं व्यालोहितायमाना शतधा वा भूयो वा त्वचां स्फोटमापद्यन्ते। तस्माच्च स महानरको महापद्म इत्युच्यते। --पृ. 102-103

९. तत्र सञ्जीवे महानरके एवंरूपं कारणादुःखं प्रत्यनुभवति बाहुल्येन। .... तस्माच्च पुनः स नरकः सञ्जीव इत्युच्यते। --पृ. 103

१०. तत्र कालसूत्रमहानरके एवंरूपं कारणादुःखमनुभवन्ति बाहुल्येन। तत्र ते सत्त्वास्तत्पर्यापन्नैर्यातनापुरुषैः कालकेन सूत्रेण माप्यन्ते। ...... तस्माच्च पुनः स नरकः कालसूत्र इत्युच्यते। --पृ. 103

११. तत्र सङ्घाते महानरक एवंरूपं कारणादुःखं प्रत्यनुभवन्ति बाहुल्येन। तत्र ते सत्त्वा यदान्योन्यमैकध्यमभिसंक्षिप्ताः सङ्घातमापन्ना भवन्ति तदा तत्पर्यापन्नैर्यातनापुरुषैर्द्वयोरजमुखयोरायसयोर्महापर्वतयोर्विवरमनुप्रवेश्यन्ते। .... ततो निदानं च दीर्घकालं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति यावत्तत्पापकमकुशलं कर्म सर्वेण सर्वं न परिक्षीणं भवति व्यन्तीकृतं। तस्माच्च पुनः स नरकः सङ्घात इत्युच्यते। --पृ. 104

१२. तत्र रौरवे महानरक एवंरूपं कारणादुःखं प्रत्यनुभवन्ति बाहुल्येन। तत्र ते सत्त्वा लयनगवेषिण आयसमगारं .... न परिक्षीणं भवति व्यनतीकृतं। तस्माच्च पुनः स नरको रौरव इत्युच्यते। --पृ. 104

१३. तत्र महारौरवे महानरकेऽयं विशेषो यो रौरवेऽगारः स तत्रागार एव विज्ञातव्यः सगर्भस्तु। तस्माच्च पुनः स नरको महारौरव इत्युच्यते। --पृ. 105

१४. तत्र तपने महानरक एवंरूपं कारणादुःखं प्रत्यनुभवन्ति बाहुल्येन। .... ततो निदानं च दीर्घकालं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति यावत्पापकमकुशलं कर्म सर्वेण सर्वं न परिक्षीणं भवति व्यन्तीकृतं। तस्माच्च पुनः स नरकस्तपन इत्युच्यते। --पृ. 105

१५. तत्र प्रतापने महानरकेऽयं विशेषः। त्रिशूलशल्यं पृष्ठतो निर्गमयन्ति। ...... ततः सञ्जातत्वङ्मांसशोणिताः पुनरपि प्रक्षिप्यन्ते। शेषं तपनवत्। ततो निदानं च पुनर्दीर्घकालं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति। यावत्तत्पापकमकुशलं कर्म सर्वेण सर्वं न परिक्षीणं भवति व्यन्तीकृतं। तस्माच्च पुनः स नरकः प्रतापन इत्युच्यते। ---पृ. 106

१६. तत्रावीचौ माहनरक एवंरूपं कारणादुःखं प्रत्यनुभवन्ति। .... अयोगुडा मुखेषु क्षिप्यन्ते ये तेषां मुखमपि दहन्ति कण्ठमप्यन्त्रमपि दग्ध्वा च पुनरधोभागेन निर्गच्छन्ति .... तस्माच्च पुनः स नरकोऽवीचिरित्युच्यते यत्र यद्भूयसानन्तर्यकारिणः सत्त्वा उपपद्यन्ते। .... न च पुनरेषु महानरकेषु तदन्यानि विचित्राकाराणि बहूनि कारणानि नोपलभ्यन्ते। --पृ. 106-107

१७. तत्र तिर्यञ्चोऽन्योन्यं विप्रघातिकां कुर्वन्ति यथा दुर्वलघातिकां। ...... ततो निदानमपि विचित्राणि दुःखानि प्रतिसंवेदयन्ति। --पृ. 112

१८. प्रेताः पुन समासतस्त्रिविधा बहिर्भोजनपानकृतावरणा अध्यात्मं भोजनपानकृतावरणा भोजनपानकृतावरणाश्च। .... तच्च पानीयं पूयशोणितं पश्यन्ति। ..... इम एवंरूपाः प्रेता बहिर्धाभोजनपानकृतावरणाः। --पृ. 113

१९. अध्यात्मं भोजनपानकृतावरणाः कतमे। तद्यथा सूचीमुखा उल्कामुखा गलगण्डकाश्च महोदराः .... इम एवंरूपाः प्रेता अध्यात्मं भोजनपान-कृतावरणाः। --पृ. 114

२०. भोजनपानकृतावरणाः कतमे। सन्ति ज्वालामालिनो नाम प्रेता येषां भुक्तं भुक्तं पीतं पीतं सर्वमवदह्यते येनैषां क्षुत्पिपासादुःखं न कदाचिदपैति। --पृ. 114

२१. सन्ति च प्रेता अवस्करभक्षा नाम य एकत्येऽमेध्यं भक्षयन्ति प्रस्रावं पिबन्ति .... यत्तु भवति शुचि वा प्रणीतं वा तत्र शक्नुवन्ति भोक्तुं वा पातुं वा। इम एवंरूपाः प्रेता भोजनपानकृतावरणा इत्युच्यन्ते। --पृ. 115

२२. देवेषु च मर्मच्छेदो नास्ति। .... असंक्लिष्टानि वासांसि क्लिश्यन्ते। अम्लानपूर्वा माला म्लायन्ति। कक्षाभ्यां स्वेदो मुच्यते। दौर्गन्ध्यं काये च क्रामति। स्व आसने देवो वा देवपुत्रो वा न रमते। --पृ. 118

२३. तस्य तस्मिन्समये परिषण्डे परिगतस्य ता अप्सरसस्तदन्यैर्देवपुत्रैः सार्धं परिचरन्ति। स ता दृष्ट्वा ततो निदानं महद् दुःखदौर्मनस्यं प्रतिसंवेदयते। .... तस्माद्देवास्त्रिविधं दुःखं प्रत्यनुभवन्ति च्यवनपतनदुःखं मद्गुभावदुःखं छेदनभेदनवधप्रवासनदुःखं च।। --पृ. 119

२४. द्रष्टव्यम्-- गम्भीरः प्रतीत्यसमुत्पाद उक्तो भगवता। कथं गम्भीरो वेदितव्यः। दशभिराकारैः प्रतीत्यसमुत्पादस्य गम्भीरार्थो द्रष्टव्यः। .... अनादिप्रतिषिद्धलक्षणानि चाङ्गानि प्रतिक्षणं च नव-नव-लक्षणानि प्रवर्तन्ते। क्षणभङ्गुरश्च प्रतीत्यसमुत्पादः। अवस्थितप्रकारतया च ख्याति।
--पृ. 137

रत्नावलि :

१. कच्छ्वाकण्डूयेन सौख्यं कच्छ्वाऽभावस्ततः सुखम्।
रागिलोके सुखं तद्वत् रागाभावस्ततः सुखम्।। --पृ. 51

२. प्राग्धर्माभ्युदयो यत्र पश्चान्नैश्रेयसोदयः ।
संप्राप्याभ्युदयं यस्मादेति नैःश्रेयसं क्रमात्।।
सुखमभ्युदयस्तत्र मोक्षो नैःश्रेयसो मतः ।
अस्य साधनसंक्षेपः श्रद्धाप्रज्ञे समासतः ।। --पृ. 71

३. निवृत्तेस्तेन लोकस्य नोपैत्यूनत्वमर्थतः ।
अन्तवानिति लोकश्च पृष्टस्तूष्णीं जिनोऽभवत्।।
सर्वज्ञ इति सर्वज्ञो बुधैस्तेनैव गम्यते।
यैर्नैतद्धर्मगाम्भीर्यं नोवाचाभाजने जने।। --पृ. 128

लंकावतारसूत्रम् :

१. निवृते सुगते पश्चात्कालोऽतीतो भविष्यति।
महामते, निबोध त्वं यो नेत्रीं धारयिष्यति।।
दक्षिणापथवेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः।
नागाह्वयः स नाम्ना तु सदसत्पक्षदारकः।।
प्रकाश्य लोके मद्यानं महायानमनुत्तरम्।
आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम्।। --पृ. 3

२. ध्यानध्येयसमाधिविमोक्षबलाभिज्ञानक्लेशदुःखविकल्पाभावादर्हन्नित्युच्यते। --पृ. 8

३. षट्पारमितां परिपूर्य बुद्धत्वमवाप्यत इति। तत्कतमास्ताः षट्पारमिताः? ...सा प्रज्ञापारमिता। --पृ. 28-29

४. तृष्णा हि माता इत्युक्ता अविद्या च पिता तथा।
विषयाववोधाद्विज्ञानं बुद्ध इत्युपदिश्यते ।। --पृ. 110

५. चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते।। --पृ. 147

ललितविस्तरः :

न च संस्कृते सहाया न मित्रज्ञातीजनो च परिवाराः।
अन्यत्र कर्म सुकृतादनुबध्नाति पृष्ठतो याति ।। -- पृ. 101

वज्रच्छेदिकासूत्रस्य विस्तृता टीका :

१ क्लेश-स्कन्ध-मृत्यु-देवपुत्ररूपाणां चतुर्णां माराणां भञ्जकत्वान्निरुक्त्या भगवान् इति स्मर्यते। अथवा ऐश्वर्यादिमत्त्वात् भगवान् इत्युच्यते। यथोक्तम्-
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इति श्रुतिः।। --पृ. 7

२. यथावद्वस्तुतत्त्वदेशनात् तथागतः।..... तथागतः। .... हन्तृत्वाद् अर्हन्। समस्तज्ञेयानां .... सम्यकसम्बुद्धः। एभिः पदैर्भगवतः ... स्व-परार्थसम्पदुपदर्शिता भवति। --पृ. 9

३. वस्तुतत्त्वं यथास्थितिः, ... सम्यगववुद्धत्वात् सम्यक्सम्बुद्धः इत्युच्यते। --पृ. 9

४. नैरात्म्यद्वयमार्गेण सम्यग् गत इति सुष्ठुरूपेण गतः सुगतः, सुरूपवदिति। अथवा निखिलसवासनाशेषक्लेशज्ञेयावरणानि प्रहाय गतः सुगतः, सुपूर्णघटवत्। अथवा अपुनरावृत्त्या गतः सुगतः, सुनष्टज्वरवत्। --पृ. 10

वज्रच्छेदिकासूत्रम् :

भूतवादी सुभूतेः तथागतः, सत्यवादी तथावादी अनन्यथावादी तथागतः, न वितथवादी तथागतः।
--पृ. 7

वर्णनार्हवर्णे बुद्धस्य स्तोत्रः :

आभवाग्रमपि स्पृष्ट्वा त्वद्धर्मविमुखे जनः।
प्रचिनोत्येव मोहान्धो व्यसनप्रभवान् भवान्।। २२।।
अनागम्यापि तु ध्यानं मौलं त्वच्छासनानुगाः।
विवर्तयन्त्येव भवान् (मारस्य) वशवर्तिनः।। २३।। --पृ. 126

विसुद्धिमग्ग :

१ बुद्धं आरब्भ उप्पन्ना ..... धम्मानुस्सति। .... अनुस्सति देवतानुस्सति। देवता सक्खिट्ठाने ठपेत्वा अत्तनो सद्धादिगुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। --पृ. 6

२. यस्मा रागादिसङ्खाता सब्बे पि अरयो हता।
पञ्ञासत्थेन नाथे तस्मा पि अरहं मतो ति।। --पृ. 8

३. स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चतं वेदितब्बो विञ्ञूही' ति एवं परियत्तिधम्मस्स चेव नवविधस्स च लोकुत्तरधम्मस्स गुणा अनुस्सरितब्बा। --पृ. 13

४. सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसंघो........... सावकसंघो, सामीचिप्पटिपन्नो भग०.... अट्ठ पुरिसपुग्गला, एस भगवतो सावकसंघो आहुनेय्यो, पाहुनेय्यो, ... अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं .... अनुस्सरितब्बा। --पृ. 14

५. चागानुस्सतिं भावेतुकामेन .... योहं मच्छेरमलपरियुट्ठिताय पजाय विगतमलमच्छेरेन ... वोस्सग्गरतो याचयोगो दानसंविभागरतो'' ति एवं... अत्तनो चागो अनुस्सरितब्बो। --पृ. 14-15

६. सीलानुस्सतिं भावेतुकामेन पन ...... एवं अखण्डतादिगुणवसेन अत्तनो सीलानि अनुस्सरितब्बानि। तानि च गहट्ठेन गहट्ठसीलानि, पब्बजितेन पब्बजितसीलानि। --पृ..15

७. देवतानुस्सतिं भावेतुकामेन .... सक्खिट्ठाने ठपेत्वा अत्तनो सद्धादिगुणा अनुस्सरितब्बा। --पृ. 16

८. एतासु हि मेत्ताकरुणामुदिताउपेक्खासु .... मोदन्ति ताय तंसमङ्गिनो, सयं वा मोदति, मोदनमत्तमेव वा तं ति मुदिता। 'अवेरा होन्तू' ति आदिव्यापारपहानेन मज्झत्तभावूपगमनेन च उपेक्खती ति उपेक्खा। --पृ. 63

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि :

१. तत्र सत्कायदृष्टिर्यत्पञ्चसूपादानस्कन्धेष्वात्मात्मीय-दर्शनम्। ....शीलव्रतपरामर्शः पञ्चसूपादानस्कन्धेषु शुद्धितो मुक्तितो नैर्याणिकतश्च यद् दर्शनम्। --पृ. 24

२. मात्सर्यं दानविरोधी चेतस आग्रहः। ..... दानाभावात् तद्विरोधीत्युच्यते ...... आग्रहोऽपरित्यागेच्छा मात्सर्यम् .... संचयाद् वेदितव्यः। --पृ. 35

३. शाठ्यं स्वदोषप्रच्छादनोपायसंगृहीतं चेतसः कौटिल्यम्। ... परव्यामोहनम् .... रागमोहाभ्यां स्वदोषप्रच्छादनार्थं परव्यामोहनाय प्रवर्तते। .... सम्यगववादस्य यो लाभो योनिशोमनसिकारस्तस्यान्तरायं करोति। --पृ. 35-36

५. मायापरवञ्चना, या अभूतार्थसंदर्शनता। ..... प्रकाशना। इयं च सहिताभ्यां रागमोहा ..... न द्रव्यत इति मिथ्याजीवसंनिश्रयदानकर्मिका। --पृ. 36

४. कौसीद्यं कुशले चेतसोऽनभ्युत्साहो वीर्यपक्षः ष कुशले कायवाङ्मनःकर्मणि निद्रापार्श्वशयनसुखमागम्य यो मोहांशिकश्चेतसोऽनभ्युत्साहः। एतच्च कुशलपक्षप्रयोगपरिपन्थिकर्मकम्। --पृ. 36

५. मानो हि नाम सर्व एव सत्कायदृष्टिसमाश्रयेण प्रवर्तते .... 'अयमहम्, इदं मम' इत्यात्मानं तेन तेन विशेषेणोन्नमयति, अन्येभ्योऽधिकं मन्यते। .... चित्तोन्नतिनिमित्तभेदात् सप्तधा भिद्यते, मानोऽतिमान इत्येवमादि। --पृ. 37

६. तत्र रागो भवभोगयोरध्यवसानं प्रार्थना च। स पुनर्दुःखसंयोजनकर्मकः। दुःखमत्रोपादानस्कन्धास्तेषां कामरूपारूप्यतृष्णावशादभिनिर्वृत्तिः। अतो रागस्य दुःखसंयोजनं कर्म निर्दिश्यते। --पृ. 37

७. प्रतिघः सत्त्वेष्वाघातः सत्त्वेषु रूक्षचित्तता .... 'अस्पर्शविहारः' दुःखसहित इत्यर्थः। आघातचित्तस्यावश्यं दौर्मनस्यसमुदाचारात् चित्तं तप्यते ..... प्रतिघोऽस्पर्शविहारदुश्चरितसंनिश्रयदानकर्मक उक्तः। --पृ. 37

८. मदः स्वपम्पत्तौ रक्तस्योद्धर्षश्चेतसः पर्यादानम्। .... उद्धर्षो हर्षविशेषः ..... भवतीत्येतदुक्तं चेतसः पर्यादानमिति। अयं च सर्वक्लेशोपक्लेशसंनिश्रयदानकर्मकः। --पृ. 37

९. तत्राप्रमादः प्रमादप्रतिपक्षः। अलोभाद् यावद् वीर्यम् अप्रमादः। .... धर्मान् प्रजहाति, तत्प्रतिपक्षांश्च कुशलान् धर्मान् भावयति, तेऽलोभादयोऽप्रमादः। .... स पुनर्लौकिकलोकोत्तरसम्पत्तिपरिपूरणकर्मकः। --पृ. 38

१०. तत्र क्रोधो वर्तमानमपकारमागम्य यश्चतेस आघातः। ..... प्रतिघस्यावस्थाविशेषे प्रज्ञप्तत्वात् प्रतिघांशिकः। .... दण्डदानादिसंनिश्रयदानकर्मकश्च स क्रोध इति प्रज्ञप्यते। --पृ. 43

११. तत्र श्रद्धा कर्म-फल-सत्य-रत्नेष्वभिसम्प्रत्ययः प्रसादश्चेतसोऽभिलाषः। .... क्लेशोपक्लेशमलकालुष्यविगमात् चित्तं प्रसीदतीति चेतसः प्रसाद उच्यते। सा पुनश्छन्दसंनिश्रयदानकर्मिका। --पृ. 56

१२. ह्रीरात्मानं धर्मं वाधिपतिं कृत्वावद्येन लज्जा। .... तेनावद्येन कृतेनाकृतेन वा या चित्तस्यावलीनता लज्जा सा ह्रीः। इयं च दुश्चरितसंयमसंनिश्रयदानकर्मिका। --पृ. 57

१३. अपत्राप्यं लोकमधिपतिं कृत्वावद्येन लज्जा। 'लोके ह्येतद् गर्हितम्, मां चैवंकर्माणं विदित्वा गर्हिष्यति'--इत्यश्लोकादिभयाद् येन लज्जते। इदमपि दुश्चरितसंयमसंनिश्रयदानकर्मकम्। --पृ. 57

१४. धीः प्रज्ञा। .... प्रविचिनोतीति प्रविचयः, यः सम्यक् मिथ्या वा सङ्कीर्णस्वसामान्यलक्षणेष्विव धर्मेषु विवेकावबोधः। ...... तत्राप्तवचनप्रामाण्याद् .... समाधिजो भावनामयः। --पृ. 57

१५. औद्धत्यं चित्तस्याव्युपशमः। व्युपशमो हि शमथः, तद्विरुद्धोऽव्युपशमः। .... कुत्सितं कृतमिति कुकृतम्, तद्भावः कौकृत्यम्। ..... एतच्च चित्तस्थितिपरिपन्थकर्मकम्। --पृ. 68

१६. स्त्यानं चित्तस्याकर्मण्यता स्तैमित्यम् स्तिमितस्य भावः स्तैमित्यम्, ... मिद्धम् अस्वतन्त्रवृत्तिचेतसोऽभिसंक्षेपः। .... एतच्च मोहांशे प्रज्ञपनात् मोहांशिकम्, कृत्यातिपत्तिसंनिश्रयदानकर्मकं च। --पृ. 68

१७. विचिकित्सा कर्मफलसत्यरत्नेषु विमतिः। ...... प्रज्ञातश्चेयं जात्यन्तरमेवोक्ता। --पृ. 68

१८. उपेक्षा चित्तसमता चित्तप्रशठता चित्तानाभोगता। एभिस्त्रिभिः पदैरुपेक्षाया आदि-मध्यावसानावस्था द्योतिता। तत्र लय औद्धत्यं वा चेतसो वैषम्यम्, तस्याभावाद् आदौ चित्तसमता। .... इयं च सर्वक्लेशोपक्लेशानवकाससंनिश्रयदानकर्मिका। --पृ. 124

शिक्षासमुच्चयः :

१. एवं नारायणपरिपृच्छायामप्युक्तम्-- न तद्वस्तूपादातव्यं यस्मिन् वस्तुनि नास्य त्यागचित्तमुत्पद्यते। .... कः पुनर्वादो बाह्येषु वस्तुषु यदुत धनधान्य....। -पृ. 15

२. यच्चक्रवर्तित्वमवाप्नुवन्ति भवन्ति शक्रास्त्रिदशेश्वराश्च।
ब्रह्माण ईशा वशवर्तिनश्च तद् ब्रह्मचर्यं विपुलं चरित्वा।।
क्षितीश्वराश्चैव भवन्त्युदग्राः सुश्रेष्ठिनो वै गृहपत्यमात्याः।
सुखसौमनस्येन च यान्ति वृद्धिं ये ब्रह्मचर्यं विपुलं चरति।। --पृ. 34

३. न रूपवन्तो हि भवन्ति रागात् न रक्तचित्ताः सुगतिं व्रजन्ति।
न निर्वृतिं यान्ति च रक्तचित्ता रागो हि तस्मात्परिवर्जनीयः।। --पृ. 37

४. यावन्ति धर्माः कुशलाः प्रकीर्तिताः शील श्रुतं त्यागु क्षान्तिः।
सर्वेष मूलं ह्ययमप्रमादो निधानलम्भः सुगतेन देशितः ।।
उक्तं हि आर्यतथागतगुह्यसूत्रे-- तत्र कतमोऽप्रमादः? यदिन्द्रियसंवरः। .... अयमुच्यते अप्रमादः। ..... यावदयमुच्यतेऽप्रमादः। .....तथा अत्रैवाह--
सदाऽप्रमादो ह्यमृतस्य मूलं सत्त्वार्थयुक्तस्य च बोधिचित्तम्।
यद्योनिशश्चैव विवेकचित्तमपरिग्रहः सर्वसुखस्य मूलम् ।। --पृ. 39

५. तत्र क्षान्तिस्त्रिविधा ... दुःखाधिवासनक्षान्तिः, धर्मनिध्यानक्षान्तिः परापकारमर्षणक्षान्तिश्चेति। --पृ. 41

६. आर्यदशभूमकसूत्रेऽप्युक्तम्-- येयं वागमनोज्ञा .... परिहरतीति। आर्यगगनगञ्जसूत्रे तूक्तम्-- गुरुवचनानवमर्दनतया, परवचनानाच्छिन्दनतया चादेयग्राह्यवचनो भवतीति। धर्मसंगीतिसूत्रेऽप्युक्तम्-- गगनगञ्जो बोधिसत्त्व आह-- न बोधिसत्त्वेनैषा .... न कर्णसुखा, न सा वाग्भाषितव्येति। --पृ. 44

७. दृष्ट्वा च दारान् हि परस्य ये वै कुर्वन्ति माताभगिनीति संज्ञाम्।
प्रासादिकास्ते हि सुदर्शनीया भवन्ति नित्यं परमं मनोज्ञाः।। -पृ. 46

८. यतश्चैते कामा एवं ......। नैष मार्गः सत्पुरुषसंसेवितः। ....
कामस्य हेतोर्निरयं पतन्ति प्रेतास्तिरश्चोऽथ भवन्ति रागात्।
कुम्भाण्डयक्षा असुराः पिशाचा भवन्ति ये रागपरीत्तचित्ताः।।
काणाश्च खञ्जाश्च विजिह्वकाश्च विरूपकाश्चैव भवन्ति रागात्। -- पृ. 48
भवन्ति नानाविधदोषभाजश्चरन्ति ये कामचरीं जघन्याम् ।।

९. आर्यरत्नमेघेऽप्यनर्थवर्जनमुक्तम्-- तावत्पिण्डाय चरति ...... सर्वेण सर्वं वर्जयतीति।
--पृ. 48

१०. मारस्य गोचरो ह्येष प्रस्थिता येन दुर्गतिः।
आस्वादसंज्ञिनो गृद्धा मीढस्थाने यथा क्रिमिः।।
कीटकुम्भो यथा चित्रो यत्र यत्रैव दृश्यते।
पूर्णो मूत्रपुरूषेण दृतिर्वा वातपूरिता।।
सिङ्घाणककफा लालाः श्लेष्मणि क्लिन्नमस्तकाः।
दौर्गन्ध्यं स्रवते कायाद् बालानां तद्यथा मधु।।
अस्थिपूर्णं मुखद्वारं मांसचर्मादिभिश्चित्तम्।
गण्डभूतो ह्ययं कायः कुत्सितो ह्यामगन्धिकः।। -- पृ. 49-50

११. बोधिसत्त्वेन स्वभार्याया अन्तिके तिस्रः संज्ञा .... प्रज्ञान्तरायसंज्ञा। अपरास्तिस्रः-- चोरसंज्ञा वधकसंज्ञा नरकपालसंज्ञा इति। -- पृ. 60

१२. तथा बोधिसत्त्वप्रातिमोक्षेऽप्यप्रसादपरिहार उक्तः-- न पुरतो दन्तकाष्ठं खादितव्यं न पुरतः ...... तथा प्रातिमोक्षादपि लोकाप्रसादकरमन्वेष्य वर्जनीयम्। तत्र तावत्--
मुखपूरं न भुञ्जीत सशब्दं प्रसृताननः ।
प्रलम्बपादं नासीत न बाहुं मर्दयेत्समम्।। --पृ. 61

१३. अध्रुवं त्रिभवं शरदभ्रनिभं नटरङ्गसमा जगि जन्मच्युतिः।
गिरिनद्यसमं लघुशीघ्रजवं व्रजतायु जगे यथ विद्यु नभे ।। --पृ. 83

१४. कल्याणमित्रसंधारिताः कुलपुत्र बोधिसत्त्वा न पतन्ति दुर्गतिषु। ....अत एवं चतुर्धर्मकसूत्रेऽप्युक्तम्-- कल्याणमित्रं भिक्षवो बोधिसत्त्वेन यावज्जीवं न परित्यक्तव्यमपि जीवितहेतोरिति। तदेवम्- **कल्याणमित्रानुत्सर्गात्**, आत्मभावादीनां रक्षादिकं कार्यम्। --पृ. 91

१५. समाहितो यथाभूतं प्रजानातीत्यवदन्मुनिः।
शमाच्च न चलेच्चित्तं बाह्यचेष्टानिवर्तनात् ।।

यथोक्तं धर्मसंगीतौ- समाहितमनसो यथाभूतदर्शनं भवति। यथाभूतदर्शिनो बोधिसत्त्वस्य सत्त्वेषु महाकरुणा प्रवर्तते। .... तस्मान्मया शीलसुस्थितेनाप्रकम्प्येनाशिथिलेन भवितव्यमिति। --पृ. 126

समाधिराजसूत्र :

१. येहि पूजित जिनान कोटियो, दानशीलचरिता विचक्षणाः।
पापमित्र पुरि येहि वर्जिता, तेष पैतृकधनं निरुत्तरम्।।
कल्याणमित्रास्य न भोन्ति दुर्लभा, बुद्धांश्च यो पश्यति श्रावकांश्च।
दृष्ट्वा च तान् पूजयते प्रसन्नो, अमत्सरिस्या इमि आनुशंसाः ।।
नित्य सगौरव चाचरियेषु मातु पितुस्तथ सर्वजगस्मिन्।
मा पुन मानवशानुग भोथा लप्स्यथ लक्षण त्रिंश दुवे च।। -पृ. 32

२. ते भोजनं स्वादुरसं प्रणीतं लब्ध्वा च भुञ्जन्ति अयुक्तयोगाः ।

तेषां स आहारु वधाय भोति यथ हस्तिपोतान बिसा अधौतकाः।। -पृ. 61

३. सिंहनादं नदि बुद्धः सिंहविक्रान्तविक्रमः ।
जितास्ते तीर्थिकाः सर्वे सिंहेन क्रोष्टुका यथा।। - पृ. 49

सौन्दरनन्दकाव्यम् :

१ प्रश्वसित्ययमन्वक्षं यदुच्छ्रसिति मानवः ।
अवगच्छ तदाश्चर्यमविश्वास्यं हि जीवितं ।।
इदमाश्चर्यमपरं यत्सुप्तः प्रतिबुध्यते ।
स्वपित्युत्थाय वा भूयो बह्वमित्रा हि देहिनः।। --पृ. 84

हेवज्रपञ्जिका मुक्तावलिः :

देशितो वो मया मार्गस्तृष्णाशल्यस्य कर्त्तनः।
युष्माभिरेव कर्त्तव्यमाख्यातारस्तथागतः।। --पृ. 79

सर्वमङ्गलम्

*****

༄༅། །བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག་གི་ས་བཅད།

བཤེས་པའི་སྤྲིང་ཡིག་གི་དོན་འཆད་པ་ལ་གཉིས།

༡ མཉན་པར་གདམས་པ་དང་། 201

༢ གདམས་པ་དངོས་སོ། 204

གཉིས་པ་གདམས་པ་དངོས་ལ་གསུམ།

ཀ། སྤྱིར་དགེ་བ་གདམས་པ།

ཁ། འཁོར་བའི་ཉེས་པས་སྐྱོ་བར་བྱ་བ།

ག། མྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་ཕན་ཡོན་བསམ་ནས་ལམ་སྒྲུབ་པར་གདམས་པའོ།

ཀ། དང་པོ་ལ་གསུམ།

༡ ཁྱིམ་པ་དང་རབ་བྱུང་ཐུན་མོང་ལ་གདམས་པ།

༢ ཁྱིམ་པ་ལ་གཙོ་ཆེར་གདམས་པ།

༣ རབ་བྱུང་དང་ཁྱིམ་པ་གཉིས་ཀར་མངོན་མཐོ་དང་ངེས་ལེགས་ཀྱི་ཆོས་སྒྲུབ་པར་གདམས་པའོ།

དང་པོ་ལའང་གསུམ། (ཁྱིམ་པ་དང་རབ་བྱུང་ཐུན་མོང་ལ་གདམས་པ་)

༡ རྗེས་དྲན་དྲུག་གིས་དྲན་པ་ལ་གནས་པར་བྱ་བ། 204

༢ སྤྱིར་དགེ་བའི་ལས་ལམ་ལ་གནས་པར་གདམས་པ། 211

༣ ཕ་རོལ་ཏུ་ཕྱིན་པ་དྲུག་ལ་གནས་པར་གདམས་པ། 217

གཉིས་པ་ལ་དགུ (ཁྲིམས་པ་ལ་གཙོ་ཆེར་གདམས་པ་)

༡ ཕ་མ་ལ་གུས་པར་བྱ་བ། 218

༢ སྙེན་གནས་ལ་གནས་པར་བྱ་བ། 219

༣ བསམ་པ་ཕྱིན་ཅི་ལོག་སྤང་བ། 221

༤ བག་ཡོད་པར་བྱ་བ། 222

༥ བཟོད་པ་ལ་གནས་པར་བྱ་བ། 225

༦ སྒོ་གསུམ་གྱི་སྤྱོད་པ་དམན་པ་སྤངས་པ། 227

༧ གང་དང་འགྲོགས་པའི་གྲོགས་ཀྱི་མཚན་ཉིད་ཤེས་པར་བྱ་བ། 229

༨ གཞན་གྱི་ཁྲིམས་ཐབ་ལ་ཆགས་པ་སྤང་བའོ། (དེ་ལ་གཉིས་ལས་)

ཀ། མགོ་གནོན་པའི་ཚུལ་ལ་གསུམ།

༡ འདུ་ཤེས་བསྒྱུར་ཅིང་མི་གཙང་བར་ལྟ་བ། 230

༢ སེམས་སྲུང་ཞིང་དབང་པོའི་སྒོ་བསྡམ་པ། 231

༣ ཆགས་ཡུལ་དང་ཆགས་ཅན་གྱི་ཉེས་པ་བསམ་པ། 233

ཁ། ས་བོན་དང་བཅས་པ་སྤོང་བའི་ཚུལ་ལ་དྲུག

༡ དངོས། 234

༢ ཞར་ལ་ཤེས་རབ་དང་ཚུལ་ཁྲིམས་ཀྱི་བསྔགས་པ། 235

༣ འཇིག་རྟེན་གྱི་ཆོས་ལས་ལྡོག་པར་བྱ་བ། 236

༤ འཕགས་པའི་ནོར་དང་ལྡན་པར་བྱ་བ། 238

༥ འཕགས་པའི་ནོར་དེའི་འགལ་རྐྱེན་སྤང་བ། 240

༧ མཐུན་རྐྱེན་ཆོག་ཤེས་པ་ལ་གནས་པར་གདམས་པ། 241
༨ རང་གི་ཁྱིམ་ཐབ་ཀྱི་སྐྱོན་ཡོན་ཤེས་ནས་བསྟེན་ཚུལ། 242

གསུམ་པ་ལ་གསུམ།

(རབ་བྱུང་དང་ཁྱིམ་པ་གཉིས་ཀར་མངོན་མཐོ་དང་ངེས་ལེགས་ཀྱི་ཆོས་སྒྲུབ་པར་གདམས་པ་)

༡ ཐུན་མོང་གི་ཆོས་སྒྲུབ་པ།
༢ ཁྱད་པར་དུ་ངེས་ལེགས་ཀྱི་ཆོས་སྒྲུབ་པ།
༣ དེའི་རྟེན་ཐོབ་པ་དོན་ཡོད་པར་བྱ་བ།

དང་པོ་ལ་དྲུག

༡ ཟས་ཀྱི་ཚོད་རིག་པ། 244
༢ ནམ་གྱི་ཆ་སྟོད་སྨད་ལ་མི་ཉལ་བར་སྦྱོར་བ། 245
༣ ཚད་མེད་བཞི་སྒོམ་པ། 247
༤ བསམ་གཏན་བཞི་བསྒོམ་པ། 250
༥ ལས་ལྕི་ཡང་གི་དབྱེ་བས་དགེ་སྡིག་བླང་དོར་ཇི་ལྟར་བྱ་བ། 251
༦ སྒྲིབ་པ་ལྔ་སྤང་བའོ། 252

གཉིས་པ་ལ་གསུམ། (ཁྱད་པར་དུ་ངེས་ལེགས་ཀྱི་ཆོས་སྒྲུབ་པ་)

༡ སྦྱོར་ལམ་དབང་པོ་ལྔ་དང་སྟོབས་ལྔ་བསྒོམ་པ། 253
༢ དེའི་འགལ་རྐྱེན་རྒྱགས་པ་སྤང་བ། 254

༣ ཡང་དག་པའི་ལྟ་བ་བསྒོམ་པའོ། (དེ་ལ་གཉིས་)

ཀ། མདོར་བསྟན་པ། 254
ཁ། རྒྱས་པར་བཤད་པ། (དེ་ལ་དབྱེ་བ་ལྔ་ཡོད་)
༡ དྲན་པ་ཉེར་གཞག་བཞི་བསྒོམ་པ། 255
༢ ཁྱད་པར་དུ་ཆོས་དྲན་པ་ཉེར་གཞག་བསྒོམ་པ། 256
༣ འགལ་རྐྱེན་ཀུན་སྦྱོར་གསུམ་སྤང་བ། 262
༤ མཐུན་རྐྱེན་བསླབ་པ་གསུམ་ལ་བསླབ་པ། 262
༥ དེའི་རྒྱུར་ལུས་སུ་གཏོགས་པའི་དྲན་པ་བསྲུང་བའོ། 263

གསུམ་པ་ལ་གསུམ། (དེའི་རྟེན་ཐོབ་པ་དོན་ཡོད་པར་བྱ་བ་)

༡ ལུས་མི་རྟག་ཅིང་སྙིང་པོ་མེད་པར་བསམ་ཏེ་
མ་ཆགས་པར་བྱ་བ། 264
༢ དལ་འབྱོར་རྙེད་པར་དཀའ་བ་བསམ་ནས་
དོན་ཡོད་པར་བྱ་བ། 269
༣ ཁྱད་པར་རྒྱལ་པོས་ཀྱང་རྟེན་ཁྱད་པར་ཅན་ཐོབ་པས་
འབད་པར་གདམས་པ། 271

ཁ། འཁོར་བའི་ཉེས་པས་སྐྱོ་བར་བྱ་བ་ལ་གསུམ།

༡ མདོར་བསྟན་པ། 274
༢ རྒྱས་པར་བཤད་པ།
༣ དོན་བསྡུ་བ། 298

གཉིས་པ་ལ་བདུན། (རྒྱས་པར་བཤད་པ་)

༡ ངེས་པ་མེད་པའི་ཉེས་པ། 275

༢ ངོམས་མི་ཤེས་པའི་ཉེས་པ། 275

༣ ལུས་ཡང་དང་ཡང་དུ་འདོར་བའི་ཉེས་པ། 275

༤ ཡང་དང་ཡང་དུ་ཉིང་མཚམས་སྦྱོར་བའི་ཉེས་པ། 275

༥ ཡང་དང་ཡང་དུ་མཐོ་དམན་དུ་འགྱུར་བའི་ཉེས་པ། 276

༦ གྲོགས་མེད་པའི་ཉེས་པ། 279

༧ འགྲོབ་ལྔའི་ངེས་པའི་སྡུག་བསྔལ་ཉམས་སུ་མྱོང་བའི་ཉེས་པ།

(དེ་ལའང་དབྱེ་བ་ལྔ་)

༡ དམྱལ་བའི་སྡུག་བསྔལ། 280

༢ དུད་འགྲོའི་སྡུག་བསྔལ། 285

༣ ཡི་དྭགས་ཀྱི་སྡུག་བསྔལ། 291

༤ ལྷའི་སྡུག་བསྔལ། 295

༥ ལྷ་མ་ཡིན་གྱི་སྡུག་བསྔལ། 296

ག། མྱ་ངན་ལས་འདས་པའི་ཕན་ཡོན་བསམ་ནས་ལམ་སྒྲུབ་པར་གདམས་པ་ལ་གཉིས།

༡ ཐེག་པ་ཐུན་མོང་གི་དབང་དུ་བྱས་པ་དང་།

༢ ཐེག་ཆེན་གྱི་ལམ་འབྲས་བུ་དང་བཅས་པ་སྒྲུབ་པར་གདམས་པ།

དང་པོ་ལ་གཉིས།

༡ ཕན་ཡོན་ཅན་གྱི་སྨྱུང་འདས་ཐོབ་བྱ་ཡིན་པར་བསྟན་པ། 300

༢ དེའི་རྒྱུ་ཚོགས་སྒྲུབ་པར་གདམས་པ། (དེ་ལ་དབྱེ་ན་བདུན་ཡོད་)

 ༡ བྱང་ཆུབ་ཀྱི་ཡན་ལག་བདུན། 301

 ༢ ཞི་གནས་དང་ལྷག་མཐོང་ཟུང་དུ་འབྲེལ་བས་སྨྱ་ངན་ལས་འདས་པ་ཐོབ་པ། 301

 ༣ བསམ་བྱ་མ་ཡིན་པའི་གནས་སྤངས་ཏེ་རྟེན་འབྲེལ་རྟོགས་པར་བྱ་བ། 311

 ༤ འཕགས་པའི་ལམ་ཡན་ལག་བརྒྱད་ཀྲ་སྒོམ་པ། 312

 ༥ ལམ་བདེན་གྱི་དམིགས་པ་འཕགས་པའི་བདེན་པ་བསྟན་པ། 315

 ༦ བདེན་པ་མཐོང་བ་སྐྱེས་བུའི་རྩོལ་བ་ལ་བརྟེན་པས་ཞུམ་པར་མི་བྱ་བ། 315

 ༧ མདོར་བསྡུས་ཏེ་གདམས་པ། 317

གཉིས་པ་ལ་གཉིས།

(ཐེག་ཆེན་གྱི་ལམ་འབྲས་བུ་དང་བཅས་པ་སྒྲུབ་པར་གདམས་པ་)

༡ ལམ་གྱི་བྱ་བ། 317

༢ འབྲས་བུའོ། 319

R

Acc. २८५८२
28962